भारत का मुक्ति-संग्राम

भारत का मुक्ति-संग्राम

अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के विद्रोह

अयोध्या सिंह
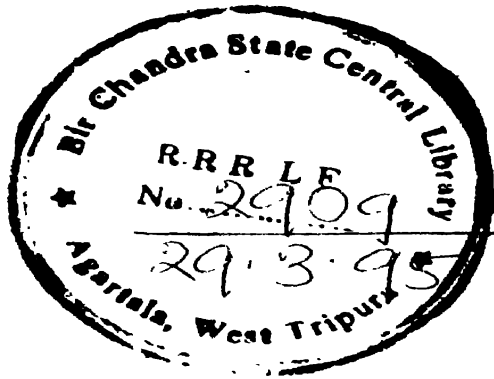
प्रकाशन संस्थान
नयी दिल्ली-110002

प्रकाशक
प्रकाशन संस्थान
4715 / /21 दयानन्द मार्ग, दरियागंज,
नयी दिल्ली-110002

मुद्रक · विकास ऑफसेट
सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा,
दिल्ली—32

समर्पित देश की स्वतंत्रता के लिए लड़नेवाले उन शत-शत शहीदों
को जिनके नामों को ब्रिटिश साम्राजियों ने विस्मृति के
स्तूप के नीचे दबा देने की कोशिश भरसक की

विषय-सूची

—०—

अध्याय १

अंगरेजों का अधिकार और लूट

पन्द्रहवीं सदी के अन्त में समुद्र के रास्ते हिन्दुस्तान से सीधा सम्बन्ध स्थापित करने के लिए पुर्तगाल, स्पेन और ब्रिटेन जोरों से चेष्टा करने लगे। पुर्तगाल का वास्को द गामा अफ्रीका का चक्कर काटकर १७ मई १४९८ ई० को कालीकट आ पहुँचा। इब्न माजीद ने पूर्वी अफ्रीका के मालिन्दी से लेकर कालीकट तक का रास्ता उसे दिखाया, वरना उसे वापस पुर्तगाल जाना पड़ता। १५०० ई० में पुर्तगालियों ने कालीकट में अपनी फैक्टरी बनायी। हिन्दुस्तान में यूरोप के पूँजीवादियों का प्रवेश यहीं से आरंभ होता है।

ये पुर्तगाली पूँजीवादी सिर्फ व्यापार ही नहीं, लूटपाट भी करते थे। उन्हें सब से पहले टक्कर अरब व्यापारियों से लेनी पड़ी। उस समय हिन्दुस्तान का यूरोप के साथ व्यापार इन्हीं अरब व्यापारियों के हाथ में था। मिस्र और गुजरात के सुल्तानों ने मिलकर अरब व्यापारियों की मदद की और पुर्तगाली लुटेरों को हिन्द महासागर से निकाल बाहर करना चाहा। उन्होंने १५०७ में पुर्तगालियों के बेड़े को डुबा दिया, पर १५०९ में गुजरात के तट के पास दीव (डिउ) की लड़ाई में अलमीदा और अलबुकर्क के नेतृत्व में पुर्तगालियों ने मिस्री-गुजराती बड़े को जलाकर लूट लिया। इसके बाद जहाँ-तहाँ अरबों के जहाजों को नष्ट कर उन्होंने हिन्द महासागर पर अपना एकछत्र राज कायम कर लिया।

नवम्बर १५१० में पुर्तगालियों ने बीजापुर के सुल्तान से गोवा छीन लिया। उसे उन्होंने अपने सामुद्रिक साम्राज्य की राजधानी बनाया। यह हिन्दुस्तान में यूरोपियनों का पहला उपनिवेश था।

एक सौ वर्ष तक पुर्तगालियों को यूरोप के किसी दूसरे पूँजीवादी का मुकाबिला करना नहीं पड़ा। १६०० में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी, १६०२ में डच ईस्ट इंडिया कम्पनी और १६६४ में फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कम्पनी बनी। पुर्तगाली पूँजीवादियों की तरह हिन्दुस्तान को लूटने के लिए अंगरेज, डच और फ्रांसीसी पूँजीवादी इस देश की जमीन पर आ डटे। इसके बाद हिन्दुस्तान पर अपना प्रभुत्व और यहाँ के व्यापार पर अपना एकाधिकार कायम करने के लिए इन चारों यूरोपीय पूँजीवादियों के बीच संघर्ष शुरू हुआ। इस संघर्ष में अंगरेज ज्यादा शक्तिशाली सिद्ध हुए। उनके सामने पुर्तगाली, डच और फ्रांसीसी टिक न सके।

अंगरेजों को यहाँ के उदीयमान पूँजीवादियों का भी सामना करना पड़ा। हिन्दुस्तान के पूँजीवादियों को शिकस्त देने के लिए उन्होंने यहाँ के सामन्तों से विशेष अधिकार प्राप्त किये। उन्होंने शाहजहाँ के शासन काल में तीन हजार रुपये वार्षिक पर बंगाल में बिना शुल्क व्यापार करने की इजाजत सूबेदार शाहजादा शुजा से हासिल कर ली।

१७१५ में ब्रिटिश डा० हैमिल्टन के अनुरोध पर बादशाह फर्रुखसियर ने बंगाल में अगरेजों के विलायती माल पर शुल्क एकदम माफ कर दिया। संक्षेप में, अगरेजों ने एक तरफ समुद्री व्यापार पर अधिकार कायम कर और दूसरी तरफ यहाँ के सामन्तों से विशेष अधिकार प्राप्त कर भारतीय व्यापारियों को तबाह कर दिया। इस तरह ब्रिटिश पूंजीवाद ने भारतीय समाज के स्वाभाविक विकास को रोक दिया।

हिन्दुस्तान पर प्रभुत्व के लिए ब्रिटिश सौदागरों को यहाँ के राजाओं और नवाबों से भी लोहा लेना पड़ा। उन्होंने इन राजाओं और नवाबों की आपसी फूट से अच्छी तरह फायदा उठाया, उन्हें आपस में लड़ाया और अपना उल्लू सीधा किया। १७५७ में पलासी (मुर्शिदाबाद) के युद्ध में सूबा बंगाल[1] के नवाब सिराजुद्दौला को हटाकर और गद्दार मीरजाफर को नवाबी देकर उन्होंने चौबीस परगना की जागीर हासिल की। इस तरह १७५७ से ब्रिटिश पूंजीवादियों ने हिन्दुस्तान में राज करना शुरू किया। यह हिन्दुस्तान को हथियाने की शुरुआत थी।

बक्सर के युद्ध (१७६४) में ब्रिटिश पूंजीवादियों की सेना ने अवध के नवाब शुजाउद्दौला, मुगल बादशाह शाह आलम और मीरकासिम की सम्मिलित सेना को शिकस्त दी। इस विजय से उत्तर भारत में अंगरेजों के आधिपत्य का रास्ता खुल गया। बंगाल, बिहार और ओड़िसा की दीवानी उनके हाथ आ गयी।

मराठा संघ में फूट डालकर उन्होंने १८१८ तक मराठों की शक्ति नष्ट कर दी। मराठों की हार के बाद भारत में कोई संगठित शक्ति न रह गयी, जो ब्रिटिश व्यापारियों का मुकाबिला कर सके। बचे-खुचे सामन्तों को हराकर उन्होंने सारे देश पर अधिकार कर लिया। हिन्दुस्तान ब्रिटिश पूंजीवादियों का गुलाम हो गया।

गोवा, डामन और दीव पर पुर्तगाली तथा चन्दननगर, पाण्डीचेरी, माही, कराइकल और यानन पर फ्रांसीसी पूंजीवादी अपना अधिकार ब्रिटिश व्यापारियों के साथ समझौता करके ही बनाये रख सके।

इस तरह हिन्दुस्तान में सामान्तों को पराजित कर जो राज्य कायम हुआ, वह यहाँ की सामन्ती समाज-व्यवस्था के अन्दर से पैदा हुआ पूंजीवादी राज्य न था। यह देशी पूंजीपति वर्ग का नहीं, विदेशी पूंजीपतियों का राज्य था। इस विदेशी पूंजीवाद ने यहाँ के समाज का स्वाभाविक विकाश रोक दिया।

सौदागरी पूँजी का युग

भारत में ब्रिटिश राज को मुख्य तीन युगों में बांट सकते हैं—सौदागरी पूंजी का युग, औद्योगिक पूंजी का युग और वित्तीय अथवा साम्राज्यवादी पूंजी का युग।

सौदागरी पूंजी का युग १६१२ में अंगरेजों की पहली कोठी सूरत में खुलने के समय से लेकर १८१३ तक यानी लगभग दो सौ वर्ष तक रहा।

---

१. सूबा बंगाल में उस वक्त बंगाल, बिहार और ओड़िसा शामिल थे।

ईस्ट इंडिया कम्पनी का प्रधान लक्ष्य भारत से मसाले, सूती और रेशमी कपड़े ले जाकर ब्रिटेन और अन्य यूरोपीय देशों में बेचना और अधिक-से-अधिक मुनाफा कमाना था। उन दिनों इंगलैंड और यूरोप के दूसरे देशों में इन वस्तुओं की बड़ी मांग थी। इसलिए कम्पनी की कोशिश थी कि ये चीजें उन्हें कम-से-कम कीमत पर या मुफ्त में ही मिल जायँ।

आरंभ में मुगल राज की ताकत काफी मजबूत थी। इसलिए अंगरेज सौदागरों की हिम्मत खुलेआम लूट का सहारा लेने को न होती। फिर भी वे आये-गये समुद्री डकैती किया करते और पराया माल अपना बनाया करते। इसके लिए उन्हें कई बार मुगल सरकार के हाथ दण्ड भी भोगना पड़ा। शाहजहाँ के जमाने मे भारतीय समुद्र में डकैती के कारण सूरत के सब अंगरेज गिरफ्तार कर लिये गये थे, भारी हर्जाना देने पर ही उन्हें मुक्ति मिली थी। १६८६ में जाब चारनक के नेतृत्व में इन अंगरेजों ने हुगली बन्दर लूट लिया। इस पर औरंगजेब ने बंगाल के अंगरेजों को गिरफ्तार कर लिया और भारी जुर्माना लेकर छोड़ा। १६९५ में मक्का से वापस आनेवाले गंजे-सवाई नामक जहाज को अंगरेजों ने लूटा और सय्यद स्त्रियों पर बलात्कार किया। क्रुद्ध होकर औरंगजेब ने सब अंगरेजों को गिरफ्तार किया, उनका व्यापार बन्द कर दिया, उनके हथियार छीन लिये, उनकी तोपों के चबूतरे ढा दिये और गिरजा घरों के घण्टों का बजना बन्द कर दिया। दूसरे साल जब अंगरेज सौदागरों ने हज के लिए जानेवाले जहाजों की रक्षा का इकरारनामा लिखा, तब उन्हें छोड़ा गया।

उस समय तक ब्रिटेन का विकास इतना न हुआ था कि हिन्दुस्तान के पण्य (माल) के बराबर कीमत का पण्य हिन्दुस्तान भेज सके। दूसरे शब्दों में आयात-निर्यात का संतुलन ब्रिटेन के विरुद्ध और भारत के अनुकूल था। इसलिए भारतीय पण्य के लिए अंगरेज सौदागरों को अपनी जेब से सोना-चाँदी निकाल कर देना पड़ता था। सौदागरों का पूंजीवाद इस तरह की सौदागरी पसन्द न करता था। ये कीमती धातुएँ ही तो उसकी सच्ची दौलत थीं। इनको वह बाहर जाने देना न चाहता था।

इसलिए ये उठाईगीर सौदागर भारतीय पण्य को कम-से-कम मूल्य पर या मुफ्त में ही लेने की चेष्टा करते। किन्तु सीधी लूट-मार की ताकत का इस्तेमाल वे उस वक्त तक न कर सकते थे ; इसलिए एक और उपाय निकाला। उन्होंने अफ्रीका, अमरीका आदि दूसरे उपनिवेशों के लूट के माल या पश्चिमी द्वीप समूह और स्पेनीय अमरीका में गुलामों को बेचकर मिली चाँदी के बदले हिन्दुस्तान का माल लेना शुरू किया। यह रवैया काफी अरसे तक जारी रहा।

पलासी के युद्ध (१७५७) में विजय के बाद अंगरेज सौदागरों की लूट का रास्ता खुल गया। कंपनी के नौकरों की हरकतों की शिकायत करते हुए बंगाल के तत्कालीन नवाब मीरकासिम ने मई १७६२ में अंगरेज गवर्नर को लिखा :

"व रैय्यत (किसानों), व्यापारियों आदि का माल-असबाब चौथाई कीमत पर जबर्दस्ती उठा ले जाते हैं तथा मार-पीट और जुल्म कर वे रैय्यत आदि को उस माल

के लिए पाँच रुपए देने को मजबूर करते हैं, जिसकी कीमत सिर्फ एक रुपया होती है।"

बक्सर के युद्ध (१७६४) में विजय के बाद अंगरेज सौदागरों की लूट का एक नया अध्याय आरंभ हुआ। कारीगरों को लूटने के साथ-साथ अब उन्होंने किसानों को भी लूटना शुरू किया। अब व्यापार कम था, लूट ज्यादा। १७७२ में छपी "हिन्दुस्तान के मामलों पर विचार" नामक पुस्तक में एक अंगरेज सौदागर विलियम बोल्ट्स ने लिखा :

"...अंगरेज अपने बनियों और काले गुमास्तों को साथ लेकर मनमाने ढंग से तय कर देते हैं कि हर माल बनानेवाला कितना माल देगा और उस माल के लिये उसे क्या कीमत मिलेगी।...बेचारे बुनकर की रजामन्दी जरूरी नहीं समझी जाती; क्योंकि कंपनी का कारबार करनेवाले गुमास्ते अक्सर मनमाने कागज पर उनसे दस्तखत करा लेते हैं। अगर बुनकरों ने दी गयी कीमत लेने से इन्कार किया, तो देखा गया है कि उन्हें बाँधा गया है और बेंतों से पिटाई कर जाने दिया गया है।...कुछ बुनकरों के नाम भी आम तौर पर कंपनी के गुमास्तों की बही में दर्ज होते हैं और उन्हें दूसरों का काम करने की इजाजत नहीं दी जाती। उन्हें गुलामों की तरह एक गुमास्ते के हाथ से दूसरे गुमास्ते के हाथ सौंप दिया जाता है।...इस महकमे में जो बदमाशी होती है, वह कल्पनातीत है। लेकिन सब का परिणाम यह होता है कि बेचारा बुनकर ठगा जाता है, क्योंकि कंपनी के गुमास्ते और उनसे मिले जाँचनदार (कपड़े की जाँच करनेवाले) माल की जो कीमत निश्चित कर देते हैं, वह सब दफा उस कीमत से कम-से-कम १५ फी सदी और कभी-कभी तो ४० फीसदी कम होती है, जो वैसे बने माल को खुले बाजार में बेचने पर मिलती।"[१]

यह था अंगरेज सौदागरों का कम-से-कम मूल्य पर हिन्दुस्तानी माल पानेकातरीका।

१७६५ में बंगाल, बिहार और ओड़िसा की दीवानी हाथ में आते ही उन्होंने किसानों को बुरी तरह लूटना शुरू किया। बंगाल में प्रत्यक्ष राज के बाद लूट और भी बढ़ गयी। उन्होंने किसानों पर लगान तेजी से बढ़ाना शुरू किया। १७६४-६५ में बंगाल के आखिरी हिन्दुस्तानी शासक के राज में ८ लाख १७ हजार पौण्ड मालगुजारी वसूल की गयी थी, लेकिन कंपनी ने शासन भार संभालते ही क्या किया? उसने पहले ही साल में यानी १७६५-६६ में १४ लाख ७० हजार पौण्ड मालगुजारी वसूल की। यह मालगुजारी बढ़कर १७७१-७२ में २३ लाख ४१ हजार पौण्ड और १७७५-७६ में २८ लाख १८ हजार पौण्ड हो गयी। १७९३ में जब कार्नवालिस ने 'इस्तमरारी बन्दोबस्त' किया, तो वह बढ़ाकर ३४ लाख पौण्ड कर दी गयी।

इस मालगुजारी का एक बड़ा हिस्सा मुनाफे के रूप में ब्रिटेन भेज दिया जाता। बाकी ब्रिटेन भेजने के लिए खरीदे गये हिन्दुस्तानी माल की कीमत चुकाने के लिए 'लागत पूंजी'

---

१. विलियम बोल्ट्स, कन्सीडरेशन्स आन इंडिया अफेर्स, लन्दन संस्करण, पृ० १९१-२

के नाम से अलग रखा जाने लगा। इस तरह अंगरेज सौदागर हिन्दुस्तान का माल खरीदने के लिए हिन्दुस्तान से ही रुपया वसूल करने लगे। अपनी जेब से कानी कौड़ी खर्च किये बिना हिन्दुस्तान का माल पाने की अंगरेज सौदागरों की इच्छा पूरी हुई।

अंगरेज सौदागरों ने किसानों को जोरों से लूटना शुरू किया और दूसरी तरफ नहरों की सफाई और निर्माण जैसे खेती में सहायक कामों में कम-से-कम खर्च करना आरंभ किया। परिणाम क्या हुआ? कंपनी के राज के छः साल के अन्दर १७७० में बंगाल-बिहार-ओड़िसा में भयंकर अकाल पड़ा। इसमें लगभग १ करोड़ आदमी मर गये, एक तिहाई जनसंख्या समाप्त हो गयी। लेकिन क्या मालगुजारी की वसूली में कोई रियायत की गयी? नहीं, उल्टे और भी कड़ाई के साथ पिछले साल से ज्यादा वसूल की गयी।

ईस्ट इंडिया कंपनी ने १७६५-८४ तक के स्वेच्छाचारी शासन में सूबा बंगाल की जो दुर्गति की, उस पर १७८७ में प्रकाशित 'भारत में अंगरेजों के स्वार्थों पर एक नजर' में अपना मत व्यक्त करते हुए ब्रिटिश पार्लमेन्ट के सदस्य विलियम फुलार्टन ने लिखा:

"पुराने जमाने में बंगाल के देहात राष्ट्रों के अन्न भंडार थे। पूरब में यह प्रदेश तैयार माल, व्यापार और दौलत का खजाना था।

"लेकिन हमारे बुरे शासन ने इस जोर-शोर से काम किया है कि २० साल के थोड़े से अरसे में ही देहात के बहुत से इलाके बीरान हो गये हैं। खेत जोते-बोये नहीं जाते। बहुत-सी जमीन पर जंगली झाड़ियाँ उग आयी हैं। किसान को लूटा जाता है, कारीगर को सताया जाता है, लोगों को बार-बार अकाल का सामना करना पड़ता है और आबादी का मिटना आरंभ हो गया है।"[१]

१८ सितंबर १७९८ को गवर्नर-जनरल लार्ड कार्नवालिस ने रिपोर्ट भेजी:

"मैं मजे में जोर देकर कह सकता हूँ कि हिन्दुस्तान में कंपनी की भूमि का एक तिहाई अंश अब जंगल बन गया है, जिसमें सिर्फ जंगली जानवर रहते हैं।"[२]

१७९३ में बंगाल-बिहार-बनारस में 'जमीन का स्थायी बन्दोबस्त' कर किसानों की बरबादी का एक नया कदम उठाया गया। इस बन्दोबस्त के कारण जमीन पर किसानों का मालिकाना का हक जाता रहा और नया जमींदार वर्ग पैदा हो गया, जो किसानों को किसी भी तरह का मुआवजा दिये बगैर उनकी जमीन का मालिक बन बैठा। इस जमींदार वर्ग को पैदा कर ब्रिटिश सौदागरों ने अपनी सरकार के सामाजिक आधार की सृष्टि की। ये नये जमींदार ब्रिटिश शासन के आधार स्तम्भ बने।

औद्योगिक पूँजी का युग

पलासी के युद्ध (१७५७) के बाद हिन्दुस्तान की दौलत बरसाती नदी की तरह ब्रिटेन की तरफ चल पड़ी। इस दौलत ने ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति पूरा करने में बड़ी

१. रजनी पाम दत्त, इंडिया टुडे, कलकत्ता १९७०, पृ० १०८
२. रजनी पाम दत्त, वही, पृ० १०८

मदद की। भाफ के इंजिन, पावर लूम और बड़े पैमाने पर माल तैयार करनेवाली मशीनों का आविष्कार हुआ।

औद्योगिक क्रान्ति के पूरा होने पर ब्रिटेन के कारखानेदारों के सामने बाजार की समस्या खड़ी हो गयी। अपने कारखानों का माल बेचने के लिए उन्हें बाजार की जरूरत थी। हिन्दुस्तान के विशाल बाजार पर उनकी गिद्ध दृष्टि का जाना बिल्कुल स्वाभाविक था। हिन्दुस्तान को अपने कारखानों के माल का बाजार बनाने के लिए यह जरूरी था कि इस देश के साथ व्यापार पर ईस्ट इंडिया कंपनी की इजारेदारी खत्म कर दी जाय और उन्हें भी बेरोक-टोक इस देश के साथ व्यापार करने दिया जाय। खुद हिन्दुस्तान की अर्थनीतिक व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन किये जायें। हिन्दुस्तान तमाम दुनिया को तैयार माल देता आ रहा था। ब्रिटिश कारखानेदारों के लाभ के लिए जरूरी था कि उसके उद्योग नष्ट कर उसे विशुद्ध खेतिहर देश बना दिया जाय।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के सौदागर मालिकों के विरोध के बावजूद १८१३ में हिन्दुस्तान में उनकी इजारेदारी ब्रिटिश सरकार ने खत्म कर दी। हिन्दुस्तान को नये ढंग से लूटने का रास्ता ब्रिटिश उद्योगपतियों के लिए खुल गया।

इस तरह औद्योगिक पूंजी का युग १८१३ से शुरू हुआ और उन्नीसवीं सदी के अन्त तक रहा।

हिन्दुस्तान के उद्योग-धन्धे नष्ट करने और उसे अपने कारखानों के तैयार माल का बाजार बनाने के लिए अंगरेज पूंजीपतियों ने मशीनों और राज्यसत्ता दोनों का इस्तेमाल किया। हिन्दुस्तानी तैयार माल को अपने देश में न घुसने देने के लिए उन्होंने उस पर ज्यादा-से-ज्यादा चुंगी लगाने की नीति अपनायी। बहुत से हिन्दुस्तानी तैयार माल का ब्रिटेन में प्रवेश एकदम निषिद्ध कर दिया। साथ ही हिन्दुस्तान में आनेवाले अपने तैयार माल पर कम-से-कम चुंगी देनी शुरू की। १८१३ में ब्रिटेन में हिन्दुस्तानी छीट पर ७८ फी सदी चुंगी लगती थी। १८४० के लगभग हिन्दुस्तान में विलायती रेशम और सूती कपड़े पर सिर्फ साढ़े तीन फी सदी चुंगी लगती थी, जबकि ब्रिटेन में हिन्दुस्तानी सूती कपड़े पर १० फी सदी और रेशमी कपड़े पर २० फी सदी।

भारतीय उद्योग-धन्धों को नष्ट करने के लिए ब्रिटिश पूंजीपति सिर्फ इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने खुद भारत के अन्दर उद्योग-धन्धों के तैयार माल पर शुल्क बैठाया। उदाहरण के लिए गवर्नर जनरल लार्ड बेंटिक के समय इस सम्बन्ध में जांच-पड़ताल से जाना गया कि जो विलायती कपड़ा भारत में बिकता था, उस पर सिर्फ अढ़ाई प्रतिशत शुल्क लगता था, लेकिन भारतवासी जो कपड़ा अपने पहनने के लिए बनाते, उस पर भी १७॥ प्रतिशत शुल्क लगता था। कितने उदार और न्यायी ये ब्रिटिश पूंजीपति! इसी तरह भारतीयों के उपयोग के लिए भारतीय चमड़े से भारत में ही बने माल पर १५ प्रतिशत शुल्क लगता था। विदेशी चीनी की अपेक्षा देशी चीनी पर ५ प्रतिशत ज्यादा शुल्क लगता था। इस तरह भारत के प्रायः २३५ प्रकार के माल पर भारत के अन्दर ही फिरंगी लुटेरों ने बड़ी बेइन्साफी के साथ भारी शुल्क लगाया

था,[1] ताकि खुद भारत के बाजार में भारतीय माल विलायती माल से टक्कर न ले सके। यह शुल्क प्रति वर्ष बढ़ाकर भारतीय उद्योग-धन्धे नष्ट किये जाते।

इन अन्यायों और अत्याचारों का परिणाम हुआ कि विदेश में भारतीय माल का निर्यात कम पड़ने लगा। कुछ उदाहरण लीजिए। १८०१ में भारत से अमरीका १३,६३३ गाँठ कपड़ा जाता था, १८२९ में वह कम होते-होते २५८ गाँठ रह गया। १८०० तक भारत का कपड़ा प्रतिवर्ष लगभग १४५० गाँठ डेनमार्क जाता था, वह १८२० में सिर्फ १२० गाँठ रह गया। १७९९ में भारतीय व्यापारी ९,७१४ गाँठ कपड़ा पुर्तगाल भेजते थे; १८२५ में वह सिर्फ १००० गाँठ रह गया। १८२० तक अरब और फारस की खाड़ी के आस पास के देशों में ४००० से लेकर ७००० गाँठ भारतीय कपडा प्रतिवर्ष जाता था; १८२५ के बाद २००० गाँठ से ज्यादा नहीं भेजा गया।[2]

ईस्ट इंडिया कंपनी के आदेश से भारत के उद्योग-धन्धों और व्यापार की जाँच के लिए डा० बुकानन १८०७ में पटना, शाहाबाद, भागलपुर, गोरखपुर आदि जिलों में गये थे। उनकी जाँच से ज़ाहिर हुआ कि पटना जिले में उस वक्त २,४०० बीघा जमीन में कपास की और १,८०० बीघा जमीन में ईख की खेती होती थी। ३,३०, ४२६ औरतें सिर्फ सूत कातकर जीविका चलाती थीं। दिन में सिर्फ कई घंटे काम करके वे साल में १०,८१,००५ रु० लाभ कर लेतीं। अंगरेजों की मेहरबानी से बारीक सूत का निर्यात कम पड़ गया और उनकी जीविका का साधन समाप्त हो गया। बुनकर कपड़े बुनकर ७।। लाख रुपए का खरा मुनाफा कमाते थे। फतुहा, गया, नवादा आदि टसर उद्योग के लिए प्रसिद्ध थे।[3]

इसी प्रकार शाहाबाद जिले में १,५९,५०० औरतें साल में १२।। लाख रुपए का सूत काटती थीं। जिले में कुल ७,९५० करघे थे। इनसे १६ लाख रु० का कपड़ा प्रति वर्ष तैयार होता। इसके अलावा कागज, इत्र, तेल, नमक और शराब आदि के उद्योग भी फूल-फल रहे थे।[4]

भागलपुर में १२ हजार बीघे में कपास की खेती होती थी। टसर बुनने के ३,२७५ करघे और कपड़े बुनने के ७,२७९ करघे थे।[5]

गोरखपुर में १,७५,६०० स्त्रियाँ चरखा कातकर दिन बितातीं। करघों की संख्या ६,११४ थी। २०० से लेकर ४०० नावें प्रति वर्ष तैयार होती थीं। इसके अलावा नमक और शक्कर के कारखाने भी बहुत से थे।[6]

दिनाजपुर में ३९,००० बीघे में पटसन, २४,००० बीघे में कपास, २४,००० बीघे में ईख, १५,००० बीघे में नील और १,५०० बीघे में तमाकू की खेतीहोती थी। ऊँची जाति की विधवाएँ और किसानों की औरतें सूत कातकर ९,१५,००० रु० का खरा मुनाफा

१. सखाराम गणेश देउस्कर, देशेर कथा, कलकत्ता, पृ० ११७
२. वही, पृ० ११७
३. वही, पृ० ११८
४. वही, पृ० ११८
५. वही, पृ० ११८
६. वही, पृ० ११८

कमाती थीं। रेशम का व्यवसाय करनेवाले ५०० घर साल में १,२०,००० रु० मुनाफा करते थे। बुनकर साल में १६, ७४,००० रु० का कपड़ा बुनते थे।[1]

मालदह की मुसलमान औरतें सुई के काम के लिए मशहूर थीं। सूत और कपड़े को रंग करके भी हजारों लोगों की जीविका चलती थी।

पूर्णिया जिले की औरतें हर साल औसतन ३ लाख रुपये का कपास खरीद कर सूत तैयार करतीं और बाजार में १३ लाख रु० का बेचतीं। बुनकर ३,५०० करघे चलाकर हर साल ५ लाख ६ हजार रुपए का कपड़ा तैयार करते। इससे कारीगर लगभग १।। लाख रुपया लाभ करते। इनके अलावा १० हजार करघों से मोटा कपड़ा तैयार कर वे ३ लाख २४ हजार रुपये का लाभ करते।[2]

ये तथ्य बताते हैं कि उस वक्त भारत के उद्योग-धन्धे और व्यापार किस तरह आगे बढ़े हुए थे। इन उद्योगों से करोड़ों भारतवासी पर्याप्त आय करते थे। उनकी आय का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि डा० बुकानन की ही जांच के अनुसार पटना में धान रुपये में पौने दो मन और भागलपुर में चावल रुपये में ३७।। सेर बिकता था।[3] ब्रिटेन के पूंजीपतियों ने जल्दी ही भारत के उद्योग-धन्धे और व्यापार को नष्ट कर दिया और सारे देश को तबाह कर दिया।

इसके अलावा हिन्दुस्तान के जहाजों का माल लेकर विलायत और अन्य देशों में आना-जाना ब्रिटिश उद्योगपतियों को कतई पसन्द न था। हिन्दुस्तान के जहाज उद्योग को नष्ट करने के लिए उन्होंने कानून (नेविगेशन ऐक्ट) बनाया। इस कानून के जरिए यूरोप या अन्य किसी भी देश के साथ सीधा व्यापार करने का अधिकार हिन्दुस्तान से छीन लिया गया।

इन सब का नतीजा हुआ कि भारत के उद्योग-धन्धों का पटरा तेजी से बैठने लगा और ब्रिटेन के उद्योगों का सितारा तेजी से बुलन्द होने लगा। १८१४-३५ के दरम्यान भारत में विलायती कपड़े की खपत १० लाख गज से बढ़कर ५ करोड़ १० लाख गज हो गयी। इसी बीच हिन्दुस्तान के सूती कपड़े की विलायत में खपत १२।। लाख थान से कम होते-होते ३ लाख ६ हजार थान रह गयी। १८४४ में वह और भी घटकर केवल ६३ हजार थान रह गयी। भारत का कपड़ा-उद्योग नष्ट हो गया। इस उद्योग में नियुक्त लाखों कारीगर बेकार और तबाह कर दिये गये।

यही हालत रेशमी और ऊनी कपड़े, लोहे, मिट्टी के बर्तन, काँच के सामान, चमड़ा आदि उद्योगों की हुई। सब-के-सब ब्रिटिश पूंजीपतियों की दया से तबाह हो गये। उनमें लगे कारीगर और मजदूर भाग-भाग कर रोटी की खोज में गाँव जाने लगे। ढाका की आबादी १।। लाख से घटकर १८४० ई० में ३०-४० हजार रह गयी। यही हालत मुर्शिदाबाद, सूरत आदि की हुई। १८४० ई० में ब्रिटिश पार्लमेन्ट की जाँच कमेटी के सामने मांटगोमरी मार्टिन ने, जो ब्रिटिश साम्राज्य के पहले इतिहासकारों में हैं, अपनी रिपोर्ट में कहा :

---

१. वही, पृ० ११८-९. २. वही, पृ० ११३. ३. वही, पृ० ११८

"सूरत, ढाका, मुर्शिदाबाद वगैरह शहर, जहाँ हिन्दुस्तानी माल तैयार होता था, इस तरह तबाह हुए हैं कि उसका वर्णन करते नहीं बनता। मेरी समझ में ईमानदारी से व्यापार करने से उनकी यह दशा न होती। मैं तो कहूँगा कि शहजोर ने अपनी ताकत से कमजोर को कुचल दिया है।"[१]

१८९० में सर हेनरी काटन ने लिखा :

"अभी सौ साल भी नहीं बीते जब ढाका से १ करोड़ रुपए का व्यापार होता था और वहाँ २ लाख आदमी बसे हुए थे। १७८७ में ३० लाख रुपए की ढाका की मलमल इंगलैंड आयी थी। १८१७ में उसका आना बिल्कुल बन्द हो गया। कताई-बुनाई की कला, जो युगों से अनगिनत औद्योगिक जन-संख्या को रोजगार-धन्धा देती रही, अब खत्म हो गयी है। जो सम्पन्न परिवार थे, वे अब मजबूर होकर रोटी की तलाश में शहर छोड़कर गाँव भाग गये हैं,...यह तबाही सिर्फ ढाका में ही नहीं, तमाम जिलों में देखी जाती है। कोई भी ऐसा साल नहीं जाता, जब कमिश्नर या जिले के हाकिम सरकार को इस बात की सूचना न देते हों कि हर तरफ उद्योग-धन्धों के लोग चौपट हो रहे हैं।"[२]

अठारहवीं सदी के अन्त और उन्नीसवीं सदी के आरंभ में नील की खेती फिरंगी पूंजीपतियों की लूट का एक मुख्य साधन थी। भारत से नील ले जाकर दूसरे देशों में फिरंगी बहुत दिनों से बेचते चले आ रहे थे, लेकिन उसकी खेती में पूंजी लगाने की चेष्टा अठारहवीं सदी के अन्तिम भाग में हुई।

लुई बन्नो नामक एक फ्रांसीसी ने १७७७ में पहले-पहल सूबा बंगाल में नील की खेती आरंभ की। कैरेल ब्लूम नामक अंगरेज ने १७७८ में नील की कोठी खोली और ईस्ट इंडिया कंपनी को सूचित किया कि नील की खेती बड़े मुनाफे का साधन बन सकती है। उसने गवर्नर-जनरल को भी स्मृति-पत्र देकर बड़े पैमाने पर इसकी खेती कराने का अनुरोध किया।

ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति (१७८८) के बाद कपड़ों में देने के लिए नील की मांग बहुत बढ़ गयी। इसके अलावा भारतीय नील फ्रान्स, इटली, आस्ट्रिया, अमरीका, मिस्र, फारस आदि देशों में भी जाता था। इसलिए नील के व्यापार को अपार मुनाफे का साधन देख कंपनी ने निलहे साहबों को जन्म दिया जो अपने शोषण और अत्याचार के लिए इतिहास में बदनाम रहे हैं। बंगाल, बिहार, ओड़िसा, बनारस, इलाहाबाद आदि में कितनी ही नील कोठियाँ खुल गयीं। निलहे साहबों को जितने भी कर्ज की जरूरत होती, कंपनी कम सूद पर देती। जितना भी नील तैयार होता, कंपनी खरीद लेती और ब्रिटेन अथवा अन्य देशों में चालान कर देती। बंगाल सूबे में वह सवा रुपया प्रति पौण्ड खरीदती और इंगलैण्ड में पाँच से सात रुपया प्रति पौण्ड बेचती। १८०३ ई० में सिर्फ बंगाल सूबे

---

१. रजनी पाम दत्त, वही, पृ० १२०

२. वही, पृ० १२०

में १ लाख २८ हजार मन नील तैयार हुआ था। यह नील सारी दुनिया की जरूरत पूरी कर रहा था। इन तथ्यों से ही नील से होनेवाले लाभ का अनुमान लगाया जा सकता है।

ये निलहे साहब कुछ जमीन में स्वयं नील की खेती कराते, लेकिन ज्यादातर वे अग्रिम रकम देकर दूसरे किसानों को अपनी जमीन में नील की खेती करने को बाध्य करते। एक बार जो उनसे अग्रिम ले लेता, उसे सारी जिन्दगी मुक्ति न मिलती। निलहे साहबों ने इस तरह किसानों के एक बड़े हिस्से को गुलाम बना दिया। वे उनकी गाढ़ी कमायी छीनकर स्वयं मालामाल होने लगे। नील की खेती एक समय ऐसा लाभदायक काम समझा जाता था कि कंपनी के बड़े-बड़े कर्मचारी नौकरी छोड़कर इस काम में लग जाते।

१८३३ में ब्रिटिश पूंजीपतियों ने भारत के शोषण का नया कदम उठाया। वे जमीन खरीदने और कच्चे माल की खेती कराने लगे। इन अंगरेजों में बहुत से पश्चिम द्वीप समूह में गुलामों के मालिक रह चुके थे या अमरीका में गुलामों का व्यापार करते थे। १८३३ में पश्चिम द्वीप समूह में गुलामी खत्म होने के बाद उनकी गिद्धदृष्टि भारत पर पड़ी। यहाँ उन्होंने रबर, चाय और काफी की खेती करानी शुरू की।

खासकर १८३३ से भारत से कच्चे माल का निर्यात तेजी से बढ़ चला। कपास १८१३ में लगभग १ लाख १२॥ हजार मन भेजी जाती थी, १८३३ में लगभग ४ लाख मन और १८४४ में लगभग ११ लाख मन भेजी जाने लगी। ऊन १८३३ में लगभग ४६। मन भेजी जाती थी, १८४४ ई० में बढ़कर वह लगभग ३३,७५० मन हो गयी। तेलहन इसी दौरान लगभग १,५२२ मन से बढ़कर लगभग १,७१,७४५ मन हो गया। भूखों मरते हिन्दुस्तान से अन्न दिन-पर-दिन ज्यादा बाहर भेजा जाने लगा। १८४५ में ८ लाख ५८ हजार पौण्ड का, १८५८ में ३८ लाख पौण्ड का, १८७७ में ७९ लाख पौण्ड का, १९०१ में ९३ लाख पौण्ड का और १९१४ में १ करोड़ ९३ लाख पौण्ड का अन्न, जिसमें ज्यादातर गेहूँ और चावल था, बाहर भेजा गया।[1] ब्रिटिश पूंजीपतियों ने भारत के उद्योग-धन्धे नष्ट कर उसे ऐसा उपनिवेश बना दिया, जो उनके कल-कारखानों के लिए कच्चा माल दे और उनका तैयार माल खरीदे।

इसी दौरान अंगरेज पूंजीपतियों ने हिन्दुस्तान को लूटने का एक और तरीका निकाला। हिन्दुस्तान में या दुनिया के किसी भी कोने में अपनी लूट बनाये रखने के लिए वे जो कुछ खर्च करते, उसे हिन्दुस्तान की भलाई के लिए खर्च बताकर और एक का चार बनाकर हिन्दुस्तान के नाम लिख देते। इस पर एक अंगरेज का ही मत सुनिए :

> "हिन्दुस्तान से जिन मदों में खर्च वसूल करना सुविधाजनक पाया गया, वे एकदम बेसिरपैर की मालूम होती हैं। गदर (१८५७) का खर्च, कंपनी से विलायत की सरकार ने हिन्दुस्तान संभाला, तो उसका खर्च, चीन और अबिसीनिया में

१. रजनी पाम दत्त, वही, पृ० १२४-२५

साथ-ही-साथ हुए युद्धों का खर्च, लन्दन में हिन्दुस्तान के नाम पर होनेवाले किसी भी सरकारी काम का—यहाँ तक कि इंडिया आफिस[1] की महरियों का खर्च, लड़ने के लिए जहाज गये लेकिन लड़े नहीं, तो उसका खर्च, भारत के लिए रवाना होने के पहले ब्रिटेन में छः महीने तक गोरी सेना को जो ट्रेनिंग दी गयी, उसका खर्च—ये सारी रकमें हिन्दुस्तान की रय्यत से वसूल की जातीं, जिसका कोई प्रतिनिधि सरकार में न था। १८६८ ई० म तुर्की के सुल्तान अपने पूरे लवाजमे के साथ लन्दन तशरीफ लाये। उनके स्वागत में सरकार की तरफ से इंडिया आफिस में बाल डान्स का इन्तजाम किया गया। इसका खर्च भी हिन्दुस्तान के नाम चढ़ाया गया। इसी तरह ईलिंग में एक पागलखाना बना, जंजीबार द्वीप के अतिथिमंडल को उपहार दिये गये, चीन और फारस में ब्रिटेन के दूतावास खोले गये—इन सब का खर्च हिन्दुस्तान से वसूल किया गया।"[2]

१८५७ में विद्रोह दबाने के लिए जो गोरी सेना विलायत से आयी, ब्रिटेन से उसके चलने के छः महीने पहले तक की उसकी तनखाहें और ब्रिटेन की छावनियों में भारत के लिए जमा सेना की १८६० तक तनखाहें भी भारत से वसूल की गयीं।

इस तरह ब्रिटिश पूंजीपति हिन्दुस्तान पर झूठे कर्ज का बोझ बढ़ाते गये। यह सिलसिला दूसरे महायुद्ध तक जारी रहा। १८५८ में जब ब्रिटिश सरकार ने कंपनी की हुकूमत खत्म कर हिन्दुस्तान के शासन का भार संभाला, तो उसने कंपनी से ७ करोड़ पौण्ड का कर्ज भी अपने बही खाते में दर्ज कर लिया। यह कर्ज १८ साल में १४ करोड़ पौण्ड, १९०० ई० में २२ करोड़ ४० लाख पौण्ड (३३६ करोड़ रुपया), १९१३ ई० में २७ करोड़ ४० लाख पौण्ड (४११ करोड़ रुपया) और दूसरे महायुद्ध के आरंभ होने के पहले ८८ करोड़ ४८ लाख पौण्ड (११७९ करोड़ रुपया) हो गया।[3]

ब्रिटिश पूंजीपतियों के इस शोषण से हिन्दुस्तान में बार-बार अकाल पड़ने लगे। १९ वीं सदी के पूर्वार्द्ध में सात बार अकाल पड़ा, जिसमें कुल लगभग १५ लाख आदमी मरे। लेकिन इसी सदी के उत्तरार्द्ध में २४ बार अकाल पड़ा, जिसमें खुद सरकारी आंकड़ों के अनुसार कुल दो करोड़ आदमी मरे।[4]

वित्तीय पूँजी का युग

उन्नीसवीं सदी के अंत और बीसवीं सदी के आरंभ तक पूंजीवाद ने साम्राज्यवाद का रूप धारण किया। मुख्य पूंजीवादी देशों में बड़े-बड़े पूंजीपतियों की इजारेदारियाँ पैदा हो गयीं, बड़े-बड़े बैंक पैदा हो गये और देश के अर्थतंत्र में उनका बोलबाला हो गया। बैंक और कारखानों के मालिक और पूंजी एक हो गये और एक नयी पूंजी का जन्म हुआ। सारी दुनिया में इस नयी पूंजी की तूती बोलने लगी। मुख्य पूंजीवादी देश अब अपने

---

१. भारत का शासन चलाने के लिए लन्दन में ब्रिटिश सरकार का विभाग

२. एल० एच० जेन्क्स, द माइग्रेशन आफ ब्रिटिश कैपिटल, पृ० २२३-४ : रजनी पाम दत्त, वही, पृ० १३५

३. रजनी पाम दत्त, वही, पृ० १३४

४. वही, पृ० १२५

कारखानों के तैयार माल के निर्यात की जगह पूंजी के निर्यात पर ज्यादा जोर देने लगे। उपनिवेशों और अर्द्ध-उपनिवेशों में अपने उद्योग खोले। उनके लाभ का मुख्य साधन अपने कारखानों का माल न रह गया ; अन्य देशों में लगी यह पूंजी मुख्य साधन बन गयी। इजोरदार पूंजीपतियों के गुटों ने सारी दुनिया को आपस में बांट लिया।

ब्रिटेन सबसे बड़ा पूंजीवादी देश था। इसलिए ये सारे परिवर्तन उसमें विशेषरूप से देखे गये। भारत में उसके शोषण और लूट का रूप भी बदला।

१८५३ में ब्रिटिश पूंजीपतियों ने भारत में रेल का जाल बिछाना शुरू किया। किसलिए ? क्या भारतवासियों के लाभ के लिए ? नहीं, भारत के कोने-कोने से कच्चा माल अपने कारखानों में ले जाने के लिए, अपने कारखानों का माल भारत के कोने-कोने में पहुँचाने के लिए, अपने इंजिनियरिंग उद्योग का माल खपाने के लिए और भारतवासियों के दमन के लिए अपनी सेना एक स्थान से दूसरे स्थान भेजने के लिए। लेकिन इसका एक अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश पूंजीवाद एक नयी मंजिल की तरफ बढ़ा। नील, चाय, काफी आदि के बगानों में पूंजी लगांनेवाले गुलामों के व्यापारी और उठाईगीर सौदागर थे, लेकिन रेलवे में पूंजी लगानेवाले उद्योगपति थे। उसके बाद हिन्दुस्तान में लगी ब्रिटिश पूंजी दिन-पर-दिन बढ़ती गयी। बीसवीं सदी के आरंभ में यह हालत पैदा हो गयी कि ब्रिटिश पूंजीपतियों का भारत में मुनाफे का मुख्य साधन व्यापार न रहकर यह पूंजी हो गयी।

प्रमाण के लिए कुछ आंकड़े लीजिए। भारत में लगी ब्रिटिश पंजी १९११ में ६७५ करोड़ रुपया और १९१४ ई० में ७०० करोड़ ५० लाख रुपया थी। १९१३-१४ में ब्रिटिश पूंजीपतियों को भारत में लगी ब्रिटिश पूंजी से कुल खरा मुनाफा ६० करोड़ रुपया हुआ जबकि उसी साल व्यापार से उन्हें मुनाफा सिर्फ ४२ करोड़ रुपया ही हुआ।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटिश पूंजीपतियों ने भारत में अपने बैंक खोले। इनमें चार्टर्ड बैंक आफ इंडिया, आस्ट्रेलिया और चाइना (१८५३), मर्कन्टाइल बैंक आफ इंडिया (१८५३), नेशनल बैंक आफ इंडिया (१८६४), हांगकांग और शंघाई बैंकिंग कारपोरेशन (१८६७) और बम्बई, मद्रास तथा बंगाल के प्रेसीडेंसी बैंक (१८७६) मुख्य थे।

बीसवीं सदी में जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते हैं, हम पाते हैं कि भारत को लूटने के ब्रिटिश पूंजीपतियों के पुराने तरीके पर उनका नया तरीका हावी होता जाता है।

हिन्दुस्तान में विदेश से जितना माल आता था, ब्रिटेन से १९१३ में उसका ६४ फी सदी, १९३१-३२ में ३५ फी सदी, १९३४-३५ में ४०.६ फी सदी, १९३५-३६ में ३८.८ फी सदी, १९३६-३७ में ३८.५ फी सदी, १९३९-४० में २५.२ फी सदी और १९४२-४३ में २६.८ फी सदी आया।[1] इन आंकड़ों का स्पष्ट अर्थ यह है कि पुराने शोषण की नींव खोखली हो गयी थी। १९३४-३५ में कुछ तरक्की का कारण

---

१. वही, पृ० १४०

यह था कि भारत के विरोध के बावजूद ओटावा समझौते[1] (१९३२) से ब्रिटेन को कुछ रियायतें मिल गयी थीं।

लेकिन इसी दौरान वित्तीय पंजी की लूट की हालत क्या थी? १९११ में सारी दुनिया में लगी ब्रिटिश पूंजी का ११ प्रतिशत हिन्दुस्तान में लगा था। वह बढ़ते-बढ़ते १९३३ में २५ प्रतिशत हो गयी। १९११ में भारत में लगी कुल ब्रिटिश पूंजी लगभग ६७५ करोड़ रुपए थी; १९३३ में वह लगभग १३३३ करोड़ रुपए यानी लगभग दूनी हो गयी। (ब्रिटिश एसोसिएटेड चेम्बर्स इन इंडिया के अनुमानानुसार)

१९२९-३३ के विश्वव्यापी घोर आर्थिक संकट की चपेट में हिन्दुस्तान भी आया। कीमतें गिरने के कारण हिन्दुस्तान से ब्रिटिश पूंजीपतियों को मिलनेवाला खिराज, कर्ज का सूद आदि दूना हो गया। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने यह रकम कम न की और बिना किसी मुलाहजे के वसूल की। यूरोप को अमरीकी राष्ट्रपति हूवर के प्रस्ताव के अनसार कर्ज का भुगतान बन्द रखने की सुविधा दी गयी, लेकिन यही सुविधा भारत को न दी गयी। जर्मनी पर लदा कुछ कर्ज माफ कर दिया गया, लकिन भारत पर लादे गये कर्ज की कानी कौड़ी भी माफ न की गयी। ब्रिटेन को अमरीका से मिले कर्ज का भुगतान अस्वीकार करने का अधिकार दिया गया, लेकिन भारत को वही अधिकार न दिया गया। ब्रिटिश साम्राज्यवादी खिराज वसूल करने के लिए भारत का सोना ढो-ढोकर ब्रिटेन ले गये।

१९३१-३५ के दौरान ३२० लाख औंस से ज्यादा सोना भारत से ब्रिटेन ले जाया गया, जिसकी कीमत २० करोड़ ३० लाख पौण्ड थी। (इकानामिस्ट, लन्दन १२ दिसम्बर १९३६) घोर आर्थिक संकट के पहले ब्रिटेन के खजाने में भी इतना सोना न था। १९३६-३७ ई० में फिर ३ करोड़ ८० लाख पौण्ड का सोना ब्रिटेन ले जाया गया। (इकानामिस्ट लन्दन, २ अप्रैल १९३८) यानी १९३१-३७ ई० के सात वर्षों के दौरान २४ करोड़ १० लाख पौण्ड का सोना ब्रिटिश साम्राज्यवादी भारत से उठा ले गये। यह हमारे देश के किसानों और गरीबों की गाढ़ी कमायी थी। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने इस तरह भारत को लूटकर आर्थिक संकट के कारण डाँवाडोल अपनी आर्थिक हालत सुधारी; दुनिया में फिर अपनी साख जमायी।

हिन्दुस्तान में ब्रिटिश पूंजी आयी, लेकिन क्या उसने सचमुच इस देश का औद्योगिक विकास किया? नहीं। ज्यादातर ब्रिटिश पूंजी चाय, रबड़ और कॉफी के बगानों, कोयलाखानों, रेलवे और सरकारी कामों, बैंकों और बीमा कंपनियों में लगायी गयी। जूट मिलें और कुछ कपड़ा मिलें भी खोली गयीं, लेकिन बुनियादी उद्योग खोलने की चेष्टा न हुई। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने हिन्दुस्तान का औद्योगिक विकास रोकने की हर तरह कोशिश की।

---

१. ब्रिटेन ने १९३२ में ओटावा में अपने मातहत देशों का अर्थनीतिक सम्मेलन बुलाया था। भारतवासियों और भारतीय विधान सभा के आम विरोध के बावजूद ब्रिटेन ने फैसला करवाया कि भारत ब्रिटेन के माल को प्राथमिकता देगा।

कुछ तथ्यों पर नजर डालते ही तसवीर साफ हो जाती है। जनगणना की रिपोर्टें बताती हैं कि १९११ और १९३१ ई० के बीच उद्योगों पर निर्भर करनेवाले लोगों की संख्या घट गयी और खेती पर निर्भर करनेवालों की संख्या बढ़ गयी। उद्योगों पर निर्भर करनेवालों की संख्या १९११ में ११.२ प्रतिशत, १९२१ में १०.४९ प्रतिशत और १९३१ में १०.३८ प्रतिशत थी।

उद्योगों में काम करनेवाले मजदूरों की संख्या के बारे में सरकारी रिपोर्ट इस पर और भी ज्यादा प्रकाश डालती है। वह बताती है कि १९११, १९२१ और १९३१ में हिन्दुस्तान की जनसंख्या लगभग ३१ करोड़ ५२ लाख, ३१ करोड़ ९० लाख और ३५ करोड़ २९ लाख थी। इनमें काम करनेवालों की संख्या क्रमशः १४ करोड़ ९० लाख, १४ करोड़ ६० लाख और १५ करोड़ ४० लाख थी। लेकिन उद्योगों में काम करने वालों की संख्या क्या थी? १९११ में १ करोड़ ७५ लाख, १९२१ में १ करोड़ ५७ लाख और १९३१ में १ करोड़ ५३ लाख। अर्थात् बीस साल में जनसंख्या बढ़ी, काम करनेवालों की संख्या बढ़ी, लेकिन उद्योग-धन्धों में काम करनेवाले मजदूरों की संख्या २२ लाख कम हो गयी।

ये तथ्य साफ जाहिर करते हैं कि ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने भारत को औद्योगिक देश न बनाकर खेतिहर उपनिवेश ही बनाने की चेष्टा की। ब्रिटिश सौदागरों के आने के समय इस देश के उद्योग-धन्धों का विकास जिस तरह हो रहा था, अगर वही स्वाभाविक क्रम जारी रहता और भारत पराधीन न होता, तो वह बहुत पहले एक महान औद्योगिक देश होता।

हिन्दुस्तान में ब्रिटिश पूंजी के आगमन की बात से यह धारणा पैदा हो सकती है कि ब्रिटिश साम्राजियों ने अपनी गाँठ से पैसा निकाल कर भारत में लगाया। लेकिन सच्चाई बिल्कुल उल्टी है। यह हिन्दुस्तान का ही पैसा था, जो वापस हिन्दुस्तान में ज्यादा शोषण के लिए लगाया गया था। हम पहले बता आये हैं कि किस तरह इस देश को लूटकर ब्रिटिश पूंजीवादी लुटेरे भारतवासियों के पसीने की कमायी अपने देश ले जाते रहे हैं। उसी विशाल धन राशि का एक हिस्सा उन्होंने इस देश में वापस लगाया, इस देश की भलाई के लिए नहीं, अपना मुनाफा बढ़ाने के लिए, भारतवासियों का नये ढंग से शोषण करने के लिए। इसलिए अगर आज ब्रिटिश पूंजी का राष्ट्रीयकरण बिना मुवावजे किया जाता है, तो यह कोई अन्याय न होगा। इसके विपरीत, मुवावजा देना अन्याय के सामने सर झुकाना होगा।

भारत को लूटने और उसे औद्योगिक देश न बनने देने की नीति ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने दूसरे महायुद्ध के जमाने में भी जारी रखी। ब्रिटेन अरबों रुपए का भारत का कर्जदार बना, पर ब्रिटिश साम्राजियों ने न तो युद्ध के दौरान और न उसके बाद हमारे उद्योगों के लिए नयी मशीनें दीं, न दूसरे देशों से लाने दीं। उल्टे दूसरे महायुद्ध का बोझ भारतीय जनता पर लादकर उसकी हालत बदतर की।

अध्याय २

सन्यासी विद्रोह

(१७६[illegible]१८००)

ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने छल-बल से भारत पर अधिकार जमाया और उसे तरह-तरह से लूटकर तबाह कर दिया। क्या भारत की जनता उनकी लूट-खसोट चुपचाप देखती रही? प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री से साफ जाहिर है कि उसने ऐसा नहीं किया। उसने बार-बार विद्रोह कर अंगरेज लुटेरों और उनके गुर्गों—जमींदारों तथा साहूकारों को मार भगाने की कोशिश की। भारत की जनता के इस संग्राम ने विभिन्न समय में विभिन्न रूप धारण किये। लक्ष्य, हिस्सा लेनेवाले वर्गों और कौशल के लिहाज से इन संघर्षों के कई रूप रहे हैं।

पलासी और बक्सर के युद्धों में ब्रिटिश पूंजीवादियों की विजय के बाद ही हम किसानों और कारीगरों को इन नये लुटेरों और उनके समर्थक जमींदारों तथा साहूकारों से संघर्ष करते पाते हैं। उनका पहला विद्रोह इतिहास में संन्यासी-विद्रोह के नाम से मशहूर है। यह विद्रोह १७६३ में बंगाल और बिहार में शुरू हुआ और १८०० तक चलता रहा।

इस विद्रोह में हिस्सा लेनेवाले कौन थे? इसका नाम सन्यासी विद्रोह क्यों पड़ा? ईस्ट इंडिया कम्पनी के गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स ने इस विद्रोह का नाम सन्यासी विद्रोह दिया था और इसे 'हिन्दुस्तान के यायावरों का पेशेवर उपद्रव, दस्युता और डकैती' बताया था। कितने ही इतिहासकारों ने हेस्टिंग्स के सुर में सुर मिलाया है। लेकिन सरकारी दस्तावेजों की छानबीन करने से पता चल जाता है कि यह ब्रिटिश पूंजीवादियों और हिन्दुस्तानी जमींदारों के खिलाफ किसानों का विद्रोह था। विद्रोही सेना और विद्रोह के नेता जहां गये, साधारण किसानों ने उनका स्वागत किया, उनकी सहायता की और विद्रोही सेना में शामिल होकर उसकी शक्ति बढ़ायी।

भारत के सरकारी इतिहास और गजेटियरों के रचयिता सर विलियम हन्टर ने, जो स्वयं ब्रिटिश शासकों के वर्ग के थे, साफ शब्दों में लिखा कि सन्यासी विद्रोह किसान विद्रोह था। ये विद्रोही और कोई नहीं, मुगल साम्राज्य की सेना के बेकारी और भूख से पीड़ित सैनिक तथा भूमिहीन और गरीब किसान थे। हन्टर ने लिखा है कि ये "जीवन-यापन के शेष उपाय का सहारा लेने को बाध्य हुए थे। ये तथाकथित गृहत्यागी और सर्वत्यागी सन्यासियों के रूप में पचास-पचास हजार के दल बांधकर सारे देश में घूमा करते।"[1]

1. विलियम विल्सन हंटर, एनाल्स आफ रूरल बेंगाल, १९६५ का संस्करण, पृ० ४४

सरकारी इतिहास और गजेटियर के रचयिताओं में प्रमुख तथा ब्रिटिश प्रशासक ओमैली ने हन्टर के मत को दोहराया है। उनके मतानुसार विद्रोही "ध्वस्त सेना के सैनिक और सर्वहारा किसान" थे। "मुगल साम्राज्य के पतन के फलस्वरूप बहुत से सैनिकों की जीविका चली गयी थी ; उनकी कुल संख्या लगभग २० लाख थी।" "जमीन से बेदखल, सर्वहारा किसानों और कारीगरों ने उनकी संख्या बढ़ायी।"[१]

प्राप्त तथ्यों से पता लगता है कि इस विद्रोह में मुख्यतः तीन शक्तियाँ शामिल थीं : (१) प्रधानतः बंगाल और बिहार के कारीगर और किसान जिन्हें ब्रिटिश पूंजीवादियों ने तबाह कर दिया था ; (२) मरते हुए मुगल साम्राज्य की भंग सेना के बेकारी और भूख से पीड़ित सैनिक जो खुद किसानों के ही परिवार के थे ; और (३) संन्यासी और फकीर जो बंगाल और बिहार में बस गये थे और किसानी में लग गये थे।

किसान इस विद्रोह की मूल शक्ति थे। बेकार और भूखे सैनिकों ने इन्हें सेना के रूप में संगठित कर संघर्ष को सामरिक रूप दिया। सन्यासियों और फकीरों ने आत्म बलिदान का आदर्श और विदेशी पूंजीवादियों से देश की स्वतंत्रता का लक्ष्य निर्धारित किया।

लेस्टर हचिन्सन नामक इतिहासकार ने अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है कि सन्यासियों और फकीरों ने संग्रामी किसानों और कारीगरों के सामने विदेशियों के चंगुल से देश की मुक्ति और धर्मरक्षा का आदर्श उपस्थित किया। उन्होंने लिखा :

> "सन्यासियों ने, जो कि धार्मिक भिक्षु थे, किसानों के अर्थनीतिक विद्रोह को धार्मिक प्रेरणा दी।"[२]

उन्होंने शिक्षा दी कि देश को मुक्त करना सबसे बड़ा धर्म है। पराधीन जाति की मुक्ति के लिए 'सर्वस्वत्याग', मातृभूमि में अचल 'भक्ति', अन्याय के विनाश और न्याय की प्रतिष्ठा के लिए 'सन्यास मुंह' और प्रबल विदेशी शक्ति के विरुद्ध देशवासियों के 'ऐक्य का गठन'—ये सब उस सबसे बड़े धर्म के पालन के श्रेष्ठतम पथ हैं।

डा० भूपेन्द्र नाथ दत्त ने लिखा है : "ढाका के रमना के काली मन्दिर के महाराष्ट्रीय स्वामी जी कहा करते थे कि सन्यासी योद्धा 'ओऽम बन्दे मातरम्' का रणनाद करते थे।"[३]

बंगाल और बिहार में फैले इस विद्रोह के नेता मजनू शाह, मूसा शाह, चिराग अली, भवानी पाठक, देवी चौधुरानी, कृपानाथ, नूरुल मुहम्मद, पीताम्बर, अनूप नारायण, श्रीनिवास आदि थे। इनमें मजनू शाह की भूमिका सबसे ज्यादा उल्लेखनीय है।

ये विद्रोही सैकड़ों और हजारों की तादाद में अपने नेता के नेतृत्व में चलते, ईस्ट इंडिया कम्पनी की कोठियों और जमींदारों की कचहरियों को लूटते और उनसे कर वसूल करते। ब्रिटिश शासकों ने उन्हें डकैत की संज्ञा दी, लेकिन बात उल्टी थी। डकैत

१. एल० एस० एस० ओमैली, हिस्ट्री आफ बेंगाल, बिहार एण्ड ओरिसा अन्डर ब्रिटिश रूल, १९२५ का संस्करण, पृ० २०७

२. लेस्टर हचिन्सन, दि एम्पायर आफ द नवाब्स, १८३७ का संस्करण, पृ० ९२

३. डा० भूपेन्द्र नाथ दत्त, भारतेर द्वितीय स्वाधीनता संग्राम, प्रथम खण्ड, द्वितीय संस्करण, पृ० ९७

तो ब्रिटिश शासक थे, जो हिन्दुस्तान की जनता को लूट रहे थे, तबाह कर रहे थे। ये विद्रोही इन विदेशी डकैतों और उनके देशी छोटभइयों के खिलाफ लड़ रहे थे, उन्हें भगाने की चेष्टा कर रहे थे। कहीं भी उदाहरण नहीं मिलता जहाँ उन्होंने गरीबों को सताया हो। उल्टे दर्जनों उदाहरण मिलते हैं जहाँ किसानों ने विद्रोहियों की सक्रिय सहायता की, उन्हें रसद दी, आश्रय दिया और उनके साथ मिलकर ब्रिटिश सेना का मुकाबिला किया।

इन विद्रोहियों का सबसे पहला हमला ढाका की ईस्ट इंडिया कम्पनी की कोठी पर हुआ। यह कोठी ढाका के जुलाहों, बुनकरों और कारीगरों पर हुए जुल्मों का केन्द्र थी, उनकी तबाही और बरबादी का कारण थी। इसीलिए विद्रोहियों ने ब्रिटिश सौदागरों की लूट के इस केन्द्र को खत्म करने की कोशिश सबसे पहले की।

रात के अंधेरे में विद्रोहियों ने चारों तरफ से कोठी को घेर लिया। 'ओऽम बन्दे-मातरम्' का नारा बुलन्द कर, रमना के काली मन्दिर के महाराष्ट्रीय स्वामी के मतानुसार, उन्होंने कोठी पर आक्रमण किया। कोठी के अंगरेज सौदागर सब धन-सम्पत्ति छोड़ दुम दबा कर पीछे के दरवाजे से नाव पर बैठ कर भागे। कोठी के पहरेदार उनसे भी पहले भाग खड़े हुए। ईस्ट इंडिया कम्पनी के कर्त्ताधर्त्ता राबर्ट क्लाइव ने अंगरेज सौदागरों की इस बुजदिली से नाराज होकर इस कोठी के व्यवस्थापक लीसेस्टर को पदच्युत कर दिया।[1]

विद्रोही काफी दिनों तक उस पर कब्जा जमाये रहे। दिसम्बर १७६३ के अन्त में कैप्टन ग्रान्ट नामक अंगरेज सेनापति ने बड़ी सेना ले जाकर भयंकर युद्ध के बाद फिर से कोठी पर कब्जा किया।

विद्रोहियों ने दूसरा हमला राजशाही जिले की रामपुर बोआलिया की अंगरेज कोठी पर मार्च १७६३ में किया। वे कोठी की सारी धन-दौलत उठा ले गये। साथ ही उसके व्यवस्थापक बेनेट को कैद कर पटना भेज दिया। वहाँ बेनेट विद्रोहियों के हाथ मारा गया।[2] १७६४ में उन्होंने दुबारा हमला कर इस कोठी और स्थानीय जमींदारों को लूटा।

कोचबिहार की गद्दी के लिए इस राज्य के सेनापति रुद्रनारायण और राजवंश के उत्तराधिकारी के बीच गहरा मतभेद हो गया था। रुद्रनारायण ने अंगरेजों की और राजवंश ने बाध्य होकर उत्तर बंगाल के विद्रोहियों की सहायता मांगी। अंगरेज सेनापति लेफ्टिनेन्ट मारिसन के पहुँचने के पहले ही विद्रोहियों ने कोचबिहार पर कब्जा कर लिया। १७६६ में दीनहाटा में मारिसन की सेना के साथ युद्ध हुआ। विद्रोहियों के नेता सन्यासी रामानन्द गोसाईं थे। ज्यादा सेना और अच्छे अस्त्र-शस्त्रों के कारण अंगरेजों को विजय मिली, लेकिन दो दिन बाद ही फिर आठ सौ विद्रोही चढ़ आये। अंगरेजों की तोपों की मार के सामने फिर विद्रोहियों को पीछे हटना पड़ा।

---

१ ढाका (ईस्टर्न बेंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स), कलकत्ता १९१२, पृ० ४१-४२

२ रेवेन्यू बोर्ड के नाम राजशाही के कलेक्टर का १९ मई १७६३ का पत्र (लौंग्स सेलेक्शन्स)

सम्मुख युद्ध में शत्रु को पराजित करना असंभव देख विद्रोही छोटे-छोटे दलों में बंट गये और छापामार युद्ध की नीति अपनायी। पहले उन्होंने अंगरेज सेना को दुर्बल किया और फिर अगस्त १७६६ के अन्त में चार सौ विद्रोही मारिसन की मुख्य सेना पर टूट पड़े। घमासान युद्ध के बाद मारिसन की सेना पराजित होकर भाग खड़ी हुई। ३० अक्टूबर १७६६ को एक पत्र में इस युद्ध का वर्णन करते हुए कैप्टेन रेनेलने लिखा :

"हमारी अश्वारोही रक्षक सेना के अधिक दूर अग्रसर होते ही शत्रु नंगी तलवारें हाथ में लिए गुप्त स्थान से अकस्मात निकल पड़े। मारिसन अक्षत शरीर लेकर भागने में समर्थ हुए। मेरा भाई सेनापति रिचार्ड कुछ घायल होकर प्राण लेकर भागा। मेरा अर्मीनियाई साथी मारा गया और एडजुटेन्ट बुरी तरह घायल हुआ। तलवार के आघात से मेरे दोनों हाथ बेकाम हो गये हैं और मेरी हालत शोचनीय हो गयी है।"[1]

१७६७ में सन्यासी विद्रोह के प्रधान केन्द्र पटना के आसपास के अंचल में भी विद्रोहियों की एक बड़ी सेना गठित हुई। इस सेना ने पटना की ईस्ट इंडिया कंपनी की कोठी और अंगरेजों के वफादार जमीन्दारों को लूट लिया। कंपनी की सरकार का कर वसूल करना मुश्किल हो गया। सारन जिले में पाँच हजार विद्रोहियों की संगठित सेना ने आक्रमण किया। कंपनी की दो सेनाओं के साथ इसका भयंकर युद्ध हुआ। पहले युद्ध में अंगरेज पराजित हुए।[2] विद्रोहियों ने इस जिले के हूसेपुर के किले पर अधिकार कर लिया, किन्तु कुछ दिनों के बाद तोपों के साथ कंपनी की एक बड़ी सेना आ पहुँची। पराजित होकर विद्रोहियों को किले से हट जाना पड़ा।

इसी बीच उत्तर बंगाल में तराई के जंगल में विद्रोही आ जमा हुए। तब से उत्तर बंगाल सन्यासी विद्रोह का प्रधान केन्द्र बन गया। विद्रोहियों ने जलपाईगुड़ी जिले में एक किला बनाया। किले के चारों ओर चहारदीवारी और उसके चारों ओर खाई बनायी गयी।[3]

१७६६ में उत्तर बंगाल और नेपाल की सीमा के पास अंगरेज सौदागरों का प्रतिनिधि मार्टेल बहुत से लोगों को लेकर लकड़ी कटवाने गया। विद्रोहियों ने उसे गिरफ्तार कर लिया। उनकी अदालत में मार्टेल पर मामला चला और मृत्यु दंड दिया गया। यह समाचार पाकर कैप्टेन मैकेंजी सेना लेकर उनका दमन करने आया। विद्रोही जंगल में और अंदर चले गये। १७६९ में फिर मैकेंजी सेना लेकर आया। विद्रोही फिर उत्तर की ओर हट गये। किन्तु जाड़ा आरंभ होते ही वे अंगरेज सेना पर टूट पड़े और रंगपुर तक आगे बढ़ आये। सेनापति लेफ्टिनेन्ट फिथ बड़ी सेना के साथ मैकेंजी की मदद के लिए पहुँचा। विद्रोहियों ने फिर पीछे हटने और अंगरेज सेना को

१. कलेक्टर के नाम कैप्टेन रेनेल का ३० अक्टूबर १७६६ का पत्र (लांग्स सेलेक्शन्स)
२. पटना के कंपनी के प्रधान टामस रमबोल्ड का सेलेक्ट कमेटी के पास २० अप्रैल १७६७ का लिखा पत्र, लेटर्स एण्ड रेकार्ड्स (लांग्स सेलेक्शन्स), पृ० ५२६
३. रेनेल्स जर्नल, फरवरी १७६६

जंगल में खींच ले जाने की नीति अपनायी। दिसम्बर १७६९ में विद्रोही सारी ताकत के साथ नेपाल की सीमा के मोरंग अंचल में अंगरेज सेना पर टूट पड़े। किथ मारा गया, अंगरेज सेना नष्ट हो गयी।[१]

१७७०-७१ में बिहार के पूर्णिया जिले में विद्रोहियों ने नया आक्रमण आरंभ किया। अंगरेजों ने मुकाबले के लिए बड़ी सेना इकट्ठा कर रखी थी। फलतः वे विद्रोहियों को हराने और ५०० विद्रोहियों को कैद करने में सफल हुए। इन कैदियों से अंगरेज अधिकारी विद्रोहियों के बारे में जो तथ्य संग्रह कर सके, वे मुर्शिदाबाद के रेवेन्यू बोर्ड के पास भेजे गये। इन तथ्यों से ज्ञात हुआ कि सभी कैदी स्थानीय किसान थे। वे सभी शान्तिप्रिय और सीधे-सादे नागरिक थे, उनका नेता भी स्थानीय किसान था। सभी विद्रोही उसे जानते थे और प्यार करते थे।[२]

इसी समय दिनाजपुर में पाँच हजार विद्रोहियों की सेना के गठन और रंगपुर, दिनाजपुर तथा मैमनसिंह के विद्रोहियों के बीच घनिष्ठ संपर्क के प्रमाण पाये जाते हैं। फरवरी १७७१ में ढाका जिले के विभिन्न स्थानों में अंगरेजों की कोठियाँ और जमींदारों की कचहरियाँ लूटी गयीं।

उत्तर बंगाल में अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए विद्रोहियों के नेता ने दिनाजपुर, बगुड़ा और जलपाईगुड़ी जिलों में कई दुर्ग बनाये। इनमें प्राचीन नगर महास्थान गढ़ और पौण्ड्रवर्द्धन के दुर्ग विशेष उल्लेखनीय हैं। फरवरी १७७१ के अन्त में मजनू शाह के नेतृत्व में अढ़ाई हजार विद्रोहियों की सेना ने लेफ्टिनेन्ट टेलर और लेफ्टिनेन्ट फेन्टहाम की बड़ी अंगरेज सेना का सामना किया। विद्रोहियों की हार के बाद मजनू शाह ने महास्थान गढ़ में शरण ली और बाद में उन्हें संगठित करने के लिए बिहार चले गये।

१७७१ की शरद ऋतु में उत्तर बंगाल में फिर विद्रोही इकट्ठा हुए। पटना अंचल से एक बड़ी सेना उत्तर बंगाल आयी। इन विद्रोहियों ने उत्तर बंगाल की कंपनी की कोठियों और अत्याचारी धनियों तथा जमीन्दारों को लूटा। विद्रोहियों के आक्रमण के बारे में एक दिलचस्प पत्र पढ़िए :

> "मेरा हरकारा खबर ले आया कि कल फकीरों का एक बड़ा दल सिलबेरी (बगुड़ा जिला) के एक गाँव में आकर इकट्ठा हुआ। उनके नेता मजनू ने अपने अनुयायियों को कठोर आदेश दिया कि वे आम जनता पर कोई अत्याचार या बल प्रयोग न करें। आम जनता जो कुछ अपनी इच्छा से देती है उसे छोड़कर और कुछ न लें। लेकिन मुझे खबर मिली है कि उन्होंने दयाराम राय के अधिकार के नूरनगर गाँव की कचहरी से पाँच सौ रुपए और जनसिन परगने की कचहरी से सोलह सौ नब्बे रुपए लूट लिये हैं। अन्तिम कचहरी के सभी कर्मचारी विद्रोहियों के आगमन का समाचार सुनते ही सब रुपया-पैसा, माल-असबाब छोड़कर भाग गये।"

यह पत्र नाटोर के सुपरवाइजर ने २५ जनवरी १७७२ को रेवेन्यू कौंसिल के नाम

---

१. रेनेल्स जर्नल, जनवरी १७७०

२. रेवेन्यू कौंसिल के पास पूर्णिया के सुपरवाइजर का पत्र (लांग्स सेलेक्शन्स)

लिखा। इसके बाद उसने एक पत्र भेजकर सूचित किया कि ग्रामवासियों ने खुद आगे बढ़कर विद्रोहियों के खाने-पीने का इंतजाम किया है। बहुत से किसान विद्रोहियों के दल में शामिल हो गये हैं। किसानों ने ब्रिटिश शासकों को कर देना बन्द कर दिया है। वे वह कर विद्रोहियों को सौंप रहे हैं। सुपरवाइजर का यह पत्र सूचित करता है कि विद्रोही ब्रिटिश शासकों और अत्याचारी जमीन्दारों को लूटते थे, लेकिन आम जनता के साथ अच्छा बर्ताव करते थे। अपने इसी व्यवहार के कारण वे बड़े जनप्रिय थे।

१७७३ में विद्रोहियों का प्रधान कार्यक्षेत्र रंगपुर था। इन विद्रोहियों का दमन करने के लिए अंगरेज सेनापति टामस बड़ी भारी सेना लेकर आया। ३० दिसम्बर १७७२ को प्रातः काल रंगपुर शहर के नजदीक श्यामगंज के मैदान में उसने विद्रोहियों पर आक्रमण आरंभ किया। विद्रोहियों के चतुर नेताओं ने हार कर भागने का बहाना किया और टामस की सेना को पास के जंगल में खींच ले गये। विजय के आनन्द में अंगरेज सेना ने गोला, गोली आदि समाप्त कर दिये। इसके बाद ही विद्रोही घूमकर अंगरेज सेना पर टूट पड़े और चारों तरफ से उसे घेर लिया। इस अंचल के सब गांवों के किसान तीर-धनुष, भाला-बल्लम, लाठी-डंडा लेकर आ पहुँचे और विद्रोहियों के साथ मिलकर अंगरेज सेना पर हमला करने लगे। सेनापति टामस ने अपनी सेना के देशी सिपाहियों को जवाबी हमला करने का हुक्म दिया, लेकिन इन सिपाहियों ने अपने देश के किसानों पर आक्रमण करने से इन्कार कर दिया। थोड़ी देर में ही अंगरेज सेना हार कर भाग खड़ी हुई। टामस मारा गया। इस घटना पर अफसोस करते हुए रंगपुर के सुपरवाइजर पार्लिंग ने रेवेन्यू कौंसिल के पास ३१ दिसम्बर १७७२ को लिखा:

> "किसानों ने हमारी सहायता तो की ही नही, बल्कि उन्होंने लाठी आदि लेकर सन्यासियों की तरफ से युद्ध किया। जो अंगरेज सैनिक जंगल की लम्बी घास के अन्दर छिपे थे, किसानों ने उन्हें खोजकर बाहर निकाला और मौत के घाट उतारा। जो भी अंगरेज सैनिक गाँव में घुसे, किसानों ने उनकी हत्या की और बन्दूकों पर कब्जा किया।"

किसान किस तरह विद्रोहियों का साथ देते थे, यह पत्र इसका जीता जागता प्रमाण है।

१ मार्च १७७३ को तीन हजार विद्रोहियों ने मैमनसिंह जिले में अगरेज सेनापति कैप्टेन एडवर्ड्स की सेना नष्ट कर दी। खुद एडवर्ड्स मारा गया। सिर्फ बारह सैनिक बचकर भाग सके। इस युद्ध में एक देशी सूबेदार और एक देशी एडजुटेन्ट ने कई सिपाहियों को साथ लेकर विद्रोहियों की मदद की थी। बाद में ये दोनों अंगरेजों के हाथ पड़ गये और तोपों से उड़ा दिये गये।

विद्रोहियों के क्रियाकलापों और उनके साथ किसानों के सहयोग को बढ़ता देख गवर्नर वारेन हेस्टिंग्स ने घोषणा की कि जिस गाँव के किसान विद्रोहियों के बारे में ब्रिटिश शासकों को खबर देने से इन्कार करेंगे और विद्रोहियों की मदद करेंगे, उन्हें गुलामों की तरह बेंच दिया जायगा। इस घोषणा के अनुसार कई हजार किसानों को गुलाम बना दिया गया। कितने ही किसानों को बीच गाँव में फांसी दी गयी और लाश को लटका कर
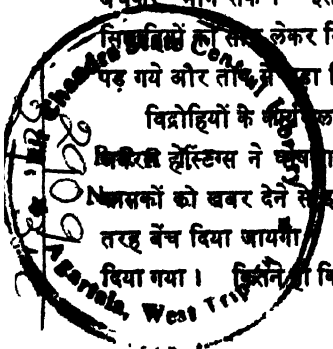
रखा गया ताकि किसान डर जायें। विद्रोही होने या विद्रोही के साथ सम्पर्क रखने का सन्देह होते ही बिना मामला-मुकदमा फांसी पर लटका देने की घटनाएँ पायी जाती हैं। जिन्हें फांसी दी जाती, उनके परिवार के सब लोगों को हमेशा के लिए गुलाम बना दिया जाता। ब्रिटिश शासकों के इन अत्याचारों से किस भारतीय का खून न खौलेगा?

१७७४-७५ में मजनू शाह ने बिहार और बंगाल के विद्रोहियों को फिर से संगठित करने की कोशिश की। १५ नवम्बर १७७६ को मजनू की सेना और कंपनी की सेना के बीच टक्कर उत्तर बंगाल में हुई। अंगरेज सेना चुपचाप विद्रोहियों के शिविर के पास पहुँच गयी थी। विद्रोही पहले पीछे हटे और अंगरेज सेना को जंगल की तरफ खींच ले गये। फिर यकायक घूमकर अंगरेज सेना पर टूट पड़े। कई अंगरेज सैनिक मारे गये और अंगरेज सेनापति लेफ्टिनेन्ट राबर्टसन गोली की चोट से पंगु हो गया। इस तरह अंगरेज सेना के हाथ से निकल जाने में मजनू शाह और उनके साथी कामयाब हुए।

मजनू शाह ने कई साल बिहार और बंगाल में घूम-घूमकर विद्रोहियों को संगठित करने की कोशिश की। सेना के लिए कितने ही जमीन्दारों से कर भी वसूल किया। अंगरेज शासकों ने उन्हें पकड़ने की बार-बार कोशिश की, पर असफल रहे।

२९ दिसम्बर १७८६ को अंगरेजों से युद्ध करते हुए उनका घेरा तोड़कर निकलने में मजनू शाह सख्त घायल हुए और एक आध दिन बाद ही सन्यासी विद्रोह के इस सर्वश्रेष्ठ नेता की मृत्यु हो गयी।

इसके बाद सन्यासी विद्रोह से प्रायः अलग हो गये, किन्तु फकीर मूसा शाह के, जो मजनू शाह के शिष्य और भाई थे, नेतृत्व में विद्रोह चलाते रहे। मजनू शाह के दो और शिष्य फेरागुल शाह और चिराग अली के नाम भी उल्लेखनीय हैं। नेतृत्व की प्रतिद्वन्द्विता के कारण फेरागुल शाह ने मूसा शाह को मार दिया।

जून १७८७ से विद्रोहियों के विख्यात नेता भवानी पाठक और देवी चौधुरानी का उल्लेख मिलता है। आखिर में एक दिन भवानी पाठक अपनी छोटी टुकड़ी के साथ, अंगरेजों की विशाल सेना के घेरे में पड़ गये। जल युद्ध में भवानी पाठक और उनके साथी मारे गये। देवी चौधुरानी इसके बाद भी लड़ती रहीं, पर आखिर में उनका क्या हुआ, अज्ञात है।

सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक इस विद्रोह का उल्लेख मिलता है। बंगाल के उपन्यासकार बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने आनन्द मठ में सन्यासी विद्रोह का जो चित्रण किया है, वास्तविक रूप उससे भिन्न था। फिर भी 'आनन्द मठ' बंगाल के मध्यवर्ग के उग्रवादियों का बायबल और सन्यासी विद्रोह उनका आदर्श बना।

अध्याय ३

मेदिनीपुर के विद्रोह

(१७६६-६७)

१७६० में ईस्ट इंडिया कंपनी ने मीरकासिम से बर्दवान और चटगाँव के साथ ही मेदिनीपुर जिले को भी अपने अधिकार में ले लिया। अंगरेज सौदागरों ने अपने शोषण और उत्पीड़न के चंगुल में इस जिले को भी जकड़ लिया। लेकिन यहाँ के किसानों तथा अन्य लोगों ने इसका भरसक मुकाबिला करने की कोशिश की। आदिवासी किसानों ने तो लम्बा संघर्ष चलाकर अंगरेजों के लिए अपना राज्य स्थापित करना असंभव बना दिया था। जमीन्दारों ने भी किसानों के साथ मिलकर अंगरेजों के खिलाफ हथियार उठाये।

१६९६-९७ में इस जिले के चितुवा-बरदा परगने के जमीन्दार शोभा सिंह और ओड़िसा के पठान सरदार रहीम खाँ के नेतृत्व में मुगल शासन और बर्दवान के राजा के शोषण-उत्पीड़न के खिलाफ विद्रोह हुआ था। यह विद्रोह दरअसल इस अंचल के बागदी नामक आदिवासी किसानों का विद्रोह था। अवश्य ही शोभा सिंह और रहीम खाँ ने इसका व्यवहार अपने स्वार्थ की सिद्धि में किया था। इस विद्रोह के दौरान बंगाल के किसानों और अंगरेज सौदागरों के बीच सशस्त्र संघर्ष हुआ।

ये विद्रोही युद्ध करते-करते मुर्शिदाबाद, कासिमबाजार, राजमहल, मालदह और हुगली पर अधिकार कर वर्त्तमान कलकत्ता तक पहुँच गये थे। उसके विपरीत स्थित ताम्रा[1] के मुगल दुर्ग को उन्होंने घेर लिया था। उस वक्त अंगरेज और पुर्त्तगाली सौदागरों ने अपने जंगी जहाज और सैनिक मुगल सेना की सहायता को भेजे थे। इन लोगों ने मिलकर विद्रोहियों को पराजित किया था। इसके बाद मुगल सेना ने आक्रमण कर विद्रोह को ध्वंस कर दिया। इस सहायता के लिए अंगरेज सौदागरों को मुगल शासकों से पुरस्कार भी मिला। उन्होंने अंगरेज सौदागरों के हाथ कलकत्ता, सुतानटी और गोबिन्दपुर बेच दिया।[2] यहीं वर्त्तमान कलकत्ता आबाद है।

मेदिनीपुर जिले की बलरामपुर जमीन्दारी के केदारकुण्ड परगने में घोड़ुई नामक आदिवासी रहते थे। आदिम ढंग की खेती कर ये अपनी जीविका चलाते थे। जमीन्दार के अत्याचार के खिलाफ इन आदिवासी किसानों ने कई बार विद्रोह किया।[3]

उस वक्त जमीन्दार थे शत्रुघ्न चौधुरी। उन्होंने घोड़ुई लोगों के विद्रोह का दमन

१. ताम्रा वर्त्तमान बोटानिकल गार्डेन के पास था। उसका पूरा नाम थाना मकवा था।
२. एल० एस० एस० ओमैली, बंगाल, बिहार एण्ड ओरिसा अण्डर ब्रिटिश रूल, पृ० ३९-४०
३. त्रैलोक्यनाथ पाल, मेदिनीपुरेर इतिहास, खण्ड ३, पृ० ४०

करने का भार अपने पुत्र नरहरि चौधुरी को सौंपा। घोड़ुई प्रत्येक वर्ष कार्त्तिक की अमावस्या को अपने सरदार के घर में इकट्ठा होते और उसे कर देते। ऐसे ही एक दिन नरहरि चौधुरी ने सशस्त्र सिपाहियों के साथ निरस्त्र घोड़ुई लोगों पर हमला किया। इस आक्रमण में ७०० घोड़ुई मारे गये। जहाँ सात सौ सर काट कर रखे गये थे, उस स्थान का नाम 'मुण्डमारी' और जहाँ शव रखे गये थे, उसका नाम 'गर्दनमारी' पड़ा।[1]

घोड़ुई लोगों ने दूसरा विद्रोह उस वक्त किया जब खुद नरहरि चौधुरी जमीन्दार था। विद्रोहियों का दमन करने के लिए उसने वही पुरानी चाल अपनायी। १७७३ ई० कार्त्तिक की अमावस्या की रात को उसने अपने सरदार के यहाँ इकट्ठा निरस्त्र घोड़ुई लोगों पर आक्रमण किया। इस बार भी उसने कई सौ आदमियों की हत्या की।[2]

इस जमाने में मेदिनीपुर जिले के 'जंगलमहाल' में खैरा और माझी नामक आदिवासी रहते थे। वे भी पुराने ढंग की खेती कर जीवन यापन करते थे। जमीन्दार के अत्याचार से वे जमीन के अन्दर घर बनाकर गुप्त रूप से रहते थे। उनके सरदारों के अलग-अलग अड्डे होते थे। जमीन्दार के अत्याचारों का मुकाबिला वे तीर-धनुष से करते। बंगाल में जब अंगरेजों का राज आरंभ हुआ तो खैरा और माझी किसानों ने स्थानीय जमींदारों और अंगरेज शासकों से बहुत दिन तक लोहा लिया।[3]

खैरा और माझी विद्रोह के शान्त होते-न-होते इस जिले में जमीन्दारों के नेतृत्व में चोआड़ों ने मोर्चा लगाया। चोआड़ ज्यादातर पाइक (सिपाही) का काम स्थानीय जमीन्दारों के यहाँ करते थे। वेतन के बदले उन्हें जमीन मिलती थी, जिसे 'पाइकान जमीन' कहते थे। ये पाइक तीर, धनुष, फरसा, बरछा, बल्लम आदि हथियार लेकर युद्ध करते। किसी-किसी के पास बन्दूकें भी होती थीं।

जमीन्दारों और चोआड़ों के इस विद्रोह के कारण क्या थे? इस सम्बन्ध में श्री योगेशचन्द्र बसु ने 'मेदिनीपुर के इतिहास' में लिखा :

> "१७६६ ई० में कंपनी ने फैसला किया कि मेदिनीपुर जिले के उत्तर और पच्छिम भाग के जंगलमहाल में सेना भेजकर यहाँ के सब स्थानों के बन्धन-हीन जमीन्दारों को राजस्व देने को बाध्य करेंगे और उनके दुर्गों को तोड़ कर दुष्टों के इस घोंसले को नष्ट कर देंगे। इस समाचार के फैलने के साथ ही साथ १७६७ के आरंभ में ही कम से कम एक सौ मील में फैले सारे जंगलमहाल में भयंकर विद्रोह की आग जल उठी।"[4]

मुगल शासन में जमीन्दार जमीन के मालिक न थे। वे भूमि राजस्व संग्रह कर सरकार को दिया करते थे। अंगरेजों ने भी आरंभ में यही रास्ता अपनाया, किन्तु मुगल शासन के अन्तिम भाग में जंगलमहाल के जमीन्दार अपने को स्वाधीन अनुभव करने लगे थे। इसलिए वे अंगरेजों की अधीनता स्वीकार करने को तैयार न हुए। अपनी छोटी-मोटी सेना लेकर वे अंगरेजों से भिड़ गये।

---

१. वही, पृ० ४१ २. वही, पृ० ५१

३. योगेशचन्द्र बसु, मेदिनीपुरेर इतिहास, खण्ड १, पृ० २३५ ४. वही, पृ० २३७

उस वक्त मेदिनीपुर में ईस्ट इंडिया कंपनी का रेजीडेन्ट ग्राहम था। उसने लेफ्टि-नेन्ट फर्गुसन को सेना देकर इन जमीन्दारों को वश में करने और जंगलमहाल पर कब्जा करने भेजा। जमीन्दारों ने अपनी शक्ति के अनुसार कंपनी सेना का मुकाबिला किया, किन्तु पराजित होकर एक-एक कर अधीनता स्वीकार कर ली। रामगढ़, लालगढ़, जामबनी, शालदा आदि के जमीन्दार अंगरेजों के अधीन हो गये। इस संग्राम में चोआड़ पाइकों ने अपने जहरीले तीरों से कंपनी सेना को काफी नुकसान पहुँचाया।

मेदिनीपुर जिले की सीमा पर स्थित घाटशिला में १७७० में चोआड़ों ने वहाँ के राजा के नेतृत्व में अंगरेजों का जबर्दस्त मुकाबिला किया था। इसका विस्तार के साथ वर्णन आगामी अध्याय में किया गया है।

अंगरेज सौदागरों के खिलाफ इस संग्राम में इस अंचल के किसानों ने जमीन्दारों का साथ दिया था; निस्सन्देह नेतृत्व जमीन्दारों के ही हाथ में था।

अध्याय ४

धलभूमि का विद्रोह

(१७६६-७७)

बंगाल का मेदिनीपुर का जिला ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ १७६० में आया। इस जिले के पच्छिम के जमीन्दारों ने मराठा आक्रमणों के समय अपने को स्वतंत्र कर लिया था। वे अपने को स्वतन्त्र समझते थे और इसलिए फिरंगियों को अपना स्वामी मानने को तैयार न हुए।

इनको काबू में करने के लिए ईस्ट इंडिया कंपनी ने १७६६ में लेफ्टिनेन्ट जान फर्गुसन के नेतृत्व में कुछ सेना भेजी। वह मेदिनीपुर के पच्छिम के जमीन्दारों, बाँकुड़ा के छातना, सुपुर और अंबिकानगर के जमीन्दारों तथा मानभूम के बड़ाभूम के जमीन्दार को अंगरेजों की अधीनता स्वीकार कराने में समर्थ हुआ। लेकिन धलभूमि (घाटशिला) के जमीन्दार ने ऐसा करने से इन्कार किया। उसने अंगरेजों का मुकाबिला करने की तैयारी की। घाटशिला की तरफ आनेवाले जितने भी रास्ते थे, उन सबकी नाकेबन्दी की।

मार्च १७६७ के मध्य फर्गुसन ने जामबनी से घाटशिला पर चढ़ाई की। उसका रास्ता राजा के दो हजार सैनिकों ने आ रोका। बेन्द के पास खंभेनुमा मोर्चेबन्दी कर उन्होंने दुश्मन की सेना को काफी हैरान किया, लेकिन दुश्मन की बन्दूकों की मार के सामने वे टिक न सके। फर्गुसन इस स्थान पर कब्जा कर आगे बढ़ा। राजा के सैनिकों ने फिर दूसरे दिन हमला करने की कोशिश की, लेकिन गोलियों की बौछार से फिर वे नजदीक न आ सके।

इसके बाद राजा के आदमियों ने नया कौशल अपनाया। वे जंगल में फर्गुसन की सेना के दोनों तरफ रहते और हैरान करते। अवश्य ही बन्दूकों की वजह से सामने न आते। लड़ते-लड़ते फर्गुसन अपनी छावनी चाकुलिया पहुँचा। उसके बाद फिर जब वह आगे बढ़ा, राजा के आदमियों ने वही कौशल अपनाया। ३२ मील जंगल को कदम-कदम पर लड़ते हुए फर्गुसन पार कर २२ मार्च १७६७ को घाटशिला पहुँचा और किले पर कब्जा कर लिया। राजा अपने सैनिकों के साथ किले से हट गया था और जाते वक्त आग लगा गया था, ताकि वहाँ का कोई सामान दुश्मन के काम न आ सके। उसने आसपास के गाँव भी खाली करा दिये थे या जला दिये थे और ऐसी हालत पैदा करने की चेष्टा की थी कि दुश्मन को रसद न मिल सके। किन्तु दुश्मन के भाग्य से किले का कुछ अन्न जलने को बाकी रह गया था। फर्गुसन के सैनिकों ने उसे जल्दी बचाया, वरना रसद के अभाव से ही उसे वापस लौटना पड़ता।

इसके बाद फर्गुसन राजा को पकड़ने में सफल हुआ। राजा कैद कर मेदिनीपुर भेज दिया गया और उसका भतीजा जगन्नाथ धल ५,५०० रुपया वार्षिक राजस्व देने के

वादे पर राजा बनाया गया। लेकिन इस नये राजा से भी अंगरेजों की जल्दी ही ठन गयी। एक छोटे जमीन्दार को गिरफ्तार करने का हुक्म अंगरेजों ने इस राजा को दिया। उसने अंगरेजों की आज्ञा का पालन न किया और न उनके बुलाने पर बलराम-पुर गया जहाँ फर्गुसन पड़ाव डाले पड़ा था। फलतः अगस्त १७६७ में फर्गुसन ने दो कंपनी सेना लेकर उस पर चढ़ाई की और उसके किले पर कब्जा कर लिया। जगन्नाथ धल जंगल भाग गया, लेकिन जल्दी ही आत्मसमर्पण कर दिया और उसे माफ कर दिया गया।

किन्तु १७६८ में नया झमेला खड़ा हो गया। राजा पर कंपनी का राजस्व चढ़ता गया। मेदिनीपुर के अंगरेज रेजीडेन्ट के बार-बार माँग करने पर भी उसने राजस्व न चुकाया। दरअसल वह चुकाना भी न चाहता था। उल्टे वह स्वाधीन बनने की गुपचुप चेष्टा कर रहा था। इसलिए लेफ्टिनेन्ट रूक को उसका दमन करने के लिए दो कंपनी देशी सेना के साथ जून १७६८ में भेजा गया। राजा उसके हाथ न आया, लेकिन उसका भाई नीमू धल पकड़ा गया।

जुलाई १७६८ में रूक का स्थान कैप्टन मोर्गन ने संभाला। उसने देखा कि सिर्फ राजा ही नहीं, सारा देश अंगरेजों के खिलाफ है।[1] उस अंचल के सारे जमीन्दार धलभूमि के राजा का समर्थन कर रहे थे और नरसिंह गढ़ के किले पर अधिकार करना असंभव था। ऊपर से आदेश पाकर मोर्गन ने नीमू धल को जगन्नाथ धल की जगह राजा बनाया, पर इस नये राजा के पास न तन ढकने को कपड़ा था और न पेट भरने को अन्न। मोर्गन ने लिखा :

> "चूंकि अब हमने एक नया राजा पा लिया है, जान, कंपनी को उसे धन और भोजन अवश्य देना चाहिए, क्योंकि ये दोनों उसके पास सबसे कम हैं।... वह बहुत ही गरीब है। मैं समझता हूँ कि तुम्हें चाहिए कि तुम उसे कपड़ों के कुछ टुकड़े और कुछ रेशम उपहार दो, क्योंकि राजा के लायक उसकी शकल-सूरत जरा भी नहीं।"[2]

विद्रोहियों ने मोर्गन को इस तरह हैरान किया कि वह तंग आ गया। विद्रोही कभी भी उसके सामने न आते थे। छोटे-छोटे जत्थे बनाकर अर्थात् छापामार दस्तों के रूप में वे जंगल में उसके चारों तरफ मंडराया करते और ज्योंही मौका मिलता, उसकी सेना पर हमला कर फिर जंगल में गायब हो जाते। उसने लिखा :

> "युद्ध के बारे में वे कतई कुछ नहीं जानते। वे बर्रेयों के झुण्ड की तरह हैं। वे अपने तीरों से आपको डंक मारने की कोशिश करते हैं और फिर हवा हो जाते हैं। उनमें से एक को भी मारना असंभव है, क्योंकि वे हमेशा अपने को बहुत बड़ी दूरी पर रखते हैं और आप पर अपने तीर बरसाते हैं, जो आप कल्पना कर सकते हैं, कभी भी या जरा भी कारगर नहीं होते। इस देश की वर्तमान हालत

१. बंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, सिंहभूमि, सराइकेला एण्ड खरसवान, पृ० २८
२. वही, पृ० २८

के बारे में, अगर मैं अपनी वास्तविक भावना आप से कहूँ तो, मैं सोचता हूँ कि पहले इसको जीतना जितना मुश्किल था, उससे ज्यादा मुश्किल काम उसे बसाना होगा। इन विद्रोहियों का नेता अब एक जवान है जो किसी खास जगह में ज्यादा दिन नहीं रहता। फलतः पुराने राजा को, जो बेवकूफ की तरह किले में फर्गुसन के आने तक बना रहा, पकड़ना जितना मुश्किल था, उससे कहीं ज्यादा मुश्किल काम इस नये राजा को पकड़ना है। मैं ईश्वर से कामना करता हूँ कि यह काम जल्दी खत्म हो जाय, क्योंकि मैं हाथ पर हाथ धरे थक गया हूँ और मेरे गरीब सिपाही बराबर बीमार पड़ रहे हैं; इस वक्त मेरे साठ से ज्यादा आदमी बुखार से पीड़ित हैं।"[१]

आगे उसने लिखा :

"मैं जगन्नाथ धल का पीछा करने में जरा भी वक्त बरबाद न करूँगा। इसका फल यह होगा कि देश के सारे लोग भाग खड़े होंगे और फिर संभवतः देश को कई महीनों तक आबाद न किया जा सकेगा, लेकिन मैं इन बदमाशों के साथ कर क्या सकता हूँ जब कि वे न तो पास आते हैं और न मेरे परवानों का उत्तर देते हैं।"[२]

मोर्गन की मुसीबत इस बात से और भी बढ़ गयी कि वहाँ के निवासियों ने उसे रसद देने से इन्कार कर दिया। उसे और उसके सिपाहियों को खाना मिलना मुश्किल हो गया। एक बार उसने लिखा कि उसे खाद्य सामग्री की खोज में किला छोड़कर जाना होगा। उसके बाद उसने फिर लिखा :

"ईश्वर की खातिर वापसी डाक से कुछ मुर्गियाँ भेज दो, क्योंकि मेरे पास खाने को कुछ भी नहीं।"[३]

लेकिन इस बीच बरसात आ गयी थी। नदियाँ उमड़-घुमड़ रही थीं। उसके पास नाव न थी। इसलिए उसको नरसिंह गढ़ में ही बन्द रहना पड़ा। उसके आदमियों को रोजाना सिर्फ एक सेर चावल खाने को मिलता।

आखिरकार अगस्त १७६८ में वह सुवर्णरेखा नदी को ऐसी नाव में बैठकर पार करने में सफल हुआ, जिसमें पानी अन्दर आता था। वह जगन्नाथ धल का पीछा करने हल्दी-पोखर चला। वहाँ भी मुसीबत उसके साथ गयी। उसे एक दलदली जमीन में पड़ाव डालना पड़ा। उसके आदमी पर आदमी बीमार हो रहे थे। ऐसा खराब मौसम उसने अपनी जिन्दगी में न देखा था। वह बार-बार उच्च अधिकारियों के पास मौसम की शिकायत भेजता और कुछ मदिरा, कुछ बराण्डी और मक्खन भेजने की अपील करता।

१७६८ के अन्त तक हालत में कुछ सुधार दीख पड़ा। सितम्बर में मेदिनीपुर के अंगरेज रेजीडेन्ट ने लिख भेजा कि घाटशिला अब एकदम शान्त है और कारोबार अब ठीक-ठाक चल रहा है। लेकिन जल्दी ही एक नयी मुसीबत सर पर आ पड़ी।

१७६९ में ५००० चोआड़ों या भूमिजों ने धलभूमि पर हमला किया और 'राजा'

---

१. वही, पृ० २८ २. वही, पृ० २८ ३. वही, पृ० २८-२९

नीमू धल को भाग कर नरसिंह गढ़ के किले में शरण लेने को बाध्य किया। इस किले की रक्षा ईस्ट इंडिया कंपनी के कुछ सिपाही कर रहे थे। इस हमले की खबर पाकर कैप्टेन फार्बेस सेना लेकर मेदिनीपुर से आया। वह चोआड़ों को वहाँ से भगाने में समर्थ हुआ। वह कुचांग में सिपाहियों का एक छोटा-सा दस्ता छोड़कर चला गया, लेकिन उसके जाते ही ये सिपाही काटकर रख दिये गये।

इस पर लेफ्टिनेन्ट गुडइयर को दो कंपनी सिपाहियों के साथ कुचांग भेजा गया। उसे निर्देश दिया गया कि वह आसपास के अंचल पर कब्जा कर ले, कंपनी के नाम पर राजस्व वसूल करे और अगर संभव हो तो वहाँ के जमीन्दार, उसके भाई और उन सब लोगों को, जिनका हाथ सिपाहियों के कत्ल में था, गिरफ्तार कर मेदिनीपुर भेज दे। कुचांग को ब्रिटिश राज्य का अंग बना लेने का भी विचार पैदा हुआ, पर तब यह मयूरभंज के स्वाधीन राजा के अधिकार में हस्तक्षेप होता, क्योंकि कुचांग और बामनघाटी के जमीन्दारों की नियुक्ति यही राजा करता था।

कुचांग को हड़पने का विचार फिलहाल छोड़ना पड़ा, लेकिन फिर भी मयूरभंज के राजा पर दबाव डालकर कुचांग के जमीन्दार को हटा दिया गया। यह जमीन्दारी भी बामनघाटी के जमीन्दार को सौंप दी गयी। इस जमीन्दार से वादा करा लिया गया कि वह मेदिनीपुर के अंगरेज रेजीडेन्ट के हुक्म को मानकर चलेगा और कंपनी की भूमि पर आक्रमण न होने देगा। अगर वह यह समझौता भंग करेगा, तो उसके हाथ से सिर्फ कुचांग ही नहीं, बामनघाटी की जमीन्दारी भी छीन ली जायेगी।

इस बीच जगन्नाथ धल अपनी ताकत बढ़ाने में व्यस्त थे। विद्रोहियों को अपनी पल्टन में भरती कर उन्होंने फरवरी १७७३ में अंगरेजों द्वारा नियुक्त राजा 'नीमू' पर धावा बोल दिया। जगन्नाथ धल की सेना बहुत बड़ी थी। चारों तरफ विद्रोहियों ने इस तरह हमला किया कि मेदिनीपुर के अंगरेज रेजीडेन्ट को उस वक्त के गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स के पास पत्र लिखकर सफाई देनी पड़ी। उसने अपनी रिपोर्ट में जमीन्दारों को विद्रोही और यहाँ के निवासियों को उदण्ड और नियंत्रणहीन बताया। उसने कहा कि लूटना-पाटना, मार-काट करना उनका स्वभाव है। इसलिए विशेष कोई चिन्ता की बात नहीं। उसने रिपोर्ट में लिखा :

> "ज्योंही फसल काट-माड़ कर इकट्ठा कर ली जाती है, वे अनाज पहाड़ियों की चोटियों पर ले जाते हैं या उसे अन्य मजबूत स्थानों में रखते हैं जो अभेद्य हैं। जब भी उनसे ज्यादा ताकतवर सेना उनका पीछा करती है वे इन स्थानों में चले जाते ह जहाँ वे बिल्कुल सुरक्षित रहते हैं और अपने ऊपर होनेवाले किसी भी आक्रमण को चुनौती दे सकते हैं। जमीन्दार लुटेरे मात्र हैं, जो अपने पड़ोसियों को और एक दूसरे को लूट लेते हैं, और उनकी रियाया डकैत है, जिसे वे खास कर अपने अत्याचारों-अनाचारों में लगाते हैं। इन आक्रमणों की वजह से जमीन्दार और उसकी रियाया को हमेशा हथियारबन्द रहना पड़ता है, क्योंकि ज्योंही फसल कट-मड़ जाती है, कोई भी जमीन्दार ऐसा नहीं जो अपनी रय्यत का आवाहन अपने

झण्डे के नीचे इकट्ठा होने का न करता हो चाहे अपनी जायदाद की रक्षा के लिए या अपने पड़ोसियों पर हमला करने के लिए। मैं कह सकता हूँ कि इस सामन्ती अराजकता का परिणाम यह है कि राजस्व की हालत बहुत खराब है, जमीन्दार विद्रोही हैं, और यहाँ के निवासी उदण्ड तथा बेकाबू हैं।"[1]

१७७३ में मेदिनीपुर का अंगरेज रेजीडेन्ट स्वीकार करता है कि धलभूमि की रियाया और जमीन्दार कोई भी अंगरेजों के काबू में नहीं। वे अंगरेज साम्राजियों के लिए सर-दर्द बने हुए हैं।

रेजीडेन्ट ने बताने की कोशिश की थी कि जैसे हर साल फसल कट-मड़ जाने के बाद इस अंचल में मार-काट चलती है, वैसा ही १७७३ में हो रहा है। लेकिन इस साल कहीं ज्यादा अशान्ति दीख पड़ी। इसलिए एक बड़ी सेना लेकर कैप्टेन फारबेस शान्ति स्थापित और अपने कठपुतले राजा की मदद करने गया। यह काम पूरा होने के बाद नरसिंह गढ़ और हल्दीपोखर में दो कंपनी सेना शान्ति बनाये रखने के लिए रखी गयी।

१७७४ में फिर चोआड़ों ने जगन्नाथ धल के नेतृत्व में आक्रमण शुरू किये। बहरा-घोड़ा से लेकर नरसिंह गढ़ के सारे गाँव या तो जला दिये गये या खाली कर दिये गये। १० अप्रैल १७७४ को हल्दीपोखर के सेनाध्यक्ष सिडनी स्मिथ ने मेदिनीपुर के रेजीडेन्ट को लिखा कि जगन्नाथ धल के नेतृत्व में विद्रोही इस तरह सब तहस-नहस कर रहे हैं कि उसके खिलाफ फौजी कार्रवाई फौरन जरूरी है। फौजी मदद की माँग करने के साथ-साथ उसने एक तोप भी माँगी। उसने लिखा:

"चूँकि ये लोग तोप के परिणाम से बहुत ही ज्यादा डरते हैं, इसलिए अगर एक भी भेज दी जाय तो उससे बड़ा काम निकलेगा।"[1]

तोप भेजी गयी या नहीं, यह हम नहीं जानते, लेकिन कंपनी की सेना की हालत के बदतर होने और विद्रोहियों के काफी शक्तिशाली होने के प्रमाण हम अवश्य पाते हैं। उपरोक्त ब्रिटिश अफसर स्मिथ ने आगामी मास अर्थात् मई १७७४ में अपने से ऊपर के अधिकारी के पास खबर भेजी कि उसे समाचार मिला है कि

"पास-पड़ोस के सारे अंचल के पहाड़ी जगन्नाथ धल के दल में शामिल हो जाने या उनके साथ मिलकर काम करने को सहमत हुए हैं, ताकि देश के हर हिस्से से हमारे सिपाहियों को मार भगाया जाय। यद्यपि इस अन्तिम समाचार पर मैं बहुत कम जोर देता हूँ, मेरी गोली-बारूद आदि इतनी खुली रहती हैं कि हमारे सन्तरियों की भरसक मेहनत के बावजूद दो या तीन दुस्साहसी आदमी अंधेरी रात में इसे नष्ट कर सकते हैं,—वैसी हालत में यह फौजी टुकड़ी विछिन्न हो जायगी, क्योंकि इन लोगों की संख्या, जो हमारे सिपाहियों की तरह ही बहादुर हैं, हमारे ऊपर काबू पा जायगी, अगर उन्हें दूर न रखा जा सका। उनके तीर हमारी संगीनों से उसी तरह श्रेष्ठ हैं, जैसे बन्दूकें तीरों से श्रेष्ठ होती हैं। जब तक जगन्नाथ धल को पराजित नहीं किया जाता, तब तक माननीय कंपनी को सुवर्णरेखा नदी के इस

---

१ वही, पृ० १०

तट से एक भी आना नहीं मिलेगा ; मिलेगा तभी जब सिपाही यहाँ रखे जायें। मेरे एक संवाद के उत्तर में पत्र लिखकर उसने (जगन्नाथ धल ने) सूचित किया है कि उसे राजा बनाया जाना चाहिए, और जब तक उसे राजा नहीं बनाया जाता, वह आग और तलवार से इस देश को नष्ट करना कभी भी बन्द न करेगा।"[१]

अंगरेज सेनाध्यक्ष इस तरह स्वीकार करता है कि विद्रोही उसके सिपाहियों से कम बहादुर नहीं। वह उनके मुकाबिले में अपनी फौजी टुकड़ी की कमजोरी भी मंजूर करता है।

हार मान कर आखिर में १७७७ में अंगरेज शासकों को जगन्नाथ धल को धलभूमि का राजा मानना पड़ा।

इस तरह सामन्ती नेतृत्व में हुए किसानों के इस विद्रोह ने आंशिक सफलता प्राप्त की। अंगरेज उपनिवेशवादियों को झख मार कर विद्रोहियों के साथ समझौता करना पड़ा और उनके नेता को राजा स्वीकार करना पड़ा।

---

१. वही, पृ० ३०

अध्याय ५

शमशेर गाजी का विद्रोह

(१७६७-६८)

त्रिपुरा के शमशेर गाजी का विद्रोह किसानों का संगठित विद्रोह था। इसका चरित्र सन्यासी विद्रोह से बिल्कुल भिन्न था। किसानों का यह विद्रोह एक तरफ सामन्तशाही के खिलाफ था और दूसरी तरफ फिरंगी लुटेरों के खिलाफ, जिन्होंने देश के पूर्वांचल में अपने पैर जमा लिये थे। इस विद्रोह का केन्द्र त्रिपुरा जिले का रोशनाबाद परगना था, जो अब बंगला देश में है। त्रिपुरा की सीमा के पास स्थित शमशेरनगर आज भी इस विद्रोह के सुयोग्य नेता की याद दिलाता है।

ईस्टइंडिया कम्पनी ने बंगाल, बिहार और ओड़िसा की दीवानी संभालतेही रोशनाबाद परगने का लगान ६६, ६९५ रु० बढ़ा दिया। अलीवर्दी खाँ और सिराजुद्दौला के जमाने में रोशनाबाद चकले की मालगुजारी ३३, ३०५ रु० थी। अंगरेजों ने दीवानी पाते ही उसे बढ़ाकर १ लाख रुपया किया और फिर १७६५ के बन्दोबस्त में उसे बढ़ाकर १ लाख ५ हजार रुपया कर दिया।[1]

किसानों का दोहरा शोषण शुरू हुआ। एक तरफ जमीन्दार और सामन्त चूसते और दूसरी तरफ ईस्ट इंडिया कंपनी और उसके अफसर। इसका परिणाम यह हुआ कि बहुत से किसान घर-द्वार छोड़कर जंगल भाग गये, बहुतों ने स्त्री-पुत्र-पुत्री को धनियों के हाथ बेच दिया और खुद अपने को बेचकर अभागे दासों की संख्या बढ़ायी।

शमशेर गाजी के पिता के साथ भी यही हुआ। वे एक गरीब किसान थे। परिवार के भरण-पोषण में असमर्थ होकर उन्होंने अपने अल्पायु पुत्र शमशेर को त्रिपुरा राज्य के अधीन दक्खिनसिक के शक्तिशाली जमीन्दार नासिर-मुहम्मद के हाथ बेच दिया। क्रमशः शमशेर बड़े हुए। उनकी असाधारण शारीरिक शक्ति और तीक्ष्ण बुद्धि ने जमीन्दार को प्रभावित किया। उसने उन्हें कूतघाट के तहसीलदार का काम सौंपा।

शमशेर बचपन से ही देखते आ रहे थे कि किसानों पर जमीन्दारों और अंगरेज शासकों का अत्याचार किस तरह चलता है। वे किसानों की दुर्दशा से अच्छी तरह परिचित थे। उन्होंने किसानों को अत्याचार और शोषण के कारण अपने घर-द्वार बेचते और जंगल में भागकर शरण लेते देखा था। उन्होंने अपनी आँखों से किसानों के बाल-बच्चों को बिकते और गुलाम होते देखा था। वे खुद भी भुक्तभोगी थे। कूतघाट आकर उन्होंने किसानों की दुर्दशा और भी देखी। उन्होंने अनुभव किया कि इससे मुक्ति के लिए किसानों को खुद ही प्रयास करना होगा। और यह प्रयास बिना संगठित शक्ति के नहीं

---

१. कैलाशचन्द्र सिंह, राजमाला वा त्रिपुरा का इतिहास (बंगला), पृ० ४५७.

किया जा सकता। इसलिए उन्होंने साहसी और बलवान नौजवानों का दल धीरे-धीरे गठित किया।

इसके बाद वे एक दिन जमीन्दार के यहाँ पहुँचे और माँग की कि वह अपनी लड़की का विवाह उनके साथ कर दे। जमीन्दार की लड़की की शादी एक जरखरीद गुलाम के साथ! यह सुनते ही जमीन्दार आग बबूला हो उठा। उसने शमशेर को उचित दण्ड देने की व्यवस्था की। मुसीबत देखकर शमशेर वहाँ से भाग निकले। उन्होंने सशस्त्र विद्रोह की तैयारी की। शमशेर के विद्रोह की कहानी तेजी के साथ चारों तरफ फैल गयी। हजारों गरीब किसान, हिन्दू और मुसलमान उनकी फौज में भरती हो गये। घने जंगल के अन्दर शमशेर ने उन्हें विभिन्न अस्त्रों का प्रयोग करना सिखाया। इस सेना को साथ लेकर उन्होंने जमीन्दार नासिर मुहम्मद पर चढ़ायी की। जमीन्दार और उसके पुत्रों ने मुकाबिला किया और मारे गये। शमशेर ने जमीन्दार की लड़की के साथ विवाह किया।[१]

त्रिपुरा के राजा को विद्रोह का समाचार मिला। उसने अपने मंत्री को सेना के साथ विद्रोह का दमन करने भेजा। विद्रोहियों ने राजा की सेना को बुरी तरह पराजित किया। इस हार के बाद मंत्री ने शमशेर को त्रिपुरा राज्य के अधीन दक्खिनसिक परगने का जमीन्दार मान लिया।[२]

लेकिन त्रिपुरा राज्य के अधीन रहकर शमशर वह न कर सकते थे, जो किसानों और गुलामों के लिए करना चाहते थे। इसलिये शीघ्र ही उन्होंने त्रिपुरा राज्य का राजस्व देना बन्द कर दिया और अपने को रोशनाबाद चकले का स्वाधीन राजा घोषित कर दिया। इस अंचल के हिन्दू-मुसलमान उनके झंडे के नीचे इकट्ठा हुए, शमशेर को अपना राजा, अपना नेता स्वीकार किया।

शमशेर जानते थे कि स्वाधीनता की रक्षा करना सहज न होगा। इसलिए उन्होंने फौरन सेना और अस्त्र-शस्त्र इकट्ठा करना शुरू किया। इसी बीच त्रिपुरा के राजा विजय माणिक्य की मृत्यु हो गयी। उत्तराधिकार के लिए राज परिवार में झगड़ा होने लगा। इससे शमशेर को अपनी शक्ति बढ़ाने का अवसर मिला। विद्रोही किसानों से छाँट-छाँट कर उन्होंने हजारों जवान अपनी सेना में भरती किये। उन्हें सभी प्राप्त अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग की शिक्षा दी।

त्रिपुरा के युवराज कृष्ण माणिक्य ने इस विद्रोह का दमन करने के लिए कई बार सेना भेजी, किन्तु बार-बार हारकर वह वापस आयी। शमशेर ने आखिर रक्षात्मक युद्ध के कौशल को छोड़कर आक्रमणात्मक कौशल का सहारा लिया। उन्होंने अपनी ६,००० सैनिकों की सेना लेकर त्रिपुरा राज्य की उस वक्त की राजधानी उदयपुर पर आक्रमण किया। भयंकर युद्ध में त्रिपुरा की सेना पराजित हुई। कृष्ण माणिक्य बची सेना और परिवार को लेकर राजधानी छोड़कर भागे तथा अगरतल्ला में शरण ली,

१. कैलाशचन्द्र सिंह, वही, पृ० १२२। डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, नोआखाली, पृ० २१

२. कैलाशचन्द्र सिंह, वही, पृ० १२२। डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, नोआखाली, पृ० २१

जो त्रिपुरा की वर्तमान राजधानी है। विद्रोहियों ने उदयपुर पर अधिकार कर लिया, उसे लूट लिया।

अगरतल्ला में आश्रय ग्रहण कर कृष्ण माणिक्य ने फिर विद्रोहियों का दमन करने की कोशिश की। बार-बार असफलता ही हाथ लगने पर उन्होंने पहाड़ अंचल के दुर्द्धर्ष कूकियों की सहायता ली। बहुत धन लेकर वे कई बार कृष्ण माणिक्य का पक्ष लेकर शमशेर की किसान सेना से युद्ध करने आये और पराजित होकर वापस गये। आखिर में शमशेर ने इन कूकियों और अन्य आदिवासियों को वास्तविक हालत बताने के लिए अपने आदमी कूकी अंचल भेजे। इनमें उनका मंत्री रामधन विश्वास भी था।[1] सारी हालत समझ कर कूकियों ने भी शमशेर को अपना 'राजा' मान लिया।[2]

स्वाधीनता की घोषणा के बाद शमशेर गाजी ने राज्य के सभी गरीबों को, यहाँ तक कि गुलामों को भी बिना मूल्य भूमि दी। उन्होंने ऐसी राजस्व व्यवस्था प्रचलित की जिसमें गरीबों को कोई भी कर नहीं देना पड़ता था।[3]

समतल क्षेत्र के प्रत्येक परगने के लिये शमशेर ने एक शासक नियुक्त किया। इनमें हिन्दू-मुसलमान दोनों थे। धर्मपुर के निवासी गंगागोबिन्द उनके दीवान और खण्डल निवासी हरिहर उनके नायब दीवान थे। इन पर राजस्व का भार था।[4]

शमशेर ने प्रजा की भलाई के लिए बहुत से काम किये। बहुत से गाँवों में तालाब खुदवाये। इन सार्वजनिक कार्यों के लिए राजस्व काफी न था। इसलिए वे त्रिपुरा, नोआखाली और चटगाँव के अंगरेज अधिकृत अंचल पर धावा करते और वहाँ के जमीन्दारों का खजाना लूट लाते। शमशेर की जीवनी के रचयिता शेख मनोहर ने लिखा है :

> "शमशेर एक कृपण जमीन्दार के घर डकैती कर एक लाख रुपया ले आये थे, क्योंकि उक्त जमीन्दार दान-खैरात कुछ न करता। इसीलिए उसके घर डकैती की गयी थी।"[5]

इसी की पुष्टि करते हुए नोआखाली जिला गजेटियर में लिखा गया है :

> "शमशेर समय-समय पर धनी व्यक्तियों का घर लूटकर उस धन को गरीबों में बाँट दिया करते थे।"[6]

शमशेर ने जब विद्रोह किया था, उस वक्त चारों तरफ अराजकता फैली हुई थी। इस अराजकता से नाजायज फायदा उठाकर व्यापारी आवश्यक वस्तुओं के दाम बढ़ा सकते थे। इसे रोकने के लिए शमशेर ने व्यवस्था की। उन्होंने हर वस्तु की दर की तालिका प्रत्येक बाजार में लटकवा दी। जो इस दर से ज्यादा कीमत लेना चाहता, उसे कड़ा दंड दिया जाता। इस सम्बन्ध में 'राजमाला' या 'त्रिपुरा के इतिहास' के रचयिता कैलाशचन्द्र सिंह ने लिखा :

1. कैलाशचन्द्र सिंह, वही, पृ० 123 2. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर नोआखाली, पृ० 23
3. कैलाशचन्द्र सिंह, वही, पृ० 126 4. वही, पृ० 125
5. शेख मनोहर, शमशेर गाजीर जीवनचरित, पृ० 31 6. उपरोक्त गजेटियर, पृ० 23

"शमशेर ने अपने अधिकार के अन्तर्गत द्रव्यादि के क्रय-विक्रय का आश्चर्यजनक नियम प्रचलित किया था। उनके आदेश से ८२ सिक्के के वजन का सेर निर्धारित किया गया था। इस सेर के हिसाब से कौन द्रव्य किस मूल्य पर बिकेगा, उसकी एक तालिका प्रत्येक बाजार में टंगवा दी थी। कोई इसे भंग न कर पाता। उनकी तालिका निम्नलिखित थी :

चावल	१ पैसा सेर	मिर्चा	१ पैसा सेर
गुड़	२ पैसा सेर	नमक	२ पैसा सेर
तेल	३ आना सेर	घी	५ आना सेर
दाल	२ पैसा सेर इत्यादि।"[१]		

शमशेर के विद्रोह का दमन करने में असमर्थ होकर युवराज कृष्ण माणिक्य ने बंगाल के नवाब मीरजाफर के पुत्र मीरकासिम की शरण ली और सहायता की प्रार्थना की। नवाब ने कृष्ण माणिक्य को त्रिपुरा का राजा स्वीकार किया और ईस्ट इंडिया कंपनी की मदद से खड़ी की गयी बड़ी सेना को विद्रोह का दमन करने भेजा। तोपों-बन्दूकों से लैस इस सुशिक्षित और विशाल सेना का मुकाबिला करना शमशेर की सेना के लिए असम्भव था। वे बड़ी बहादुरी के साथ लड़े, लेकिन पराजित हुए। वे कैद कर मुर्शिदाबाद लाये गये और १७६८ के अन्त में नवाब के हुक्म से उन्हें तोप के मुंह से बाँध कर उड़ा दिया गया।[२]

इस तरह सामन्तों और अंगरेज व्यापारियों में आतंक पैदा करनेवाला किसान विद्रोह दो साल बाद समाप्त हुआ। किसानों को एक नवीन पथ दिखाकर इसके नेता ने शहादत पायी।

१. कैलाशचन्द्र सिंह, वही, पृ० १२६
२. कैलाशचन्द्र सिंह, वही, पृ० १२७; उपरोक्त गजेटियर, पृ० २३; शेख मनोहर, उपरोक्त, पृ० ५२

अध्याय ६

सन्दीप के विद्रोह

(१७६९-१८७०)

सन्दीप कहाँ है और इसके विद्रोह करने वाले कौन थे ? यह बंगाल की खाड़ी में मुख्य भूमि से २० मील दूर कुछ छोटे बड़े द्वीपों का समूह है और वर्त्तमान बंगलादेश के चटगांव जिले के अन्तर्गत पड़ता है। उस वक्त वह नोआखाली जिले में था। इसके निवासी ८० प्रतिशत मुसलमान और २० प्रतिशत हालियादास या माहिष्य, योगी, कैवर्त, सूत्रधर, बेहरा, भुंइमाली, कर्मकार आदि हिन्दू थे। ये सभी कृषिजीवी थे।[१] विद्रोह करने वाले यही लोग थे।

सन्दीप के इतिहास में दिलावर खाँ उर्फ दिलाल का नाम बड़ा मशहूर है। एक धनी मुसलमान के घर दास के रूप में बचपन में इनका पालन-पोषण हुआ था। बड़े होने पर इन्होंने चरवाहों और किसानों को लेकर एक सेना बनायी थी और मुगलों के हाथ से सन्दीप छीन कर प्रायः पचास साल तक राज किया था। उनकी मृत्यु के बाद मुगल शासकों ने उनके दामाद चाँद खाँ को यहाँ का इजारा दिया। सारे सन्दीप की इजारेदारी संभालना अपने लिए संभव न देख उन्होने इसमें दो आदमियों को और हिस्सेदार बनाया। अंगरेजों का राज जब आरंभ हुआ तो सन्दीप में इन तीनों घरानों के वंशज ही जमीन्दार थे। ये जमीन्दार मालगुजारी इकट्ठा कर अहद्दार को देते जो सरकार की तरफ से राजस्व इकट्ठा करने के लिए नियुक्त किया जाता था। इस प्रथा का अनुसरण कर अंगरेज भी पहले अहद्दारी और इजारा देते थे।

कलकत्ता के खिदिरपुर के भूकैलाश का घोषाल वंश अब भी मशहूर है। इस वंश के संस्थापक गोकुल घोषाल सन्दीप के अन्तिम अहद्दार थे। ये बंगाल-बिहार के गवर्नर वेरेल्स्ट के सदर दफ्तर के किरानी थे। गवर्नर की मेहरबानी से इन महोदय ने बेनामी से अहद्दारी हासिल की।[२] उन्होंने विष्णुचरण वसु नामक विश्वस्त कर्मचारी के नाम एक कंपनी रजिस्ट्री करायी और इसी कंपनी के नाम अहद्दारी ली। अहद्दारी लेने के बाद गोकुल घोषाल ने किसानों का एक-एक बूंद खून चूसना आरंभ किया। कंपनी सरकार की छत्रछाया उस पर थी। इसलिए वह सन्दीप का कर्त्ता-हर्त्ता बन बैठा। उसकी क्षमता को चुनौती देने का अर्थ कंपनी सरकार को चुनौती था।

चाँद खाँ की चौथी पीढ़ी में आबू तोराप चौधुरी ने उनकी जमीन्दारी का एक अंश प्राप्त किया। जमीन्दारी छोटी थी, लेकिन उनकी महत्वाकांक्षा बड़ी थी। थोड़े

१. राजकुमार चक्रवर्ती, सन्दीपेर इतिहास, पृ० ११२

२. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, नोआखाली, पृ० २४

समय में सब जमीन्दारों को भगा कर सारे सन्दीप पर उन्होंने अधिकार कर लिया। इससे अहद्दार गोकुल घोषाल और उनमें संघर्ष आरंभ हो गया। गोकुल ने निष्कासित जमीन्दारों से नवाब और ईस्ट इंडिया कंपनी के पास आबू के खिलाफ दरखास्त दिलायी। अंगरेज गवर्नर ने आबू का दमन करने के लिए तुरन्त कैप्टेन नलिकिन्क को सदल बल रवाना किया। आबू ने अपने किसानों और दासों को लेकर कंपनी सेना का मुकाबिला किया। १७६६ के मध्य भाग में नलिकिन्क के साथ आबू का युद्ध हुआ। इस युद्ध में आबू की पराजय हुई और वे मारे गये।[1]

गवर्नर ने आबू की जमीन्दारी जब्त कर ली और अन्य जमीन्दारों को उनकी जमीन्दारियाँ वापस कर दीं। इस अवसर से लाभ उठा कर गोकुल घोषाल ने आब की जमींदारी अपने एक कर्मचारी भवानीचरण दास के नाम लिखा ली।[2] क्रमशः गोकुल घोषाल सन्दीप के सर्वेसर्वा बन गये। अहद्दारी ही नहीं, उन्होंने अपने पुत्र जयनारायण घोषाल[3] के नाम पर नमक की इजारेदारी ली और सारे सन्दीप के नमक के इजारेदार बन गये। यही जयनारायण सन्दीप का कानूनगो था। गोकुल का रिश्तेदार भवानी चरण नायब अहद्दार था।[4]

गोकुल घोषाल ने कर-बल-छल से दूसरे जमीन्दारों की जमीन्दारियाँ हड़प लीं और पूरे सन्दीप का स्वामी बन बैठा। नोआखाली डिस्ट्रिक्ट गजेटियर ने लिखा कि आबू के विद्रोह का

> "सुयोग लेकर गोकुल घोषल ने कतिपय चौधरी की जमीन्दारी जब्त कर ली और अपने कब्जे में कर ली। बाद में भय दिखा कर और उत्पीड़न के द्वारा अन्य जमीन्दारों को भी अपनी जमीन्दारी अपने हाथ बेचने को बाध्य किया और इस तरह प्रायः सारा द्वीप उनके अधिकार में आ गया।"[5]

बंगला में लिखित 'सन्दीप का इतिहास' में श्री राजकुमार चक्रवर्ती ने लिखा :

> "इसी बीच गोकुल नाना कौशल से सन्दीप की तीन-चतुर्थांश जमीन्दारी के मालिक बन बैठे। इस जमीन्दारी को पाने के लिए उन्होंने कितने लोगों की जान ली और कितने लोगों को जेल में बन्द कर उन पर अमानुषिक अत्याचार किया, उन्हें गिनना दुरूह है।...उन्होंने मुहम्मद हनीफ और बख्तियार मुहम्मद की जमीन्दारी चालबाजी से लिखा ली एवं मधुसूदन चौधुरी की जमीन्दारी हस्तगत करने के ख्याल से उनके उत्तराधिकारी को कारारुद्ध कर जमीन्दारी लिख देने को बाध्य

१. उपरोक्त गज़ेटियर, पृ० २४ ; राजकुमार चक्रवर्ती, वही, पृ० ८१
२. उपरोक्त गजेटियर, पृ० १०५ ; राजकुमार चक्रवर्ती, वही, पृ० ८१
३. जय नारायण घोषाल ने ही १८१४ में बनारस में पहला अंगरेजी स्कूल स्थापित किया था जो आज जयनारायण इन्टर कालेज के नाम से चल रहा है। इन्होंने बंगला में कई पुस्तकें भी लिखी थीं जिनमें काशी परिक्रमा मशहूर है।
४. राजकुमार चक्रवर्ती, वही, पृ० ८१-८२ ५. उपरोक्त गजेटियर, पृ० २४

किया। उक्त जमीन्दारी के अन्य अंश की मालकिन एक विधवा पर उन्होंने जो अत्याचार किये थे, उनका वर्णन करने के लिए भाषा नहीं।" (पृ० ८२)

जमीन्दारों ने मिल कर बंगाल के उस वक्त के गवर्नर कार्टियर के पास न्याय के लिए दरखास्त दी। १७६९ के मध्य भाग में इस पर अपना मन्तव्य लिख कर गवर्नर ने इसे मुर्शिदाबाद के नायब दीवान सैय्यद रजा खाँ के पास उचित कार्रवाई के लिए भेज दिया। रजा खाँ ने आदेश दिया कि सन्दीप के जमीन्दारों को उनकी जमीन्दारियाँ पूर्व शर्तों पर वापस कर दी जायँ, किन्तु गोकुल घोषाल ने धूर्तता से उसे रद्द करा दिया।

गोकुल घोषाल जमीन्दारों की जमीन और किसानों की खून-पसीने की कमाई छीन कर मालदार बना। उसने सन्दीप को इस तरह तबाह किया कि कितने ही लोग उसे छोड़कर नोआखाली भाग गये। उसके नाम पर किसान और जमीन्दार दोनों थूकने लगे। इन परिस्थितियों में यहाँ के किसानों ने अन्य उपाय न देख गोकुल घोषाल और उसके संरक्षक अंगरेजों के खिलाफ अस्त्र धारण किया।

पहले उन्होंने सभाएँ कर लगान देना बन्द कर दिया। अहद्दार गोकुल के प्यादे और पुलिस के सिपाही किसानों के घरों पर हमले कर उनकी सारी जायदाद छीनने लगे। किसानों ने ऐक्यबद्ध होकर इसे रोकना शुरू किया। इसका परिणाम हुआ कि जगह-जगह दंगे-हंगामे और छोटे-मोटे युद्ध होने लगे। यह विद्रोह सारे सन्दीप में फैल गया और गोकुल की अहद्दारी तथा जमीन्दारी के खत्म हो जाने का खतरा पैदा हो गया। जिन जमीन्दारों की जायदाद छीन ली गयी थी, वे भी इस विद्रोह में शामिल हो गये। एक युद्ध में जमीन्दार मुहम्मद फईम मारे गये।[1]

विद्रोह का दमन करना अपने लिए असंभव देख गोकुल ने ईस्ट इंडिया कपनी से फौरन सेना भेजने का अनुरोध किया। १७६९ के अन्त में कंपनी की सेना ने आकर इस विद्रोह को खून की नदी में डुबा दिया। विद्रोह उस वक्त दब गया, पर किसानों ने हार न मानी। वे भावी संग्राम की तैयारी करने लगे!

गोकुल घोषाल का अत्याचार और शोषण ही विद्रोह का कारण था, यह जान कर भी अंगरेजों ने उसके खिलाफ कोई कार्रवाई न की। वह तो उनका लाड़ला पोष्यपुत्र था। सिर्फ १७७२ में अहद्दार का पद हटा कर कलक्टर नियुक्त किया गया।[2] अहद्दार न रहने पर भी गोकुल का शोषण अबाध गति से चल रहा था। प्रायः सारे सन्दीप की जमीन्दारी तो उसी के हाथ में थी।

जमीन्दारी खोने वाले जमीन्दारों ने फिर गोकुल घोषाल के खिलाफ दरखास्त दी और उधर किसानों ने लगानबन्दी का आन्दोलन शुरू किया। आखिरकार मुर्शिदाबाद के रेवेन्यू बोर्ड ने डन्कन नामक कंपनी के कर्मचारी को वास्तविक तथ्य जानने की गरज से सन्दीप भेजा। उसने बहुत दिनों तक जाँच कर गोकुल घोषाल के काले कारनामों का चिट्ठा रेवेन्यू बोर्ड को लिखा। परिणाम हुआ कि आबू तोराप के पुत्र को छोड़ कर

---

१. राजकुमार चक्रवर्ती, वही, पृ० ८३ २. उपरोक्त गजेटियर, पृ० २५

बाकी जमीन्दारों की जायदाद वापस कर दी गयी। आबू तोराप के पुत्र को दो करमुक्त तालुके देकर गोकुल ने उसे राजी कर लिया और उसकी जमीन्दारी को अपनी मट्ठी में बनाये रखा।

किसानों के लगातार विद्रोह के कारण जमीन्दार राजस्व न दे पाते थे। इससे यहाँ की जमीन्दारियाँ एक-एक कर नीलाम हो गयीं। उन्नीसवीं सदी के आरंभ में कलकत्ता के रामचन्द्र विश्वास ने इन जमीन्दारियों को नीलाम में खरीदा और अपने पुत्र प्राणकृष्ण विश्वास के नाम लिखाया। रामचन्द्र विश्वास चटगाँव के सरकारी नमकमहाल का दीवान था। इसलिए उसने कंपनी की सहायता से नीलाम में खरीदी जमीन्दारियों से लगान वसूल करने की कोशिश की। इससे सन्दीप में नये विद्रोह की आग १८१९ में जल उठी।

चूँकि प्राणकृष्ण विश्वास सन्दीप के बाहर का आदमी था, इसलिए बहुत से भूतपूर्व जमीन्दारों ने भी किसानों का साथ दिया। इससे विद्रोह की शक्ति बढ़ी। प्राणकृष्ण ने लगान वसूल करने के लिए एंड़ी-चोटी का पसीना एक किया, लेकिन सब बेकार गया। उसने विद्रोह का दमन करने और विद्रोहियों पर अत्याचार का सहारा लिया। इसलिए विद्रोहियों और उसके पाइकों-बरकन्दाजों के बीच कितने ही संघर्ष हुए।

इस किसान विद्रोह का नेतृत्व कर रहे थे गोविन्दचरण चौधुरी नामक एक वयोवृद्ध किसान। उनके नेतृत्व में संगठित होकर किसानों ने प्राणकृष्ण और उसके संरक्षकों को खुली चुनौती दी। १८१९ में प्राणकृष्ण के पाइकों-बरकन्दाजों के साथ विद्रोहियों की भयंकर मुठभेड़ हुई। जमीन्दार का दल पराजित हुआ। सन्दीपवासियों ने अपने प्रिय नेता गोविन्दचरण को 'वीर' की उपाधि दी।[1] प्राणकृष्ण नयी जमीन्दारी से कानी कौड़ी वसूल न कर सका। वह राजस्व न दे सका, इसलिए यह जमीन्दारी १ जुलाई १८२४ को खुलेआम नीलाम हुई। चूँकि इसे खरीदने के लिए कोई तैयार न हुआ, इसलिए कंपनी सरकार ने १ रुपए में खरीद लिया।[2]

इसी तरह दूसरी जमीन्दारियाँ नीलाम होती गयीं और १८३० तक प्रायः सभी कंपनी सरकार की खास जमीन बन गयीं। मार्च १८७० में सन्दीप का प्रायः आधा भाग नीलाम हुआ। एचिला कर्जन नामक अंगरेज ने उसका आधा खरीद लिया। वह फौज-फाटे के साथ सन्दीप गया। किसानों से बिना पूछे-जाँचे उसने जमीन की पैमाइश आरंभ की। उसका इरादा था कि वह जोर-जबर्दस्ती किसानों से कबूलियत लिखायेगा और बढ़ा कर लगान वसूल करेगा। जरूरत पड़ने पर वह बल का प्रयोग करेगा। लेकिन संदीपवासियों की एकता ने उसकी सारी योजना मिट्टी में मिला दी।[3]

इस बार विद्रोही किसानों के आन्दोलन का नेतृत्व सन्दीप के न्यायमस्ती के निवासी मुंशी चाँद मियाँ ने ग्रहण किया। हिन्दू-मुसलमान सभी ऐक्यबद्ध होकर उनके नेतृत्व में अत्याचारी जमीन्दार के खिलाफ उठ खड़े हुए। उन्होंने पहले प्रत्यक्ष संघर्ष के रास्ते

१. राजकुमार चक्रवर्ती, वही, पृ० ६४ २. वही, पृ० ६४ ३. वही, पृ० १०१

से बचने की कोशिश की और असहयोग का रास्ता अपनाया। सब जगह सभाएँ कर किसानों ने प्रतिज्ञा की कि वे जमींन्दार के अमीन-अमलों को अपने यहाँ आश्रय न देंगे, कोई भी उनके हाथ खाद्य वस्तुएँ न बेचेगा और न दान देगा। अगर अमीन जमीन की पैमाइश करना चाहेगा तो कोई भी न तो जमीन दिखायेगा और न पैमाइश में मदद देगा। जो किसान प्रतिज्ञा भंग कर जमीन्दार के कर्मचारियों की सहायता करेगा, उसका घरद्वार जला दिया जायगा।

किसानों का संगठन देख कर उन पर किसी भी तरह का अत्याचार करने का साहस जमीन्दार को न हुआ। आखिरकार वह सन्दीप छोड़ कर चला आया। किसानों ने बिना खून बहाये ही इस बार सफलता प्राप्त की।

अध्याय ७

मोआमारिया विद्रोह

(१७६९-९९)

मोआमारिया कृष्ण-भक्तों का एक सम्प्रदाय था, जो उत्तर असम में फैला हुआ था। इस शब्द की उत्पत्ति 'मायामारा' नामक स्थान से बतायी जाती है जो इस सम्प्रदाय का केन्द्र था।[1] सर एडवर्ड गेट ने इस शब्द की उत्पत्ति 'मोआ' नामक मछली से बतायी है। उनका कहना है कि इस सम्प्रदाय का संस्थापक कलिता जाति का अनिरोध था। उसके प्रथम शिष्य एक झील के किनारे रहते थे, जहाँ वे 'मोआ' नाम की मछली बड़ी संख्या में पकड़ा करते थे। उन्होंने यह भी लिखा है कि मोआमारिया मुख्यत: डोम, मोरान, काछाड़ा, हाड़ी और चुटिया जैसे शूद्र थे जो ब्राह्मणों को सर्वश्रेष्ठ मानना अस्वीकार करते थे।[2] लेकिन गौहाटीस्थित असम रिसर्च सोसाइटी आफिस में संरक्षित पुराने कागजात बताते हैं कि मोआमारियों में सिर्फ हाड़ी, डोम और अन्य शूद्र ही न थे, बल्कि कुछ ब्राह्मण, दैवज्ञ, कायस्थ, कलिता, केवट, कोच आदि भी थे।[3] इन मोआमारियों का विद्रोह असम के अहोम राजवंश के पतन का कारण बना।

अहोम राजवंश दुर्गा की पूजा करता था, लेकिन मोआमारियों ने राजवंश का अनुकरण करने से इन्कार कर दिया। आरंभ में इन्हें कोई कष्ट न उठाना पड़ा, पर शिव सिंह के अहोम राजवंश की गद्दी पर बैठते ही उन पर विपत्ति के बादल घिर आये। शिव सिंह ने शाक्त धर्म को राजधर्म बनाने की कोशिश की। मोआमारियों ने कृष्णभक्ति को छोड़कर शाक्त सम्प्रदाय अपनाने से इन्कार किया। लेकिन शिव सिंह की रानी अपने धर्म के बलपूर्वक प्रचार में पति से दस कदम आगे थी। उसने मोआमारियों को दुर्गा की पूजा करने और अपने मस्तक पर दुर्गा के पूजनेवालों का चिह्न लगाने को बाध्य किया। आरम्भ में मोआमारियों ने इस जबर्दस्ती को चुपचाप बर्दाश्त किया, लेकिन ज्योंही उन्होंने कुछ शक्ति संचित कर ली, खुला विद्रोह आरंभ कर दिया। इस विद्रोह में उन्हें सिर्फ अहोम राजा का ही नहीं, अंगरेजों का भी मुकाबिला करना पड़ा, जो राजा की सहायता करने गये थे।

अहोमवंश के राजा लक्ष्मी सिंह (१७६९-८०) का बरबड़ुवा (प्रधानमंत्री) बड़ा घमण्डी, उदण्ड और क्रूर था। उसी के कुचक्र से लक्ष्मी सिंह राजा बन सका था, इसलिए बरबड़ुवा इस राज्य का कर्ताधर्ता बन गया था। एक दिन वह राजा के साथ नौका में कहीं जा रहा था। उस वक्त मोआमारिया गोसाईं नदी तट पर खड़ा था। उसने

१. डा० रेवतीमोहन लाहिड़ी, दि एनेक्सेशन आफ आसाम, पृ० ४ (फुटनोट)
२. सर एडवर्ड गेट, ए हिस्ट्री आफ आसाम, १९६३, पृ० ५०   ३. डा० लाहिड़ी, उपरोक्त, पृ० १

राजा को सलाम किया, लेकिन बरबड़ुवा की तरफ ध्यान नहीं दिया। इससे वह आग-बबूला हो उठा और गोसाईं को खूब खरी-खोटी सुनायी। स्वभावतः गोसाईं मन-ही-मन बहुत ही अप्रसन्न हुआ और खुल कर राजवंश के विरुद्ध बोलने लगा।[1]

इसके बाद ही मोरान जाति का सरदार नाहर बरबड़ुवा का कोपभाजन बना। वह राजा को हर वर्ष हाथी दिया करता था। यह उसका राजस्व था। वह हाथी लेकर सीधे राजा के पास चला गया और उन्हें दे आया। यह देखकर बरबड़ुवा को क्रोध आ गया। उसने इसका दंड नाहर को दिया। पहले उसने नाहर को पकड़वा कर खूब पिटाई करवाई और फिर कान कटवा लिए। यह नाहर मोआमारिया गोसाईं का चेला था। इसलिए वह अपने गुरु के पास दौड़ा गया और उससे इसके प्रतिकार के लिए सहायता मांगी।[2]

मोआमारियों का गोसाई तो ऐसे मौके का इन्तजार ही कर रहा था। उसने विद्रोह का झण्डा उठाया। अपने अनुयायियों को इकट्ठा कर अपने पुत्र बांगन के नेतृत्व में उन्हें आगे बढ़ने का आदेश दिया। नामरूप में उसका बड़ा स्वागत हुआ और खासकर मोरान तथा काछाड़ी उसके शिष्य बन गये। उसके पुत्र बांगन ने नामरूप के राजा की उपाधि धारण की।[3]

मोआमारियों ने राजा लक्ष्मी सिंह के बड़े भाई वर्जना गोहाइन को अपने साथ मिला लिया। विद्रोहियों ने उसे असम का राजा बनाने का वादा किया। उसकी देखा-देखी असम के बहुत से निर्वासित राजा विद्रोहियों के साथ आ मिले।[4] विद्रोह का समाचार पाकर राजा लक्ष्मी ने उसके दमन और बांगन को पकड़ने के लिए अपने आदमी भेजे। विद्रोहियों ने उन सब को साफ कर दिया और तिपाम पर चढ़ाई की।[5] राजा की सेना से उनका पहला युद्ध डिब्रू नदी के किनारे हुआ। वे पराजित होकर पीछे हटे, पर फिर चढ़ आये। राजा की सेना की मोर्चेबन्दी को न तोड़ पाकर विद्रोही भी मोर्चे-बन्दी कर सामने ही डट गये। कई महीने दोनों पक्ष चुपचाप बैठे रहे।

अक्टूबर १७६९ में राधा नामक मोरान के, जो अपने को विद्रोहियों का बरबड़ुवा कहा करता था, नेतृत्व में विद्रोही ब्रह्मपुत्र पार कर उत्तरी तट पर पहुँचे और कई लड़ाइयों में राजा की सेना को पराजित किया। बरबड़ुवा की सलाह से राजा लक्ष्मी सिंह अपनी राजधानी रंगपुर छोड़ कर गौहाटी भागा। उसके प्रधान कर्मचारियों ने उसका साथ आरंभ से ही छोड़ना शुरू किया। सोनारी नगर में जब वह पहुँचा तो अन्य अधिकारी भी उसका साथ छोड़कर चले गये। राधा के आदमियों ने राजा को सोनारी नगर में पकड़ लिया। उसे पकड़ कर वापस राजधानी ले आये और जयसागर के मन्दिर में बन्द कर दिया।[6] कितने ही अमीरजादों को भी गिरफ्तार किया गया। कुछ को मार दिया गया, लेकिन अधिकांश को कैद रखा गया।

१. गेट, वही, पृ० १९५ २. वही, पृ० १९५ ३. वही, पृ० १९५
४. वही, पृ० १९५ ५. वही, पृ० १९५ ६. वही, पृ १९६

राजा की हार का समाचार सुनकर वर्जना गोहाइन राजा बनने के लालच से दौड़ा हुआ राजधानी आया, लेकिन राधा के हुक्म से मार डाला गया। पदच्युत बरबड़ुवा कीर्तिचन्द और उसके बेटे भी मार दिये गये, और उनकी पत्नियों तथा पुत्रियों को मोआमारिआ नेताओं में बाँट दिया गया। राजा लक्ष्मी सिंह को जेल में पड़ा रहने दिया गया।[1]

राधा ने बांगन को राजा बनाना चाहा, पर मोआमरिया गोसाइं ने अपने पुत्र को यह पद लेने से मना किया और मोरान सरदार नाहर के पुत्र रमाकान्त को राजा बनवाया। नाहर के दो अन्य पुत्र तिपाम और सारिंग के राजा बनाये गये। विद्रोही नेताओं को उच्च राज्य पद दिये गये। राधा बरबड़ुवा बना। उसने सिंहासनच्युत राजा की पत्नियों को अपने महल में डाल लिया। इनमें मनीपुर की एक राजकुमारी भी थी जो राजा लक्ष्मी सिंह और उनके बड़े भाई तथा स्वर्गीय राजा राजेश्वर दोनों की पत्नी थी।[2]

रमाकान्त के नाम १७६९ में सिक्के ढाले गये। वास्तविक सत्ता राधा के हाथ में थी। अपर (उत्तरी) असम के सब गोसाइयों को मोआमारिया के गोसाईं को सबसे बड़ा मानने को बाध्य किया गया। राजा लक्ष्मी सिंह के समर्थक चुप न थे। वे चुप ही चुप तैयारी कर रहे थे। अधिकांश विद्रोही धीरे-धीरे अपने घर चले गये। रमाकान्त के साथ सिर्फ थोड़े से लोग राजधानी में रह गये। इस अवसर को राजा लक्ष्मी सिंह के समर्थकों ने अपने अनुकूल समझा। अप्रेल १७७० को 'बीहू' के त्योहार के दिन उन्होंने राधा के घर को घेर लिया और उसे पकड़ कर मार दिया। कहा जाता है कि पहला आघात खुद मनीपुर की राजकुमारी ने किया था।[3] यह भी कहा जाता है कि राधा के घर पर आक्रमण का संकेत भी इसी राजकुमारी ने किया था।[4]

राधा के मारे जाने के बाद मोआमारियों का कत्ल आरंभ हुआ। इस आकस्मिक आक्रमण के सामने वे ठहर न सके। हजारों मोआमारिया मारे गये। इस नर-संहार में उम्र या स्त्री-पुरुष का विचार नहीं किया गया।[5] रमाकान्त भाग निकला, लेकिन उसके पिता और अन्य सम्बन्धी तथा राज्याधिकारी मारे गये। लक्ष्मी सिंह फिर राजा बना और मोआमारियों पर नये सिरे से अत्याचार शुरू हुए। उनके गोसाइं का घर घेर लिया गया और उसके सारे परिवार के लोगों को उसकी आँखों के सामने मार डाला गया। उसे पकड़ कर जेल में तरह-तरह की यंत्रणाएँ दी गयीं। यही भाग्य रमाकान्त का हुआ। उसकी पत्नियों के साथ बर्बरता बरती गयी। एक को पीट-पीट कर मारा डाला गया, दो के नाक-कान काट लिए गये और आँखें निकाल ली गयीं। मोआमारियों ने जिन्हें राज्याधिकारी बनाया था, उन सब को पीट-पीट कर मार डाला गया।[6]

इस बर्बर अत्याचार का परिणाम शीघ्र ही नया विद्रोह हुआ। इस विद्रोह के नेता नामरूप के चुंगी थे।[7] राजा ने जल्दी अपनी सेना को उसका दमन करने भेजा,

---

१. वही, पृ० १९६ २. वही, पृ० १९६ ३. वही, पृ० १९७
४. आसाम डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, नौगाँव, पृ० ३५-३६
५. वही, पृ० ३६ ६. वही, पृ० ३६ ७. गेट, वही, पृ० १९७

लेकिन विद्रोहियों की अग्रगति वह न रोक सकी। वे क्रमशः आगे बढ़ते गये। राजा के मनीपुरी सैनिकों ने आकर देसांग नदी के किनारे विद्रोहियों को हराया, लेकिन वे फिर चढ़ आये। वे फिर हारे और इस बार जंगल में चले गये। वहाँ उन्होंने किला बनाया। वे यहीं से राजा के अधिकारियों को हैरान करते रहे।

लक्ष्मी सिंह की मृत्यु के बाद गौरीनाथ सिंह राजा बना (१७८०-१७९५)। वह मोआमारियों का कट्टर शत्रु था और कोई भी बहाना पाते ही उन पर अत्याचार करता था। इसके अत्याचार से आजिज आकर फिर मोआमारियों ने विद्रोह किया।

अप्रेल १७८२ की एक रात को राजा मछली का शिकार कर सदलबल गढ़गाँव वापस आ रहा था। मोआमारियों का एक जत्था भी मशालधारी बन कर राजा के साथ वापस आने वालों में शामिल हो गया। इस तरह वे नगर के अन्दर घुस आये। शहर में घुसते ही उन्होंने मशालें फेंक हथियार संभाले और राजा के कितने ही सेवकों को मार गिराया। गौरीनाथ हाथी लेकर भागा। महल के अन्दर घुस कर उसने अपनी जान बचायी।[1] बूढ़ागोहाइन उसके सौभाग्य से कुछ सैनिकों को लेकर वहाँ आ पहुँचा और विद्रोहियों को शहर से निकाल बाहर करने में सफल हुआ।

विद्रोही तब रंगपुर की तरफ बढ़े। इसके अन्दर भी वे चतुराई से घुसना चाहते थे। वैसा न कर पाने पर उन्होंने फाटक तोड़ डाले और जो सामने आया, उसे मौत के घाट उतारा। स्थानीय राज्याधिकारी भाग खड़े हुए। गढ़गाँव से उनका पीछा करनेवाला बुढ़ागोहाइन आकर विद्रोहियों को शहर से भगाने में सफल हुआ।

इसके बाद राजा गौरीनाथ ने मोआमारियों के कत्लेआम का हुक्म दिया। हजारों मोआमारिया फिर कत्ल किये गये। इसका परिणाम हुआ कि मोआमारियों ने भी इस अत्याचारी राजा के राज को खत्म करने की योजना पर योजना बनायी। पहली योजना जबलाबांधा के गोसाइं परिवार के महन्त ने जयसागर में बनायी। वे पकड़े गये और उनकी आँखें निकाल ली गयीं। उनके तीन अनुयायियों को उबलते तेल के कड़ाह में डाल कर मार डाला गया।[2] और पूर्व में मोरानों ने अपने गाँव बुढ़ा (मुखिया) के नेतृत्व में विद्रोह किया, लेकिन वे आसानी से पराजित हो गये।

१७८६ में फिर मोआमारियों का बड़ा विद्रोह हुआ। यह लोहित नदी के उत्तरी किनारे पर हुआ।[3] अनेक असन्तुष्ट लोग इन विद्रोहियों से जा मिले। इन्हें हराने के लिए राजा की जो भी सेना गयी, उसे हार कर वापस आना पड़ा। उसके मददगारों की सेनाएँ भी हारीं। मोआमारियों ने बढ़ कर राजधानी रंगपुर पर कब्जा कर लिया। स्वर्गदेव[4] गौरीनाथ भाग कर गौहाटी पहुँचा और अंगरेजों से मदद मांगी। मोआमारियों ने अपने सम्प्रदाय के भारत सिंह को उत्तरी असम का राजा बनाया, मटकों के प्रसिद्ध सरदार बड़सेनापति के पुत्र सर्वदानन्द को मोरानों या मटकों के अंचल का राजा

१. गेट, वही, पृ० २००   २. वही, पृ० २०१
३. वही पृ० २०१   ४. अहोम राजाओं की उपाधि   ५. डा० जातिकी, पूर्वोक्त, पृ० ४

गौरीनाथ के आवेदन पर गवर्नर जनरल लार्ड कार्नवालिस ने सितम्बर १७९२ में कैप्टेन वेल्स के मातहत कंपनी की सेना को मोआमारियों के विद्रोह को दबाने भेजा। इस बीच गौहाटी पर डोमों ने बैरागी के नेतृत्व में कब्जा कर लिया। कैप्टेन वेल्स सेना लेकर पहले ग्वालापाड़ा गया। १६ नवम्बर १७९२ को वह वहाँ से गौहाटी के लिए रवाना हुआ। तीन दिन बाद गौहाटी पर कब्जा कर वह गौरीनाथ को लेकर आगे बढ़ा। पहले मंगलदई के विद्रोही राजा कृष्ण नारायण को हराया और मार्च १७९४ में रंगपुर पर कब्जा किया। मोआमारियों ने बड़ी वीरता से अंगरेजों और राजा की सम्मिलित सेना का मुकाबिला किया। जोरहाट की लड़ाई में पराजय के बाद मोआ-मारियों को रंगपुर से हट जाना पड़ा। वहाँ से हटने के बाद भी विद्रोही लड़ते रहे। मई १७९४ में वेल्स वापस गया। गौरीनाथ को रंगपुर में रहना असंभव मालूम होने लगा। वह अपने राज्याधिकारियों के साथ वहाँ से हट आया और जोरहाट को राज-धानी बनाया। विद्रोहियों ने फिर रगपुर पर कब्जा कर लिया।

गौरीनाथ ने कंपनी की सेना के अफसरों की मदद से नयी सेना तैयार की, अंगरेजी ढंग से उसको शिक्षा दी, कलकत्ते से हथियार मंगा कर उसे दिये। इसकी मदद से अहोम राजवंश मोआमारियों और विद्रोहियों से अपनी रक्षा करता रहा।

१७९९ में फिर मोआमारियों ने विद्रोह किया। इस बार विद्रोह का केन्द्र बेंगमारा था और इसके नेता भारती राजा थे। अंगरेजों की मदद से यह विद्रोह भी दबा दिया गया। इस तरह ये विद्रोही बहुत दिनों तक अहोम राजवंश और उसके मददगार अंगरेजों से लोहा लेते रहे।

अध्याय ८

बुनकरों का संग्राम

(१७७०-१८००)

अंग्रेज सौदागरों ने आकर हमारे देश के उद्योग-धंधों को, खासकर कपड़ा उद्योग को कैसे नष्ट किया, यह हम पहले अध्याय में ही बता आये हैं। भारत के बुनकरों ने, जिनके हाथ का बना कपड़ा सारी दुनिया में मशहूर था, क्या इन सौदागरों का शोषण-उत्पीड़न चुपचाप बर्दाश्त कर लिया? प्राप्त तथ्य बताते हैं कि इसका संगठित मुकाबिला करने का उन्होंने भरसक प्रयत्न किया। संन्यासी विद्रोह में हम बता आये हैं कि इन कारीगरों के एक हिस्से ने फौज से बरखास्त सैनिकों और किसानों के साथ मिलकर अंगरेज सौदागरों का सशस्त्र मुकाबिला किया था। इस सशस्त्र प्रतिरोध के अलावा उन्होंने वर्तमान ट्रेड यूनियन आन्दोलन के कई हथियार अपनाये, हालाँकि उन दिनों इस तरह के आन्दोलन की संभावना न थी। उनके संग्राम का यह दूसरा अंग भारत के वर्तमान ट्रेड यूनियन आन्दोलन की बुनियाद का प्राथमिक कार्य कहा जा सकता है।

सूबा बंगाल (अर्थात् आज का प० बंगाल, बंगलादेश, बिहार और ओड़िसा) की जमीन पर पैर रखते ही अंगरेज सौदागरों ने खासकर यहाँ के सूती और रेशमी कपड़े के कारीगरों को लूटना आरम्भ किया। वह लघु उद्योगों का जमाना था, आजकल की तरह बड़े-बड़े कारखाने उस वक्त न थे। शोषण तो देशी सौदागर भी करते थे, पर वे उद्योग को जिन्दा रखना चाहते थे, इसलिए खुली लूट का रास्ता न अपनाते थे। अंगरेज सौदागरों ने इसके विपरीत खुली लूट और सारे माल को यथा-संभव मुफ्त में पाने का रास्ता अपनाया। भारतीय कारीगरों ने अंगरेज सौदागरों का असली चेहरा जल्दी ही पहचान लिया और उनसे दूर रहने का प्रयत्न किया।

इन कारीगरों को मनमाने ढंग से लूटने के लिए अंगरेज सौदागर उन्हें बंगाल के विभिन्न हिस्सों से लाकर कलकत्ता के आसपास रखना चाहते थे। प्रलोभन यह दिया जाता था कि कंपनी बर्गियों (मराठों) और अन्य आक्रमणकारियों से रक्षा करेगी। बर्गियों के आक्रमण के वक्त बहुत से धनी अंगरेजों का संरक्षण स्वीकार कर कलकत्ता में आ बसे थे। लेकिन इन कारीगरों ने उस वक्त भी यह संरक्षण स्वीकार न किया। वे उत्तर बंगाल चले गये और वहाँ अपनी बस्तियाँ स्थापित की।[1] स्वंय ब्रिटिश सौदागर विलियम बोल्ट्स ने अपनी रचना "भारत के मामलों पर विचार" में उल्लेख किया है कि अंगरेज सौदागरों के शोषण-उत्पीड़न के कारण मालदह के जंगलबाड़ी अंचल के ७०० जुलाहा परिवार बस्ती छोड़कर चले गये और अन्यत्र जाकर बस्ती स्थापित की।[2]

---

१. नरेन्द्रकृष्ण सिन्हा, दि इकानामिक हिस्ट्री आफ बेंगाल, तीसरा संस्करण, खण्ड १. पृ० १५७
२. विलियम बोल्ट्स, कन्सीडरेन्स आन इंडिया अफेयर्स, खण्ड १, पृ० १६४

१८ वीं सदी के अन्तिम भाग में पूर्व भारत के जिन केन्द्रों से ईस्ट इंडिया कंपनी सूती कपड़े इस देश से ले जाती थी, वे थे ढाका, माल्दा और बादाउल, लक्ष्मीपुर, खिरपाई, मेदिनीपुर, शांतिपुर और बूड़न, हरियाल, हरिपाल और कटोरा, सोनामुखी, मण्डल-घाट, चटगाँव, रंगपुर, कुमारखाली, कासिमबाजार, गोलाघर, बराहनगर, चंदननगर, पटना और बनारस।[1] इन केन्द्रों में बननेवाले विभिन्न प्रकार के सूती वस्त्र थे, मलमल तंजेब, आबरू, आलाबेलि, नयनसुख, बदनखास, शरबती, तारिन्दम, सरकारअली, जामदानी, हमाम सिरबन्द, डोरिया, खास, बाफ्ता, सानो, गाढ़ा, अमरिती, छीट, झूना, रंग, जंगलखास आदि।[2]

उस वक्त दक्षिण भारत में भी वस्त्र उद्योग बड़ी उन्नति पर था। जब अंगरेजों ने कब्जा किया उस वक्त दक्षिण भारत में सूती कपड़े के उत्पादन में लगे बुनकरों की संख्या प्रायः ५ लाख और बंगाल-बिहार-उड़ीसा में १० लाख से ज्यादा थी।[3]

इन कपड़ों के व्यापार से अंग्रेज सौदागर किस तरह भारतीय कारीगरों को लूटते थे, इसका उदाहरण यहाँ सिर्फ एक लीजिए। सोनामुखी में ईस्ट इंडिया कंपनी भारतीय जुलाहों को सबसे अच्छे गाढ़े के थान की कीमत ३ रु० ९ आने देनी थी, लेकिन लन्दन में उसी को ४५।। शिलिंग अर्थात् २२ रु० १२ आने में बेचती थी (उस वक्त २ शि० = १ रु० था)[4]। अगर जुलाहों को किसी भी अन्य व्यापारी के हाथ बेचने की इजाजत होती तो वे कम से कम ७ रु० तो पाते ही। उठाईगीर अंगरेज सौदागर भारतीय कारीगरों को बाजार की आधी कीमत देकर ही उन्हें अपने लिए कपड़ा बनाने को मजबूर करते थे। वे किसी दूसरे के हाथ कपड़ा न बेच सकते थे।

१७५३ में बंगाल में दादनी व्यापारी अर्थात् वे व्यापारी जो कारीगरों को अग्रिम देकर कपड़ा बनवाते थे, बाजार से गायब हो गये। उनका स्थान कंपनी के गुमास्तों ने संभाला। पलासी युद्ध (१७५७) के बाद इन गुमास्तों की मदद करना राजसत्ता ने आरम्भ किया। अठारहवीं शताब्दी के अंत तक हालत यह हो गई कि ईस्ट इंडिया कंपनी राजसत्ता की सहायता के बिना कोई भी व्यापार इस देश में न कर पा रही थी। १७८० के बाद कंपनी सरकार ने कितने ही कानून बनाये जो जुलाहों और कोरियों के अधिकारों पर आघात थे। इन कानूनों के जरिए उन्हें अंगरेज सौदागरों का गुलाम बनाया गया।

ये कानून क्या थे? २२ अप्रैल १७८२ को ब्रिटिश सरकार के पब्लिक डिपार्टमेंट की कार्यवाही में जुलाहों के बारे में जो कानून दर्ज किये गये उनका प्रधान लक्ष्य देशी व्यापारियों और अन्य विदेशी व्यापारियों को उन जुलाहों से दूर रखना था जिनसे ईस्ट इंडिया कंपनी अपने लिए कपड़ा तैयार कराती थी। इन जुलाहों की मेहनत के सारे

---

१. नरेन्द्रकृष्ण सिंहा, वही पृ० १७८-९ २. वही, पृ० १७७-८
३. राधाकमल मुखर्जी, इकानामिक हिस्ट्री आफ इंडिया, १६००-१८००, पृ० १४८
४. नरेन्द्रकृष्ण सिन्हा, वही, पृ० १७७

माल को कंपनी अपनी जायदाद समझती थी और इसलिए इस कानून में व्यवस्था की गयी कि जो भी आदमी इन जुलाहों से कपड़ा खरीदेगा, उसे अदालत दण्ड देगी।[1]

१९ जुलाई १७८६ में २१ नियमों (रेगुलेशन) की एक तालिका पास की गयी। इसके जरिए हुक्म दिया गया कि हर जुलाहे को एक टिकट दिया जायगा जिस पर उसका नाम, वासस्थान, उस कोठी का नाम जिसके मातहत वह काम करता है, लिखा रहेगा। उस पर यह भी दर्ज रहेगा कि उसे कितनी रकम अग्रिम और कितने समय के लिए दी गयी है तथा उसने कितना कपड़ा कंपनी को दिया है। रेगुलेशन ११ में कहा गया था कि अगर कोई जुलाहा निश्चित अवधि के अन्दर कपड़ा न दे सकेगा, तो कंपनी के ऐजेन्ट को उसपर पहरेदारी के लिए अपने आदमी बैठाने की स्वतंत्रता होगी।[2] ये पहरेदार निगरानी रखते कि जुलाहा या उसके परिवार वाले कोई भी कपड़ा तैयार कर दूसरे के हाथ न बेच सकें। इन पहरेदारों का खाना-पीना बेचारे जुलाहे के मत्थे जाता।

रेगुलेशन १२ में कहा गया कि कंपनी का काम करने वाला कोई जुलाहा कंपनी को निश्चित कपड़ा देने के पहले अगर किसी दूसरे व्यापारी के हाथ कपड़ा बेचेगा, तो उसे अदालत दंड देगी। रेगुलेशन १४ में हुक्म दिया गया कि हर परगने की कचहरी में कंपनी द्वारा नियुक्त जुलाहों की तालिका टाँग दी जाय।[3]

कंपनी के गुमास्ते जुलाहों को अग्रिम पैसा लेने और कंपनी के लिए कपड़ा तैयार करने को मजबूर करते। उनसे जबरदस्ती समझौते पर दस्तखत कराते या अंगूठा निशान लगवाते। इन कानूनों ने इन समझौतों को न मानना अपराध करार देकर जुलाहों को खरीदे गुलाम की हालत में पहुँचा दिया। अवश्य ही रेगुलेशन १७ में कहा गया था कि जिन जुलाहों को समझौते करने को मजबूर किया गया हो या जिन्हें समझौते के मुताबिक पैसा न दिया गया हो, वे इसकी शिकायत कंपनी के व्यापार प्रतिनिधि, ठेकेदार या कलेक्टर के पास कर सकते हैं। इसके बाद ही एक बड़ा भारी "किन्तु" लगा दिया गया था। वह यह कि अगर उसकी शिकायत झूठी पायी गयी तो उसे दंड दिया जायगा। किसी भी ग्रामीण जुलाहे के लिए सच्ची बात को भी सच साबित करना मुश्किल था, जबकि कंपनी के चाकरों के लिए सच बात को भी झूठ साबित करना बिल्कुल आसान था।

२३ जुलाई १७८७ को नये कानून बनाये गये। रेगुलेशन १ में कहा गया कि जो जुलाहे कंपनी से पेशगी फिर नहीं लेना चाहते, उन्हें पन्द्रह दिन पहले इसकी लिखित सूचना कंपनी के पास भेजनी होगी।[4] रेगुलेशन ४ में व्यवस्था की गयी कि जो जुलाहा समझौते के अनुसार कंपनी को कपड़ा दिये बगैर कोई भी कपड़ा बाजार में अन्य व्यापारी के हाथ बेचेगा, उसे दीवानी अदालत दंड देगी। इस तरह बेचा गया सारा कपड़ा जब्त कर कंपनी को दिया जायगा। सारा अदालती खर्च जुलाहे को देना पड़ेगा और इसके अलावा उसे अब भी समझौते को पूरा करना पड़ेगा।[5]

---

१. वही, पृ० १६४ २. वही, पृ० १६४
३. वही, पृ० १६५ ४. वही, पृ० १६५ ५. वही, पृ० १६५

३० सितम्बर १७८९ में पूरक नियम पास कर ये कानून और भी कठोर बना दिये गये। अब व्यवस्था की गयी कि जो जुलाहा निश्चित अवधि के अन्दर कपड़ा नहीं दे सकेगा, उसे पेशगी वापस करने के अलावा जुर्माना भी देना होगा। जिस जुलाहे के पास एक से ज्यादा करघे थे और मजदूर काम पर रखता था, वह अगर लिखित समझौते के अनुसार कपड़ा न दे पाता तो उसे बकाया थानों की पेशगी वापस करने के साथ-साथ हर थान पर ३५ प्रतिशत जुर्माना देना पड़ता।[१]

ये कानून खुद इस बात के गवाह हैं कि भारत के जुलाहे और कोरी अपनी मर्जी से ईस्ट इंडिया कंपनी का काम नहीं करना चाहते थे। उनको कंपनी का काम करने को मजबूर करने की ही गरज से ये सारे नियम बनाये गये थे। टिकट की व्यवस्था गुलामी का पट्टा था। इस गुलामी के पट्टे को तोड़ फेंकने की चेष्टा इन लोगों ने अपनी शक्ति के अनुसार की।

शांतिपुर (जिला नदिया) के जुलाहों का संग्राम सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है। कंपनी कम दाम देकर कपड़े लेती थी, लेकिन दूसरों के हाथ बेचकर जुलाहे ज्यादा कमा सकते थे। इसलिए वे कंपनी का काम टालते रहते और कपड़ा बनाकर अन्य व्यापारियों के हाथ बेचते। उस वक्त कंपनी का ठेकेदार बोलैण्ड नामक अंगरेज था। उसने इसे बन्द करने की चेष्टा की, तो चारों तरफ असंतोष फूट पड़ा।

शंखध्वनि होते ही वे रोज इकट्ठा होते और अपनी तकलीफों पर विचार-विमर्श करते। यह असंतोष दूर-दूर तक के आड़ंगों (वस्त्र उत्पादन केन्द्रों) में फैल गया और और वहाँ के जुलाहों ने कंपनी के लिए काम करना बंद कर दिया। कंपनी के ठेकेदारों ने कई साल शान्तिपुर के जुलाहों को वश में करने की बड़ी कोशिश की, पर सिर्फ असफलता उनके हाथ लगी। तब उन्होंने सुझाया कि जुलाहों के ऊपर पहरेदार बैठा दिये जाने चाहिए ताकि वे दूसरों के लिए कपड़ा न बना सकें और उनके नेताओं को गिरफ्तार कर लिया जाना चाहिए। उनके सुझाव के अनुसार शांतिपुर आड़ंग के ९ जुलाहे गिरफ्तार कर लिये गये। इनमें से छः तब छोड़े गये जब उन्होंने एक साल के लिए नेकचलनी का मुचलका दिया। बाकी तीन को बदमाश करार देकर सजा दी गयी और खिदिरपुर जेल में बन्द कर दिया गया।[२]

इस दण्डाज्ञा के विरुद्ध शांतिपुर के जुलाहों ने कंपनी सरकार के गवर्नर-जनरल के पास निम्नलिखित संयुक्त आवेदन पत्र भेजा :

"ठेकेदार मि० बाब ने कलकत्ता अदालत के जज मि० ग्लैडस्टोन के सामने हमारे खिलाफ झूठी शिकायत की है। उनके षड़यंत्र या झूठी मांग से जज ने हमारे तीन आदमियों को जेल में डाल दिया है। विजयराम को, जो तकलीफों पर सुविचार के लिए आपके सामने आवेदन करने को उपस्थित हुए थे, मि० बाब जबरदस्ती

१. वही, पृ० १६६ २. वही, पृ० १६६

पकड़ ले गये और शांतिपुर फैक्टरी में बंद कर दिया है। जिस कठोरता के साथ उन्हें कैद कर रखा गया है, उससे वे सख्त बीमार पड़ गये हैं।"[1]

शांतिपुर के जुलाहों की इस विद्रोही भावना को देखकर ही ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा नियुक्त एजेण्ट जान बेब ने लिखा :

"जुलाहों को इस वक्त जितना मिलता है, उससे ज्यादा श्रम के समान मूल्य दिये बगैर उनके साथ कुछ भी नहीं किया जा सकता।"[2]

इस तरह कंपनी के इस अधिकारी ने स्वीकार किया कि जुलाहों को जो मूल्य दिया जाता था, वह उनके श्रम से बहुत ही कम था, इसलिए उसमें वृद्धि आवश्यक है। इस वृद्धि के बिना बुनकरों का असंतोष शांत नहीं हो सकता।

ढाका जिले के तीताबाड़ी के जुलाहे तंजेब बनाने के लिए प्रसिद्ध थे। कंपनी के कर्मचारियों के अत्याचार से यहाँ के जुलाहों ने काम-धाम छोड़कर अंग्रेजों से दूर भाग जाना ही बेहतर समझा। १७७४ में इस 'आड़ंग' में जुलाहों के ९०० घर थे, लेकिन १७८८ में सिर्फ ५०० घर ही रह गये थे। यानी उठाईगीर अंगरेज सौदागरों के अत्याचार से ४०० जुलाहों के घर उजड़ गये। वे जाकर खेती-बारी में लग गये। इन जुलाहों के साथ किये जानेवाले अन्याय को जान बेब ने स्वीकार किया था। उसने कहा था :

"जीवन की आवश्यक वस्तुओं की कीमत, जमीन का लगान, और रुई की औसत कीमत आजकल २० या ३० साल पहले की कीमत से आमतौर पर ज्यादा है। यूरोप में बंगाल के कपड़ों की खपत भी ज्यादा है। फलतः प्रथम मूल्य भी पहले के दिनों के प्रथम मूल्य से ज्यादा होना चाहिए।"[3]

जान बेब ने बारीक तंजेब की कीमत हर थान पीछे १ रुपया और साधारण तंजेब के हर थान पीछे ८ आना बढ़ाकर जुलाहों को दी।[4] इस वृद्धि को पाकर ही जुलाहे १७८८ के मुश्किल के दिनों में जीवन-रक्षा कर सके थे।

१७७५ में सोनारगाँव (सुवर्णग्राम-ढाका) के जुलाहों ने शिकायत की कि उन्हें गत वर्ष से २० प्रतिशत ज्यादा मूल्य देने का वादा किया गया था। उन्होंने इसी उम्मीद से बढ़िया माल बनाया था। डे नामक कंपनी का अधिकारी ढाका से सोनारगाँव आया। वह बढ़िया माल के तौर पर इसे ढाका ले गया, लेकिन वहाँ जाकर उसने घटिया माल की कीमत जुलाहों को देने का आदेश दिया। जुलाहों का इस पर नाराज होना स्वाभाविक था। कंपनी के सिपाहियों ने इन जुलाहों को मार-पीट कर भगा दिया।[5] कंपनी के अधिकारी इसी प्रकार जुलाहों को ठगकर अपनी जेब गरम किया करते थे। प्रमाणों द्वारा यह साबित किया गया था कि कारटेल ने १७८१-८२ के बीच ढाका के जुलाहों का ६९,८३० रु० हड़प लिया था। वह हर माल को कुछ घटिया दिखा कर जुलाहों को

१. प्रोसीडिंग्स आफ द बोर्ड आफ ट्रेड, २५ जुलाई १७८६ ; नरेन्द्र कृष्ण सिन्हा, वही, पृ० १७०
२. प्रोसीडिंग्स आफ द बोर्ड आफ ट्रेड, २५ जुलाई १७८६ ; नरेन्द्र कृष्ण सिन्हा, वही, पृ० १६४
३. नरेन्द्र कृष्ण सिन्हा, वही, पृ० १६८ ४. वही, पृ० १६९ ५. वही, पृ० १७१

उसकी कीमत देता, लेकिन जब माल विलायत भेजा जाता तो उसकी असली कीमत वसूल करता। दोनों का अन्तर उसकी जेब में जाता।[1] उसके दीवान दयाचंद ने इस बेईमानी में ९,५७१ रु० ६ आने पाये थे।[2]

सोनामुखी (बाँकुड़ा) के जुलाहों ने १७८९ में संयुक्त आवेदन पत्र पेश कर शिकायत की कि विभिन्न स्थानों के गुमास्तों और तागादगीरों ने जुलाहों से बहुत ज्यादा रकम इकट्ठा की है। उन्होंने माँग की कि यह रकम उन्हें वापस दे दी जाय और भविष्य में उनके इस नाजायज काम पर रोक लगा दी जाय।[3]

ढाका, सोनामुखी और हरियाल (जिला राजशाही) के जुलाहों ने १७८७ में दरखास्त पेश कर शिकायत की कि मि० ग्लोवर ने उन्हें कपड़े की कीमत कम दी है। वह उन्हें ठगता है और उनके मुखियों को गिरफ्तार कर लिया है।[4]

कंपनी ने नियम बनाकर जुलाहों पर जो प्रतिबंध लगा दिये थे, उससे उनमें बड़ा असन्तोष फैला। नये रेगुलेशन पास होते ही उन्होंने टिकट लेने से इन्कार कर दिया। जार्ज उदनी ने मालदा से रिपोर्ट भेजी कि वहाँ के जुलाहे ३० अक्टूबर १७८९ के कानून के सख्त विरोधी हैं और दण्ड देनेवाली धारा को मानकर चलने को कतई तैयार नहीं। जुलाहों ने निश्चय किया कि वे कंपनी से अग्रिम न लेगें, क्योंकि समझौते के अनुसार माल देने में बीमारी, सूत का अभाव, जमीन्दारों के साथ झगड़ा आदि कितनी ही बातें बाधक बन सकती हैं।[5] ठीक समय पर कपड़ा देना चाहने पर भी हो सकता है कि वे ऐसा न कर सकें। वैसी हालत में कानून के अनुसार उन्हें जुर्माना देना होगा। इससे बेहतर होगा कि वे कंपनी का माल ही न बनाये।

इन जुलाहों के नेताओं के नाम भी हमें मिलते हैं। ढाका के तीताबाड़ी केन्द्र के कारीगर वोस्टम दास ने अंगरेज सौदागरों के शर्तनामे पर दस्तखत करने से इन्कार किया, तो मैककुलुम ने उन्हें अपनी कोठी में कैद कर इतना अत्याचार किया कि वे मर गये। इस घटना से तीताबाड़ी के जुलाहों में बड़ा असन्तोष फैला। यह अत्याचार बन्द कराने के लिए व्यापक आन्दोलन चला। इस आन्दोलन के प्रधान नेता और संगठक दुनीराम पाल थे। उन्होंने मृत बोस्टम दास और मैककुलुम की कोठी में बन्द अन्य जुलाहों की तरफ से एक दरखास्त दी थी।[6] इस आन्दोलन से अंगरेज सौदागरों को अपने जुल्म कम करने को बाध्य होना पड़ा था।

हुगली जिले के हरिपाल के जुलाहों के नेता नयन नन्दी और शांतिपुर के जुलाहों के नेता विजयराम थे। १७९२ में कुमारखाली के जुलाहों ने जो दरखास्त दी थी, उसमें सबसे ऊपर नाम हैं बुल्ली, भिखारी, दुन्नी तथा फकीरचंद के। शान्तिपुर के जुलाहों

१. वही, पृ० १७२
२. प्रोसीडिंग्स आफ द बोर्ड आफ ट्रेड, १ अक्टूबर १७९० ; नरेन्द्र कृष्ण सिन्हा, वही, पृ० १७२
३. प्रोसीडिंग्स आफ द बोर्ड आफ ट्रेड, दिसम्बर १७८९ ; नरेन्द्र कृष्ण सिन्हा, वही, पृ० १७२
४. प्रोसीडिंग्स आफ द बोर्ड आफ ट्रेड, १४ मार्च १७८७ ; सिन्हा, वही, पृ० १७१
५. सिन्हा, वही, पृ० १७५	६. नरेन्द्र कृष्ण सिन्हा, वही, पृ० १८०

के अन्य नेता थे लोचन दुलाल, रामहरि दुलाल, कृष्णचन्द्र बोड़ाल, रामराम दास आदि। इनके नेतृत्व में शांतिपुर के जुलाहों का एक प्रतिनिधिमंडल पैदल चलकर कलकत्ता आया था और लाट साहब की कौंसिल के सामने अर्जी पेश कर कंपनी के ठेकेदार के जुल्मों को बंद करने की मांग की थी।[1] निस्संदेह शान्तिपुर के इन कारीगरों ने संगठित प्रतिरोध का प्रदर्शन किया था।

प्रो० हरिरंजन घोषाल को १९५० में बंगाल के पुराने सरकारी कागजात की जाँच करते समय कितने ही अप्रकाशित पत्र मिले। ये पत्र उनके मन्तव्य के साथ इंडियन हिस्टारिकल रिकार्ड कमीशन के खण्ड २८ के दूसरे भाग में १९५१ में प्रकाशित हुए। इन पत्रों के आधार पर श्री घोषाल ने लिखा :

> "साधारणत : कहा जाता है कि भारत का ट्रेड यूनियन आन्दोलन पश्चिम का प्रभाव है। इस धारणा में कुछ सत्य है, लेकिन यह सम्पूर्ण सत्य नही। एक समय "गिल्ड प्रथा" ही भारत का प्रधान औद्योगिक संगठन थी और उसमें ट्रेड यूनियन आन्दोलन के बीज निहित थे। यह उल्लेखनीय है कि कई साल पहले जब मैं कलकत्ता में बंगाल के पुराने सरकारी दस्तावेजों और पत्रों को लेकर शोध-कार्य में व्यस्त था, उस समय यकायक कई अप्रकाशित दस्तावेज मेरे हाथ लगे। इन्हें पढ़ने के बाद देखा जाता है कि अठारहवीं सदी के अन्त में भी बंगाल में कपड़ा कारीगरों ने जो आन्दोलन किया था, वह आजकल के ट्रेड यूनियन आन्दोलन के ही समान था।"[2]

जिन पत्रों का ऊपर उल्लेख है, उनमें पहला ढाका के कार्मशियल रेजीडेन्ट जान टेलर ने २५ नवम्बर १७९३ को ईस्ट इंडिया कंपनी के कलकत्ता स्थित बोर्ड आफ ट्रेड के नाम लिखा था। इसमें उसने कहा था कि ढाका के जुलाहों ने सामूहिक रूप से उसे सूचित कर दिया है कि सब चीजों के दाम बढ़ गये हैं। इसलिए पहले की दर पर कपड़ा देना उनके लिए सम्भव नहीं। उनकी मूल्य वृद्धि की मांग को टेलर ने ठुकरा दिया, तो वे एक साथ ध्वंसात्मक कार्यों पर उतर आये। अच्छे सूत की जगह घटिया सूत का कपड़ा तैयार कर कंपनी को देने लगे। इस तरह अपना नुकसान पूरा करने की उन्होंने चेष्टा की।

दूसरा पत्र सोनामुखी के कार्मशियल रेजीडेन्ट जान चिप ने बोर्ड आफ ट्रेड के पास २९ नवम्बर १७९४ को लिखा था। इसमें उसने सूचित किया कि १७९४ के आरंभ में बहुत से नये-पुराने ज़ुलाहों ने आकर रेजीडेन्ट से पेशगी ली और निश्चित समय पर निश्चित माप का कपड़ा देने का समझौता किया। इसके कुछ ही दिन बाद अन्य व्यापारी इस अंचल में आये और उनके आते ही कंपनी का काम करनेवाले नये-पुराने सब जुलाहे

---

१. वही, पृ० १८०

२. हरिरंजन घोषाल, ट्रेड यूनियन स्पिरिट एमांग द वीवर्स आफ बेंगाल टुवर्ड्स द क्लोज आफ एटीन्थ सेंचुरी (हिस्टोरिकल रिकार्ड्स कमीशन, १९५१, खण्ड २८, भाग २, पृ० ४२-४९)

गायब हो गये। वे अन्य व्यापारियों का काम करने लगे[1] और कंपनी के काम का बायकाट कर दिया। परिणाम हुआ कि कंपनी को बहुत ही कम कपड़ा मिला। क्रुद्ध होकर जान चिप ने जुलाहों से मुचलका लेने की कोशिश की, लेकिन पत्र की ही भाषा में 'सोना-मुखी के जुलाहे बहुत समय से कंपनी को कोई लिखित मुचलका देना अस्वीकार करते आ रहे हैं; पटेश्वर (बाँकुड़ा जिला) की हालत भी ठीक ऐसी ही है।' इसके बाद जान चिप ने नेता समझे जानेवाले कारीगरों को कंपनी के काम से निकाल दिया। लेकिन इसका भी कोई फल न निकला। चिप ने ताज्जुब के साथ देखा कि कारीगर इससे हताश न होकर बरखास्त होना बेहतर समझ रहे हैं। वे खुद बरखास्त हो रहे हैं और अपने साथियों को भी ले जा रहे हैं। इसमें भी असफल होकर चिप ने कारीगरों की एकता नष्ट करने की कोशिश की। कोशिश की कि उनकी सभाएँ न हो सकें, लेकिन उसके सारे प्रयत्न असफल रहे।

इसी जान चिप ने एक और पत्र २९ जुलाई १७९४ को बोर्ड आफ ट्रेड के पास लिखा :

"सोनारुण्डी ग्राम (कटवा महकमा-बर्दवान जिला) के जुलाहों पर इजारेदार और मंडल का अर्थात् गाँव के मुखियों का असीम प्रभाव है। उनका काम ही है अंगरेज कपड़ा फैक्टरी और कपड़ा कारीगरों के बीच विरोध पैदा करना। घनिष्ठ संपर्क, एक ही जाति-वर्ण और एक ही गाँव में निवास उनके इस प्रभाव के कारण हैं। मुझे इस बात में कोई सन्देह नही कि उनका यह प्रभाव नष्ट करना किसी भी रेजीडेन्ट की शक्ति के परे है।...सचमुच ही इस आड़ंग में पहले कार्य संचालन का ढंग इतना अत्याचारपूर्ण था कि इस सारे अंचल में तरुण, वयस्क कपड़ा कारीगर अब बहुत ही कम रह गये हैं; क्योंकि उन्हें उनके माता-पिता अब कपड़ा बुनने की शिक्षा नहीं देते। इसके बदले अब वे खेतों में जाकर किसानी कर रहे हैं। केवल खेती की बदौलत जीविका चलाने से दुख-दुर्दशा अनिवार्य है, किन्तु उन्होंने यही स्वीकार कर लिया है।"[2]

राजशाही जिले के हरियाल आड़ंग के कार्मशियल रेजीडेन्ट सैमुएल बीचक्राफ्ट ने बोर्ड आफ ट्रेड को ३१ जुलाई १७९४ को सूचित किया कि खाद्यान्न और रुई की कीमत बढ़ जाने के कारण इस आड़ंग के जुलाहे कपड़े की ज्यादा कीमत माँग रहे हैं। उन्होंने अंगरेजों के लिए बारीक कपड़ा बनाना एकदम बंद कर दिया और देश के गरीबों की जरूरत मिटाने के लिए मोटा-मझोला कपड़ा बना रहे हैं। बीचक्राफ्ट बल प्रयोग आदि सब उपाय करके भी कारीगरों को अपने फैसले से नहीं हटा सका।

१७९९ में हुगली के हरिपाल आड़ंग के द्वारहट्टा शाखा के जुलाहों ने आड़ंग के रेजीडेन्ट को साफ सूचित किया कि वे अब कम्पनी के लिए कपड़ा तैयार न कर सकेंगे। रेजीडेन्ट बहुत चेष्टा करने पर भी उनकी एकता तोड़ न सका।[3]

१. याद रखने की बात है कि डच और फ्रांसीसी व्यापारी भी पेशगी देकर कपड़ा बनवाते थे और अंगरेज सौदागरों के प्रतिद्वन्द्वी थे।

२. सुप्रकाश राय, भारतेर कृषक विद्रोह ओ गणतांत्रिक संग्राम, पृ० ७६ ३. वही पृ० ७७

भारत के कपड़ा कारीगरों ने इस प्रकार अपनी शक्ति भर अंगरेज सौदागरों का मुकाबिला किया, पर अंगरेज सौदागरों के पीछे राजसत्ता थी। इस राजसत्ता के प्रयोग से वे कारीगरों का प्रतिरोध कुचल देने में समर्थ हुए। प्रतिरोध करना असंभव देख कारीगरों ने अपना काम छोड़ दिया। भारत का वस्त्र उद्योग इस तरह क्रमश नष्ट हो गया। जो भारत पहले सारी दुनिया को वस्त्र देता था, वह क्रमशः ब्रिटेन के और फिर दूसरों के वस्त्र का बाजार बन गया। साम्राजियों की यह 'देन' कोई भी देश-प्रेमी भारतीय नहीं भूल सकता।

अध्याय ६

रेशम के कारीगरों का संग्राम

(१७७०-१८००)

भारत के सूती कपड़ा उद्योग के बाद अंगरेज सौदागरों की शनिदृष्टि यहाँ के रेशम उद्योग पर पड़ी। भारत का रेशमी कपड़ा इतना बढ़िया था कि उसकी माँग सारे यूरोप में थी। इसीलिए ईस्ट इंडिया कम्पनी इसे खरीद कर विलायत ले जाती और इंग्लैण्ड तथा अन्य देशों में बेच कर माला-माल होती।

चूंकि भारत के रेशमी कपड़े के साथ प्रतियोगिता में खास इंग्लैण्ड के कारीगर और व्यवसायी ठहर न पा रहे थे, इसीलिये उन्होंने इन रेशमी वस्त्रों के खिलाफ आन्दोलन चलाया। यह भारतीय वस्त्रों के खिलाफ ब्रिटेन का 'स्वदेशी आन्दोलन' था। ब्रिटेन के विभिन्न पत्रों में भारतीय वस्त्रों के खिलाफ लेख लिखे गये, कविताएँ लिखी गयीं। इस तरह के लेख १७३५ ई० में पाये जाते हैं।[1]

इस आन्दोलन का परिणाम हुआ कि इंग्लैण्ड में भारत के रेशम के कपड़े पर रोक लग गयी। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भी अपनी नीति में परिवर्तन किया। उसने रेशमी कपड़ों की जगह कच्चा रेशम इंग्लैण्ड ले जाना आरम्भ किया। १७ मार्च १७६९ में कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स ने भारत में अपने प्रतिनिधियों के पास आदेश भेजा कि अब वहाँ कच्चे रेशम की पैदावार बढ़ाओ और इंग्लैण्ड भेजो।[2]

अंगरेज उठाईगीर सौदागर यह न चाहते थे कि भारत के रेशम के कारीगर स्वतन्त्र रूप से अथवा अन्य व्यवसाइयों के लिए रेशमी कपड़े बनायें। वे चाहते थे कि जो रेशमी कपड़े बनें वे उनके हाथ में आयें, ताकि अपनी जरूरत के मुताबिक वे इस उद्योग को क्रमश: सीमित कर समाप्त कर सकें। इसलिए कंपनी के डाइरेक्टरों ने भारत में अपने प्रतिनिधियों के पास आदेश भेजा कि जो लोग रेशम की गुठली से सूत निकालते हैं और जो रेशम का कपड़ा बुनने हैं, उन्हें अपने घर पर स्वाधीन रूप से काम न करने दिया जाय, बल्कि कम्पनी की फैक्टरी में काम करने को बाध्य किया जाय। उन्होंने आदेश दिया कि अगर जरूरत हो तो इसके लिये कंपनी की राजनीतिक क्षमता का अर्थात् सेना का भी इस्तेमाल किया जाय।[3]

इस तरह के हुक्म के सम्बन्धमें कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स ने ब्रिटिश पार्लमेण्ट की 'सेलेक्ट कमेटी' को लिखा :

"खास कर रेशमी सूत बनानेवाले जो लोग अपने घर में रह कर स्वाधीन रूप से कार्य

---

१. रेजीनाल्ड रेनाल्ड्स, व्हाइट साहिब्स इन इंडिया, पृ० २६

२. वही, पृ० २६ ३. वही, पृ० २६

करते हैं, उन लोगों को हमलोगों की फैक्टरी में लाने के बारे में आदेश विशेष रूप से फलप्रद हुआ है। यदि यह नियम अर्थात् घर पर बैठ कर स्वाधीन रूप से रेशमी सूत बनाने का नियम हमारी असतर्कता से फिर प्रचलित हो जाय तो उचित होगा कि उसे हमेशा के लिये बन्द कर दिया जाय। हमारी सरकार कठोर दण्ड की व्यवस्था कर यह कार्य अभी ही पूरा कर सकती है।"[1]

ईस्ट इंडिया कंपनी के कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स की इस नीति का ब्रिटिश पार्लमेण्ट की सेलेक्ट कमेटी ने पूरा समर्थन किया और लिखा :

"इस नीति को अवश्य ही व्यापक रूप में अमल में लाना होगा। और उसे इस तरह करना होगा जिससे बंगाल के रेशमी वस्त्रों की उत्पादन-व्यवस्था पूर्ण रूप से ध्वंस हो जाय। जिससे उद्योग-धन्धे में बढ़े इस देश की हालत बिल्कुल बदल जाय और यह देश (अर्थात् भारत) ग्रेट ब्रिटेन को उद्योग-धन्धों की जरूरत के अनुसार कच्चा माल देनेवाला क्षेत्र बन जाय, उसी तरह इस नीति को कार्य रूप में लाना आवश्यक कर्तव्य है।"[2]

कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स का ही नहीं, खुद ब्रिटिश पार्लमेन्ट की सेलेक्ट कमेटी का मत था, आदेश था कि भारत के रेशमी कपड़ा उद्योग को नष्ट कर दो ; यह हालत पैदा कर दो कि भारत सिर्फ कच्चा रेशम ब्रिटेन को दे और रेशमी कपड़े खुद ब्रिटेन में बनें। ईस्ट इंडिया कंपनी ने बड़ी वफादारी के साथ यह काम पूरा किया। रेशमी कपड़ों का उत्पादन क्रमशः बन्द हो गया, कारीगर बेकार हो गये, या तो वे किसान बन गये या विद्रोहियों के दल में शामिल हो गये और अपने उद्योग को मिटानेवालों को मिटाने की चेष्टा करने लगे।

कच्चा रेशम भारत में ज्यादा से ज्यादा पैदा करने के लिए ईस्ट इंडिया कंपनी ने पूरी कोशिश की। कंपनी के लन्दन स्थित कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स ने आदेश दिया कि उसके लिये कारीगरों का वेतन न बढ़ाया जाना चाहिये, बल्कि कुछ पुरस्कार दे-देकर उत्पादन बढ़ाने की चेष्टा करनी चाहिए।[3] कंपनी के नौकरों ने बल प्रयोग कर कारीगरों से ज्यादा काम कराने की नीति को ज्यादा लाभदायक समझा।

बंगाल पर मराठों ने हमला किया (१७४२-५१), तो रेशम के कारीगर उत्तर और पूर्व बंगाल भाग गये। कंपनी के डाइरेक्टरों ने आदेश दिया कि पद्मा नदी के पूर्व में ही शहतूत की खेती करना, रेशम के कीड़ों का पालन, गुठलियों से रेशम का सूत निकालना आदि को बढ़ावा दिया जाना चाहिये :

"उन्होंने सिफारिश की कि पद्मा नदी के पूर्व की भूमि इस काम के लिए सबसे उपयुक्त है, क्योंकि बंगाल पर मराठा या अन्य देशी शक्ति आक्रमण करे, तो भी

१. वही, पृ० २६ २. वही, पृ० २६-२७

३. कोर्ट के १६ मार्च १७६८ और १७ मार्च १७६९ के पत्र ; नरेन्द्र कृष्ण सिन्हा, वही, पृ० १८९

शत्रु शहतूत के बगानों को नष्ट करने या कच्चा रेशम तैयार करने वालों को तितर-बितर करने के लिए इस महान नद को पार न कर सकेगा।"[1]

१८ वीं सदी के अन्तिम तीन दशकों में बंगाल में रेशम पैदा करने के केन्द्र कासिम बाजार (मुर्शिदाबाद); बोआलिया (राजशाही), जंगीपुर (मुर्शिदाबाद), कुमारखाली (नदिया), मालदा, राधानगर (हुगली), रंगपुर और रांगामाटी थे। मराठा आक्रमण से पीड़ित अंचल में सिर्फ बीरभूमि में गोनतिया प्रसिद्ध केन्द्र था।

अंगरेज सौदागरों ने देखा कि बंगाल से कच्चा रेशम लाकर वे इटली या स्पेन के रेशम के साथ प्रतियोगिता कर सकते हैं। इसीलिये बंगाल के कच्चे रेशम का उत्पादन बेहतरीन बनाने के लिए उन्होंने वाइस नामक प्रसिद्ध रेशम निर्माता को भारत भेजा। उसने बंगाल के कुमारखाली में अपना केन्द्र स्थापित किया और चार इतालवियों को लाकर भारतीय कारीगरों को बेहतर तरीके से गुठलियों से रेशम का सूत निकालने और उसे भांजने की शिक्षा दी। भारतीय कारीगरों ने इतनी जल्दी सीख लिया कि १७८३ में वाइस ने रिपोर्ट भेजी कि अब इतालवियों की कोई जरूरत बंगाल में नहीं।[2] १७८५ तक भारत के कच्चे रेशम से ब्रिटेन के रेशम के उद्योग की सारी जरूरत पूरी होने लगी। उसे इटली या स्पेन के कच्चे रेशम की जरूरत न रह गयी। कंपनी भारत से प्रतिवर्ष ७,२०० मन कच्चा रेशम इंग्लैण्ड भेजने लगी।[3] कभी-कभी इससे भी ज्यादा भेजती। इससे कंपनी और उसके नौकरों को बड़ा मुनाफा होने लगा। उदाहरण के लिये १७९० में कम्पनी के राजशाही के एजेन्ट को १५, ४९१ रुपया ; राधानगर के एजेन्ट को १७,०८२ रुपया, रंगपुर के एजेन्ट को ११,१०४ रुपया, कुमारखाली के एजेन्ट को २०, ०१६ रुपया, और जंगीपुर के एजेन्ट को १८,२६२ रुपया कमीशन मिला।[4] लेकिन भारतीय कारीगरों को क्या मिलता था ?

राजशाही में एक मन रेशम का सूत तैयार करने के लिये कंपनी सिर्फ ३५ रुपए खर्च करती थी जिसमें सूत तैयार करनेवालों को सिर्फ २४ रु० ४ आना दिया जाता था। बाकी मोढ़नदार, तबकदार और सरदार को दिया जाता। एक कारीगर दिन में लगभग २ छटाक सूत तैयार कर पाता। इसके माने हैं कि उसकी दैनिक मजदूरी सिर्फ १ आना ३ पाई होती।[5] ऐसी कम मजदूरी में कारीगरों के सामने दो ही रास्ते थे—या तो वे चोरी करें या अच्छी तरह काम न करें। कम्पनी को बाध्य हो कर मजदूरी में वृद्धि की सिफारिश करनी पड़ी। यह वृद्धि सिर्फ नाममात्र की थी और इससे रंगपुर के रेजीडेन्ट के अनुसार १ सेर रेशम के सूत के उत्पादन-व्यय में सिर्फ २। आने की वृद्धि हुई थी।[6]

शहतूत की खेती करना, रेशम के कीड़ों का पालन और गुठली तैयार करना एक किस्म के लोगों का काम था जिन्हें बंगाल में चासार कहा जाता था। गुठली से रेशम का सूत

१. कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स का ७ अप्रैल १७७३ का पत्र ; नरेन्द्र कृष्ण सिन्हा, वही, पृ० १८६।
२. नरेन्द्र कृष्ण सिन्हा, वही, पृ० १९० ३. वही, पृ० १९१ ४. वही, पृ० १९१
५. वही, पृ० १९२ ६. वही, पृ० १९२

निकालना और उसकी फेंटी तैयार करना कारीगरों का काम था जिन्हें नागाउर कहते थे। चासार जमीन पट्टे पर लेकर शहतूत के बगान लगाते, रेशम के कीड़े पालते और गुठली तैयार करते। व्यापारी आ कर थोक दर पर गुठलियाँ ले जाते और रेशम का सूत तैयार करने वाले केन्द्रों में जाकर बेचकर बड़ा मुनाफा कमाते। चासार लोगों को एक मन गुठली का १०-१२ रुपया और कहीं-कहीं तो सिर्फ ९ रुपया मिलता। चासार और नागाउर दोनों का शोषण कंपनी के राज में पूरे जोर से चल रहा था। इस सम्बन्ध में अंगरेज सौदागर बिलियम बोल्ट्स ने लिखा :

"लार्ड क्लाइव के दूसरी बार के शासन काल में कच्चे रेशम के उत्पादन में कंपनी की तरफ से नागाउरों के ऊपर इतना अत्याचार होता और कठोरता बरती जाती कि मानव समाज के पवित्रतम नियम भी ताक़ पर रख दिये जाते।"[1]

इन सब अत्याचारों के खिलाफ रेशम के चासारों और नागाउरों में असन्तोष फैलना स्वाभाविक था। कंपनी का काम बन्द कर अधिक मजदूरी की मांग कर उन्होंने अपना असंतोष जाहिर किया। जहाँ शारीरिक अत्याचार असहनीय हो गया, वहाँ कारीगर काम छोड़कर भाग गये या अपना अंगूठा कटवा लिया[2], ताकि कंपनी उन्हें काम के लिए बाध्य न कर सके। चासारों ने शहतूत के बगान काट कर जमीन साफ कर दूसरी खेती का सहारा लिया।

इस तरह उठाईगीर अंगरेज सौदागरों ने भारत का रेशमी कपड़े का उद्योग नष्ट किया, उसे ब्रिटेन के कल-कारखानों के लिये कच्चा माल देने का देश बनाया। हमारे कारीगरों ने उनके शोषण और अत्याचार का भरसक विरोध किया, लेकिन राजसत्ता अंगरेज सौदागरों के हाथ थी। इस सत्ता का प्रयोग कर भारतीय कारीगरों की आवाज बन्द कर दी गयी।

१. विलियम बोल्ट्स, कन्सीडरेशन्स आन इंडिया अफेयर्स, पृ० १९५
२. वही, पृ० १९५

अध्याय १०

अफीम के किसानों का संग्राम

(१७७०—९३)

"जब बंगाल की सरकार मेरे हाथ आयी, अफीम अलग-अलग व्यक्तियों की इजारेदारी थी और इस वस्तु से कंपनी को कोई भी राजस्व न मिलता था। मेरे प्रशासन में इससे कंपनी को ५,३४,००० पौण्ड की आमदनी हुई है और यह बढ़ती आमदनी का एक जरिया है।"[1]

ये शब्द वारेन हेस्टिंग्स के हैं जो भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी की सरकार का गवर्नर जनरल रह चुका था और फिर जिसपर भारत में लूट-खसोट करने के लिए ब्रिटेन की पार्लमेन्ट में मामला चला था। इस मामले का बारहवाँ अभियोग उसपर यह था कि उसने कंपनी के कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स के आदेशों को ताक पर रखकर अफीम की इजारेदारी कायम की थी और ऐसा कर रय्यत की स्वाधीनता में तानाशाहों की तरह दखल दिया था। इस अभियोग के उत्तर में वारेन हेस्टिंग्स ने उपरोक्त शब्द कहे थे।

अफीम के इस व्यापार का इतिहास क्या है? अंगरेज सौदागरों ने किस तरह अफीम के किसानों पर अत्याचार किये? इसकी एक लम्बी कहानी है।

मुगलों के शासन काल में अफीम की खेती को न तो बढ़ावा दिया जाता था और न उसे सीमित करने की कोशिश होती थी। लेकिन १७ वीं सदी में देखा जाता है कि पटना और उसके आसपास के अंचल में रय्यत से अफीम खरीदने की इजारेदारी कायम हो चुकी थी। ये इजारेदार व्यापारी रय्यत से अफीम खरीदते और चिन्सुरा (चूंचुड़ा-हुगली) के डच, चन्दननगर के फ्रांसीसी और कलकत्ता के अंगरेज सौदागरों के हाथ बेचते। इस व्यापार से वे मालामाल हो गये।

डच, फ्रांसीसी और अंगरेज तीनों ही भारत से अफीम निर्यात करते। अंगरेजों का सितारा बुलन्द हो रहा था और वे डचों और फ्रांसीसियों को प्रत्येक क्षेत्र में पछाड़ रहे थे। लेकिन देखा जाता है कि इसके बाद काफी दिनों तक अफीम निर्यात करने वालों में प्रमुख स्थान डचों का था। वे इसका निर्यात सीलोन, मलक्का जलडमरूमध्य और मलाया में करते।[2]

ईस्ट इंडिया कंपनी के अंगरेज नौकरों ने देखा कि यह तो बड़े मुनाफे का व्यापार है। इसीलिए उन्होंने अफीम के किसानों तक सीधे पहुँचने की कोशिश की, ताकि मुनाफे का बड़ा हिस्सा उनके हाथ आये। उनके इस प्रयास में धनी भारतीय व्यापारियों का

१. नरेन्द्र कृष्ण सिन्हा, इकनामिक हिस्ट्री आफ बेंगाल, खण्ड १, तीसरा संस्करण, पृ० २०२
२. रायल कमीशन आन आपियम १८९३, एपेन्डिक्स ए; सिन्हा, वही, पृ० २००

गुट बाधक सिद्ध हुआ। इन धनी अफीम व्यापारियों में मीर अशरफ और मीर मुनीर के नाम आते हैं। लेकिन १७५७ में पलासी के युद्ध में विजय के बाद कंपनी के कर्मचारियों को इनके विरोध को तोड़ने में कोई कठिनाई न हुई। भारतीय व्यापारियों ने भी देखा कि इन अंगरेज सौदागरों के सामने झुककर चलने में ही खैरियत है।

इस तरह पटना कौंसिल के हाथ में रय्यत से अफीम खरीदने की इजारेदारी आ गई। रय्यत से अफीम खरीदने का काम वह अपने भारतीय एजेन्टों के जरिए करती। अफीम कलकत्ता के अंगरेज व्यापारियों के हाथ बेचकर पटना कौंसिल बड़ा मुनाफा कमाती। इस कौंसिल के अलावा कुछ अंगरेज व्यापारी व्यक्तिगत तौर पर व्यापार करते और कलकत्ता के व्यापारियों को अफीम देकर बड़ा मुनाफा कमाते।

मुनाफे के इस व्यापार ने वारेन हेस्टिंग्स से लेकर छोटे-मोटे अंगरेज व्यापारियों तक को आकर्षित किया। इनमें इसको लेकर छीना-झपटी शुरू हो गयी। जार्ज वंसीटार्ट, जोसेफ प्राइस और बारवेल के पटना की कौंसिल की इजारेदारी में हिस्से थे। १७७२ में हेस्टिंग्स गवर्नर-जनरल बन कर आया। अफीम के व्यापार ने उसका ध्यान तुरन्त खींचा। उसने और उसकी कौंसिल ने माँग की कि बालमबंगन उपनिवेश के लिए ५०० पेटियाँ अर्थात् १००० मन अफीम उन्हें दी जाय। जार्ज वंसीटार्ट वगैरह को अपने मुनाफे का यह काटा जाना अवश्य ही पसन्द न आया।[1]

तब वारेन हेस्टिंग्स ने दूसरा कदम उठाया। उसने पटना कौंसिल की व्यक्तिगत व्यापार की सुविधा छीन ली और खुद कंपनी सरकार की तरफ से एक कमेटी बनाने का फैसला किया। मीर मुनीर और रामचन्द्र पंडित पटना कौसिल के लिए बिहार में अफीम इकट्ठा करते थे। वारेन हेस्टिंग्स ने उन्हें अपनी तरफ मिलाया और कंपनी के लिए बिहार में अफीम इकट्ठा करने का उन्हें जिम्मा दिया। ईस्ट इंडिया कंपनी के लंदन में बैठे कोर्ट आफ डाईरेक्टरर्स को प्रभावित करने की क्षमता अफीम का व्यक्तिगत व्यापार करने वाले सौदागरों में थी। डाइरेक्टरों ने वारेन हेस्टिंग्स को आदेश दिया कि कंपनी अफीम का व्यापार न करे, सिर्फ शुल्क ले और यह शुल्क ५० रुपये प्रतिमन से ज्यादा न हो।[2] वारेन हेस्टिंग्स ने कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स के इसी हुकम की अवहेलना की थी, जो ब्रिटिश पार्लमेन्ट में चले उस पर मुकदमे का एक अभियोग बना।

वारेन हेस्टिंग्स ने अपने विशेष कृपापात्रों को अफीम के व्यापार में घुसाया। उसके ये कृपापात्र कुछ ही दिनों में मालामाल हो गये। उसने जल्दी ही मीर मुनीर और रामचन्द्र पंडित का पत्ता काट दिया और बंगाल, बिहार तथा बनारस से अफीम इकट्ठा करने का ठेका अपने कृपापात्रों को दिया। १७७५ में बिहार का ठेका ग्रिफिथ को और बंगाल का ठेका विल्टन को दिया। १७७६ में इन दोनों का स्थान मैकेन्जी ने लिया। १७८१ में बंगाल और बिहार दोनों से अफीम इकट्ठा करने का चार साल का ठेका स्टेफेन

१. जोसेफ प्राइस के नाम जार्ज वंसीटार्ट का १३ सितम्बर १७७२ का पत्र; सिन्हा, वही, पृ० २०१
२. कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स का २४ दिसम्बर १७७६ का पत्र; सिन्हा, वही, पृ० २०२

सुलिवान को दिया गया। वारेन हेस्टिंग्स की मेहरबानी से इन ठेकेदारों ने बेशुमार मुनाफा कमाया। इसे ही देखकर कार्ल मार्क्स ने आलोचना करते हुए लिखा था कि पारस पत्थर की मदद से सोना बनाने वाले कीमियाइयों को कम से कम लोहे की जरूरत होती थी, लेकिन ये ठेकेदार उन लोगों से अधिक चतुर साबित हुए। सोना बनाने के लिए इन्हें किसी भी वस्तु की जरूरत न होती।

वारेन हेस्टिंग्स अपने कृपापात्रों, मित्रों और खुद अपने को मालामाल बनाकर विलायत गया। उसके जाने पर कंपनी सरकार अफीम इकट्ठाकर कंपनी को देने के ठेकों को नीलाम करने लगी। कम कीमत पर ज्यादा अफीम देने वालों को ठेके दिये जाने लगे। यह व्यवस्था कितने ही वर्ष चली। १७९७ में कंपनी ने यह काम भी अपने जिम्मे सँभाला। इस व्यापार से अंगरेज सरकार का लाभ किस तरह बढ़ता गया, इसका अनुमान भारत से निर्यात की जानेवाली अफीम से लगाया जा सकता है। १७७० में औसत वार्षिक निर्यात ८०० पेटियों का होता था और हर पेटी में २ मन अफीम होती थी। १८४७-४८ तक यह निर्यात बढ़कर ३०,००० पेटियों से ज्यादा हो गया।[१] हर पेटी की कीमत कितनी थी? १७७३ में मीर मुनीर और रामचन्द्र पंडित को ३२० रु० प्रतिपेटी के हिसाब से अफीम देने का आदेश दिया गया था।[२] ईस्ट इंडिया कंपनी इसे चीन और अन्य देशों में ले जाकर कई गुना कीमत पर बेचती थी। १७९३-९४ में कंपनी सरकार को अफीम के व्यापार में १९ लाख ३ रु० लाभ हुआ था।[३] अफीम की हर गोली सोने की गोली साबित हो रही थी।

अंगरेज सौदागर जब इस तरह बेशुमार मुनाफा कमा रहे थे, हिन्दुस्तान के किसानों की क्या हालत थी? ये सौदागर इन किसानों का शोषण किस तरह करते? वे और उनके आदमी कंपनी को कम कीमत पर अफीम देने का ठेका लेते, अपना मुनाफा बरकरार रखने और बढ़ाने के लिए वे किसानों का हर तरह शोषण करते थे। वे किसानों को अफीम की खेती करने को बाध्य करते और इसके लिए वे उनकी खड़ी और तैयार फसल नष्ट करा देने से भी बाज न आते। उदाहरण के लिये, गया जिले में अनाज की फसल बिल्कुल तैयार थी और एक महीने में कटकर किसानों के घर आ जाती, लेकिन तब अफीम बोने का समय चला जाता। इसलिए उनकी यह तैयार फसल नष्ट करा दी गयी और किसानों को अफीम की खेती करने को बाध्य किया गया। इस काण्ड के वक्त कुछ अंगरेज घटनास्थल पर उपस्थित थे।[४] उन्होंने यह भी देखा कि किसान आमतौर पर यह पसन्द न करते थे, फिर भी उनको यह करने को बाध्य होना पड़ता था।

उस वक्त के अदालतों के फैसले, सरकारी बयान और फरमान जाहिर करते हैं कि अफीम के किसानों पर बड़े अत्याचार होते थे। १७८४ में सुप्रीम कोर्ट में एक आदमी ने मामला दायर किया था कि उसकी अफीम जबर्दस्ती छीन ली गयी है। इसका फैसला

१, सिन्हा, वही, पृ० २०४　२. सिन्हा, वही, पृ० २०३　३ वही, पृ० २०४
४. वही, पृ० २०३

न्यायालय ने इस आदमी के पक्ष में दिया और अफीम छीन ले जाने को गैरकानूनी काम बताया।[1] यह फैसला साफ बताता है कि उठाईगीर सौदागर किसानों की अफीम मनमाने दाम पर छीन लेने से बाज न आते थे।

सितम्बर १७८५ में घोषणा की गई कि ठेकेदारों और उनके अधिकारियों के खिलाफ रय्यत की सारी शिकायतें सुनना कलेक्टरों का कर्त्तव्य है।[2] साफ है कि ठेकेदार और उनके कर्मचारी अफीम बोने वाले किसानों पर जो अत्याचार करते उसकी सुनवाई कलेक्टर तक के यहाँ न होती। किसानों के असन्तोष और आन्दोलन को देखकर ही आखिर में यह घोषणा की गयी थी।

वारेन हेस्टिंग्स के बाद कार्नवालिस गर्वनर जनरल बन कर आया। उसने हुक्म जारी किया कि बिहार में ठेकेदार 'बेसी', 'बेसी मामूली', 'रसूम' आदि नाजायज वसूली किसानों से न करें।[3] उन्हें यह भी हुक्म दिया गया कि वे किसानों के साथ निश्चित बीघों में अफीम की खेती का समझौता करें, न कि निश्चित मात्रा में अफीम देने का। स्पष्ट है कि ठेकेदार और कर्मचारी सुनिश्चित मात्रा में अफीम पैदा कर उन्हें देने को बाध्य करते थे। उतनी अफीम न मिलने पर किसानों पर तरह-तरह के अत्याचार करते थे। किसानों से अफीम लेते वक्त वे तरह-तरह की दस्तूरियों के नाम पर अफीम का एक हिस्सा मुफ्त ही ले लेते।

कार्नवालिस के समय यह भी हुक्म जारी हुआ था कि ठेकेदार और उनके कर्मचारी किसानों को कैद न करें, मारें-पीटे नहीं, उनकी जायदाद जप्त न करें, उनपर जुर्माना न लगायें और उनसे सलामी न लें। मालगुदामों में अफीम तौलने के तराजू और बाँटों पर कलक्टर की मुहर होनी चाहिए। वजन करते वक्त तराजू को हाथ से न उठाया जाय, बल्कि लटकाकर रखा जाय।[4] ये हुक्म स्पष्ट बताते हैं कि अफीम की खेती करनेवालों पर कंपनी के ठेकेदार और कर्मचारी किस तरह अत्याचार करते थे। ये हुक्म यह भी बताते हैं कि ये किसानों के बड़े असन्तोष और आन्दोलन के बाद ही जारी किये गये थे। इन अत्याचारों और उनके परिणाम के बारे में १८९३ में बैठाये गये अफीम रायल कमीशन का कथन सुनिए :

> "(ठेकेदार) किसानों को जो दाम देते उसमें काट-छाँट करते और भुगतान में उनको ठगते। किसान इसका उत्तर अफीम में अन्य चीजें मिला कर, तस्कर व्यापारियों के हाथ बेचकर और खेती बन्दकर देते। अफीम का परिमाण दिन पर दिन कम होता गया और झगड़े-झमेले बराबर बढ़ते गये।"[5]

यह कथन बताता है कि किसानों ने भी अंगरेज सौदागरों और उनके ठेकेदारों का मुकाबिला करने के लिये अपना ढंग निकाला था। ठेकेदार उनकी अफीम का दाम कम देते, तो किसान भी उसमें मिलावट करते और तस्कर व्यापारियों के हाथ असली अफीम

१. वही, पृ० २०३ २. वही, पृ० २०३ ३. वही, पृ० २०३
४. वही, पृ० २०४ ५. रायल कमीशन आन आपियम १८९३; सिन्हा, वही, पृ० २०४

बेचकर अपना घाटा पूरा करते। जब अत्याचार असहनीय हो जाते तो वे अफीम की खेती ही बन्द कर देते। ठेकेदार और उनके आदमी किसानों को मारते-पीटते, उनकी जायदाद जब्त करते, तो किसान भी उनसे भिड़ जाते। इन सबका परिणाम हुआ कि अफीम की खेती ही समाप्त होने लगी।

अध्याय ११

नोनियों का संग्राम

(१७७०-१८००)

पलासी युद्ध (१७५७) के समय बिहार शोरा उद्योग का केन्द्र था। चूंकि इसका इस्तेमाल बारूद बनाने में होता है, इसलिए यूरोप के सौदागरों का ध्यान इसकी तरफ बहुत जल्दी आकर्षित हुआ। सब इस व्यापार को हथियाने की कोशिश करने लगे, लेकिन पलासी युद्ध में विजय से अंगरेज सौदागरों ने अन्य यूरोपीय सौदागरों को पछाड़ दिया। क्लाइव ने मीरजाफर से शोरा बनाने की इजारेदारी अंगरेज सौदागरों के लिए प्राप्त कर ली। इस परवाने में लिखा गया :

"इस समय, खोजा (ख्वाजा) मुहम्मद वजीद के कमरे में कर्नल क्लाइव के जरिए सारे बिहार प्रान्त की शोरा की जमीन अंगरेज कंपनी को बंगला वर्ष ११६५ के आरंभ से मंजूर की गयी है; तुम्हें यहाँ आदेश दिया जाता है कि उक्त प्रान्त में उनके गुमास्तों का अधिकार स्थापित करो, शोरा पाइकारों को सख्त हुक्म दे दो कि एक छटाक शोरा भी वे किसी दूसरे आदमी के हाथ न बेचें और कंपनी से उपरोक्त भूमि के लिए निश्चित नजराना और रुपया लो।"[1]

इस व्यापार पर अपनी इजारेदारी स्थापित कर अंगरेजों ने जल्दी ही फ्रांसीसियों, डचों और डेनों से समझौता किया। इस समझौते के अनुसार शान्तिकाल में डचों को २३,००० मन, फ्रांसीसियों को १८,००० मन और डेनों को १६,००० मन शोरा प्रतिवर्ष अंगरेज सौदागर देते थे। खुद हिन्दुस्तान के अन्दर बारूद बनाने के लिए अंगरेजों को इसकी जरूरत थी। इस जरूरत को पूरा करने के लिए १७८४ में बम्बई को १५,००० मन, मद्रास को १४,४०० मन, फोर्ट मार्लबरो को १,२५० मन दिया गया था। बंगाल की जरूरत ६०० मन प्रतिमास अर्थात् ७,२०० मन प्रतिवर्ष थी। इंग्लैण्ड में बिहार के शोरे की खपत १७६८-८८ में औसतन २६,२८० बोरे प्रतिवर्ष थी। युद्ध के समय इसकी मांग इंगलैण्ड में बहुत बढ़ जाती।[2]

बिहार में शोरे के उत्पादन के मुख्य केन्द्र हाजीपुर, तिरहुत, सारन और पूर्णिया थे। बंगाल में रंगपुर में शोरे का उत्पादन १७७३ में बन्द कर दिया गया। पूर्णिया में बना शोरा निजामत शोरा कहलाता था, क्योंकि इसका एक हिस्सा नवाब को दिया जाता था, ताकि उत्सवों के दिन इस्तेमाल के लिए वह बारूद तैयार करा सके। १७८८ में पूर्णिया में शोरे का उत्पादन बन्द हो गया।[3]

१. एचीसन, ट्रिटीज, खण्ड १, पृ० १६; सिन्हा, वही, पृ० २१२
२. सिन्हा, वही, पृ० २१२
३. वही, पृ० २१३

ईस्ट इंडिया कंपनी के शोरा बनाने के पाँच कारखाने थे जिनका वार्षिक उत्पादन १,३०,००० मन से लेकर १,५०,००० मन था। उसके चार कारखानों का उत्पादन इस प्रकार था : सिंघिया—५४,००० मन, छपरा—५७,००० मन, हाजीपुर—३,००० मन और फतुवा—८,००० मन।[1]

शोरे की माटी इकट्ठा करने और उसे तैयार करने का काम नोनिया करते थे। चूँकि यह माटी नोना माटी कहलाती थी, इसीलिए इसे इकट्ठा और कच्चा शोरा तैयार करनेवालों को नोनिया कहते थे। बिहार में नोनियों के बड़ी तायदाद में होने का यही रहस्य है।

बरसात के खत्म होते ही नोनिया यह माटी इकट्ठा करते। पुरानी दीवारों और पशुशालाओं को वे खरोंचते और वहाँ से भी यह माटी इकट्ठा करते। इस माटी को वे पानी में दो-तीन दिन घोल कर रखते और मिट्टी नीचे बैठ जाने पर ऊपर ऊपरसे पानी निकाल कर उसे उबालते। पानी के निकाल दिए जाने पर जो बच जाता उसे कच्चा शोरा कहते। इसे उबालने से कल्मी शोरा प्राप्त होता। बिहार में शोरा बनाने का यही आम तरीका था।

कंपनी के कारखानों और नोनियों के बीच 'असामी' होते थे। ये 'असामी' नोनियों से कच्चा शोरा ले जाकर कंपनी के कारखानों को देते। कभी-कभी वे कल्मी शोरा भी देते, पर आम तौर पर कच्चा शोरा ही इनसे लेना कंपनी के कारखाने पसन्द करते। कंपनी के कारखाने इन असामियों को शोरा देने का ठेका देते और उसके लिए चौथाई रकम पेशगी देते। वे कल्मी शोरा २ रुपया ४ आना प्रतिमन और कच्चा शोरा १ रुपया ४ आना प्रतिमन लेते। असामी नोनियों को १२, १४ या १५ आना प्रतिमन देते। जिस शोरे के लिए कंपनी असामियों को १ रुपया १२ आने प्रतिमन से ज्यादा न देती, कोई भी अन्य व्यापारी उसी के लिए २।।-३ रु० प्रतिमन बड़ी खुशी से देने को तैयार रहता।[2] यह जाहिर करता है कि कंपनी अपनी इजारेदारी का इस्तेमाल कर असामियों को वाजिब दाम से बहुत ही कम देती। स्वभावतः नोनियों को भी बहुत कम मिलता।

कंपनी कच्चा शोरा प्रतिमन १ रुपया १२ आने के अन्दर खरीदती। उसका उत्पादन व्यय १,५०,००० मन का लगभग ३५,००० रुपयां था।[3] अर्थात् उत्पादन व्यय ४ आना प्रतिमन से कम था। इस तरह कंपनी का प्रतिमन खर्च लगभग २ रुपया होता। वह इसे विदेशी कंपनियों के हाथ ३।। रु० में बेचती। अर्थात् हर मन पर १।। रु० खरा मुनाफा लेती। इसी से हर साल उसके लाखों रुपए के मुनाफे का अनुमान लगाया जा सकता है। १७८७-८८ में एजेन्सी प्रथा के जमाने में कंपनी असामियों को प्रतिमन सिर्फ १ रु० १२ आना देती। उसका कुल खर्च प्रतिमन सिर्फ २ रु० १ आना ११ पाई होता। १७७५-७६, १७७६-७७ और १७७७-७८ में कंपनी के कारखाने इसे २ रु० ११ आना प्रतिमन के हिसाब से बेचते।[4] इन आंकड़ों से भी कंपनी के मुनाफे का अनुमान लगाया जा सकता है।

१. वही, पृ० २१३ २. वही, पृ० २१४ ३. वही, पृ० २१४ ४. वही, पृ० २१५

कंपनी का राज था। शोरे के व्यापार पर बिहार में उसकी इजारेदारी थी। ऐसी हालत में अत्यधिक शोषण का मुकाबिला नोनिया और असामी कैसे करते? खुला विद्रोह करना मुश्किल देख वे गुप्त रूप से अपना कच्चा शोरा अन्य व्यापारियों के हाथ बेचते। देखा गया कि बनारस और अवध से लाखों मन शोरा कलकत्ता पहुँच रहा है। वहाँ के नोनिया यह शोरा तो बनाते ही थे, लेकिन सन्देह किया जाता था कि बिहार के नोनिया और असामी अपना शोरा इन अंचलों के व्यापारियों के हाथ बेच रहे थे और वह कलकत्ता पहुँच रहा था।

अध्याय १२

नमक के कारीगरों का संग्राम

(१७७०-१८०४)

भारत के पूर्वांचल में हावी होने के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी और उसके कर्मचारियों ने यहाँ के जिन उद्योगों को हथियाया, उनमें एक नमक उद्योग था। ओड़िसा के बालासोर से लेकर बँगलादेश के चटगाँव तक फैले सारे समुद्र तट के अंचल में नमक बनाया जाता था और इसके कारीगर आमतौर पर 'मलंगी' कहे जाते थे। बंगाल में नमक १७९५ में ३०,२८,३४२ मन और १७९६ में २६,९९,२८६ मन बनाया गया था।[1] इस तरह बंगाल औसतन २८ लाख मन नमक प्रतिवर्ष पैदा करता था। इसका आधा नमक सिर्फ मेदिनीपुर के हिजली और तमलुक (पुराने ताम्रलिप्त) में पैदा होता था।

अलीवर्दी खाँ के जमाने में नमक के प्रति सौ मन की कीमत ४०, ५० या ६० रु० थी।[2] अर्थात् उस वक्त नमक १ रु० में लगभग २ मन मिलता था। अवश्य ही मराठों के आक्रमण के समय इसकी कीमत बढ़ कर १५० रु० में १०० मन अर्थात् तिगुनी हो गयी थी।

बंगाल के नवाब भी नमक को आमदनी का अच्छा जरिया समझते थे। वे अपने प्रिय पात्रों को नमक का ठेका देते या ठेके की नीलामी होती। जो सबसे ज्यादा नीलामी बोली बोलता, उसे ठेका दिया जाता। लेकिन ये ठेकेदार इजारेदार न बन पाते। औरों द्वारा नमक का बनाया या बेचा जाना वे न रोक पाते।

अंगरेज सौदागर ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारियों की भर्ती के लिए अपने देश के लोगों को नमक के व्यापार का लालच दिखाते।[3] पलासी युद्ध में विजय के बाद कंपनी के अंगरेज कर्मचारी नमक का व्यापार निःशुल्क करना अपना स्वाभाविक अधिकार समझते। वे चाहते थे कि भारतीय व्यापारी शुल्क दें, लेकिन उनसे न लिया जाय। जब मीरकासिम ने हिन्दुस्तानी व्यापारियों को भी निःशुल्क व्यापार करने की इजाजत दे दी, तो अंगरेज सौदागरों ने उसके खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी। ये लुटेरे साम्राजी यह भी पसन्द न करते थे कि भारत में भारतीय सौदागरों को भी वही सुविधा दी जाय जिसे वे खुद भोग रहे थे।[3]

बक्सर युद्ध (१७६४) में विजय के बाद क्लाइव ने नमक, सुपाड़ी और तम्बाकू का व्यापार करने के लिए एक समिति बनायी जिसका नाम था 'एक्सक्लूसिव सोसाइटी'।[4]

१. कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स का ३० दिसम्बर १७९८ का पत्र ; नरेन्द्र कृष्ण सिन्हा, वही, पृ० २१६

२. बोल्ट्स, वही, पृ० १७४ ; सिन्हा, वही, पृ० २१६

३. लेस्टर हचिंसन, दि एम्पायर आफ द नबाब्स, पृ० २

४. सिन्हा, वही, पृ० २१६

सिर्फ कंपनी के बड़े कर्मचारी ही इसके हिस्सेदार हो सकते थे। इस सोसाइटी ने नमक के सिर्फ व्यापार ही पर नहीं, बल्कि उत्पादन पर भी अपनी इजारेदारी कायम की। इसने राजसत्ता से अनुचित लाभ उठा कर हुक्म जारी कर दिया कि एक्सक्लूसिव सोसाइटी के ठेकेदारों को छोड़ कर कोई भी व्यक्ति नमक का व्यापार प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में न करेगा। पहले देशी व्यापारी नमक के कारीगरों अर्थात् मलंगियों को अग्रिम रुपया देकर उनसे नमक बनवाते और सारे देश को नमक देते। कंपनी सरकार के राज में हुक्म हो गया कि ये व्यापारी अब मलंगियों के साथ कोई सम्बन्ध न रख सकेंगे। वे सोसाइटी के ठेकेदार और दलाल ही बन कर रह सकते हैं, नमक के व्यापारी बन कर नहीं। ठेकेदार मलंगियों से नमक बनवा कर सोसाइटी को देंगे और एजेन्ट सोसाइटी से नमक लेकर बाजार में बेंचेंगे।

एक्सक्लूसिव सोसाइटी की इस इजारेदारी का परिणाम हुआ कि नमक के दाम तुरन्त आकाश छूने लगे। इस सोसाइटी के बनने के पहले १७६५ में नमक १२५ रु० में १०० मन मिलता था अर्थात् सवा रुपया मन पाया जाता था। लेकिन १७६६ में अर्थात् एक साल ही में बढ़ कर वह २४७ रु० का १०० मन अर्थात् लगभग अढ़ाई रुपया मन हो गया। १७६७ में कीमत कुछ कम हुई। २३१ रु० में १०० मन नमक मिलने लगा, लेकिन फिर भी सवा रुपए की जगह सवा दो रुपए मन बिक रहा था।[1]

यह सोसाइटी मुश्किल से तीन साल व्यापार कर सकी। कंपनी के नये और निम्न अंगरेज कर्मचारियों के विरोध के कारण १७६८ में यह सोसाइटी तोड़ दी गयी और भारतीय व्यापारियों को भी पहले की तरह नमक का व्यापार करने की इजाजत दे दी गयी, लेकिन फिर भी उन्हें इससे दूर रखा गया। कंपनी के गोरे कर्मचारी व्यक्तिगत व्यापारी बन गये और गुमास्तों के जरिए यह व्यापार चलाने लगे। उस वक्त के गवर्नर वेरेल्स्ट ने इसे स्वीकार करते हुए लिखा :

> "कंपनी के अंगरेज कर्मचारी व्यक्तिगत व्यापारी बन बैठे हैं और काले देशी गुमास्तों की मारफत नमक का व्यापार किया करते हैं।"[2]

सोसाइटी के टूटते ही नमक सस्ता हो गया। वह १४८ रु० में १०० मन अर्थात् डेढ़ रुपए मन बिकने लगा। कंपनी सरकार ने इस अवसर से फायदा उठा कर नमक पर ३० प्रतिशत शुल्क बैठा दिया।

नमक का यह 'खुला और स्वतंत्र' व्यापार १७७२ तक चलता रहा। अवश्य ही 'एक्सक्लूसिव सोसाइटी' के सदस्य अपना पुराना स्टाक बेचने के नाम पर इसमें दखल देते रहे। अंगरेज व्यवसाइयों से शुल्क वसूल करना असंभव देख १७७२ में कंपनी सरकार ने नमक के व्यापार पर अपना पूरा नियंत्रण कायम किया। नये जटिल नियम बनाये गये। नमक बनाने के काम का पाँच साल का पट्टा कारीगरों को दिया जाने लगा।

१. सिन्हा, वही, पृ० २१७
२. वेरेल्स्ट, ए नेरेटिव आफ द ट्रांसैक्शन्स इन बेंगाल, पटसेट्रा, पृ० २८

नमक के व्यापारियों को एक सुनिश्चित 'खलारी' (नमक का कारखाना) से सुनिश्चित नमक लेना पड़ता और उसके लिए नमक बनाने वालों को पेशगी देनी पड़ती।[१]

इस नयी व्यवस्था से कंपनी की आमदनी कुछ वक्त के लिए बढ़ी, लेकिन १७७५-७६ में फिर कम हो गयी। इसका प्रधान कारण कंपनी के कर्मचारियों में फैला भ्रष्टाचार था। बड़े-बड़े कर्मचारी इस भ्रष्टाचार में शामिल थे। कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स ने आदेश दे रखा था कि ईस्ट इंडिया कंपनी का कोई भी कर्मचारी अपने नाम अथवा किसी अन्य के नाम नमक का ठेका न ले सकेगा और न नमक बनाने का कारखाना खोल सकेगा, लेकिन अंगरेज कर्मचारी इसकी उपेक्षा कर बेनामी व्यापार चलाते।

इसी बीच ओड़िसा और कारोमंडल के तट से सस्ते नमक ने आकर बंगाल में नमक का दाम गिरा दिया। कलकत्ता में जो मध्यम श्रेणी का नमक ११७रु० प्रति सौ मन बिक रहा था वह ८७ रु० में बिकने लगा। अंगरेज सौदागरों का मुनाफा बहुत कम हो गया। वारेन हेस्टिंग्स ने ओड़िसा और कारोमण्डल (मद्रास का समुद्र तट) से नमक का आना बन्द कर दिया। उसने अब नयी व्यवस्था कायम की। कलकत्ता में उसने इस व्यापार का एक केन्द्रीय अधिकारी नियुक्त किया। उसके मातहत नमक बनाने के विभिन्न अंचलों में एजेन्ट नियुक्त किये। मलंगी इन एजेन्टों के मातहत होते। वे इनसे पेशगी लेते और नमक बना कर इनके हाथ में दे देते। मलंगियों को किसी अन्य व्यक्ति के हाथ नमक बेचने का अधिकार न था। ये एजेन्ट नमक इकट्ठा करते और हर साल कंपनी सरकार द्वारा निश्चित कीमत पर उसे थोक व्यापारियों के हाथ बेचते। इस तरह नमक के व्यापार पर ईस्ट इंडिया कंपनी का कठोर एकाधिकार स्थापित हुआ। १५ मार्च १७९३ को केन्द्रीय अधिकारी का पद हटा दिया गया और नमक विभाग के सारे कार्य बोर्ड आफ ट्रेड के जिम्मे कर दिये गये।[२]

कंपनी की इजारेदारी का परिणाम फिर नमक की कीमत में वृद्धि हुआ। १०० मन नमक की कीमत १७७३ में १७० रु०, १७७८ में ३१२ रु० (ढाका में), १७९० में ३१४ रु०, १७९६ और १७९७ में ३०८ रु०, १७९८ में ३८० रु० और १८०३ में ३४२ रु० हो गया।[३] इससे ईस्ट इंडिया कंपनी का मुनाफा भी बढ़ा। १७८४-८५ में कंपनी सरकार को नमक से ६२,५७,४७० रु० की आमदनी हुई। बाद के वर्षों में यह कम हुई, लेकिन फिर भी ४६,७६,८७० रु० थी।[४]

कंपनी सरकार ने नमक पर जो कर बढ़ाया, उससे उसकी आमदनी बढ़ी, लेकिन आम जनता पर उसका क्या असर पड़ा? किसानों को अपने लिए ही नमक खरीदना मुश्किल जान पड़ने लगा, वे अपने मवेशियों को उसे कैसे खिलाते?

कंपनी के नमक की इजारेदारी लेने के पहले और बाद में नमक बनाने वालों पर बड़ी ज्यादती की जाती। उन्हें इतना नमक पैदा करने को बाध्य किया जाता कि वे कर

१. सिन्हा, वही, पृ० २१७
२. सिन्हा, वही, पृ० २१८
३. नरेन्द्र कृष्ण सिन्हा, मिदनापुर साल्ट पेपर्स, पृ० ६
४. नरेन्द्र कृष्ण सिन्हा, इकानामिक हिस्ट्री आफ बेंगाल, पृ० २१८

ही न पाते। अत्याचार असहनीय होने पर घर द्वार छोड कर वे भाग जाते। हेनरी बीवरिज ने इस सम्बन्ध में लिखा :

"...नमक के उत्पादन के लिए इतना भयंकर अत्याचार किया गया था कि इसे सहने में असमर्थ होकर १८१८ में ३५० मलंगी परिवार घर द्वार सब छोड़ कर अन्यत्र चले गये थे।"[1]

खुलना जिले में नमक के कारीगरों को माहिन्दर कहते और जो गाँव गाँव घूम कर पेशगी देकर माहिन्दर जुटाते, उन्हें मलंगी कहते, हालाँकि अन्य जगह कारीगरों को ही मलंगी कहा जाता। माहिन्दर गरीब किसान थे और पेशगी लेकर अंगरेजों के लिए नमक तैयार करना स्वीकार करते। लेकिन अंगरेजों और मलंगियों के अत्याचार के कारण उनका स्वास्थ्य जल्दी नष्ट हो जाता। इसलिए गरीब किसान भी माहिन्दर का काम करना पसन्द न करते। श्री सतीशचन्द्र मित्र ने यशोहर-खुलना के इतिहास में लिखा :

"इसके लिए मलंगी आदमी जुटाने के लिए जोर जुलम करते एवं उस वक्त इवार्ट साहब (खुलना की नमक चौकी का प्रधान अधिकारी) अपने सिपाही देकर उनकी (मलंगियों) की सहायता करते। मलंगियों और नमक सिपाहियों के साथ इन किसानों की लड़ाई अक्सर लगी रहती। प्रजा को जज की अदालत में मलंगियों और सिपाहियों के अत्याचार के खिलाफ नालिश करके भी कोई न्याय न मिलता।"[2]

इवार्ट के अत्याचार से नमक के कारीगरों के व्यापक विद्रोह की संभावना देखी गयी। इसीलिए उसे खुलना से हटा कर बाकरगंज की नमक चौकी में भेज दिया गया। इस सम्बन्ध में खुलना जिला गजेटियर ने लिखा :

"माहिन्दरों को समझाकर या जोर-जबर्दस्तीकर पेशगी लेने को वाध्य किया जाता। माहिन्दरों से काम करा लेने अथवा पेशगी का रुपया वसूल कर लेने के लिए मलंगियों के हाथ में बड़ी क्षमता दी गयी थी। मलंगी बड़ी निष्ठुरता के साथ माहिन्दरों पर इस क्षमता का अपव्यवहार करते। उनके ऊपर नमक विभाग के कर्मचारियों का भयंकर उत्पीड़न हर वक्त चला करता। माहिन्दरों को जो पेशगी जबर्दस्ती दी जाती, उस पेशगी के प्रति चार रुपए के लिए बीस रुपए उनसे वसूल किये जाते। हेंकेल साहब के खुलना का जज बन कर आने के बाद माहिन्दरों ने दल बाँध कर उनके पास जाकर इस निष्ठुर उत्पीड़न से रक्षा करने का अनुरोध किया था।"[3]

खुलना में नमक के कारीगरों और किसानों के व्यापक विद्रोह को देख कर कंपनी सरकार ने इवार्ट को हटाने के साथ नियम बनाये कि (१) केवल कुछ निश्चित स्थानों पर माहिन्दर लेने के लिए पेशगी दी जायगी ; (२) किसी को भी उसकी मर्जी के खिलाफ जबर्दस्ती पेशगी न दी जायगी ; (३) यदि खुलना की अधिकांश प्रजा नमक के कारबार

१. हेनरी बीवरिज, हिस्ट्री आफ बाकरगंज, पृ० १०५

२. सतीशचन्द्र मित्र, यशोहर-खुल्नार इतिहास, खण्ड २, पृ० ६६१ ; सुप्रकाश राय, भारतेर कृषक विद्रोह ओ गणतांत्रिक संग्राम, पृ० ६५

३. बेंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, खुल्ना, पृ० ४४

की विरोधी होगी, तो यह कारोबार बन्द कर दिय जायगा। १७९३ में २९ नम्बर रेगुलेशन के जरिए इसे कानूनी रूप दिया गया।

हम आरंभ में ही बता आये हैं कि बंगाल में जितना नमक पैदा होता था, उसका आधा सिर्फ मेदिनीपुर के तमलुक और हिजली में होता था। यहाँ के नमक के कारीगर मलंगी कहलाते। मलंगियों के दो भेद थे : अजूरा मलंगी और ठेका मलंगी। इनमें अजूरा मलंगियों की ही संख्या ज्यादा थी ; ठेका मलंगी सिर्फ एक तिहाई थे।[1]

अजूरा मलंगी जमीन के साथ बँधे थे। वे खेती करते और अवकाश के समय पास की 'खलारी' (नमक के कारखाने) में जाकर नमक बनाते। जमीन्दार उनसे लगान फसल या नमक के रूप में लेता। लगान किस रूप में दिया जायगा यह किसान की मर्जी पर निर्भर करता। लेकिन बाद में नमक के कारोबार में मुनाफा देख जमीन्दारों ने अजूरा मलंगियों को नमक के रूप में ही लगान देने को मजबूर किया। वे हर साल जमीन का लगान बढ़ा देते। फलत: अजूरा मलंगी को हर साल ज्यादा नमक देना पड़ता। क्रमश कुल नमक दे पाना उसके लिए असंभव हो जाता। वह भाग कर या मर कर इससे मुक्ति पाता। अगर कोई मलंगी भाग जाता तो उसके परिवारवालों को बाकी नमक बना कर जमीन्दारों को देना पड़ता।

यहाँ के मलंगियों पर किस तरह के अत्याचार होते, उसका एक वर्णन सुनिए :

> "मलंगियों को नाजिर, दारोगा, केरानी और कयालों के अभ्रुतपूर्व शोषण और उत्पीड़न के बीच जीवन यापन करना होता। यूरोपीय नमक कर्मचारी खुल कर या गुप्त रूप से इन लोगों की (अत्याचारियों की) सहायता करते। मलंगियों को बेंत से मारना-पीटना, कैद करना आदि रोज की घटनाएँ थीं और निर्दिष्ट मजूरी से कम मजूरी देना स्वाभाविक रिवाज था।"[2]

यह अजूरा प्रथा आखिर में सितम्बर १७९४ में खत्म हो गयी।[1] कहना न होगा कि इसके मिटाये जाने का कारण इसके खिलाफ नमक के कारीगरों में काफी असंतोष था।

मलंगियों को कम मजदूरी देना और उसमें भी बेईमनी करना आम रिवाज था। नमक के कारखाने में होनेवाले अत्याचारों से अगर कोई मलंगी भाग जाता, तो ठेकेदार परगना फौजदार और पुलिस की मदद से उसे खोज निकालता। मलंगियों के इस पला-यन को बन्द करने के लिए उन पर पाइक-प्यादे नजर रखते। इन सब अत्याचारों के खिलाफ मलंगी एक साथ करखाने से गैरहाजिर हो जाते। यह एक किस्म की हड़ताल थी।

१७९३ के मार्च-अप्रेल महीने में मेदिनीपुर जिले के दुरुदुमनान परगने के अजूरा मलंगी जमीन्दारों और पुलिस के असहनीय अत्याचारों के प्रतिवाद में एक साथ काम छोड़ कर चौबीस परगना जिले के मूड़ागाछा अंचल में भाग गये थे। यहाँ के किसानों

---

१. सिन्हा, वही, पृ० २१८

२. नरेन्द्र कृष्ण सिन्हा, मिदनापुर साल्ट पेपर्स, पृ० ११ ; सुप्रकाश राय, वही, पृ० ६७

३. सिन्हा, इकानामिक हिस्ट्री आफ बेंगाल, पृ० २११

ने उन्हें आश्रय और भोजन दिया और भविष्य में हर तरह की सहायता देने का वादा किया।[1] १७९४ में मेदिनीपुर के अजूरा मलंगियों के पन्द्रह परिवारों ने भाग कर चौबीस परगना के तन्तुबेड़िया अंचल में शरण ली थी। यहाँ भी स्थानीय किसानों ने उनकी सहायता हर प्रकार की थी।

कम मजूरी, दस्तूरी, बेगार आदि अत्याचारों के खिलाफ नमक के कारीगरों के संगठित प्रतिवाद के प्रमाण मेदिनीपुर में पाये जाते हैं। २९ अप्रैल १८००में वीरकुल, बलाशय और मिरगोधा परगने के सारे मलंगी वीरकुल के मलंगियों के आह्वान पर एक जगह इकट्ठा हुए थे और जुलूस बना कर कांथी गये थे। वहाँ स्थानीय मलंगियों को लेकर एक सभा हुई जिसमें वीरकुल के मलंगियों के नेता बलाई कुण्डू ने वह आवेदन पत्र पढ़ा जो कंपनी के अधिकारियों के सामने पेश करने के लिए तैयार किया गया था।[2] इस आवेदन पत्र में मजूरी बढ़ाने, बेगार आदि बन्द करने की मांग की गयी थी। यह आवेदन पत्र कलकत्ता भेजा गया था। अवश्य ही इससे मलंगियों की कोई भी तकलीफ दूर नहीं हुई।[3]

आवेदन पत्रों से कोई लाभ न देख मलंगियों के आन्दोलन न जोर पकड़ा। १८०४ में प्रेमानन्द सरकार ने नमक के कारखानों में जाकर कारीगरों को हड़ताल के लिए संगठित करना आरंभ किया। जनवरी के अन्त में कई सौ मलंगियों ने प्रेमानन्द सरकार के नेतृत्व में कंपनी के नमक के कारखाने की संचालन-व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह की घोषणा की। उन्होंन मांगें बुलन्द की कि सब प्रकार का शोषण-उत्पीड़न बन्द किया जाय और मलंगियों के नमक की कीमत बढ़ायी जाय अर्थात् उनकी मजूरी बढ़ायी जाय। इन माँगों को लेकर उन्होंने कांथी के नमक दफ्तर के अंगरेज एजेन्ट की कचहरी को जा घेरा। एजेन्ट के कचहरी के बाहर आने पर सब मलंगी अपनी मांगें उसके सामने पेश करने लगे। इस पर क्रुद्ध होकर एजेन्ट के बरकन्दाजों और पाइकों ने मलंगियों के नेता प्रेमानन्द को गिरफ्तार कर लिया। इससे आग में घी पड़ गया। मालंगी बिगड़ कर मुठभेड़ को तैयार हो गये। एजेन्ट को वादा करना पड़ा कि वह उनकी सारी मांगें पूरा करेगा।[4]

---

१. नरेन्द्र कृष्ण सिन्हा, मिदनापुर साल्ट पेपर्स, पृ० ६२ ; सुप्रकाश राय, वही, पृ० ९८
२. सिन्हा, उपरोक्त, पृ० ६२ ; सुप्रकाश राय, वही, पृ० ९८
३. सिन्हा, उपरोक्त, पृ० ११६ ; सुप्रकाश राय, वही, पृ० ९८-९९
४. सिन्हा, वही, पृ० ११९

अध्याय १३

चाकमा विद्रोह

(१७७६-८९)

चाकमा पहाड़ी जाति है जो चटगाँव के पहाड़ी हिस्से में रहती है। १७६० में अंगरेज सौदागरों ने मीरकासिम से बर्दवान और मेदनीपुर के साथ चटगाँव जिले का राजस्व वसूल करने का अधिकार प्राप्त किया। चाकमा मुगल साम्राज्य को कपास के रूप में राजस्व देते थे। अंगरेज सौदागरों ने चटगाँव के पहाड़ी अंचलों का राजस्व वसूल करने का इजारा देना शुरू किया। ये इजारेदार सरल स्वभाव के पहाड़ियों को ठग कर राजस्व के रूप में निश्चित कपास से कई गुना वसूल करते। राजस्व का हिस्सा ईस्ट इंडिया कंपनी को देते और बाकी कपास बेच कर मालामाल हो जाते। क्रमशः इन इजारेदारों की लूट बढ़ती गयी। चाकमा बड़ी मेहनत से जो कपास पैदा करते, राजस्व देने के बाद उसका बहुत ही कम हिस्सा उनके पास बच पाता।

इस कपास को बाजार में बेच कर वे खाद्य सामग्री इकट्ठा करते थे। किन्तु इजारेदारों के हाथ से बची कपास जब वे बाजार बेचने के लिए ले जाते, तो वहाँ भी उन्हें ठगने और लूटने के लिए इजारेदार का भाईबन्द मौजूद मिलता। वह उन्हें इतने कम दाम पर कपास बेचने को मजबूर करना कि उससे खाद्यसामग्री खरीदना असंभव हो जाता। इन पहाड़ियों को माल की अदला-बदली की आदत थी। कपास के व्यापारी उनकी इस आदत से नाजायज फायदा उठाते। उदाहरण के लिए, वे एक मन रूई के बदले एक मन नमक तौल कर देते। इस तरह दो रुपए का माल देकर वे चाकमा पहाड़ियों से आठ रुपए की रूई ले लेते। नतीजा क्या होता? एक या दो जरूरी चीजें ही खरीदने में उनकी रूई खत्म हो जाती। क्रमशः भूखों मरने की नौबत आ गयी। ऐसी हालत में बाध्य होकर इन पहाड़ियों ने बगावत का झण्डा बुलन्द किया। यह विद्रोह १७७६ से लेकर १७८७ तक रहा।

१७७६ के मध्य भाग में चाकमा जाति ने पहले पहल विद्रोह की घोषणा की। इस विद्रोह के नेता शेर दौलत और रामू खाँ थे। शेर दौलत चाकमा जाति का मुखिया था और रामू खाँ उसका सम्बन्धी। रामू खाँ अपने को 'राजा' शेर दौलत खाँ का 'सेनापति' कहता था।

इन दोनों ने चाकमा लोगों को एकत्र कर इजारेदारों और अंगरेज शासकों को उखाड़ फेंकने का आह्वान किया। उन्होंने राजस्व देना बन्द कर दिया और इजारेदारों के रूई के गोलों को लूटना आरंभ किया। इजारेदारों के बड़े-बड़े गढ़ उन्होंने तोड़ दिये। उनके बड़े-बड़े गोले लूट कर वे सारी रूई उठा ले गये। इजारेदार और कर्मचारी चाकमा अंचल छोड़ कर भाग गये। बहुत से कर्मचारी मारे गये।

ब्रिटिश शासकों ने इजारेदारों की मदद में सेना भेजी। तोपों और बन्दूकों से लैस कंपनी सेना को देख कर चाकमा दुर्गम पहाड़ों में चले गये। उन्हें न पाकर कंपनी सेना वापसी आयी। मौका देख कर फिर चाकमा आगे बढ़े और चटगांव के मैदानी हिस्से में स्थित इजारेदारों के अड्डे और व्यापारियों की दूकानों को उजाड़ना शुरू किया। फिर ब्रिटिश सेना ने पहाड़ी अंचल में प्रवेश किया और फिर पहले ही की तरह चाकमा लोग दुर्गम पहाड़ों में चले गये।

चाकमा लोगों के इस छापामार कौशल को देख कर अंगरेज शासकों ने चाल चली। उन्होंने आर्थिक घेरा डालने का फैसला किया। वे जानते थे कि चाकमा खाने पीने का सामान, नमक आदि मैदान के बाजारों से ही अपनी रूई आदि बेच कर ले जाते हैं। इन बाजारों को जाने वाले सभी रास्ते उन्होंने बन्द कर दिये। यह चाल सफल हुई। कुछ दिनों के बाद चाकमा जाति ने अंगरेजों की अधीनता स्वीकार कर ली और राजस्व के रूप में ५०१ मन रूई देना मंजूर किया।[1]

१७८२ में शेर दौलत खाँ की मृत्यु के बाद उसका पुत्र जान बख्श खाँ चाकमा जाति का नेता चुना गया। उसने फिर विद्रोह का झंडा खड़ा किया। उसने पहाड़ी इलाके में इजारेदारों का प्रवेश बन्द कर दिया। १७८३ से १७८५ ई० तक कोई भी इजारेदार चाकमा अंचल में प्रवेश नहीं कर सका और न राजस्व वसूल कर सका। सौ वर्ष के बाद इस विद्रोह के बारे में इस अंचल के एक ब्रिटिश प्रशासक कैप्टेन टी० एच० लेविन ने लिखा :

"इजारेदार इस उपजाति पर भयंकर अत्याचार करते। इसके फलस्वरूप बहुत से चाकमा पास के अराकान अंचल में भाग गये थे। चाकमा लोगों ने जान बख्श के नेतृत्व में विद्रोह किया। लेकिन स्थानीय शासकों ने पहले ही की तरह अर्थनीतिक घेरा डाल कर फिर उन्हें अधीनता स्वीकार करने को बाध्य किया।"[2]

१७८४ में फिर चाकमा लोगों ने जान बख्श के नेतृत्व में विद्रोह किया। यह विद्रोह प्रायः तीन वर्ष तक रहा। १७८७ में जान बख्श को फिर अंगरेजों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। किन्तु इसी साल फिर चाकमा नये नेता द्वितीय शेर दौलत खाँ के नेतृत्व में उठ खड़े हुए। १७८९ में उन्होंने अपने हथियार तब डाले जब इजारा प्रथा समाप्त कर दी गयी।

१. सर हेनरी काटन, रेवेन्यू हिस्ट्री आफ चिटागाँग, पृ० ७१
२. सर हेनरी काटन, पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ६४

अध्याय १४

गोरखपुर का विद्रोह

(१७७८—८१)

कर्नल हन्ने ईस्ट इंडिया कंपनी का एक अफसर था। कंपनी की आज्ञा से उसने १७७८ में अवध के नबाब की नौकरी पकड़ी। इसके जिम्मे गोरखपुर, बहराइच और बस्ती के जिलों को ठेके पर देकर लगान वसूल करना था। अपनी सेना की मदद से उसने सारी स्थानीय शासन व्यवस्था हथिया ली। वह राजाओं और जमीन्दारों तक के साथ बड़ी उद्दण्डता का व्यवहार करता था। एक-एक पाई वसूल करने के लिए वह हर तरह की सख्ती करता था।

मालगुजारी वसूल करने का ठेका ठेकादारों को दे दिया जाता था। ये ठेकेदार किसानों को खुलकर लूटते थे। हन्ने के साथ इन ठेकेदारों की सांठ-गांठ थी। वह बहुत ही साधारण स्थिति का आदमी था, लेकिन तीन साल की नौकरी ही में वह लाखों रुपए का मालिक बन गया।[1]

जो जिले पहले खुशहाल थे, हन्ने ने कुछ ही साल में उन्हें उजाड़ दिया। टैक्सों की कोई सीमा न थी। मालगुजारी की वसूली के लिए लोगों को जेल में डाला जाता, शारीरिक यंत्रणा दी जाती। इतने पर भी अगर कोई न दे पाता तो उसे गुलाम बनाकर बाजार में बेच दिया जाता। उसके जुल्म से तबाह होकर किसान घर-द्वार छोड़ कर भाग गये। कितने ही तालुकेदारों ने भी भाग कर अपने को गुलामी के बाजार में बिकने से बचाया।

इन सब जुल्मों का नतीजा हुआ कि १७८१ में घाघरा के पूरब के सारे अंचल में विद्रोह फैल गया। लगता था जैसे सारा अंचल हथियार लेकर हन्ने और अंगरेजों के खिलाफ खड़ा हो गया हो। हन्ने के देशी सिपाही उसका साथ छोड़ कर चले गये। गोरखपुर, बेलमा और डुमरियागंज के किले उसके हाथ से निकल गये। उसके अधीन सेना के दस्ते एक दूसरे से विछिन्न हो गये। कोई हरकारा उसे न मिलता था जो एक दस्ते के पास से समाचार दूसरे दस्ते के पास ले जा सके। ये सब बातें खुद हन्ने ने मिडिलटन को दी गयी ८ सितम्बर १७८१ की रिपोर्ट में स्वीकार की हैं।[2]

अवश्य ही इस हन्ने ने अपनी गलती स्वीकार न कर इस विद्रोह के लिए अवध की बेगमों और बनारस के राजा चेत सिंह को जिम्मेदार ठहराने की कोशिश की। उस समय अवध के नवाब आसफुद्दौला और अवध की बेगमों के बीच झगड़ा चल रहा था। आस-

---

१. मिल, खण्ड ४, पृ० ११५ ; शशिभूषण चौधरी, सिविल डिस्टर्बेंसेज ड्यूरिंग ब्रिटिश रूल इन इण्डिया (१७६५-१८५७), प्रथम संस्करण, पृ० ५६-५७

२. फारेस्ट, सेलेक्शन्स, खण्ड ३, पृ० १००४ ; शशिभूषण चौधरी, वही, पृ० ५७

फ़ुद्दौला के मददगार अंगरेज थे। हृन्ने ने इसी विवाद की आड़ में अपने काले कारनामों पर परदा डालने की कोशिश की

१७८१ के अन्त में हृन्ने अपने पद से हटा दिया गया, तब कहीं किसानों और तालुकेदारों का विद्रोह शान्त हुआ। ऐसी आमदनी की नौकरी का हाथ से निकल जाना हृन्ने को कैसे पसन्द आता? उसने दुबारा उसे पाने की कोशिश की। इसकी खबर पाते ही आसफ़ुद्दौला ने सितम्बर १७८२ में बड़े लाट के पास लिख भेजा कि अगर हृन्ने फिर नियुक्त किया गया, तो राज्य उसके हाथ से निकल जायगा। कर्नल हृन्ने के इस काले राज को किसान 'मेजर साहब की अमलदारी' के नाम से काफी दिनों तक याद करते और उसके नाम पर थूकते रहे।

अध्याय १५

रंगपुर विद्रोह

(१७८३)

बड़े लाट वारेन हेस्टिंग्स के प्रिय मित्र देवी सिंह के शोषण और अत्याचार का परिणाम रंगपुर के किसानों का विद्रोह हुआ। यह विद्रोह १७८३ ई० में हुआ था।

देवी सिंह पानीपत के पास किसी गाँव का निवासी था। मुर्शिदाबाद पहुँचकर पहले उसने घूस-घास देकर ब्रिटिश शासकों के नायब दीवान मुहम्मद रजा खाँ से परिचय बढ़ाया। रजा खाँ की मेहरबानी से उसने पहले पूर्णिया का इजारा और शासन भार प्राप्त किया। अच्छी फसल के समय में भी पूर्णिया से ६ लाख से ज्यादा राजस्व वसूल नहीं किया जा सका, लेकिन देवी सिंह ने १६ लाख रुपया ब्रिटिश शासकों को हर साल देने का वादा कर उसका इजारा लिया। यह रकम वसूल करने में उसने जो अत्याचार किये, उनसे पूर्णिया श्मशान बन गया।

चारों तरफ किसान विद्रोह के बवण्डर को देखकर हेस्टिंग्स का आसन डोला। उसने देवी सिंह को पदच्युत किया, लेकिन उत्कोच पाकर उसके लिए नया पद खोज निकाला। उसने अपने मत के कुछ अनुभवहीन अंगरेज युवकों को लेकर मुर्शिदाबाद में 'प्रादेशिक रेवेन्यू बोर्ड' बनाया और देवी सिंह को इस बोर्ड का सहायक कोषाध्यक्ष नियुक्त किया। देवी सिंह ने सुअवसर देखा। उत्कोच और नर्तकियाँ देकर उसने बोर्ड के सदस्यों को अपनी मुट्ठी में कर लिया और राजस्व विभाग का कर्त्ता-हर्त्ता बन बैठा।[1]

इस पद का भी दुरुपयोग कर वह अपनी सम्पत्ति बढ़ाने लगा। जब चारों तरफ से उसे हटाने की मांग होने लगी, तो फिर उत्कोच के प्रभाव से हेस्टिंग्स ने रेवेन्यू बोर्ड को ही भंग कर दिया और देवी को दिनाजपुर, रंगपुर आदि का इजारा दे दिया (१७८१)। उसे एक हजार रुपया मासिक वेतन पर दिनाजपुर के नाबालिग राजा का दीवान नियुक्त कर मुर्शिदाबाद से हटा दिया।[2] ये अधिकार पाकर उसने किसानों और छोटे-छोटे जमीन्दारों को भी खुल कर लूटा। इस लूट, अपमान और अत्याचार से बाध्य होकर किसान विद्रोही बन गये। रंगपुर के गजेटियर में लिखा गया है :

> "दिनाजपुर के बदनाम इजारेदार 'राजा' देवी सिंह के भयावह शोषण-उत्पीड़न के फलस्वरूप इस अंचल में १७८३ ई० में किसानों का सशस्त्र विद्रोह हुआ।" (पृ० ३०)

रय्यत पर देवी सिंह के अत्याचारों की शिकायत मालदा के चार्ल्स ग्रान्ट ने रंगपुर के कलेक्टर गुडलैड के पास की। उसने गुडलैड के पास लिखा कि जुलाहों को १२ महीने की जगह १७ या १८ महीने का लगान देने को मजबूर किया जाता है। यह रकम बड़ी

१. निखिल नाथ राय, मुर्शिदाबाद-काहिनी, दूसरा संस्करण, पृ० ५४१ २. वही, पृ० ५५४-५

सख्ती के साथ वसूल की जाती है। इस सख्ती का एक उदाहरण देते हुए ग्रान्ट ने १९ जनवरी १७८२ के पत्र में लिखा :

"एक दरवाजा खोला गया और पाँच या छः दुबले पतले गरीब बाहर लुढ़क पड़े। वे चलने में असमर्थ थे, उनके पैर बंधे हुए थे। उनके अन्दर इतनी हलचल थी कि वे बोल न सकते थे। उनमें से ज्यादातर को दस-बारह दिन बन्द रखा गया था और इस दरम्यान देवी सिंह के एक नौकर की मानवता से सिर्फ दो-तीन बार खाना मिला था। शाम-सुबह उनकी पिटाई की जाती। उसके निशान पीठ पर दीख पड़ते थे।"[1]

१७८२ ई० के अन्त में सारे उत्तर बंगाल में किसानों की सभाएँ होने लगीं। किसानों ने अंगरेजों के सेवक देवी सिंह के अत्याचारों का बदला लेने का फैसला किया। उन्होंने रंगपुर के कलेक्टर के पास एक आवेदन पत्र पेश किया और निश्चित अवधि के अन्दर अपनी मांगें पूरी करने का अनुरोध किया, लेकिन कलेक्टर के कान पर जूं न रेंगी।

तब किसान क्या करें? उन्होंने विद्रोह का झण्डा बुलन्द करने का फैसला किया। उन्होंने कलेक्टर को सूचित कर दिया कि वे न तो लगान देंगे और न अंगरेज हुकूमत को मानेंगे। इस अंचल के किसानों ने मिल कर नूरुलुद्दीन नाम के एक आदमी को अपना 'नवाब' बनाया। नूरुलुद्दीन ने इस किसान विद्रोह का नेतृत्व ग्रहण कर दयाशील नामक एक चतुर किसान को अपना दीवान नियुक्त कर दिया। एक फरमान जारी कर उसने देवी सिंह को लगान न देने का हुक्म दिया और संग्राम चलाने के लिए लोगों से चन्दा इकट्ठा किया। इस तरह उत्तर बंगाल के किसान देवी सिंह के अत्याचारों का बदला लेने और अंगरेजी हुकूमत उखाड़ फेंकने को कटिबद्ध हो गये।[2]

जनवरी १७८३ में सारे रंगपुर परगने में विद्रोह शुरू हुआ। विद्रोही किसानों ने रंगपुर के सभी इलाकों से देवी सिंह के लगान वसूल करने वालों को भार भगाया। देवी के बहुत से कर्मचारी मारे गये। लगान वसूल करनेवाले नायब, गुमास्ता और जमीन्दार भी पकड़-पकड़ कर मारे गये। 'नवाब' के आह्वान पर कोचबिहार और दिनाजपुर के किसान भी विद्रोही दल में शामिल हो गये; उन्होंने नायबों, गुमास्तों आदि को भगा दिया।

देवी सिंह के अनुरोध पर अंगरेज शासकों ने उसकी मदद के लिए लेना भेजी। यह सेना गाँवों को लूटते-पाटते, आग लगाते और दिखायी देने वाले हर किसान को गोली का शिकार बनाते आगे बढ़ी। देवी सिंह और अंगरेज शासकों के केन्द्र मुगलहाट पर विद्रोहियों ने हमला किया। यहाँ कंपनी की सेना के साथ उनका भयंकर युद्ध हुआ। इस में विद्रोहियों के नेता नूरुलुद्दीन बुरी तरह घायल होकर गिरफ्तार हो गये और दयाशील मारे गये। चोट के कारण कुछ दिनों में ही नुरुलुद्दीन भी मर गये।

मुगलहाट के युद्ध के समय विद्रोहियों का शिविर पाट ग्राम में था। अंगरेज सेनापति

---

१. शशिभूषण चौधरी, वही, पृ० ९०

२. इंपीरियल गजेटियर आफ इंडिया, ईस्टर्न बंगाल एण्ड आसाम, १९०९ का संस्करण, पृ० २६१

लेफ्टिनेन्ट मैकडोनाल्ड बड़ी सेना लेकर शिविर की तरफ बढ़ा, लेकिन विद्रोहियों की शक्ति का समाचार पाकर उसने छल से काम लिया। उसने अपने सैनिकों को वर्दी के ऊपर नागरिक पोशाक पहनायी और रात के अंधेरे में उन्हें पाटग्राम भेज कर शिविर को चारों तरफ से घेर लिया। २२ फरवरी १७८३ को सवेरे ही उसकी सेना ने विद्रोहियों पर गोलियों की बौछार शुरू की। इस आकस्मिक आक्रमण से विद्रोही पराजित हुए। इसके बाद अंगरेज सेना का हैवानी अत्याचर शुरू हुआ।

इस विद्रोह के कारण देवी सिंह किसानों से लगान कानी कौड़ी भी वसूल न कर सका। रंगपुर क्षेत्र का ३,९०, २०० रु० का लगान बाकी रह गया। यह हालत देख ब्रिटिश शासकों ने पैटर्सन को कमिश्नर बना कर रंगपुर भेजा। यहां के किसानों की दुर्दशा देख वह अवाक् रह गया। उसने कलकत्ता लिख भेजा :

"मैंने अपने पहले के दो पत्रों में बताया है कि प्रजा पर कैसा कठोर अत्याचार होता था और उसी से वह विद्रोही बन गयी थी।...यह बात मेरी रोज ब रोज की जांच-पड़ताल से और भी दृढ़ होती जा रही है। अगर वह विद्रोही न होती, तभी मुझे आश्चर्य होता। प्रजा से राजस्व नहीं वसूल किया गया, बल्कि उसे नियमपूर्वक लूटा गया है। साथ ही कठोर शारीरिक यंत्रणा दी गयी है और सब प्रकार के अपमान से जर्जर किया गया है। जहां अत्याचार सीमा पार कर जाता है, वहां इसके इलाज के लिए चिरकाल से पराधीन रहने वाले मनुष्य के लिए भी विद्रोह छोड़कर दूसरा रास्ता नहीं रह जाता।"[1]

ईस्ट इंडिया कंपनी ने देवी सिंह को कैफियत देने के लिए कलकत्ता बुलाया। देवी सत्तर लाख से ज्यादा रुपए लेकर कलकत्ता गया। हेस्टिंग्स द्वारा नियुक्त कमेटी ने देवी सिंह को बेकसूर खलास कर दिया और पैटर्सन पर झूठी रिपोर्ट देने का आरोप लगाया गया। चांदी का जूता जो न कराये, वही थोड़ा है! इसी देवी सिंह ने मुर्शिदाबाद के निकट नसीपुर के राज परिवार की स्थापना की।

१. इम्पीचमेन्ट आफ वारेन हेस्टिंग्स, खण्ड १, पृ० १६४-६५

अध्याय १६

पहाड़िया विद्रोह

(१७८८-९०)

यह विद्रोह बंगाल के तत्कालीन वीरभूम-बाँकुड़ा जिले में १७८८-९० ई० में हुआ। ये पहाड़िया कौन थे? ब्रिटिश शासकों ने इन्हें जंगली, चोर और खूनी बताया है जो पहाड़ियों से समतल भूमि में आकर लूटपाट किया करते थे। लेकिन उनके बारे में प्राप्त तथ्यों से ज्ञात होता है कि ये वे आदिवासी किसान थे, जिनकी जमीनें छीनकर अंगरेज शासकों ने जमीन्दारों को सौंप दी थीं। इसलिए उनके आक्रमण के शिकार अंगरेजों की कोठियाँ, जमीन्दारों की कचहरियाँ और उनके खैरख्वाह लोग थे। उन्होंने जिन अस्त्रों का इस्तेमाल किया, वे सिर्फ तीर, धनुष और भाले ही न थे, उनमें देशी बन्दूकें और तलवारें भी थीं। उनका संग्राम अंगरेज शासकों और जमीन्दारों की लूट खसोट के खिलाफ तथा अपनी जमीन के लिए था।

१७८८ में उन्होंने विद्रोह आरंभ किया। छोटे-छोटे दलों में विभक्त होकर विद्रोहियों ने बीरभूम जिले के उत्तरी हिस्से में गंगा के किनारे के प्रायः एक सौ मील लम्बे हिस्से में अंगरेज सौदागरों की कोठियाँ, जमीन्दारों की कचहरियाँ और देशी व्यापारियों की नावें लूटनी शुरू कीं।

अंगरेज शासकों ने इसे बड़े विद्रोह का सूचक समझ कर बीरभूम-बाँकुड़ा जिले को दो अलग जिलों में बाँट दिया और दोनों के अलग-अलग कलेक्टर नियुक्त कर दिये। विद्रोहियों के दमन के लिए फौज भेजी गयी।

विद्रोहियों ने भी मिल कर बड़ी सेना बनायी और अपना संगठित आक्रमण जनवरी १७८९ में आरंभ किया। बीरभूम जिले के शासक के प्रधान केन्द्र से सिर्फ कुछ मील की दूरी पर स्थित एक बहुत बड़े बाजार को उन्होंने लूट लिया। वे अत्याचारी महाजनों की आढ़तों से खाद्यान्न छीन ले गये। इन आक्रमणकारियों की संख्या पाँच सौ बतायी जाती है। इसके बाद उन्होंने इस अंचल के तीस-चालीस गाँवों के जमीन्दारों के अनाज के गोलों तथा अंगरेज सौदागरों की कोठियों को लूट लिया। इन गाँवों में अंगरेजों की हुकूमत का नाम निशान मिट गया।[1]

यह विद्रोह तेजी के साथ बीरभूम के गाँवों में फैला। विद्रोहियों ने शहरों पर भी हमले किये। उनके आक्रमणों के बारे में एक अंगरेज ने लिखा :

> "सब जगह आतंक और रक्तपात का राज था। सीमान्त के प्रवेश पथों की चौकियों को फौरन हटा लिया गया। २१ फरवरी १७८९ को हम मि० किटिंग (बीरभूम जिले के कलक्टर) को नियमित सेना के साथ मिल कर डाकुओं के खिलाफ कार्रवाई

---

१. लेफ्टिनेन्ट स्मिथ के नाम बीरभूम के कलक्टर का १० जनवरी, १७८९ का पत्र

करने के लिए अनियमित सैनिकों को भी नियुक्त करते पाते हैं। ये विद्रोही उस वक्त 'तीन सौ से लेकर चार सौ तक के छोटे-छोटे दल बना कर और अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर जिले के मुफस्सल के शहरों को भी लूटते फिर रहे थे।"[1]

यह विद्रोह क्रमशः बाँकुड़ा जिले में भी फैल गया। लगान न चुका सकने के अपराध में अंगरेज शासकों ने विष्णुपुर के राजा को गिरफ्तार कर लिया और इस जागीर की देख रेख के लिए हेसिलरिज नामक अंगरेज को नियुक्त किया। इसका नतीजा हुआ कि विष्णुपुर की जनता और विद्रोहियों में नये सिरे से गुस्सा फैल गया। किसानों ने विद्रोहियों का साथ दिया और दोनों ने मिलकर अंगरेज हुकूमत पर हमला किया। जून १७८९ में विद्रोहियों का दमन करने के लिए अंगरेज सेना भेजी गयी। विद्रोहियों ने इसे पराजित कर बाँकुड़ा जिले के उस वक्त के व्यापार के सब से बड़े केन्द्र इलाम बाजार नामक शहर लूट लिया। और अंगरेज सेना आयी, किन्तु हालत उसके काबू के बाहर चली गयी थी। ७ जुलाई १७८९ को बीरभूम जिले के कलक्टर किटिंग ने बड़े लाट के पास रिपोर्ट भेजी :

"बन्दूकों-तलवारों से लैस एक बहुत बड़ी सेना ने बीरभूम में अपना अड्डा बनाया है। अब उसे तितर-बितर करना एक पूरी सेना के बिना संभव न होगा।"

बरसात के आनेपर अधिकांश विद्रोही अपने पहाड़ी इलाकों में चले गये। अधिकृत केन्द्रों की रक्षा के लिए सिर्फ थोड़ी सी सेना छोड़ गये। शीत ऋतु में उनके नये आक्रमण का मुकाबिला करने के लिए कलकत्ता से और सेना मंगायी गयी। बीरभूम के कलक्टर ने बड़े लाट कार्नवालिस से और सेना भेजने का अनुरोध करते हुए १६ अक्टूबर १७८९ को लिखा :

"यहाँ पर हमारी जो सेना है, वह जिले की रक्षा के लिए नाकाफी है। चढ़ाइयों के वक्त परम्परागत प्राप्त दस्ते अनुशासनहीन और हतोत्साह हैं तथा लुटेरों के खिलाफ युद्ध करने के बदले उनसे सहयोग करना ज्यादा पसन्द करते हैं।"[2]

अंगरेज शासकों ने नवम्बर १७८९ में विष्णुपुर (बाँकुड़ा) की रक्षा में पूरी ताकत लगायी। फलतः बीरभूम अरक्षित रहा। विद्रोहियों ने विष्णुपुर में शासकों की सेना का अभाव देख बीरभूम जिले पर आक्रमण किया। इस क्षेत्र के अंगरेज शासकों की हालत का वर्णन करते हुए एक अंगरेज ने लिखा :

"रात को मार्च करते-करते थकावट से चूर हो जाते। छोटे-छोटे दलों में विभक्त होकर चारों तरफ फैल जाने के कारण सेना के लिए डकैतों का दमन करना संभव न था। यहाँ तक कि प्रधान-प्रधान शहरों की रक्षा करना भी उसके लिए असंभव हो गया था। २५ नवम्बर १७८९ को सेना के अफसर ने लिख भेजा कि सदर के सरकारी दफ्तरों में पहरा देने के लिए सिर्फ चार सैनिक रह गये हैं। कुछ सप्ताह

१. डब्ल्यू. डब्ल्यू. हन्टर, एनाल्स आफ रूरल बंगाल, पृ० ४७
२. हंटर, वही, पृ० ४८

के बाद इसी अफसर ने सूचित किया कि जिले से होकर जाने के समय मालगुजारी का रुपया ले जाने वाले दल की रक्षा के लिए वह एक भी सैनिक न भेज सकेगा।"[1]

१७९०में लगता था कि सारा बीरभूम जिला अंगरेज शासकों के हाथ से निकल जायगा। उसकी रक्षा के लिए जिला कलक्टर किटिंग ने विष्णुपुर की सेना को रात में भाग आने का आदेश दिया। शासकों की सेना के भागते ही विद्रोहियों ने विष्णुपुर पर अधिकार कर लिया और बाँकुड़ा जिले के सभी जमीन्दारों-महाजनों की कचहरियाँ तथा अंगरेज सौदागरों की कोठियों को लूट लिया।

वर्षा आने पर फिर युद्ध बन्द हो गया। विष्णुपुर अंचल पर विद्रोहियों का अधिकार कई महीने रहा। लेकिन आखिरकार यहाँ के विद्रोहियों में मतभेद पैदा हो गया। इस फूट से फायदा उठा कर अंगरेज शासक विद्रोह को दबाने में सफल हुए।

१. हंटर, वही, पृ० ४६

अध्याय १७

सुबान्दिया विद्रोह

(१७९२)

सुबान्दिया पूर्व बंगाल के बाकरगंज जिले का एक स्थान है। यह जिला इस वक्त बंगलादेश में है। इस जिले के बारे में दो उद्धरण पढ़िए :

> "सारे बंगाल में बाकरगंज के निवासी दंगेबाजी और हंगामापसन्दी के लिये बदनाम हैं। वे जरा ज्यादा गरम मिजाज हैं, जरा-सी बात पर ही गरम हो जाते हैं— खास कर भाटी देश (दक्षिण अंचल) के लोग।"[1]

> "सारे बंगाल में बाकरगंज के निवासी जरा बदनाम हैं कि वे दंगेबाज और हंगामा-पसंद हैं। लेकिन वस्तुत: यह बदनामी उन्हें न मिलनी चहिए। पहले उनके जमींदार मालिक उन पर भयंकर अत्याचार करते। ये जमीन्दार कोई भी कानून मान कर न चलते। (अंगरेज) शासक भी इसका कोई इलाज नहीं कर सके। किसान देखते कि नायबों और गुमास्तों की हत्या कर बदला लेने पर भी कोई दण्ड नहीं मिलता और सरकार की तरफ से इन दंगों-हंगामों को बन्द करने की कोई भी चेष्टा नहीं। इस हालत में दंगों-हंगामों का बढ़ना बिल्कुल स्वाभाविक है।... मि० रेली की 'पुलिस रिपोर्ट' में कुछ सच्चाई है। लेकिन उसे सम्पूर्ण सत्य नहीं माना जा सकता, उसमें तिल का ताड़ बनाया गया है।"[2]

पहला उद्धरण पुलिस सुपरिन्टेंडेन्ट जे० एच० रेली की पुलिस रिपोर्ट से लिया गया है। यह अंगरेज पुलिस अधिकारी इस जिले के निवासियों के अंगरेज-विरोध और जमीन्दार-विरोध को देख कर यह गलत मन्तव्य कर बैठता है कि इस जिले के निवासी ही दंगेबाज और हंगामापसन्द हैं।

दूसरा उद्धरण बाकरगंज जिला गजेटियर से लिया गया है जिसके रचयिता जे० सी० जैक हैं। ये भी एक अंगरेज हैं, लेकिन ये पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट के मत का खण्डन करते हैं। इस उद्धरण में स्पष्ट स्वीकार किया गया है कि जमींदार के अत्याचार और अंगरेज सरकार की अत्याचार रोकने में असफलता ने इस जिले के किसानों को विद्रोही बना दिया था। वे जमीन्दारों के नायबों और गुमास्तों को मार कर इन अत्याचारों का बदला लेते।

जमीन्दार कंपनी सरकार को प्रसन्न करने के लिए किसानों से ज्यादा से ज्यादा माल-गुजारी इकट्ठा करते और इसके लिए बड़े-से-बड़े जुल्म करते। कंपनी सरकार के अधिकारी इन जमीन्दारों की सहायता से चावल, सुपारी, नारियल, नमक आदि का व्यापार करते और किसानों को लूटकर मालामाल होते। बाकरगंज जिले के सिर्फ

---

१. हंटर, स्टैटिस्टिकल एकाउन्ट्स आफ बेंगाल, खण्ड ५, बाकरगंज, पृ० ८७

२. बेंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, बाकरगंज, पृ० २२

दक्षिणी अंचल में अंगरेज सौदागरों के चावल के बड़े-बड़े बावन गोले थे। इन गोलों में चावल इकट्ठा कर ये सौदागर इस जिले में इसका अभाव पैदा करते, कीमत बढ़ाते और फिर चढ़े दामों पर बेच कर मुनाफा कमाते। चावल का बड़ा हिस्सा वे इस देश से बाहर भेजते।

हम पहले ही बता आये हैं कि अंगरेज सौदागरों की इस खुली लूट का परिणाम सारे देश में बार-बार अकाल हुआ था। १७८७ का अकाल बाकरगंज जिले के जन-जीवन में सबसे बड़ी घटना थी। इससे ६०,००० आदमी मरे थे और बहुत से किसानों को मुट्ठीभर अन्न की तलाश में घर-द्वार छोड़ कर भागना पड़ा था।[१] इस अकाल के समय यहाँ का जिला कलक्टर डगलस था। उसने इसका पूरा विवरण लिख कर रेवेन्यू बोर्ड के पास भेजा था।

डगलस के बाद इस जिले का क्लेक्टर बन कर डे आया। उसने अकाल के कारण हुई तबाही पर जरा भी ध्यान न दिया और १७९१ के जमीन के बन्दोबस्त में मालगुजारी बढ़ा देने की सिफारिश की। अकाल के समय जो लोग मौत के मुँह में जाने से किसी तरह बच सके थे, मालगुजारी बढ़ा कर उनमें से बहुतों को जिला छोड़ कर भाग जाने को बाध्य किया गया।

लेकिन किसान जायें तो कहाँ? बंगाल में अन्नाभाव था, इसलिये बहुतों ने सुन्दर-बन का रास्ता पकड़ा और डकैती को अपनी जीविका का साधन बनाया। वे अंगरेज सौदागरों की माल से लदी नावों को लूट लेते। अंगरेज अधिकारियों के साथ इनके जलयुद्ध के कितने ही उदाहरण उस वक्त के सरकारी कागजात में पाये जाते हैं।

इस पृष्ठभूमि में १७९२ में बाकरगंज जिले के दक्षिणी अंचल में विद्रोह की आग जल उठी। इस विद्रोह का केन्द्र सुबान्दिया नामक स्थान था और इसके नेता थे बुलाकी शाह फकीर। सन्यासी विद्रोह में हम जिक्र कर आये हैं कि कितने ही फकीर गृहस्थ बन गये थे और खेती करते थे। बुलाकीशाह ऐसे ही फकीर थे। अन्य किसानों के साथ उन्हें भी जमींदारों और अंगरेज सौदागरों के शोषण-उत्पीड़न का शिकार होना पड़ा था। अपने अनुभव से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि किसानों को संगठित कर इन अत्याचारियों का सशस्त्र मुकाबिला ही जिन्दा रहने का एक मात्र रास्ता है।

स्थानीय जमीन्दार कम शक्तिशाली न था। उसके पास तरह-तरह के हथियारों से लैस बहुत से सिपाही रहते थे जो किसानों को कुचलने के लिए हमेशा तैयार रहते थे। उसके नायब की कचहरी में ८८ बन्दूकधारी सिपाही हर वक्त प्रस्तुत रहते थे।[२] फिर कंपनी सरकार उनकी मददगार थी। इन दुश्मनों का मुकाबिला सहज न था। इसलिए बुलाकी ने सुबान्दिया में एक छोटा किला बनाया और स्थानीय किसानों की सेना खड़ी की। उन्हें तरह-तरह के हथियारों के चलाने की शिक्षा दी। इस किले में उन्होंने एक तलवार, बल्लम आदि बनाने का और एक बारूद, गोला आदि का कारखाना खोला। उन्होंने

---

१. एच. बीवरिज, द डिस्ट्रिक्ट आफ बाकरगंज, पृ० ३१२-१३
२. एच. बीवरिज, वही, पृ० ३१६

इस किले में सात तोपें और बारह बन्दूकें इकट्ठा कीं। दो आदमी दिन रात बारूद तैयार करते।[1] बुलाकी इन तोपों को शुजाबाद नामक स्थान से ले आये थे। मुगल सेना इन्हें इस स्थान में छोड़ कर चली गयी थी। बुलाकीशाह ने इन्हें दुर्ग के अन्दर लाकर अपने कारीगरों से ठीक कराकर काम लायक बना दिया।[2]

इस तरह बुलाकीशाह ने विद्रोह की तैयारी की। उसे पर्याप्त समझ उन्होंने विद्रोह की घोषणा की। उनके आदमियों ने चारों तरफ प्रचार किया कि "फिरंगियों का राज खत्म हो गया है।"[3]

किसानों को हुक्म हो गया कि वे जमींदार को मालगुजारी देना बन्द कर दें। जमींदार के गुमास्ते पकड़-पकड़ कर किले में बन्द किये गये। ऐसा ही एक गुमास्ता किसी तरह भाग निकला और जमींदार के नायब को किले का सारा भेद बता दिया। नायब ने फौरन अपने सिपाही इस किले पर हमला करने के लिये भेजे। बुलाकी की किसान सेना ने किले के बाहर और फिर अन्दर डटकर उनका मुकाबिला किया। लेकिन जमींदार के युद्ध कला की नियमित शिक्षा पाये सिपाहियों के सामने किसान ठहर न सके। हार कर वे तितर-बितर हो गये। नायब के सिपाहियों ने किले पर कब्जा कर उसे ढहा दिया। लेकिन बुलाकी शाह का क्या हुआ? अनुमान लगाया जाता है कि वे भी किले से निकल भागने में समर्थ हुए थे।

इस तरह यह विद्रोह समाप्त हो गया। लेकिन इस पराजय के बाद भी किसान जमींदार के खिलाफ लड़ते पाये जाते हैं। कभी उन्होंने लगानबन्दी का रास्ता अपनाया, तो कभी गुप्त रूप से जमींदार के कर्मचारियों की हत्या की। बाकरगंज के दक्षिणी अंचल में इस तरह किसान काफी दिन तक लड़ते रहे।

१. उपरोक्त गजेटियर, पृ० २६ २. बीवरिज, वही, पृ० ११९ ३. वही, पृ० ११७

अध्याय १८

विजयराम राजे की बगावत

(१७९४)

विजगापट्टम (विशाखापट्टनम) जिले में विजयनगरम की जमीन्दारी बहुत बड़ी थी। यहाँ के राजा विजयराम राजे का स्थान उत्तरी सरकार (आज आन्ध्र प्रदेश का एक हिस्सा) के जमीन्दारों में सर्वोपरि था। उनकी शक्ति और विद्रोही स्वभाव से कंपनी भी डरती थी।[1]

फ्रांसीसी अधिकारी बुसी के जाने के बाद उत्तरी सरकार में प्राय: बारह साल तक अराजकता का राज रहा। इससे फायदा उठाकर विजयनगरम के राजा ने अपनी शक्ति काफी बढ़ा ली। अपने पिता की मृत्यु के बाद विजयराम राजे जब गद्दी पर बैठे तो वे नाबालिग थे। वे दत्तक पुत्र थे।[2] रियासत की सारी व्यवस्था उनके सौतेले भाई सीताराम राजे देखते थे। उन्होंने विजगापट्टम, काशीमुक्ता और चिकाकोल के आस-पास के प्राय: सारे अंचल पर कब्जा कर लिया। १७६१ में उन्होंने गंजाम जिले की पार्लेकिमेदी रियासत पर अधिकार किया। दक्षिण में राजमुन्दरी तक बढ़ कर उन्होंने विस्तृत अंचल पर अपना कब्जा जमाया। जयपुर, पालकोंडा और अन्य १५ बड़े जमीन्दार विजयनगरम के राजा को अपना राजा मानते थे।[3]

अंगरेज सेनाध्यक्ष कर्नल फोर्ड ने जब उत्तरी सरकार से फ्रांसीसियों को मार भगाया तो क्लाइव के हाथ में चिकाकोल, राजमुन्दरी, इलोर और कोंडापिल्ली की 'सरकारें' १७६५ में आ गयीं। निजाम ने १७६६ में ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ संधि कर इस पर अपनी मुहर लगा दी। इस तरह अपना प्रभाव विस्तार करने के बाद कंपनी सरकार ने विजयनगरम पर ३ लाख रुपए का वार्षिक राजस्व निर्धारित किया।

सीताराम बहुत ही चतुर-चालाक थे। विजयनगरम की अधीनता से मुक्त होने के लिए कई शक्तिशाली जमींदारों ने हाथ मिलाया और सीताराम को चुनौती दी। चतुर सीताराम ने कांटे से कांटा निकाला। उन्होंने अंगरेजों की मदद से बगावत दबा दी और जयपुर के किले पर कब्जा कर लिया।

विजयराम राजे क्रमश: बालिग हुए, किन्तु शासनव्यवस्था उनके हाथ में न आयी। वास्तविक शासन सीताराम राजे के हाथ में ही बना रहा। इसका परिणाम हुआ कि दोनों भाइयों के बीच विरोध बढ़ चला। राजा और कितने ही सरदारों ने मिल कर सीताराम को हटाने की कोशिश की। उन्होंने मद्रास के गवर्नर के पास दरखास्त भेजी और अनुरोध किया कि सीताराम राजे को हटा कर जगन्नाथ राजे को दीवान बनाया जाय।

---

१. मिल, हिस्ट्री आफ इंडिया, खण्ड ४, पृ० १०२

२. इंपीरियल गजेटियर आफ इंडिया, मद्रास, खण्ड १, पृ० २५५

३. वही, पृ० २५५

लंदन में बैठे ईस्ट इंडिया कंपनी के कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स ने भी सीताराम को दीवान के पद से हटाने का हुक्म दिया, लेकिन दीवानी सीताराम के ही हाथ में बनी रही।[१] उसने चाँदी के जूते की मार से बड़े-बड़े अंगरेज अधिकारियों को, यहाँ तक कि मद्रास के गवर्नर सर टामस रमबोल्ड को भी अपने वश में किया। कंपनी के कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स ने इस बात का उल्लेख किया कि विजयनगरम की दीवानी पाने के लिए सीताराम ने गवर्नर को १ लाख रुपए की घूस दी थी। इस कोर्ट ने मद्रास सरकार पर यह भी आरोप लगाया कि उसने घूस लेकर कम कीमत पर जमीन सीताराम के हाथ बेची। गवर्नर की इस घूसखोरी पर हाउस आफ कामन्स ने और भी गुस्सा जाहिर किया। उसने अपने २५ अप्रेल १७८२ के प्रस्ताव में कहा :

> "गवर्नर ने....धमकियों और कठोर व्यवहार से विजयनगरम के राजा विजयराम राजे को अपनी जमीन्दारी के दीवान के पद पर सीताराम राजे को नियुक्त करने को बाध्य किया।"[२]

प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि यह कठोर और बाध्यतामूलक धमकी 'अपमानजनक, अन्यायपूर्ण और क्रूर' थी तथा 'ब्रिटिश राष्ट्र की प्रतिष्ठा के लिए अत्यन्त क्षतिकारक' थी।[३] इन सबका परिणाम हुआ कि सर टामस रमबोल्ड को गवर्नर के पद से हटा दिया गया और कौंसिल के दो सदस्यों को बरखास्त कर दिया गया।[४] इसके बाद सीताराम का सितारा डूबने लगा।

विजयनगरम रियासत की हालत की जाँच के लिए पाँच सदस्यों की सर्कीट कमेटी बैठायी गयी। इसने जाँच कर १७८४ में रिपोर्ट दी कि सीताराम के अत्याचार से किसानों और अन्य ग्रामवासियों की हालत बहुत बुरी हो गयी है। कठोर श्रम के बाद भी उनके भाग्य में कुछ नहीं जुटता।[५]

इस कमेटी ने यह भी रिपोर्ट दी कि विजयनगरम के राजा और उनके अधीन जमीन्दारों के पास १२,००० सैनिक हैं। इनमें से खुद राजा के पास ७,७६० सैनिक हैं, जिनमें १,६२० सैनिक यूरोपीयों की तरह वर्दी पहनते हैं और उन्हें यूरोपीय युद्धकला की शिक्षा भी दी गयी है। विजयनगरम के राजा की इस शक्ति को अंगरेजों ने अपने लिए खतरनाक समझा।

इस रिपोर्ट का नतीजा हुआ कि सीताराम को दीवान के पद से हटा दिया गया। १७९० में वह कुछ समय के लिए वापस आया, लेकिन १७९३ में इसे मद्रास में रहने को कहा गया। इसके बाद से वह विजयनगरम के इतिहास से गायब हो जाता है।[६]

लेकिन इस रिपोर्ट का एक और भी परिणाम हुआ। ईस्ट इंडिया कंपनी ने विजय-

१. उपरोक्त गजेटियर, पृ० २५५
२. शशिभूषण चौधरी, वही, पृ० ११६, फुटनोट ; द फ्रीडम स्ट्रगल इन आन्ध्र प्रदेश, खण्ड १, प्रथम संस्करण, पृ० ३३ ३. वही, पृ० ११७, फुटनोट ४. उपरोक्त गजेटियर, पृ० २५५
५. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, विजगापट्टम, पृ० १६८
६. इंपीरियल गजेटियर आफ इंडिया, मद्रास, खण्ड १, पृ० २५५

नगरम के राजा की शक्ति घटाने की तरफ कदम उठाया। सर्कीट कमेटी ने सिफारिश की थी कि राजा को अपनी सेना भंग करने को बाध्य किया जाय। इससे करीब चार लाख रुपए की बचत होगी। यह रकम राजा द्वारा दिये जानेवाले राजस्व (५ लाख रु०) में जोड़ दी जाय अर्थात् राजा को राजस्व के तौर पर ९ लाख रुपया सालाना देने को बाध्य किया जाय। उसने यह भी सिफारिश की कि जयपुर, पालकोण्डा और गोलगोण्डा की जमीन्दारियों को विजयनगरम की अधीनता से मुक्त कर दिया जाय।

इन सिफारिशों को जल्दी ही व्यावहारिक रूप दिया गया। १७८८ में राजा को अपनी सेना कम करने और ९ लाख रुपया सालाना राजस्व देने का हुक्म दिया गया। एक आध नयी जमीन्दारियाँ विजयनगरम को सौंप कर राजस्व बढ़ाने का औचित्य सिद्ध किया गया।

विजयराम राजे अपनी सेना कम करने को कतई राजी न थे। इतना बढ़ा राजस्व भी उनके लिए देना संभव न था। परिणाम हुआ कि राजस्व बाकी पड़ गया। १७९३ में बकाया राजस्व ६.२५ लाख रुपया हो गया। कंपनी सरकार ने धमकी दी कि अगर उन्होंने पूरा राजस्व न चुकाया, तो उनकी सम्पत्ति जब्त कर ली जायगी। राजा ने ५.५० लाख रुपया देना चाहा, लेकिन इससे कंपनी सरकार सन्तुष्ट न हुई। रेवेन्यू बोर्ड ने उनका प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया और १७९३ में बकाया राजस्व वसूल करने के बहाने उनकी रियासत छीन ली। अंगरेज रियासत पर अपना अधिकार आसानी से जमा सकें, इसके लिए १७९४ में विजयराम राजे को अपनी रियासत छोड़ कर मसुलीपट्टम में जाकर रहने का आदेश दिया गया और १२०० रुपया प्रतिमाह भत्ता देने का वादा किया गया। यह राजा का सरासर अपमान था, क्योंकि यही कंपनी सरकार भूतपूर्व दीवान सीताराम राजे को ५००० रु० प्रति माह पेंशन दे रही थी।[1]

विजयराम राजे ने कंपनी सरकार के इस हुक्म को मानने से इन्कार किया। वे अपने आदमियों के साथ विजयनगरम और विमलीपट्टम के पास एक स्थान में पहुँचे। उन्होंने वहीं अपना शिविर स्थापित किया। दूतों से संवाद पाकर राजा के पुराने सैनिक और मित्र इस स्थान में उनसे आ मिले। इस तरह विजयराम राजे के पास ४ हजार सैनिक इकट्ठा हो गये।

इसी बीच सर चार्ल्स ओकले मद्रास प्रेसीडेन्सी के गवर्नर बन कर आये थे। उन्होंने विजयराम राजे से कंपनी सरकार का हुक्म मनवाने की नाकाम कोशिश की। १० जुलाई १७९४ को कर्नल पेन्डरगास्ट ने एक बड़ी सेना लेकर पद्मनाभम में विजयराम राजे की सेना पर हमला किया। प्राय: एक घंटे के भयंकर युद्ध में विजयराम राजे और उनके ३०० साथी मारे गये। विद्रोहियों की पराजय हुई। विजयराम और उनके साथी राजपूतों के इस बलिदान और बीरता की याद आन्ध्र की जनता आज भी बड़े सम्मान के साथ करती है।

विजयराम राजे के मारे जाने पर उनके अल्पायु पुत्र नारायण राजे को उनके परिवार

---

१. द फ्रीडम स्ट्रगल इन आन्ध्र प्रदेश, पृ० ३४

के लोग काशीपुरम ले गये। अंगरेजों ने जब विजयनगरम की रियासत को जब्त किया था, तो यहाँ के जमीन्दार ने इस जमीन्दारी पर जबर्दस्ती कब्जा कर लिया था और उसे अंगरेजों को सौंपने से इन्कार कर दिया था। तब से वह कंपनी सरकार को चुनौती देता आ रहा था। इस नौजवान राजा के झण्डे के नीचे हजारों विद्रोही इकट्ठा हो गये। विद्रोहियों के नेता राजा की तरफ से प्रजा से कर वसूल करते, देश की रक्षा की व्यवस्था करते और अंगरेज हुकूमत को उखाड़ फेंकने की तैयारी करते।

किन्तु जयपुर के राजा ने अंगरेजों के प्रलोभन में पड़ कर विद्रोहियों का साथ देने से इन्कार किया। मद्रास के गवर्नर ने भी नये राजा से समझौता करने की पूरी कोशिश की। परिणाम हुआ कि नारायण राजे ने २१ सितम्बर १७९४ को अंगरेजों का संरक्षण स्वीकार कर लिया। अंगरेजों ने नयी सनद देकर उसके हाथ रियासत सौंपी, लेकिन काफी काट-छाँट कर। सब पहाड़ी सरदार राजा के हाथ से छीन लिए गये और सीधे कंपनी सरकार के नियंत्रण में लाये गये। विजयनगरम रियासत के कुछ हिस्से छीन कर अंगरेज राज में मिला लिये गये। इतनी काट-छाँट करने के बाद भी राजस्व ६ लाख रुपया सालाना लादा गया। यानी पूरी हालत यह कर दी गयी कि राजा हमेशा कर्ज में बना रहे और अंगरेज मौका देख कर उसकी रियासत हड़पते रहें।

अध्याय १९

पायस्सी राजा का विद्रोह

(१७९६-१८०५)

१७९२ की फरवरी और मार्च की श्रीरंगपट्टम की संधियों के अनुसार कुर्ग और कोचीन समेत सारा मालाबार ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ आ गया। १७९९ की मैसूर के बटवारे की संधि के अनुसार केरल का वाइनाड तालुका भी अंगरेजों को मिल गया, लेकिन यहाँ के छोटे-छोटे सामन्त सरदारों ने अंगरेजों की अधीनता स्वीकार न की।

इन अंचलों को पाने के बाद अंगरेजों ने उन पर बहुत बढ़ा-चढ़ा कर मालगुजारी लादी, लेकिन वसूल करने की हिम्मत किसमें थी? अंगरेजों ने तब एक चाल चली। उन्होंने मालगुजारी की वसूली का ठेका सामन्त सरदारों को देना शुरू किया। इससे सामन्त सरदारों में फूट देखी गयी, ठेका लेने के लिए वे एक दूसरे से प्रतिद्वन्द्विता करने लगे। अंगरेज तो इनको आपस में भिड़ा कर अपनी गोटी लाल कर लेना चाहते थे।

केरल के कोट्टायम परिवार के राजा केरल वर्मा, जिन्हें आम तौर पर पायस्सी राजा कहा जाता है, अंगरेजों की इस नीति से विद्रोही बन गये। इस राजा का कोट्टायम में बड़ा असर था। अंगरेजों ने इनको धोखा देकर कोट्टायम की मालगुजारी वसूल करने का पट्टा कुरुम्ब्रनाड के राजा को दे दिया। इस पर क्रुद्ध होकर पायस्सी राजा ने २८ जून १७९५ को अपने जिले की मालगुजारी की सारी वसूली बन्द कर दी। जब अंगरेजों ने उन्हें पकड़ने की कोशिश की, तो वे विद्रोही बन गये और अपने साथियोंके साथ वाइनाड के जंगल में चले गये।

अंगरेज डर गये कि कहीं पायस्सी राजा टीपू सुल्तान के साथ न मिल जायें; इसलिए उन्हें प्रसन्न करने की कोशिश की। वादा किया कि जुलाई-अगस्त १७९६ में उनका जिला और जायदाद उन्हें सौंप दी जायगी। लेकिन अंगरेजों ने यह समझौता लागू करने में जान बूझ कर देरी की। इसलिए राजा पायस्सी का यह सन्देह करना बिल्कुल स्वाभाविक था कि अंगरेज अपना वादा पूरा करने की जगह उन्हें गिरफ्तार करने की फिराक में हैं। उनके साथ धोखा किया गया है और संधि जाल मात्र है। इसलिए वे फिर जंगल में चले गये और इस तरह विद्रोह संगठित किया कि अंगरेजों की नींद हराम हो गयी। उनके विद्रोह की ताकत बढ़ती देख कंपनी की तरफ से घोषणा जारी की गयी कि जो लोग पायस्सी राजा की मदद करेंगे या साथ देंगे, उन्हें कठोर दण्ड दिया जायगा।

लेकिन विद्रोह की आग बढ़ती गयी। मालाबार के असंतुष्ट सामन्त सरदार इसमें शामिल हुए। कोट्टट के राजा अपने सैनिकों के साथ पायस्सी राजा से आ मिले। कहा जाता है कि यह राजा टीपू सुल्तान से मिल कर आया था। कुरुम्ब्रनाड के राजा के भी विद्रोह में शामिल होने की बात पायी जाती है।

जनवरी १७९७ में पायस्सी राजा के समर्थकों और कंपनी के सैनिकों के बीच कितनी ही भिड़न्तें हुईं। १७ मार्च को कैप्टेन लारेन्स की बटालियन के ८० आदमियों के दस्ते पर विद्रोही यकायक टूट पड़े और उसे काट कर रख दिया। कर्नल डाउ को भी विद्रोहियों के हाथ बड़ा नुकसान उठाना पड़ा। कहा जाता है कि पायस्सी राजा की मदद टीपू के सैनिक कर रहे थे।[1]

१८ मार्च १७९७ को भी अंगरेज सेना को बुरी हार खानी पड़ी। मेजर कैमरान ११०० आदमियों के साथ पेरिया दर्रे से होकर पीछे हटने की कोशिश कर रहा था। उसी वक्त विद्रोही उस पर टूट पड़े। मेजर, तीन और अंगरेज अफसर तथा कितने ही देशी अफसर और सिपाही मारे गये।

अंगरेजों की हालत पतली हो रही थी। ब्रिटिश अधिकृत अंचल पर टीपू के आक्रमण की संभावना बढ़ रही थी। टीपू उधर फ्रांसीसियों से लिखा-पढ़ी कर रहे थे। उन्होंने २० अप्रैल १७९७ को जो पत्र फ्रांसीसी जनरल मांगलों को लिखा था, उसमें मालाबार के विद्रोह के दलदल में फंसे अंगरेजों की दुर्दशा का वर्णन था। यह पत्र श्रीरंगपट्टम पर अंगरेजों के अधिकार के बाद पाया गया था।[2]

मालाबार सेना के मेजर जनरल बोलेस का १० अप्रैल १७९७ का सरकारी पत्र बताता है कि पायस्सी राजा को कुचलने की सारी तैयारी पूरी हो गयी थी। ट्रैफल्गर सेना और कुरुम्ब्रनाड के राजा की सेना इस कार्य में लगायी गयी थी। लेकिन ९ मई १७९७ के प्राप्त तथ्य बताते हैं कि उस वक्त भी विद्रोही दृढ़ता से मुकाबिला कर रहे थे।

इस विद्रोह के जारी रहने में अंगरेजों ने बड़ा खतरा देखा। फ्रांसीसी और टीपू सुल्तान का अंगरेजों के खिलाफ मोर्चा बन रहा था। भारत के अन्य राजाओं के साथ भी अंगरेजों के खिलाफ मोर्चा बनाने की लिखा-पढ़ी चल रही थी। कुल मिला कर भारत में बहुत बड़ा युद्ध कंपनी के खिलाफ छिड़ जाय, इसके पहले ही पायस्सी राजा का विद्रोह दबा देने का फैसला अंगरेजों ने किया। इसलिए बम्बई के गवर्नर जोनाथन डंकन खुद मालाबार दौड़ आये, कुरूम्ब्रनाड के राजा के साथ हुए समझौते को फाड़ फेंका, पायस्सी राजा के साथ समझौता किया और उन्हें आठ हजार रुपए सालाना की पेन्शन भी दी। इस तरह विद्रोह कुछ समय के लिए ठण्डा पड़ गया।

लेकिन अंगरेज तो पायस्सी राजा और दूसरे विद्रोहियों को कुचल देने पर तुले थे।[3] इसलिए १८०० में फिर पायस्सी राजा ने विद्रोह का झण्डा बुलन्द किया। मैसूर की हार के बाद कंपनी को वाइनाड मिल गया था। पायस्सी राजा ने इस पर अपना दावा किया और मैसूर के सिपाहियों, नायरों तथा मोपलों को साथ लेकर उस पर अधिकार करने से अंगरेजों को रोका।

कंपनी ने विद्रोहियों का दमन करने के लिए इस बार अपने नामी सेनापति भेजे।

१. लोगन, मालाबार (१८८७), खण्ड १, पृ० ५१७-२० ; शशिभूषण चौधरी, वही, पृ० १२२
२. लोगन, वही, पृ० ५२१ ; शशि भूषण चौधरी, वही, पृ० १२२
३. मार्टिन, वेलेस्ली डिस्पैचेज, खण्ड १, पृ० १० ; शशि भूषण चौधरी, वही, पृ० १२३

इनमें कर्नल आर्थर वेलेस्ली थे जो बाद में इतिहास प्रसिद्ध ड्यूक आफ वेलिंगटन कहलाये। दूसरे थे कर्नल स्टेवेन्सन। इतिहासकार लोगन ने लिखा है कि पायस्सी राजा और उनके साथियों का दमन करने में इन महान सेनापतियों को १८०० मे १८०४ तक बराबर लड़ना पड़ा और एंड़ी-चोटी का पसीना एक करना पड़ा।[1] हजारों अंगरेज और देशी सिपाहियों को इन विद्रोहियों का मुकाबिला करने के लिए जमा किया गया। पायस्सी राजा को पकड़वाने वाले को दस हजार रुपए के इनाम की घोषणा की गयी। कंपनी के डाइरेक्टरों ने अंगरेज अफसरों की, खास कर कर्नल स्टेवेन्सन के कामों की बड़ी प्रशंसा की और विद्रोह के नेता पायस्सी राजा को जल्दी गिरफ्तार करने को कहा।

इसी बीच कंपनी की तरफ से मेजर मैकलायड ने हथियार सौंप देने का हुक्म वाइनाड के सभी लोगों को दिया और सितम्बर १८०२ में जमीन की मालगुजारी बढ़ा दी। इससे विद्रोह की आग में घी पड़ गया। वाइनाड और आसपास के सारे अंचल में विद्रोह की आग धू-धू कर जलने लगी। ११ अक्टूबर १८०२ को विद्रोहियों ने एदचेन्ना कुंगन के नेतृत्व में वाइनाड के पानामरम किले पर कब्जा कर लिया और उसकी रक्षा करनेवाले कंपनी के सैनिकों को मौत के घाट उतार दिया। इसके बाद उन्होंने कोट्टियूर और पेरिया के दर्रों पर कब्जा कर लिया। अंजरकंडी के मसाले के बगानों को नष्ट कर दिया। १८०३ में सारे प्रान्त में विद्रोह की लपटें उठने लगीं, चारों तरफ विद्रोह फैल गया। सशस्त्र विद्रोही खुले मैदानों में सुशिक्षित कंपनी सेना का मुकाबिला करने लगे।

मालाबार की भूमि छापामार युद्ध के लिए बहुत ही अच्छी है। विद्रोहियों ने यह कौशल अपनाया[2] और कंपनी की सुरक्षित सेना की नाक में दम कर दिया। आखिर में सन् १८०४ में कैप्टेन वाटसन ने 'कोलकार' नामक बदनाम पुलिस दल संगठित किया। इसने विद्रोह को दबाने में बड़ा काम किया। अप्रैल १८०५ में मद्रास सेना ने संगठित विद्रोह एकदम दबा दिया। १६ जून १८०५ को कंपनी की सरकार की तरफ से घोषणा की गयी कि जो विद्रोहियों के बारह नेताओं को गिरफ्तार करा देंगे, उन्हें बड़ा इनाम दिया जायगा। पायस्सी राजा को पकड़ने की बड़ी कोशिश हुई, पर वे हाथ न आये। ३० नवम्बर १८०५ को वे अंगरेजों से लड़ते हुए मारे गये।[3]

३१ दिसम्बर १८०५ को छोटे कलक्टर बाबर ने उच्च अधिकारियों को जो रिपोर्ट भेजी, उसमें स्वीकार किया कि इस विद्रोह का समर्थन केरल और मैसूर की जनता भी करती थी। पायस्सी राजा जनता के प्यारे नेता थे। मैसूर के गांवों से उनके पास वाइनाड के जंगल में रसद पहुँचती थी। बाबर के अनुरोध से मैसूर के रेजीडेन्ट मेजर विल्केस ने इसे रोकने की व्यवस्था की थी। बाबर ने अपनी रिपोर्ट में स्वीकार किया था कि पायस्सी राजा की मृत्यु जनता के दिल से उनकी याद मिटा नहीं सकती। पायस्सी

१. लोगन, वही, पृ० ५४२ ; चौधरी, वही, पृ० १२१
२. चौधरी, वही पृ० १२४ ३. लोगन, वही. पृ० ५४६-४७, ५५१; चौधरी, वही, पृ० १२४

राजा बाबर के साथ संघर्ष में मारे गये थे। उसने इस बहादुर शत्रु के प्रति अपना सम्मान प्रकट किया था।

दूसरे विद्रोही नेताओं का क्या हुआ? एदचेन्ना अम्मू लड़ते हुए मारे गये। एदचेन्ना कुंगन ने दुश्मनों के हाथ पड़ने से बेहतर आत्महत्या समझा। पल्लूर रायरप्पन दुश्मनों के घेरे को तोड़कर निकलते वक्त मारे गये। उनके भाई पल्लूर एयान १८०६ में प्रिन्स आफ वेल्स द्वीप में निर्वासित कर दिये गये। सामुद्री (जमोरिन) के घराने की पश्चिमी शाखा के राजा ने कुछ विद्रोहियों को शरण दी थी। उन्ह डिंडीगुल दुर्ग भेजा दिया गया।

अध्याय २०

सिलहट में अशान्ति

(१७९९)

सारे बंगाल के साथ सिलहट भी १७६५ में ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ आ गया। कंपनी ने बंगाल के अन्य हिस्सों की तरह इसे भी लूटना शुरू किया। राजस्व बेतहाशा बढ़ा दिया गया। किसानों से तरह-तरह के कर वसूल किये जाने लगे। कंपनी सरकार के कागजात स्वीकार करते हैं कि इन अन्यायपूर्ण टैक्सों की वसूली के खिलाफ लोगों ने दरखास्त दी। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि इन नाजायज टैक्सों की वसूली में बड़ी सख्ती बरती जाती थी। किसानों की बात तो जाने दीजिए, अगर जमीन्दारों के यहाँ भी राजस्व बाकी पड़ जाता, तो उनकी जमीन नीलाम कर दी जाती थी।[1] कंपनी की भारत से धन लूट कर विलायत ले जाने की इस नीति ने सिलहट के निवासियों के अन्दर बड़ा असंतोष पैदा कर दिया।

इसके अलावा कंपनी के आदमियों ने स्थानीय लोगों के साथ बड़ा बुरा सलूक किया। एक हवलदार के व्यवहार से खसिया इतने नाराज हो गये कि उन्होंने उसका सर मांगा और कंपनी सरकार के अंचल में लूट-मार करने लगे।

इस अशान्ति को बढ़ता देख यहाँ के कलक्टर ने कंपनी से इजाजत लेकर कुछ हथियार-बन्द आदमी अपने पास रखना आरंभ किया और ब्रिटिश अंचल की रक्षा के लिए मिट्टी के दो किले बनवाये। लेकिन १७८४ की बाढ़ नयी मुसीबत लेकर आयी। लोग तबाह हो गये, लेकिन उनकी मुसीबतों से नये शासकों को क्या? उन्हें तो राजस्व चाहिये था, लोग दे सकेंगे या नहीं, इससे उन्हें कोई वास्ता न था।

परिणाम बहुत बड़ी अशान्ति के रूप में सामने आया। कंपनी ने कड़ाई से राजस्व वसूल करने की कोशिश की तो लोग उसके कर्मचारियों से लड़ने-मरने को तैयार हो गये। १७८७ में तो सामन्त-सरदार राधाराम ने खुले विद्रोह का रास्ता अपनाया। उन्होंने कई गाँवों पर अधिकार कर लिया और उनसे कर वसूल किया। विरोध करनेवालों को मौत के घाट उतारा। कंपनी सरकार की तरफ से कलक्टर ने उन्हें गिरफ्तार करने को पुलिस भेजी। वे पकड़े गये, किन्तु उनके समर्थकों के साथ संघर्ष में कंपनी का एक पुलिस अफसर और बीस आदमी मारे गये।

विद्रोह के जुर्म में राधाराम को बहुत दिनों तक जेल में डाल रखा गया। १७८९ में उन पर सिलहट की अदालत में मामला चलाया गया।

खसिया लोगों के हमलों के कारण सिलहट की हालत इतनी खराब हो गयी कि मार्च

---

१. डब्ल्यू. डब्ल्यू. हंटर, एम. एस. रिकार्ड्स नम्बर ५१८; शशिभूषण चौधरी, वही, पृ० ७३

१७८८ में कलक्टर ने इस सम्बन्ध में रिपोर्ट भेज कर इसे स्वीकार किया। अपनी हालत पतली देख कंपनी सरकार ने घूस का सहारा लिया। उसने खसिया राजाओं को तरह-तरह के उपहार देकर प्रसन्न रखने की कोशिश ी। कंपनी सरकार ने कलक्टर को इस काम में ६,००० रुपए तक खर्च करने की इजाजत दे रखी थी।[१] अवश्य ही इसका कोई खास असर न हुआ, क्योंकि ५ अक्टूबर १७८९ की रिपोर्ट में जिला कलक्टर खसिया लोगों के हमलों का जिक्र करता है।

१७९९ में इससे भी बड़ी अशान्ति सिलहट जिले में देखी गयी। आगा मुहम्मद रजा नामक एक मुगल सिलहट से काछाड़ पहुँचा और वहाँ का स्वामी बन बैठा। कूकियों की मदद से उसने स्थानीय राजा को हरा दिया। यही नहीं, वह अपने को पैगम्बर कहने लगा और अपना नाम इमाम महादरी रख लिया। अपनी दैवी शक्ति का परिचय देने के लिए उसने १,२०० अनुयायियों को बोण्डास्सी स्थित कंपनी के थाने पर हमला करने भेजा। उस वक्त इस थाने में सिर्फ एक हवलदार और आठ सिपाही थे। इमाम के अनुयायियों ने थाने पर हमला किया। थाने के रक्षक अपनी बन्दूकों के बल पर उसकी रक्षा करने में सफल हुए। इमाम के लोगों ने उस पर दोबारा हमला किया, लेकिन इस बीच थाने की रक्षा के लिए और पुलिस आ गयी थी और सिपाहियों की संख्या ७० हो गयी थी। उन्होंने आक्रमणकारियों को मार भगाया। इमाम के ९० आदमी मारे गये। इस पराजय से इमाम भी भाग खड़ा हुआ और उसके द्वारा पैदा की गयी सिलहट-काछाड़ सीमा पर अशान्ति समाप्त हो गयी।[२]

१७९९ में सिलहट में अशान्ति की एक अन्य घटना पायी जाती है। हम पहले जिक्र कर आये हैं कि किस प्रकार अनाप-शनाप टैक्स लगाये गये थे और वे कड़ाई से वसूल किये जाते थे। राजस्व बाकी रह जाने पर जमीन नीलाम कर दी जाती थी। १७९९ में भी ऐसी कितनी ही घटनाएँ हुईं। एक हवलदार दस सिपाहियों को लेकर बालीसिरा में नीलाम में खरीदनेवाले को जमीन का कब्जा दिलाने गया। इस जमीन के पहले मालिक ने पुलिस को रोका, उसके आदमियों ने दो पुलिसवालों को मार दिया और कइयों को घायल कर दिया।

इस तरह अपनी जमीन बचाने में कामयाब होने पर उसने कंपनी की जायदाद पर हमला करना शुरू किया। दो नावों में कंपनी का दो हजार रुपए का माल जा रहा था। उसने इसे लूट लेने की कोशिश की, पर सिलहट से कंपनी के सिपाहियों ने आकर उसे बचा लिया। उसने बहुत से आदमियों को गोलबन्द किया, कचहरी पर हमला किया, सिपाहियों को काट डाला और नीलाम में जमीन खरीदनेवालों को मार भगाया। अन्त में अवश्य ही उसे गिरफ्तार कर लिया गया और उसकी गिरफ्तारी के बाद यहाँ भी शान्ति कायम हो गयी।[१]

१. डब्ल्यू. डब्ल्यू. हंटर, वही, नं० १४१२
२. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, सिलहट, पृ० ३७-३८
१. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, सिलहट, पृ० ३३

अध्याय २१

चोआड़ विद्रोह

(१७९८-९९)

१७९८-९९ ई० में बाँकुड़ा जिले के दक्षिण-पश्चिम और मेदिनीपुर जिले के उत्तर-पश्चिम हिस्से में एक बड़ा विद्रोह हुआ। यह साधारणतः 'चोआड़ विद्रोह' के नाम से मशहूर है।

बंगला के शब्द-कोष के अनुसार चोआड़ शब्द का अर्थ है "दुर्वृत्त और नीच जाति"। बंगला में गाली के रूप में इस शब्द का प्रयोग चला आता है। लगता है कि इस शब्द के अर्थ के पीछे सामन्त-जमीन्दारों का वर्ग विद्वेष उसी तरह काम करता रहा है जैसे हिन्दी के 'चमार' शब्द के पीछे। दरअसल ये उक्त अंचल के आदिवासी थे। यह जंगल प्रधान अंचल था और अंगरेजों के पहले 'जंगलमहाल' कहलाता था। चोआड़ जंगल साफ कर खेती करते, पशु-पक्षियों का शिकार करते और जंगल में पैदा होनेवाली वस्तुओं को बेच कर गुजारा करते थे। उनमें से अधिकांश स्थानीय जमीन्दारों के यहाँ पाइक यानी सिपाही का काम करते थे। वेतन के बदले उन्हें जमीन दी जाती थी जो 'पाइकान जमीं' कहलाती थी। तीर-धनुष, भाला, बरछा, फरसा आदि उनके हथियार थे। किसी-किसी के पास बन्दूकें भी होती थीं।

अंगरेज शासकों ने कब्जा जमाते ही चोआड़ों की पुश्तैनी जमीनें छीन-छीन कर नये जमीन्दारों के हाथ बेचना और इन जमीन्दारों के साथ मिल कर नयी 'प्रजा' बसाना शुरू किया। साथ ही पाइकों को हटा कर बाहर से ला लाकर पुलिस को उनकी जगह नियुक्त किया। अनुमान लगाया जाता है कि इससे लगभग पच्चीस हजार पाइक जमीन, घर-द्वार, जीविका का साधन—सब कुछ खोकर दर-दर ठोकर खाने लगे। इन सिपाहियों और किसानों की सम्मिलित शक्ति ने विद्रोह की वह आग लगा दी जिसे बुझाना अंगरेज शासकों के लिए बड़ा कठिन हो गया था।

अंगरेज शासकों ने कितने ही पुराने जमीन्दारों के हाथ से जमीन छीन ली थी इसलिए कि वे बेशुमार बढ़ाये गये राजस्व को चुकाने में असमर्थ थे। ऐसे पुराने जमीन्दारों में से भी कुछ इस विद्रोह में शामिल हुए। रायपुर परगने के दुर्जन सिंह ऐसे ही जमीन्दार थे। उनके नेतृत्व में चोआड़ विद्रोहियों ने मेदिनीपुर जिले में अंगरेज शासन अचल कर दिया था।

ब्रिटिश शासकों को खुद स्वीकार करना पड़ा है कि इस विद्रोह का मूल कारण चोआड़ किसानों और पाइकों से जमीन और जीविका का छीना जाना था। मेदिनीपुर के तत्कालीन कलक्टर ने रेवेन्यू बोर्ड के पास २५ मई १७९८ को लिखा :

"प्राचीन काल से जो अपने दखल की जमीन का भोग करते आ रहे थे, उन्होंने देखा कि बिना अपराध और बिना कारण जमीन भोगने का उनका अधिकार जानसुन कर

छीन लिया गया, इस बहाने कि सरकारी पुलिस के खर्च और गुजर के लिए यह जरूरी है, और उन्हें सारी सम्पत्ति से वंचित कर दिया गया अथवा उस जमीन पर इतना ज्यादा राजस्व लगाया गया जिसे देने की क्षमता उनमें नहीं। उन्होंने यह भी देखा कि आवेदन-निवेदन से कोई फायदा नहीं हुआ। ऐसी हालत में पहला मौका मिलते ही उन्होंने अस्त्र धारण कर अपने से छीनी गयी जगह-जमीन वापस पाने की चेष्टा की। इसमें आश्चर्य या क्रोध करने का कोई कारण नहीं हो सकता।"[१]

आगे चलकर मेदिनीपुर के प्रधान सेटेलमेन्ट अफसर जे० सी० प्राइस ने 'चोआड़ विद्रोह' (चुआर रेबेलियन) नामक पुस्तक में लिखा :

"बहुतों के मतानुसार, जैसे दूसरे सारे आदिवासी प्रायः जंगल और पहाड़ से निकल कर चारों तरफ लूट-मार तथा अराजकता पैदा करते हैं, चोआड़ विद्रोह भी उसी तरह की एक घटना है। लेकिन मेरा ख्याल है, और ऐसा विश्वास करने के काफी कारण हैं, कि मेदिनीपुर की रानी की जमीन्दारी के पाइकों की जागीर-जमीन दखल करने के लिए कई साल पहले जो आदेश जारी किया गया और जो बाद में आंशिक रूप से कार्यरूप में परिणत किया गया था, उसी के कारण जमीन्दारों और पाइकों में बड़ा असंतोष दीख पड़ा था। उसीसे विक्षुब्ध पाइकों के एक हिस्से को चोआड़ विद्रोह में शामिल होने की अन्तिम प्रेरणा मिली थी। पाइकों को जीवन रक्षा के लिए इसे छोड़ कर दूसरा कोई उपाय खोजे नहीं मिला।" (पृ०१)

मेदिनीपुर जिले के रायपुर परगने में विद्रोह पहले आरम्भ हुआ। इस परगने के जमीन्दार दुर्जन सिंह ने निश्चित समय के अन्दर अंगरेज शासकों को राजस्व न दिया, तो उनकी जमीन्दारी छीन कर दूसरे आदमी के हाथ ज्यादा कीमत पर बेच दी गयी। दुर्जन सिंह ने बदला लेने के लिए विद्रोही पाइकों और चोआड़ों से मदद मांगी। विद्रोहियों ने नये जमीन्दार को भगा दिया और रायपुर पर अधिकार कर लिया। अंगरेज शासकों ने कुछ दिन पहले रायपुर परगने की जिन जमीनों को पाइकों से छीन कर नये जमीन्दार के हाथ बेचा था, उन सब जगहों में विद्रोहियों ने नव-नियुक्त तहसीलदारों को हुक्म दिया कि भूखे पाइकों के लिए काफी चावल-दाल भेजो। साफ कह दिया गया कि अगर तहसीलदारों ने यह हुक्म न माना तो दूसरे उपाय से उन्हें रसद पहुँचाने के लिए बाध्य किया जायगा। यह हुक्म पाते ही तहसीलदार रायपुर छोड़ कर भाग गये।

मार्च १७९८ में दुर्जन सिंह के नेतृत्व में डेढ़ हजार विद्रोहियों ने रायपुर परगने के तीस गाँवों पर अधिकार किया। नये जमीन्दारों ने जिन नये लोगों को लाकर बसाया था, उन्हें मार भगाया गया, बहुत से मौत के घाट उतारे गये। पाइकों और चोआड़ों ने उन जमीनों पर कब्जा कर लिया। जमीन्दारों के कर्मचारी और थाने के दारोगा मेदिनीपुर भाग गये।

जल्दी ही अंगरेज शासकों ने रायपुर परगने में सेना भेजी। विद्रोहियों ने उसका

१. जे. सी. प्राइस, 'चुआर रिबेलियन' से उद्धृत

मुकाबिला किया, पर आखिर में हारकर वहाँ से हट गये। मई १७९८ में फिर दुर्जन सिंह के नेतृत्व में पाँच सौ विद्रोहियों ने रायपुर पर धावा बोला। जमीन्दार के नायब की कचहरी लूट कर जला दी। गुनारी थाने की कचहरी में स्थित सरकारी सेना के केन्द्र पर हमला किया। दोनों पक्षों में सारी रात भयंकर युद्ध होता रहा। दूसरे दिन दोपहर के जरा पहले विद्रोहियों को हार मान कर हट जाना पड़ा।

इसके प्रायः डेढ़ महीने बाद फिर विद्रोहियों की बड़ी सेना ने रायपुर परगने पर हमला किया। इस बार सरकारी सेना को हरा कर उन्होंने इस परगने के प्रधान बाजार और कचहरी को पूरी तरह नष्ट कर दिया। कुछ समय तक वे सारे परगने पर अधिकार जमाये रहे। इसी बीच मिट्टी का एक दुर्ग बना कर उन्होंने अपनी शक्ति मजबूत की।

जून में विद्रोहियों की एक सेना ने रामगढ़ परगने के अंगरेजपरस्त जमीन्दार और उसके कर्मचारियों की जायदाद लूटी। जुलाई में गोवर्द्धन दिक्पति नामक चोआड़ नेता के नेतृत्व में प्रायः चार सौ विद्रोहियों ने हुगली जिले के चन्द्रकोना परगने पर हमला किया। कलकत्ता से भेजी गयी एक सेना से हारकर विद्रोही वहाँ से पीछे हटे। सितम्बर में नयाबासान और बड़जित नामक परगनों पर विद्रोहियों के हमले हुए। इन दोनों परगनों के धनियों का धन-धान्य उन्होंने लूट लिया। इसके बाद मेदिनीपुर के प्रायः सभी परगनों पर विद्रोहियों ने हमले किये और उन्हें लूटा। इस वक्त की हालत का वर्णन करते हुए जे० सी० प्राइस ने 'चोआड़ विद्रोह' में लिखा :

"संक्षेप में कहा जा सकता है कि साल के अन्त में सारे जिले का कोई अंचल नहीं बचा जहाँ विद्रोहियों का हमला न हुआ हो। इससे अधिकारियों की मानसिक हालत कैसी हो गयी थी, यह इसी से समझा जा सकता है कि रात में मेदिनीपुर शहर के रास्तों में पहरा देने के लिए सारे साल एक सेना नियुक्त रही।"[1]

मेदिनीपुर परगने की हालत सबसे बदतर थी। यह परगना विद्रोहियों का प्रधान केन्द्र बन गया। कम से कम १२४ गाँव उन्होंने लूट कर जला दिये। ये बड़े-बड़े और और नामी गाँव थे।

इसके बाद मेदिनीपुर से सिर्फ चौदह मील पर स्थित शालबनी पर आक्रमण आरंभ कर चन्द दिनों के अन्दर विद्रोहियों ने उसे तहस-नहस कर दिया। उन्होंने शालबनी शहर में स्थित तहसीलदार की कचहरी, सरकारी आफिस, सेना के बैरक—सब नष्ट कर दिये। सिपाही-बरकन्दाज सभी भाग खड़े हुए। देखते-देखते सारा शहर खाली हो गया। विद्रोहियों ने जमीन्दारी से सम्बन्धित सारे कागज-पत्र नष्ट कर दिये।

जंगलमहाल से राजस्व की वसूली बन्द हो गयी। चोआड़ों ने ऐलान कर दिया था कि जो भी राजस्व वसूल करने आयेगा, वह जिन्दा वापस न जायगा। मारे डर के कोई राजस्व वसूल करने जाने को तैयार न होता था। मेदिनीपुर के जिला कलक्टर ने रेवेन्यू बोर्ड को चेतावनी दी कि अगर चोआड़ विद्रोह को दमन करने का उपाय न किया गया तो आगामी वर्ष सारे जंगलमहाल में कोई खेती-बारी न होगी।

---

१. जे. सी. प्राइस, चुआर रिबेलियन, पृ० २

१७९९ में विद्रोह की उग्रता और भी बढ़ी। सरकारी अफसर और कर्मचारी, जमीन्दार और तहसीलदार सब के सब भाग कर मेदिनीपुर में जमा हुए थे। कंपनी की सेना और जिले के विभिन्न अंचलों से देशी सेना लाकर शासकों ने मेदिनीपुर की रक्षा की, लेकिन उसके आसपास के गांवों को विद्रोही रोज लूटा करते। कलक्टर की नींद हराम हो गयी थी। उसने रेवेन्यू बोर्ड के पास ७ मार्च १७९९ को भेजे गये पत्र में लिखा :

"सारे जिले के अधिवासी भागकर मेदिनीपुर में जमा हो रहे हैं। वे अपनी प्राण-रक्षा के लिए अधीर हो गये हैं।...हजारों लोग शहर में बन्द पड़े हैं। वे शहर के बाहर नहीं जा सकते। सारे मुफ्स्सल अंचल के साथ शहर का सम्बन्ध विछिन्न हो गया है।"[१]

१९-२० मार्च को मेदिनीपुर शहर पर दो हजार विद्रोहियों के आक्रमण की अफवाह सुनकर सब की हालत पतली हो गयी। कलक्टर ने सरकारी खजाने से सारा रुपया-पैसा और कीमती कागजात सेना के शस्त्रागार में भेज दिये।

प्राय: इसी समय गोवर्द्धन दिक्पति नामक चोआड़ सरदार के नेतृत्व में दो हजार विद्रोहियों ने मेदिनीपुर जिले के सबसे बड़े गाँव आनन्दपुर को लूट लिया और जला कर खाक कर दिया। कहा जाता है कि यह गाँव मेदिनीपुर शहर से भी बड़ा था। सिपाहियों की एक टुकड़ी विद्रोहियों को रोकने गयी, लेकिन मारी गयी। धनी व्यापारियों के इस बड़े गाँव के नष्ट होने से शासक और आतंकित हो गये।

विद्रोहियों के अनुशासन और चरित्र का प्रमाण 'चोआड़ विद्रोह' नामक पुस्तक में उसके रचयिता जे० सी० प्राइस के निम्नलिखित शब्दों से पाया जाता है :

"विद्रोहियों के आनन्दपुर ग्राम दखल करने के कुछ घण्टों बाद ही उन के सरदार मोहनलाल घोड़े पर चढ़कर इस गाँव आये। उन्होंने आते ही लूटपाट बन्द करने का आदेश दिया। साथ ही साथ सब जगह लूटपाट बन्द हो गयी। इससे नेता के प्रति विद्रोहियों का अनुगत्य संदेहातीत रूप से प्रमाणित होता है। तब मोहनलाल ने अपना झंडा गाँव के बीच उड़ाने का आदेश दिया। उसी स्थान पर सब ग्रामवासियों को सपरिवार उपस्थित होने के हुक्म की डुग्गी पिटवायी। मोहनलाल ने यह भी सूचित कर दिया कि अगर ग्रामवासी उनका हुक्म मान कर चलेंगे, तो उन पर कोई अत्याचार नहीं होगा। लेकिन अगर ऐसा न किया गया, तो बाकी ग्रामवासियों को तलवार के घाट उतार दिया जायगा और गाँव को जला कर खाक कर दिया जायगा। अवश्य ही सब उनका आदेश मान कर चले और मोहनलाल ने अपना वादा अक्षर-अक्षर पूरा किया। इसके बाद वे इस नवविजित ग्राम राज्य पर निर्विवाद अधिकार जमाये रहे।" (पृ० ७)

साधारण किसान और जमीन्दार भी इस विद्रोह में शामिल हुए थे, इसके प्रमाण शासकों के पत्रों से ही मिलते हैं। मेदिनीपुर के कलक्टर ने रेवेन्यू बोर्ड के नाम २९ मार्च १७९९ के पत्र में लिखा :

---

१. प्राइस, वही, पृ० ६

"इसी समय प्रजा भी विद्रोह में शामिल हुई थी और चोआड़ तथा प्रजा दोनों ने मिल कर मेदिनीपुर परगने को लूटने और ध्वंस करने में कुछ भी उठा न रखा। सारा मेदिनीपुर परगना जनहीन और ध्वंस स्तूप बन गया है। .... संक्षेप में कहा जा सकता है कि जंगल अंचल के प्रायः सभी जमीन्दार भी चोआड़ों के साथ मिल गये हैं।"

विद्रोहियों के आक्रमण में वृद्धि से शासकों को सन्देह हुआ कि जंगल-अंचल के पुराने जमीन्दार भी इसमें शामिल हैं। इसलिए उन्होंने इस अंचल की प्रधान जमीन्दार रानी शिरोमणि और कुछ अन्य जमीन्दारों को गिरफ्तार कर लिया। रानी की जमीन्दारी के कर्णगढ़ और आवासगढ़ नामक दो दुर्गों पर अधिकार कर लिया। लेकिन कर्णगढ़ दुर्ग पर सरकारी सेना के अधिकार करते ही विद्रोहियों की विशाल सेना ने उसे आ घेरा। खाद्य और जल के अभाव से सरकारी सेना दुर्ग खाली कर भाग खड़ी हुई।

कलक्टर ने विद्रोही नेताओं और उनके सहयोगियों की गिरफ्तारी के परवाने निकाले। पाइकों और चोआड़ों को आत्म-समर्पण का हुक्म दिया। वादा किया कि विद्रोहियों के अभियोगों पर विचार कर आवश्यक कार्रवाई की जायगी, लेकिन कोई परिणाम न निकला।

जून १७९९ में मेदिनीपुर के चोआड़ और पाइक विद्रोहियों के साथ पड़ोस के उड़ीसा के मराठा अधिकृत अंचल के पाइक भी शामिल हो गये। इससे विद्रोहियों की शक्ति बढ़ गयी। इसके बाद रामगढ़, शतपति, शालबनी आदि परगनों में विद्रोहियों और सरकारी सेना के बीच कई मुठभेड़ें हुईं।

शासकों ने क्रमशः समझा कि केवल फौज के बल से यह विद्रोह न दबाया जा सकेगा। अन्त में उन्होंने फैसला किया कि पाइकों को उनकी जमीनें वापस कर दी जायँगी और जंगल अंचल में शान्ति बनाये रखने की जिम्मेदारी यहाँ के जमीन्दारों की होगी। राजस्व बाकी पड़ जाने से जमीन्दारों की जमीन्दारी नीलाम न की जायगी। इस तरह पाइकों, जमीन्दारों और चोआड़ सरदारों को कुछ सुविधा देकर शासक यह विद्रोह शान्त कर सके।

अध्याय २२

वजीर अली का विद्रोह

(१७९९)

अवध के नवाब आसफुद्दौला की मृत्यु १७९७ में हुई। इस नवाब ने अपना उत्तराधिकारी वजीर अली को माना था, लेकिन कंपनी को यह पसन्द न था। पहला कारण यह था कि वजीर अली कंपनी को अवध से मिलने वाली रकम बढ़ाने को तैयार न थे। दूसरा यह कि वे कंपनी के मकड़जाल से अवध को मुक्त करना चाहते थे। कंपनी डरती थी कि अगर वजीर अली को अवध का नवाब बना रहने दिया गया, तो उत्तर भारत में भी एक टीपू पैदा हो जायगा। इसलिए उसने वजीर अली को हटाकर आसफुद्दौला के सबसे बड़े भाई सआदत अली को अवध का नवाब बनाया जो अंगरेजों की सेवा हर तरह से करने को तैयार था। अपने नापाक इरादों पर पर्दा डालने के लिए अंगरेज साम्राजियों ने अफवाह उड़ायी[1] कि वजीर अली आसफुद्दौला के नहीं, एक फर्राश के बेटे हैं। सआदत अली को कानपुर से गोरी पलटन के साथ लखनऊ लाया गया। खुद गवर्नर जनरल सर जान शोर ने उसके साथ हाथी पर बैठकर लखनऊ में सवारी निकाली[2] और घोषणा करायी कि अवध का नवाब वजीर अली नहीं, सआदत अली है। वजीर अली को बनारस में जाकर रहने की इजाजत दी गयी और डेढ़ लाख रुपया सालाना की पेंशन मंजूर की गयी।

वजीर अली अंगरेजों को मार भगाने की योजना बना रहे थे। उन्होंने सिंधिया के साथ संधि की। सिंधिया वजीर अली की मदद से अंगरेजों की बढ़ती शक्ति को रोकना चाहते थे और वजीर अली सिंधिया की मदद से अपनी गद्दी प्राप्त करना चाहते थे। वजीर अली ने ढाका और मुर्शिदाबाद के नवाब, गया जिले के टेकारी के राजा मित्रजीत सिंह और अफगानिस्तान के बादशाह जमनशाह से भी सम्बन्ध स्थापित किया था। 'मिरतुल अहवाल' के लेखक के अनुसार उन्होंने उचित उपहारों के साथ मुल्ला मुहम्मद को जमनशाह के पास परस्पर मदद के प्रस्ताव के साथ भेजा था। अंगरेजों को मुल्ला मुहम्मद के जाने की खबर मिल गयी। उनके अनुरोध पर उनके वफादार चाकर अटक के राजा ने मुल्ला मुहम्मद को मरवा दिया और उनके पास के कागजात अंगरेजों के पास कलकत्ता भेज दिये।[3]

उस वक्त के अंगरेजों द्वारा लिखे गये कुछ पत्र भी पाये गये हैं जो स्वीकार करते हैं कि वजीर अली ने अंगरेजों का राज उलटने की कोशिश की थी। एडमन्स्टन

---

१. शशिभूषण चौधरी, वही, पृ० ७४

२. डा० मोतीचन्द, काशी का इतिहास, प्रथम संस्करण, पृ० २५६-५७

३. कालींकिंकर दत्त, एन्टीब्रिटिश प्लाट्स एण्ड मूवमेन्ट्स, १९७० का संस्करण, पृ० १९.

द्वारा लार्ड टेनमाउथ के पास लिखा गया पत्र ऐसा ही एक पत्र है।[1] यह पत्र 'इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली' के मार्च १९३७ के अंक मे प्रकाशित हुआ था और वजीर अली की कोशिश पर काफी प्रकाश डालता है। मस्कत के अमीर और फ्रांसीसियों के साथ भी उन्होंने सम्बन्ध स्थापित किया था।

उस वक्त के बड़े लाट ने २३ दिसम्बर १७९८ को अवध में कंपनी के रेजीडेन्ट जान लम्सडेन के पास पत्र लिख कर दो इच्छाएँ जाहिर कीं। पहली यह कि अवध को किसी भी तरह हड़पना होगा ताकि कंपनी का राज पश्चिमोत्तर सीमा तक फैलाया जा सके। दूसरी यह कि वजीर अली को हटा कर कलकत्ता लाना होगा, क्योंकि इस काँटे को बनारस मे रखना खतरनाक है।

बड़े लाट के हुक्म के अनुसार बनारस के अंगरेज रेजीडेन्ट जी० पी० चेरी ने वजीर अली को सूचित किया कि उन्हें बनारस छोड़ कर कलकत्ता जाना होगा। वजीर अली ने यह संवाद पाकर विद्रोह का झंडा बुलन्द करने का फैसला कर लिया। उन्होंने सूचना भेजी कि वे चेरी के घर पर सुबह नाश्ते के वक्त मिलने आयेंगे। दूसरे दिन (१४ जनवरी १७९९) जब चेरी कुछ अधिकारियों के साथ इन्तजार कर रहा था, वजीर अली कुछ साथियों के साथ पहुँचे और अंगरेज अधिकारियों पर हमला बोल दिया। चेरी, कैप्टेन कानवे, राबर्ट ग्राहम और रिचार्ड एवान्स आदि कुछ अंगरेज मारे गये, कुछ घायल होकर भागे। बनारस के जज डेवीस, जनरल एर्सकिन द्वारा भेजे गये कुछ सैनिकों की मदद से अपनी और अपने बंगले की रक्षा कर सका।

कंपनी की सेना वजीर अली को पकड़ने गयी, लेकिन वे उसी शाम को अपने साथियों के साथ बनारस छोड़ कर चले गये। कुछ दिनों तक कंपनी को उनके बारे मे कुछ भी पता न चला। बड़े लाट को सन्देह होने लगा कि कहीं वजीर अली अफगानिस्तान के बादशाह जमन शाह से न जा मिलें। उनके हुक्म से मेजर जनरल एर्सकिन ने कंपनी की तरफ से एलान किया कि जो भी वजीर अली को जिन्दा या मुर्दा पकड़वा देगा, उसे बीस हजार रुपए का इनाम दिया जायगा। जल्दी ही पुरस्कार की यह रकम बढ़ा कर पचास हजार रुपए कर दी गयी। कंपनी का वफादार चाकर अवध का नवाब सदाअत अली भी अपनी वफादारी दिखाने में पीछे न रहा। उसने भी इतने ही इनाम की घोषणा की। यही नहीं, उसने वजीर अली के दो खास मददगार वारिस अली और इज्जत अली को पकड़वाने के लिए दस हजार रुपए के इनाम की घोषणा की।[2]

बिहार में भी वजीर अली के साथियों की गिरफ्तारी के लिए कदम उठाये गये। पटना शहर के मजिस्ट्रेट हेनरी डगलस ने कंपनी के हुक्म से राजा झाऊलाल और उनके एक आदमी बालक राम को गिरफ्तार किया। संदेह किया गया था कि वजीर अली से इनका गहरा सम्बन्ध है, लेकिन थोड़े ही दिन बाद उन्हें निर्दोष समझ कर छोड़ दिया गया। अवश्य ही बिहार में ऐसे भी आदमी पकड़े गये थे जिनका सचमुच वजीर अली से

१. चौधरी, वही, पृ० ७५ ; कालीकिंकर दत्त, वही, पृ० १६
२. कालीकिंकर दत्त, वही, पृ० १७

सम्बन्ध था। इनमे एक मौला अली थे जो वजीर अली के गुप्त दूत थे और जिन्हें दिसम्बर में कलकत्ता भेजा गया था। दूसरे सुलेमान थे जिन्हें वजीर अली ने कलकत्ता में मौला अली के पास भेजा था। इनके अलावा थे मोहतरिम अली जो लखनऊ के एक हकीम के बेटे थे, इस्माइल जो मौला अली के साथ कलकत्ता गये थे, सैय्यद अशरफ अली खाँ उर्फ मीर यहेहा खाँ, सैय्यद फजल अली जो बिहार के निवासी थे और पहले बिहार में एक दफ्तर में काम करते थे, मिर्जा जौन जिन्हें अरमीनियन या मुगल माना जाता है, ख्वाजा याकूब जो अरमीनियन व्यापारी थे और पटना में जिनके साथ मौला अली और सुलेमान का सम्बन्ध था तथा जिनके जरिए वे खत-किताबत किया करते थे, शाह गुलाम मुहम्मद जो शेखपुरा के निवासी थे और जो खुलासत-उत-तवारीख के लेखक महाराजा कल्याण सिंह के मातहत पटना में मुलाजिम थे, और शमसुद्दीन हुसेन।

वजीर अली के बारे में सन्देह किया जाता था कि वे आजमगढ चले गये हैं। बाद में उन्हें बुटवल (पश्चिमी नेपाल) में पाया गया। बुटवल का राजा वजीर अली को मानता था। यहाँ कितने ही असन्तुष्ट जमीन्दार, अवध के कितने ही नागरिक और हजारों सैनिक वजीर अली के साथ आ मिले। इन सैनिकों को लेकर वजीर अली ने गोरखपुर पर चढ़ाई की। कंपनी की सेना से उनकी भिडन्त हुई। उनकी हार हुई और उन्होंने जयनगर के राजा के यहाँ आश्रय लिया। इस राजा ने धोखा दिया और दिसम्बर १७९९ में मोटी रकम लेकर वजीर अली को अंगरेजों के हाथ सौंप दिया। उन्हें कलकत्ता ले जाया गया और फोर्ट विलियम किले में अन्त तक लोहे के पिंजड़े में कैद रखा गया।[१] १५ मई १८१७ को कैद में ही ३६ वर्ष की उम्र में उनकी मृत्यु हुई।

वजीर अली के मददगार हिन्दू और मुसलमान दोनों थे। ऊपर हम उन मुसलमानों का जिक्र कर आये हैं जिन्हें वजीर अली का मददगार होने के कारण गिरफ्तार किया गया था। उनके मददगार, जज डेवीस के अनुसार, सारनाथ के जगत सिंह, चितईपुर के भवानीशंकर और बनारस के शिवदेव थे। जगत सिंह पर मामला चला था और उन्हें निर्वासन का दण्ड दिया गया था। भवानीशंकर को मृत्यु दंड दिया गया था और शिवदेव पकड़ने को आये सैनिकों के साथ लड़ते-लड़ते मारे गये थे।

चूँकि हिन्दू और मुसलमान दोनों ही ने वजीर अली के नेतृत्व में अंगरेजी राज को उखाड़ फेंकना चाहा था, दोनों ही ने इसकी कोशिश मिलजुल कर की थी, इसीलिए इसका महत्व है।

---

१. शशिभूषण चौधरी, वही, पृ० ७९

अध्याय २३

ढुंडिया की चुनौती

(१७९९-१८००)

ढुंडिया बाघ कौन थे और उन्होंने अपने जमाने में फिरंगियों को किस प्रकार चुनौती दी ? वे एक साहसी मराठा थे। उन्होंने फिरंगियों को मार भगाने और एक स्वाधीन राज्य कायम करने की कोशिश की थी। अंगरेज इतिहासकारों ने उन्हें दूसरा हैदरअली कहा है।

प्राप्त तथ्य बताते हैं कि ढुंडिया बाघ अक्सर टीपू सुल्तान के राज पर हमला किया करते थे। उनके हमलों से टीपू नाराज थे, पर उनके साहस के प्रशंसक थे। इसीलिए जब टीपू की सेना ने उन्हें पकड़ा, तो दंड देने के लिए पहले उन्हें मुसलमान बनाया गया और फिर सेना में जिम्मेदारी के पद पर नियुक्त कर दिया गया। लेकिन लगता है कि फिर किसी कारणवश ढुंडिया ने टीपू को नाराज कर दिया था, क्योंकि जब श्रीरंगपट्टम का पतन हुआ और उस पर अंगरेजों का अधिकार हुआ, तो उन्हें हथकड़ी बेड़ी में जकड़ा पाया गया।

टीपू की सेना भंग की गयी, तो ढुंडिया को भी बरखास्त कर दिया गया। वे बेदनूर पहुँचे और बरखास्त सेना के जितने भी सैनिक मिल सके उन्हें अपनी सेना में भर्ती किया। इस तरह उनके पास घुड़सवारों और पैदल सैनिकों की एक अच्छी सेना हो गयी। जो भी अंगरेजों को मार भगाना चाहते थे, उन्होंने उन्हें अपनी तरफ मिलाने की कोशिश की। इसमें उन्हें सफलता भी मिली। कितने ही किलेदार उनके साथ आ मिले। इस तरह उन्होंने बेदनूर में एक छोटा-मोटा राज्य कायम किया। उन्होंने बादशाह की उपाधि धारण की और अपने अधीन सामन्त सरदारों को नवाब की उपाधि दी।

ढुंडिया की शक्ति बढ़ते देख फिरंगियों की नींद हराम होने लगी। उन्होंने जल्दी ही एक सेना इस बढ़ते खतरे को समाप्त करने को भेजी। कर्नल जेम्स डैलरिंपल ने चीतल दुर्ग से आगे बढ़कर तुंगभद्रा नदी के किनारे के विद्रोहियों के कुछ किलों पर कब्जा कर लिया। उसने विद्रोहियों को काफी क्षति पहुँचायी। उसी समय कर्नल स्टीवेन्सन ने शिमोगा पर यकायक धावा बोल दिया और उस पर कब्जा कर लिया। १७ अगस्त १७९९ को शिकारपुर में फिरंगी सेना का मुकाबिला ढुंडिया से हुआ। कठिन लड़ाई के बाद ढुंडिया को किला खाली कर हट जाना पड़ा। वे मराठों की भूमि में चले गये।[1]

कुछ दिन तक ढुंडिया चुप रहे और अपनी शक्ति संचित करते रहे। १८०० में अंगरेजों को सूरत के मामले में फंसा देख उन्होंने अंगरेज अधिकृत मैसूर पर हमला आरंभ किया। उनका यह हमला साधारण हमला न था। इस बीच उन्होंने अंगरेज अधिकृत

---

१. थार्नटन, हिस्ट्री आफ ब्रिटिश एम्पायर इन इंडिया, खण्ड ३, पृ० ९३-९६.

अंचल के असंतुष्ट सरदारों को अपनी तरफ मिला लिया था। उन्होंने उन्हें पत्र लिख कर एक साथ मिल कर अंगरेज अधिकृत मैसूर पर आक्रमण के लिए निमंत्रित किया था।[१] ये सरदार उनके झण्डे के नीचे आकर इकट्ठा भी हुए थे। उन्होंने ढुंडिया को अपना नेता, अपना बादशाह भी स्वीकार किया था। उनका आक्रमण अंगरेजों को मार भगाने, मैसूर को उनके चंगुल से मुक्त करने और स्वाधीन राज की स्थापना के लिए था।

अंगरेजों ने इस आक्रमण की गंभीरता को समझा और इसलिए उन्होंने अपने बहुत ही मशहूर सेनापति कर्नल वेलेस्ली को उनका दमन करने भेजा।

ढुंडिया ने अपना मुख्य अड्डा मराठों की भूमि में बना रखा था। वहीं से वे फिरंगियों के अंचल पर आक्रमण का संचालन करते। इसलिए अंगरेजों ने बाजीराव पेशवा पर दबाव डाला कि वे अंगरेजी सेना को मराठा भूमि में ढुंडिया पर आक्रमण करने की इजाजत दें। पेशवा ने बहुत टालने की कोशिश की, लेकिन आखिरकार अगरेजों के दबाव के सामने झुकना पड़ा। ढुंडिया का शिविर उस वक्त मालप्रभा नदी के दक्षिण तट पर था। कर्नल वेलेस्ली ने ३० जुलाई को उनके शिविर पर अचानक हमला बोल दिया। इस आकस्मिक हमले से ढुंडिया को नदी पार भागना पड़ा। वे बच निकले पर अधिकांश फौजी सामान, हाथी, घोड़े, ऊँट, बैल आदि दुश्मन के हाथ में पड़ गये।

ढुंडिया का पीछा करते हुए अंगरेज सेना आगे बढ़ी, पर इस चतुर और वीर योद्धा को कुचलना आसान न था। दुश्मनों को उनका पीछा करने में लोहे के चने चबाने पड़े। खास कर सिरहिट्टी के किले की लड़ाई बड़ी कठिन साबित हुई। आखिर में जान सिनक्लेयर के नेतृत्व में तोपखाना इस किले को तोड़ने में सफल हुआ। पहले तोपची किले के अन्दर घुसे और बाद में अन्य सैनिक।

ढुंडिया अन्त में निजाम के राज्य में घुसे। अंगरेजों को निजाम की वफादारी में विश्वास था और अब उन्हें लगा कि वे ढुंडिया को ऐसे घेरे में डाल देंगे कि जिसे तोड़ कर निकलना मुश्किल हो जायगा। कर्नल वेलेस्ली ने उन पर आक्रमण करने की पुरजोर तैयारी की। आखिर में १० सितम्बर १८०० को 'कोनाहगुल' नामक स्थान में दोनों सेनाओं का मुकाबिला हुआ। युद्ध क्षेत्र में अंगरेजों की मोर्चेबन्दी बड़े सुविधाजनक स्थान में की गयी थी। यह सुविधा ढुंडिया की सेना को प्राप्त न थी। फिर भी उनकी सेना ने बड़ी बहादुरी के साथ दुश्मन का मुकाबिला किया। वेलेस्ली ने यकायक जबर्दस्त आक्रमण कर ढुंडिया की सेना तितर-बितर कर दी। ढुंडिया के साथ उस दिन बहुतों ने वीरगति प्राप्त की।[२]

अंगरेज इतिहासकार स्वीकार करते हैं कि ढुंडिया बड़े काबिल नेता थे। थार्नटन का विचार है कि अगर वक्त पर उनकी प्रगति न रोकी जाती तो वे दूसरे हैदरअली साबित होते। उनके अनुसार सर टामस मुनरो का भी यही मत था।[३]

---

१. लोगन, मालाबार (१८८७), खण्ड १, पृ० ५३१ २. लोगन, पूर्वोक्त, पृ० ५३२-३

३. थार्नटन, पूर्वोक्त, पृ० ११५-८

अध्याय २४

गंजाम का संघर्ष

(१८००-१८०५)

मुगलों के दक्खिन के दो सूबेदारों की सेवा के पुरस्कार के रूप में फ्रांसीसियों को १७५३ में अन्य भूखण्डों के अलावा चीकाकोल सरकार का अंचल भी मिला।[1] चीकाकोल सरकार पाँच उत्तरी सरकारों में से एक थी और वर्तमान गंजाम जिला इसमें शामिल था।

१७५७ में बुसी यहाँ शान्ति-व्यवस्था स्थापित करने आया, पर दूसरे वर्ष ही पाण्डीचेरी के फ्रांसीसी गवर्नर लाली ने उसे मद्रास के घेरे की मदद के लिए बुला भेजा। उसके जाते ही क्लाइव ने बंगाल से कर्नल फोर्ड की अध्यक्षता मे एक सेना दक्षिण भेजी। फोर्ड ने बुसी के उत्तराधिकारी को हरा दिया और मसुलीपट्टम पर जनवरी १७५९में अधिकार कर लिया जो कि फ्रांसीसियों का सदर दफ्तर था। मुगलों का सूबेदार तब अंगरेजों से मिल गया। उसने फोर्ड के साथ सन्धि की और स्वीकार किया कि वह फ्रांसीसियों को भारत के इस हिस्से में बसने न देगा। १७६५ में मुगल सम्राट शाह आलम ने इस संधि की पुष्टि की। १७६६ में सूबेदार के साथ अंगरेजों की एक अन्य सन्धि हुई और सारा उत्तरी सरकार अंचल अंगरेजों के हाथ आ गया।[2]

लेकिन अंगरेजों की अधीनता उत्तरी सरकार के निवासियों ने आसानी से स्वीकार नहीं की। उन्होंने अंगरेजों को मार भगाने की भरसक कोशिश की और गंजाम जिला तो प्राय: ७० साल तक लड़ता रहा। मद्रास प्रेसीडेन्सी के अन्य किसी भी हिस्से ने इतना लम्बा संघर्ष अंगरेजों के खिलाफ नहीं चलाया। भारत के इंपीरियल गजेटियर ने इस सम्बन्ध में लिखा:

> "लेकिन गंजाम ने प्रेसीडेन्सी [मद्रास] के भी क्षेत्र से ज्यादा समय शान्ति कायम करने में लिया और ७० साल से पहले उसे पूर्ण रूप से काबू में नही किया जा सका।"[3]

गंजाम जिले के अधिकांश जमीन्दारों ने अंगरेजों के खिलाफ विद्रोह में हिस्सा लिया। उनके पास ३४ किले और ३२,००० अनियमित सेना थी।[4] उन्होंने अंगरेजों की अधीनता स्वीकार करने से साफ इन्कार किया और एक भी पाई कर उन्हें तब तक न दिया जब तक कंपनी सेना ने उन्हें पराजित कर मजबूर न किया। अंगरेजों ने उनके खिलाफ सेना का इस्तेमाल किया, पानी की तरह रुपया बहाया, पर उसका स्थायी प्रभाव न हुआ। अंगरेजों के विरुद्ध इस संग्राम का एक उदाहरण गुमसुर के जमीन्दार श्रीकर भंज का है।

गुमसुर, गंजाम और विजगापट्टम के बीच एक पहाड़ी अंचल है। इसके जमीन्दार श्रीकर भंज भी अपने को स्वतंत्र समझते थे और अंगरेजों को कर देने से इन्कार करते थे।

---

१. इंपीरियल गजेटियर आफ इंडिया, मद्रास, खण्ड १, पृ० १९७. २. वही, पृ० १९७

३. वही, पृ० १९७ . वही, पृ० १९७

उस वक्त लगान आदि की रैय्यत से वसूली का कम साहूकार और ठेकेदार करते थे। इसलिए सारी जमीन्दारी में प्रायः इनका राज होता था। श्रीकर भंज को यह व्यवस्था पसन्द न थी। इसलिए खीझ कर उन्होंने अपनी जमीन्दारी का काम बेटे धनंजय को सौंपा और स्वयं तीर्थयात्रा करने चले गये। १७९५ में वापस आकर उन्होंने फिर जमीन्दारी संभाली। १७९७ से लेकर १८०० तक उन्होंने कंपनी की सरकार को एक पैसा भी राजम्व नहीं दिया। उन्होंने कहा कि कंपनी सरकार के कलक्टर द्वारा नियुक्त लोगों ने उनके साथ दुर्व्यवहार और जालसाजी की है। ऐसे जालसाजों और दगाबाजों की सरकार को वे एक पैसा भी न देंगे। १८०० में उन्होंने खुलेआम अंगरेजों के खिलाफ विद्रोह का रास्ता अपनाया।[1]

इस वक्त सारे गंजाम जिले में उथल-पुथल मची हुई थी। कलक्टर स्नोडग्रास अपने भ्रष्टाचार, जालसाजी और जोर-जुल्म के लिए बहुत बदनाम हो चुका था।[2] उसके इस आचरण ने विद्रोह की आग भड़काने में बड़ा काम किया। अगस्त १८०० में वह हटा दिया गया और उसकी जगह ब्राउन जिला कलक्टर बन कर आया। उसने आते ही देखा कि सारे गंजाम में विद्रोह की आग जल रही है। गुमसुर के जमीन्दार श्रीकर भंज ने इस विद्रोह को सबसे पहले आरंभ किया। उनका साथ विजयनगर (पेड्डाकिमेदी) के मणिदेव और प्रतापगिरि (चीनाकिमेदी) के जगन्नाथ देव ने, जो गंजाम कारागार से निकल भागे थे, दिया। श्रीकर के पाइकों (सिपाहियों) ने बरहमपुर पर चढ़ाई की। मणिदेव के सैनिक इनका साथ देने जा रहे थे। अगर दोनों की सेनाएँ मिल जातीं और मिल कर बरहमपुर पर आक्रमण करतीं, तो अंगरेज बड़ी मुसीबत में पड़ते। लेकिन लेफ्टिनेन्ट कर्नल स्मिथ ने तेज कदम उठाये। उसने मणि देव की सेना को रास्ते में ही रोक लिया और श्रीकर की सेना से मिलने न दिया।

लेकिन फिर भी जगन्नाथ देव की सेना श्रीकर भंज की सेना से जा मिली थी। इन दोनों की सम्मिलित शक्ति कम खतरनाक न थी। अंगरेजों ने चाल चली। कर्नल मार्ले ने अपनी सेना लेकर गुमसुर पर धावा बोल दिया और ९ मई १८०१ को उस पर कब्जा कर लिया। उसने श्रीकर भंज को बागी घोषित किया और उनको पकड़वाने वाले को १०,००० रु० का पुरस्कार देने की घोषणा की।

श्रीकर भंज ने अन्तिम साँस तक अंगरेजों के खिलाफ लड़ने का निर्णय कर लिया था। इसलिए उन्होंने कोलाइडा में सेना इकट्ठा की और किलेबन्दी की। कर्नल मार्ले ने इस पर चढ़ाई की। भंज की सेना को पराजित कर वह आगे बढ़ा। १४ मई १८०१ को किलेबन्दी तोड़ कर उसने कोलाइडा पर अधिकार कर लिया। विद्रोहियों को वहाँ से हट जाना पड़ा।

अंगरेजों ने अब पुत्र को ही पिता के विरुद्ध खड़ा किया। उन्होंने श्रीकर भंज को

---

१. जार्ज रसेल, रिपोर्ट आन द डिस्टर्बेन्सेज इन द जमीन्दारी आफ गुमुसुर, पृ० ४-५; शशिभूषण चौधरी, सिविल डिस्टर्बेन्सेज इन इंडिया : १७६५-१८५७, पृ० १४६

२. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर गंजाम, पृ० १५३

जमीन्दारी की गद्दी से हटा कर उनके पुत्र धनंजय को अक्तूबर १८०१ में बैठाया। लेकिन फिर भी गंजाम में सर्वत्र अशान्ति फैली रही। विद्रोहियों के आक्रमण जारी रहे। सारी सतर्कता के बावजूद अंगरेज अधिकारी इन आक्रमणों को बन्द करने में असमर्थ रहे। श्रीकर भंज, मणि देव और जगन्नाथ देव को बागी घोषित किया गया।

१८०४ में जगन्नाथ देव दुश्मनों के हाथ पड़ गये। उन्हें कैद कर मसुलीपट्टम भेज दिया गया। लेकिन श्रीकर भंज के साथ अंगरेजों को समझौता करना पड़ा और उनके गुजारे के लिए कुछ जिले देने पड़े। इस तरह यह विद्रोह कुछ समय के लिए शान्त हुआ। १८०७-०८ तक यह व्यवस्था चलती रही, लेकिन उस वर्ष धनंजय ने, जो काफी प्रभावशाली बन गया था, पिता को देश छोड़ जाने को बाध्य किया। श्रीकर भंज फिर तीर्थयात्रा (१८०८-१२) पर चले गये।

अध्याय २५

चेरो विद्रोह

(१८००)

पलामू (बिहार) के चेरो भूस्वामी और किसान हैं। किसी समय गंगा की घाटी में उनका राज था और पलामू पर तो उन्होंने बहुत दिनों तक राज किया। वे अपने को राजपूत कहते हैं। पलामू में वे कैसे आये, इस बारे में कर्नल डालटन ने लिखा :

"बुकानन के अनुसार पुराने चेरो नागवंशी होने का दावा करते थे। उत्तर प्रदेश का गोरखपुर कुछ समय के लिए पुराने चेरों के शासनाधीन था। शाहाबाद के भी बहुत से पुराने स्मारकों का सम्बन्ध उनसे बताया जाता है। बुद्ध गया का एक शिलालेख एक फूलचन्द्र का उल्लेख करता है जिसके बारे में कहा जाता है कि वह चेरो था। पलामू में अंगरेजों के आगमन तक वे अपने आधिपत्य की स्थिति बनाये रहे।"[1]

अपने राज्य के विस्तार में व्यस्त अंगरेज साम्राजियों की गिद्ध-दृष्टि १७०० के लगभग पलामू के दुर्ग पर पड़ी। ईस्ट इंडिया कंपनी की पटना कौंसिल इस निष्कर्ष पर पहुँची कि आसपास के सामन्त सरदारों को अपने वश में रखने के लिए पलामू के दुर्ग पर कब्जा करना आवश्यक है।

दुर्भाग्यवश उसी समय पलामूं में गृहयुद्ध चल पड़ा। जयकृष्ण राय (१७२२-७०) के शासन काल में इस चेरो राजवंश की सत्ता काफी बढ़ी। राँका के सनत सिंह उस वक्त इस राज्य के दीवान थे। किसी कारण राजा और दीवान में अनबन हो गयी और राजा ने बिश्रामपुर के सामन्त परिवार के गजराज को सनत सिंह का सर काट लाने के लिए कहा। गजराज राँका गया और बातचीत के दौरान धोके से सनत सिंह का सर काट लाया। सनत सिंह की इस हत्या से आस-पास के राजपूत सामन्त (ठकुराई) आगबबूला हो गये। उन्होंने सेना इकट्ठा कर राजा जयकृष्ण राय पर चढ़ाई की। इस युद्ध में राजा मारा गया।[2]

जयकृष्ण के पुत्र छत्रपति राय अपने दो पुत्र गोपाल राय और करुणा राय तथा गजराज और अपने चचेरे भाई सुगन्ध राय के साथ शेरघाटी की तरफ भागे। उन्होंने अखौरी उदयन्त राय नामक कानूनगो के यहाँ शरण ली।

दीवान सनत सिंह के भतीजे जगन्नाथ सिंह ने छत्रपति राय को राजा बनाया और स्वयं दीवान बने। लेकिन उधर कानूनगो ने अपना कुचक्र चलाया। वह गोपाल राय को लेकर पटना गया और अंगरेजों की मदद से उसे राजा बनाने की चेष्टा करने लगा।

१. बिहार डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, पलामू, १९६१, पृ० ११७ २. वही, पृ० ५६

अंगरेज साम्राजियों को इससे बढ़ कर अवसर क्या मिलता ? उन्होंने छत्रपति राय और जगन्नाथ सिंह को पलामू का दुर्ग अपने हाथ में सौंप देने का हुक्म दिया। जगन्नाथ सिंह इसके लिए तैयार न हुए। इसलिए दिसम्बर १७७० में पटना कौंसिल ने कंपनी की सेना को इस दुर्ग पर हमला करने का हुक्म दिया। कंपनी सरकार ने साथ ही कूटनीति का दाव फेंका। उसने कहा कि वह छत्रपति राय को पलामू का राजा मान लेने और दस साल तक इस रियासत का राजस्व सिर्फ ५००० रुपया बनाये रखने को तैयार है, बशर्ते कि पलामू का किला उसके हाथ सौंप दिया जाय। यह प्रस्ताव ठुकरा दिये जाने पर कंपनी बलप्रयोग पर उतर आयी।

इस रियासत के जमीन्दार पलामू पर अंगरेजों का अधिकार न चाहते थे। इसलिए कोई अंगरेजों की मदद करने न गया। बड़ी कठिन लड़ाई के बाद २० फरवरी १७७१ को इस दुर्ग पर अंगरेजों का कब्जा हो गया। इसके बाद प्रायः चार महीने तक अंगरेजों के खिलाफ छापामार युद्ध चलाया गया, पर आखिर में विजय लक्ष्मी साम्राजियों के ही हाथ रही। अंगरेजों ने अब गोपाल राय को राजा बनाया और ५,००० रु० सालाना की जगह १२,००० रुपए सालाना राजस्व इस रियासत पर लाद दिया।[1]

१७७३ में विद्रोही सामन्त-सरदारों ने गोपाल राय को अपने पक्ष में मिला लिया और कानूनगो उदयन्त राय को मार दिया। अंगरेजों ने गोपाल राय को गिरफ्तार कर पटना जेल में डाल दिया, जहाँ १७८४ में उनकी मृत्यु हो गयी।[2]

पलामू की गद्दी को लेकर फिर झगड़ा चला। अंगरेजों ने गोपाल राय के तीसरे भाई बसन्त राय को राजा बनाया। लेकिन १७८३ में १७ वर्ष की उम्र में उसके मर जाने पर उसका सौतेला भाई चूड़ामन राय राजा हुआ। १७९३ में वह बालिग हुआ। राज काज संभालते ही उसने जागीरदारों की जागीरें हजम करने की चेष्टा की। बड़े-बड़े जागीरदारों का तो वह कुछ न बिगाड़ सका, लेकिन कितने ही छोटे और साधारण स्थिति के जागीरदारों की जागीरें उसने छीन लीं।

जागीरदारों को अपनी सैनिक सेवा के बदले में जागीरें मिली थीं। अब पलामू में कंपनी की सेना रहती थी, इसलिए राजा को जागीरदारों की सेवा की कोई जरूरत न थी। अंगरेज महाप्रभु के रहते इन देशी भाइयों की क्या जरूरत ? राजा की इस नीति के कारण चेरो लोगों की बहुत सी जागीरें उनके हाथ से निकल गयीं। उनकी ये जागीरें बकाया राजस्व के नाम पर बेची भी गयीं।

कंपनी सरकार के पूर्ण समर्थन से चलने वाली राजा की इस नीति के खिलाफ चेरो लोगों के असन्तोष ने १८०० में खुले विद्रोह का रूप धारण किया। इतिहास में यह चेरो विद्रोह के नाम से मशहूर है।

भूषण सिंह के, जो स्वयं एक चेरो थे, नेतृत्व में सारी पलामू रियासत के लोगों ने विद्रोह का झण्डा बुलन्द किया। राजा और उसके कर्मचारियों में इसे दबाने की ताकत न थी। इसके दमन के लिए फौरन अंगरेज सेना बुलायी गयी। कर्नल जोन्स दो

---

१. वही, पृ० ६२ २. वही, पृ० ६३

बटालियन सेना लेकर इसका दमन करने गया। दो साल तक वह पलामू और सरगूजा में विद्रोह दबाने के लिए बना रहा। सरगूजा वाले विद्रोहियों को सक्रिय सहायता दे रहे थे।[१]

आखिर में भूषण सिंह पकड़े गये और १८०२ में उन्हें फांसी दे दी गयी।[२] उनकी मृत्यु के बाद भी विद्रोही अंगरेजों से लड़ते रहे। लेफ्टिनेन्ट हिगाट को अपनी सेना के साथ बेलौंजा में काफी दिन तक डटे रहना पड़ा। दो साल के बाद यह विद्रोह दबाया जा सका।

१. वही, पृ० ६६   २. वही, पृ० ६६

अध्याय २६

पाड़यगारों का संग्राम

(१८०१-०५)

अर्काट के नवाब ने १७८१ में तिनेवली (तिरुनेलवेली) और कर्नाटक के प्रान्तों की मालगुजारी की व्यवस्था ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ सौंप दी इस शर्त पर कि मालगुजारी का छठां हिस्सा नवाब को निजी इस्तेमाल के लिए दिया जायगा। दक्षिण के पाड़यगार (किलेदार) युगों से स्वाधीन चले आ रहे थे। वे अपनी स्वाधीनता फिरंगियों को सौंपने को तैयार न हुए। उन्होंने जगह-जगह इन विदेशी शासकों का मुकाबिला किया।

तिनेवेली जिले के पांजालन कुरिची के पाड़यगार ने अंगरेजों की सेना का डट कर मुकाबिला किया। १२ अगस्त १७८३ को कर्नल फुलार्टन ने उन पर हमला किया तो खूंखार युद्ध हुआ। लेकिन आखिर में अंगरेजों ने किले पर कब्जा कर लिया। बहुत सी बन्दूकें और लड़ाई का सामान उनके हाथ लगा। इसके बाद फुलार्टन ने शिवगिरि के पाड़यगार पर हमला किया और उनके किले पर भी कब्जा कर लिया।[1]

इस शुरुआत को अशुभ-सूचक समझ कंपनी ने १७८५ में मालगुजारी की वसूली का काम नवाब को वापस सौंप दिया। किन्तु नवाब एक पैसा भी इकट्ठा न कर सका और धमकी के बावजूद वह ईस्ट इंडिया कंपनी को पैसा न दे सका। ऐसी हालत में कंपनी ने १७९० में एक घोषणा के जरिए इन प्रान्तों की व्यवस्था अपने हाथ में ले ली और मालगुजारी की व्यवस्था के लिए एक बोर्ड बैठाया। १७९२ में नवाब के साथ संधि के जरिए मद्रास सरकार ने पाड़यगारों से बकाया मालगुजारी वसूल करने की जिम्मेदारी ली। नाम के लिए अंगरेज अब भी नवाब को यहाँ का राजा मानते थे, लेकिन सारी व्यवस्था उनके हाथ में थी। पाड़यगारों ने इन नये शासकों के खिलाफ पूरे जोर से विद्रोह का झण्डा उठाया।

इस विद्रोह में पांजालन कुरिची के पाड़यगार की भूमिका बहुत बड़ी थी। वे विद्रोहियों के नेता थे। १७९५ में रामनाड में जब विद्रोह शुरू हुआ तो वे उसमें शामिल होने वाले पहले पाड़यगार थे। १७९७ में रामनाड सदर में बगावत आरंभ होने पर पांजालन कुरिची के पाड़यगार कट्टबोम नायक्कन ने लेफ्टिनेन्ट क्लार्क को मार डाला।[2] इसलिए १७९९ में मेजर बैनरमैन के नेतृत्व में अंगरेज शासकों की सेना ने पांजालन कुरिची पर चढ़ाई की। बैनरमैन को सफलता मिली, लेकिन चार यूरोपीय अफसर मारे गये। दुर्ग पर अंगरेजों का कब्जा हो गया। जो भी विद्रोही अंगरेजों के हाथ

---

१. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर तिनेवेली, पृ० ७७-७८ ; शशिभूषण चौधरी, वही, पृ० १२५

२. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर तिनेवेली, पृ० ७६

पड़े, मारे गये। कट्टबोम नायक्कन भाग कर पुडुक्कोट्टाई चले गये, लेकिन बाद में वे पकड़े गये और उन्हें सरे बाजार फांसी दी गयी, ताकि विद्रोही डर कर फिर सर न उठायें।

पाड़ियगारों पर फिरंगियों के जुल्म बढ़ गये। जो विद्रोह में शामिल हुए थे, उनकी जायदाद जब्त कर ली गयी। कुछ को पकड़ कर फांसी पर लटका दिया गया और बहुतों को जेल में डाल दिया गया। फिरंगियों ने फरमान जारी किया कि पाड़ियगारों के सारे किले ढहा दिये जायँ, बन्दूक, भाले, बरछे सब छीन लिये जायँ। जो पाड़ियगार इन्हें अंगरेज अधिकारी के पास जमा न करे, उसे मृत्यु दण्ड दे दिया जाय। फिरंगी शासकों ने इसे सख्ती से लागू किया। लन्दन में बैठे ईस्ट इंडिया कंपनी के कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स ने मद्रास के किले सेन्ट जार्ज के गवर्नर के पास १७ अगस्त १८०३ को पत्र लिख कर इस में उसकी कामयाबी की तारीफ की।[1]

लेकिन पाड़ियगारों के अन्दर सुलगते असंतोष ने खुले विद्रोह का रूप धारण किया। दरअसल तिनेवेली के पाड़ियगारों का विद्रोह दक्षिण भारत के विभिन्न हिस्सों में अंगरेजों के खिलाफ फैले विद्रोह का हिस्सा था। ब्रिटिश पार्लमेन्ट की पाँचवी रिपोर्ट में साफ स्वीकार किया गया कि १८०१ में दक्षिण के पड़्यमों (पड़ावों या छावनियों) में फैले विद्रोह का सम्बन्ध उसी समय डिंडिगुल और मालाबार के अंचलों में फैले विद्रोह के साथ था।[2]

२ फरवरी १८०१ को पालमकोट के किले में कैद पाड्यगार फाटक के पहरेदारों को परास्त कर भाग निकले। ३० मील पैदल चल कर वे पांजालन कुरिची जा पहुँचे। मेजर मेकाले ने एक टुकड़ी लेकर चढ़ाई की। ९ फरवरी १८०१ को पांजालन कुरिची पहुँचने पर उसने देखा कि किले की रक्षा सैकड़ों हथियारबन्द पाड़ियगार कर रहे हैं। चूँकि उसके पास किले की दीवारें तोड़ने के लिए तोपें न थीं, इसलिए उसने किले पर आक्रमण करने का विचार छोड़ दिया। विद्रोहियों की संख्या करीब पाँच हजार देख उसे वापस भाग कर पालमकोट जाना पड़ा।

विद्रोही पाड़ियगारों ने जगह-जगह धावा बोलना शुरू किया। एक एक कर उस अंचल के प्रायः सभी किलों पर उनका कब्जा हो गया। ट्यूटिकोरिन उनके हाथ आ गया।

फिरंगियों की नयी पल्टन २७ मार्च १८०१ को कयत्तार पहुँची। उन्होंने सारी सेना लेकर फिर विद्रोहियों के गढ़ पांजालन कुरिची पर चढ़ाई की। दो दिन बाद वे इस गढ़ के पास जा पहुँचे। तोपों से गोलाबारी कर उत्तर-पश्चिम की दीवार तोड़ी गयी और फिर सारी सेना को धावा बोल देने का हुक्म हुआ। लेकिन जो भी आदमी किले की दीवार की चोटी पर पहुँचा, विद्रोहियों के भालों, बरछों और बन्दूकों के घाव खाकर नीचे आ गिरा। फिरंगियों की सेना एक इंच आगे न बढ़ सकी।[3] इस चढ़ाई में स्टाफ अफसर की हैसियत से हिस्सा लेनेवाले कैप्टेन वेलश ने इसका सजीव वर्णन किया है।

---

१. इन्टरसेप्टेड कारेस्पोंडेन्स, पृ० ११ ; शशिभूषण चौधरी, वही, पृ० १२६
२. फिफ्थ रिपोर्ट, पृ० १४७ ; शशिभूषण चौधरी, वही, पृ० १२७
३. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, तिनेवेली, पृ० ८१

आखिर में फिरंगी सेना को बहुत नुकसान उठा कर भागना पड़ा। विद्रोहियों ने किले से निकल कर भागती सेना का पीछा किया और जिसे पाया काट कर रख दिया। अंगरेजों की इस पराजय से ब्रिटेन में बड़ी हलचल मची।

अंगरेजों ने फिर आसपास से सेना जमा की। जगह-जगह से हिन्दुस्तानी और यूरोपीय सैनिक लाये गये। लेफ्टिनेन्ट कर्नल एगन्यू शक्तिशाली तोपखाना लेकर मालाबार से आया। दो तोपखानों ने प्रचण्ड गोलाबारी कर दक्षिण-पश्चिम की दीवार तोड़ दी। गोलाबारी की आड़ में अंगरेज सेना आगे बढ़ी। दीवार पर चढ़ कर उसने हथगोलों से काम लिया और फाटक खोल दिया। लगभग ६०० विद्रोही मारे गये। अंगरेजों ने पांजालन कुरिची का किला ढहा दिया। उसे जोतवा कर वहाँ सरसों बो दिये। जिले के रजिस्टर से इस स्थान का नाम भी उड़ा दिया।[1]

इसके बाद पाड़यगार बिल्कुल निरस्त्र कर दिये गये। उनके हथियार खोज खोज कर छीन लिये गये। हथियारों के बनाने पर रोक लगा दी गयी। कितने ही पाड़यगारों को मृत्यु दण्ड दिया गया। कितनों ही की जागीरें छीन ली गयीं।

इसी बीच अंगरेजों से ३१ जुलाई १८०१ को संधि कर अर्काट के नवाब ने कर्नाटक की सारी भूमि और उसके अधीन रियासतों की शासन व्यवस्था अंगरेजों के हाथ सौंप दी।

उधर निजाम ने कई जिले अंगरेजों को सौंप दिये थे। इन जिलों में भी पाड़यगार थे। यहाँ के भी पाड़यगारों ने विदेशी शासकों के खिलाफ बार बार सर उठाया। इन जिलों का प्रशासक बन कर आते ही मुनरो ने पाड़यगारों का दमन करने के लिए उन पर मालगुजारी (पेशकश) सबसे ज्यादा बढ़ा दी। इतनी मालगुजारी पाड़यगारों ने न तो निजाम को दी थी न अन्य किसी को। इस बढ़ी मालगुजारी को वसूल करने के लिए पुलिस और फौज के इस्तेमाल की भी धमकी दी गयी।

इतना दबाये जाने पर भी पाड़यगारों के अन्दर बदले की आग सुलगती रही। तारनीकल्लू की १८०१ की घटना इसका प्रमाण है। अड़ोनी परगने के इस गाँव के मुखिया पर गबन का इल्जाम लगाया गया, तो वह भाग निकला। उसने विद्रोहियों के साथ एक किले पर अधिकार कर लिया। डगाल्ड कैम्पबेल कंपनी के सिपाही लेकर उसे पकड़ने गया, तो उसे मार भगाया गया। दूसरी भिड़न्त में कंपनी के ६ अंगरेज अफसर और १४ सैनिक मारे गये तथा २२८ सिपाही घायल हुए। तोपें लाकर इस किले की दीवारें तोड़ी गयीं, तब कहीं उस पर कब्जा किया जा सका। विद्रोही मुखिया को फांसी दी गयी।

१७ अगस्त १८०३ का कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स द्वारा लन्दन से भेजा गया पत्र सूचित करता है कि उस वक्त भी हथियारबन्द पाड़यगार कंपनी के लिए चिन्ता का विषय बने हुए थे। सर जान माल्कम मांग कर रहा था कि पाड़यगारों को दबाने के लिए शक्तिशाली सेना भेजी जाय।

---

१. वही, पृ० ८५

मुनरो का २६ जून १८०४ का पत्र बताता है कि एक पेंशनयाफ्ता पाड़यगार ने बेलारी के किले पर अधिकार करने की कोशिश की थी।[1] इसका उद्देश्य आड़ोनी पर अधिकार करना और वहाँ के भूतपूर्व जमीन्दार के बेटे कुदरतुल्ला खाँ को वहाँ का स्वामी बनाना था। यह चेष्टा सफल न हो सकी।

मुनरो को पाड़यगारों के विद्रोह का दमन करने में लोहे के चने चबाने पड़े। उनकी वजह से वह मालगुजारी वसूल नहीं कर पाता था। इसलिए उसने फरमान जारी किया कि जो भी पाड़यगार हथियारबन्द सिपाही रखेगा या किले की रक्षा की व्यवस्था करेगा, उसे दण्ड दिया जायगा। जो पाड़यगार यह हुक्म न मानेगा, उसे विद्रोही समझा जायगा और उसके साथ वैसा ही व्यवहार किया जायगा।

१८०१ में वेलेस्ली ने नवाब के हाथ से कर्नाटक का प्रशासन संभाला। संभालते ही उसे खासकर चित्तूर और चन्द्रगिरि के पाड़यगारों का सामना करना पड़ा। स्ट्रैटन उत्तर अर्काट का पहला कलक्टर नियुक्त किया गया। उसने सब जिलों की पुलिस व्यवस्था अपने हाथ में ली और पाड़यगारों का 'कवाली' कर वसूल करने का अधिकार छीन लिया। इससे नाराज होकर पाड़यगारों ने चारों तरफ मार काट आरंभ कर दी। १८०३ में नरगन्ती के पाड़यगार के आदमियों ने उत्तनतंगल गाँव लूट लिया और कंपनी का खजाना लूटने की योजना बनायी। उन्होंने कैप्टेन नटाल पर हमला किया।

पाड़यगारों का दमन करने के लिए कंपनी सरकार ने लेफ्टिनेन्ट कर्नल डार्ले के मातहत एक बटालियन चित्तूर भेजी। स्ट्रैटन ने हुक्म जारी किया कि सब पाड़यगार हथियार डाल दें और बाकी मालगुजारी दे दें। लेकिन एक पाड़यगार भी आत्मसमर्पण करने नहीं आया। २५ जुलाई १८०४ को डार्ले ने पेन्नामारी के किले पर चढ़ाई की। उसके पाड़यगार ने आत्मसमर्पण का दिखावा किया, लेकिन रात को वह अपने ८००-१००० आदमियों को लेकर चलता बना। डार्ले ने अपना गुस्सा किले को ध्वंस कर उतारा।

इसके बाद कलेक्टर स्ट्रैटन के हुक्म से डार्ले अपनी बटालियन के साथ कल्लूर, पुली-चेरला, बाँगड़ी, येदरगुन्ता, पुल्लूर और तुम्बा की जागीरों पर कब्जा करने चला। इन सबके किलों को उसने ढा दिया। पुल्लूर का किला हाथ से निकल जाने से पाड़य-गारों में निराशा छा गयी; क्योंकि उत्तर अर्काट का यह उनका सबसे मजबूत किला था। वे अब अपने जत्थे लेकर जंगल में चले गये और वहाँ से अंगरेजों को हैरान करते रहे। कंपनी के सिपाहियों के छोटे दस्ते उनका दमन करने में असमर्थ थे।

दमन में अधिक सफलता प्राप्त न होते देख आखिर में कंपनी सरकार ने अपनी नीति बदली और पाड़यगारों से समझौते की नीति अपनायी। इसके लिए २२ सितम्बर १८०४ को उसने एक कमीशन नियुक्त किया और पाड़यगारों का दमन करना बन्द कर दिया, लेकिन इसका कोई फल न निकला। पाड़यगारों ने कंपनी के समझौते के प्रस्ताव पर कोई ध्यान न दिया, वे कम्पनी सरकार को परेशान करते रहे।

---

१. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर बेलारी, पृ० ४९-५०।

इस बार अंगरेजों ने लेफ्टिनेन्ट कर्नल मनीपेनी के नेतृत्व में ३,००० सैनिक विद्रोह का दमन करने भेजा। दो-चार पाड़यगारों ने आत्मसमर्पण किया, लेकिन अधिकांश लड़ते रहे। वे दिन में पहाड़ियों में चले जाते और रात को अंगरेजी सेना और अंगरेज परस्तों पर आ टूटते। इन हमलों में येदरगुन्ता के पाड़यगार सबसे ज्यादा साहसी साबित हुए। इनके साथ चरगुल्ला के पाड़यगार आ मिले जो कृष्णगिरि किले में विद्रोह के अपराध में कैद थे। जेल से भाग कर चरगुल्ला के पाड़यगार ने येदरगुन्ता के आदमियों को लेकर पेड्डानाइडी दुर्ग पर कब्जा कर लिया। मनीपेनी अपनी सेना और मैसूर से आयी नयी सेना लेकर चढ़ आया। विद्रोहियों ने बहादुरी के साथ मुकाबिला किया, लेकिन हार कर हटना पड़ा। दुर्ग पर अंगरेजों का कब्जा हो गया। ८ फरवरी १८०५ तक विद्रोह पूरी तरह दब गया। पकाला, मोगराला, पुल्लूर और येदरगुन्ता की जागीरें जब्त कर ली गयीं।

पाड़यगारों का यह विद्रोह दक्षिण भारत का अंगरेजों के विरुद्ध सबसे बड़ा सशस्त्र विद्रोह था। अगर १८५७ का महाविद्रोह और पाड़यगार विद्रोह एक साथ होते तो भारत से अंगरेजों की हुकूमत कभी उखाड़ फेंकी गयी होती।

अध्याय २७

दक्षिण भारत का सिपाही विद्रोह

(१८०६)

दक्षिण भारत के किलेदारों (पाड़यगारों) के विद्रोह (१८०१-०५) के बारे में लिखते समय हम कह आये हैं कि इसकी तुलना उत्तर भारत के १८५७ के विद्रोह के साथ की जा सकती है, लेकिन यह कंपनी की सेना के सिपाहियों का विद्रोह न था। पाड़यगार और उनके सिपाही देशी राजाओं और नवाबों के अधीन थे। इन राजाओं और नवाबों के अंगरेजों की अधीनता स्वीकार कर लेने पर भी उन्होंने अपने किले इन नये मालिकों को देने से इन्कार कर दिया था। भयंकर युद्ध कर इन किलेदारों और उनके साथी सैनिकों ने कंपनी सरकार के दाँत खट्टे कर दिये थे। दक्षिण में कंपनी के सिपाहियों का विद्रोह तो दरअस्ल १८०६ में हुआ, जिसमें सबसे प्रमुख वेलोर का विद्रोह था।

लेकिन इस विद्रोह के बारे में कुछ कहने के पहले कंपनी की देशी सेना के इतिहास और १८०६ के पहले हुए सिपाही विद्रोहों पर जरा नजर डाल ली जाय।

अंगरेज सौदागरों ने देशी सेना का गठन पहले पहल दक्षिण भारत में किया, जब उस पर अधिकार के लिए फ्रांसीसियों और अंगरेजों के बीच लड़ाई चल रही थी। उत्तर भारत में सबसे पहले कंपनी की देशी सेना १७५७ में पलासी युद्ध के समय बनी। इतिहास-प्रसिद्ध बंगाल आर्मी की यहीं शुरूआत थी[1] जिसने १८५७ के राष्ट्रीय महाविद्रोह में प्रधान भूमिका ग्रहण की थी।

इस बंगाल आर्मी को बने सात ही साल हुए थे, कि उसमें पहला विद्रोह देखा गया। इस विद्रोह को आरंभ करनेवाले इस सेना के गोरे सैनिक थे। अपने वादे के मुताबिक मीरजाफर ने बंगाल आर्मी को मोटा अनुदान दिया था, लेकिन वह रास्ते में ही रुक गया था। गोरे सिपाहियों ने विद्रोह कर कंपनी को यह रकम सैनिकों में बाटने को बाध्य किया। देशी सिपाहियों ने देखा कि अगर वे चुप रहते हैं तो उन्हें इस रकम से कानी कौड़ी भी न दी जायगी। इसलिए उन्होंने अब विद्रोह किया और अपने हिस्से की मांग की। कंपनी सरकार को झुकना पड़ा। हर गोरे सिपाही को ४०-४० रुपए और हर हिन्दुस्तानी सिपाही को ६-६ रुपए दिये गये। बाद में हिन्दुस्तानी सिपाहियों का हिस्सा बढ़ाकर २०-२० रुपया कर दिया गया। एक ही युद्ध में समान-समान हिस्सा लेने पर भी हिन्दुस्तानी सिपाहियों को गोरे सिपाहियों का आधा या उससे कम दिया जाना सूचित करता है कि किस तरह कंपनी सरकार गोरे सिपाहियों और देशी सिपाहियों के बीच भेदभाव बरतती थी।

---

१. सर जान विलियम के, हिस्ट्री आफ सेपाय वार इन इंडिया, खण्ड १, १८६४ का संस्करण, पृ० २०५-६

इस मामले के हल हो जाने के बावजूद विद्रोह की भावना दबी नहीं। उसी साल (१७६४) के ही अन्त में बंगाल आर्मी की कुछ पलटनों ने बगावत की। एक बटालियन ने अपने अंगरेज अफसरों को घेर कर कैद कर लिया और शपथ ली कि अब कंपनी की नौकरी न करेंगे।[१]

इस बार कंपनी सरकार ने बड़ी सख्ती से काम लिया। २४ सिपाहियों पर छपरा में फौजी अदालत में मामला चला। उन पर बगावत और फौज छोड़कर चले जाने के अभियोग थे। उन्हें तोप के मुँह से बाँध कर उड़ा देने का मृत्युदण्ड दिया गया।

निश्चित दिन गोरी और देशी पलटनें परेड के मैदान में मृत्युदण्ड का दृश्य देखने को जमा की गयीं। बंगाल आर्मी के प्रधान मेजर हेक्टर-मुनरो के हुक्म से मृत्युदण्ड प्राप्त सिपाहियों में से चार तोपों के मुँह से बाँधे गये। लेकिन तभी चार लंबे-चौड़े बहादुर ग्रेनेडियर दण्ड प्राप्त सिपाहियों की कतार से आगे आये और अनुरोध किया कि जैसे सेना में उनका पद सबसे ज्यादा सम्माननीय रहा है, वैसे ही मृत्यु के वक्त भी उन्हें पहला स्थान दिया जाय; पहले उन्हें तोप से उड़ाया जाय। उनका अनुरोध स्वीकार किया गया और पहले उन्हें मृत्युदण्ड दिया गया।

लेकिन उनके उड़ाये जाते ही देशी सिपाहियों के तेवर बदल गये। उस वक्त छपरा में गोरे सैनिकों से कहीं ज्यादा हिन्दुस्तानी सैनिक थे। लगने लगा कि देशी सिपाही हमला बोल देंगे और अपने साथियों को छुड़ा लेंगे। अंगरेज अफसरों ने देशी सिपाहियों का यह रुख देखा तो दौड़े-दौड़े सामने की कतार में पहुँचे और मुनरो को सूचित किया कि देशी सिपाहियों का विश्वास नहीं किया जा सकता। हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने निश्चय कर लिया है कि वे अन्य सिपाहियों को मृत्युदण्ड देने न देंगे।

यह सुनते ही मुनरो ने फौरन कदम उठाये। उसके गोरे सैनिकों को तोपखाने के इर्दगिर्द जमा किया, उनकी बन्दूकों और तोपों में गोली-गोले भरवा दिये। इस तैयारी के बाद उसने हिन्दुस्तानी सैनिकों को हथियार डालने और पीछे हटने का हुक्म दिया। तोपों और गोरों की बन्दूकों को अपनी तरफ तना देख सिपाहियों ने इस आज्ञा का पालन किया। मुनरो के हुक्म से अंगरेज सैनिक देशी पलटनों और जमीन में पड़े उनके हथियारों के बीच आ खड़े हुए। इस तरह देशी सिपाहियों से हथियार छीनकर दण्ड प्राप्त १६ और सिपाहियों को तोप से उड़ाया गया।[२]

चार को बचा रखा गया ताकि अन्य छावनी में ले जाकर उन्हें तोप से उड़ाया जाय और इस तरह हिन्दुस्तानी सिपाहियों के अन्दर आतंक पैदा किया जाय। प्रायः उसी समय बैरकपुर (कलकत्ता) की छावनी में छः हिन्दुस्तानी सिपाहियों पर फौजी अदालत में मुकदमा चला और उन्हें भी तोप से उड़ा दिया गया।[३]

इस घटना के बाद ४०-४२ साल तक देशी पलटनों के विद्रोह के प्रमाण नहीं मिलते। १७६६ में बंगाल आर्मी में फिर बगावत हुई थी, लेकिन वह भत्ता बन्द किये जाने के खिलाफ यूरोपीय अफसरों का विद्रोह था। कंपनी सरकार ने गोरे अफसरों का वह विद्रोह

१. के, वही, पृ० २०६-७ २. के, वही, पृ० २०८ ३. के, वही, पृ० २०८

देशी सिपाहियों के बल से दबा दिया था। इस घटना के बाद से क्लाइव और कंपनी सरकार के अन्य अधिकारियों की नजर में देशी पलटनों का महत्व बढ़ गया था। अपनी गरज के लिए वे इन पलटनों की बड़ी खातिर करने लगे।

किन्तु उन्नीसवीं सदी के आरम्भ तक हालत बदल गयी। कंपनी सरकार ने अब जैसा बर्ताव करना आरम्भ किया, उससे हिन्दुस्तानी पलटनों का असन्तोष खासकर दक्षिण भारत में बढ़ गया। रात में उनकी सभाएँ होने लगीं; इनमें वे अपनी शिकायतों के प्रतिकार के उपायों पर विचार करने लगे।

इन सिपाहियों की शिकायतें क्या थीं? उनकी शिकायतें थीं कि उन्हें तरक्की ज्यादा से ज्यादा सूबेदार के पद तक ही दी जाती, आगे नहीं। ऊँचे पदों पर सब गोरे नियुक्त किये जाते। देशी अफसरों को क्रमशः ऊँचे पदों से हटाया जा रहा था। हर हिन्दुस्तानी सैनिक अपने से ऊँचे ओहदे के गोरे सैनिक को सलाम करता, लेकिन गोरे सैनिक हिन्दुस्तानी अफसरों को भी सलाम न करते। एक अंगरेज सर्जेन्ट भी बड़े से बड़े हिन्दुस्तानी अफसर पर हुक्म चलाता। परेड में अंगरेज अफसर गलतियाँ करते, गलत हुक्म देते, लेकिन वे अपनी गल्ती स्वीकार न कर सारा दोष हिन्दुस्तानी सिपाहियों के मत्थे मढ़ देते और उन्हें गालियाँ देते। फौज में नौकरी करते-करते जिन देशी अफसरों के बाल सफेद हो गये थे, अंगरेज छोकड़े उन्हें भी खुलेआम गाली देते।

इन देशी सिपाहियों को दूर-दूर तक लड़ने के लिए ले जाया जाता। वहाँ वे मारे जाते, लेकिन उनके बाल-बच्चों की परवरिश का कोई इन्तजाम न होता। अनाथ होकर उन्हें भीख मांगने तक को बाध्य होना पड़ता। जब वे किसी देशी राजा या नवाब के यहाँ नौकरी करते थे, तो बहादुरी के लिए उन्हें इनाम और जागीर दी जाती थी, लेकिन कंपनी की सरकार उन्हें सिर्फ मीठी बातें देती थी। अंगरेजों की रखेलों को भी देशी अफसरों से ज्यादा और उनके साईसों तथा घसियारों को देशी सिपाहियों से ज्यादा वेतन मिलता। किसी भी लड़ाई में लूट का माल अंगरेजों का होता। अंगरेज अफसर देश की सबसे सुन्दर औरतें अपने जनानखाने में लाकर रख सकते थे, लेकिन देशी अफसर गुलाम लड़कियों की तरफ भी नजर उठाकर देखने की हिम्मत न करते। इसके बाद घायलों के प्रति अंगरेज अधिकारियों का व्यवहार था। सिपाहियों में जोर-शोर से प्रचार था कि जनरल आर्थर वेलेस्ली ने हुक्म दिया है कि घायल देशी सिपाहियों को गोली मारकर खत्म कर दो[१], उन्हें नाहक का बोझ मत बनाओ।

सिपाहियों की इन शिकायतों के बीच वर्दी, हजामत आदि के बारे में फौज में नये हुक्म जारी हुए थे। हुक्म हुआ था कि परेड आदि के समय कोई भी सिपाही अपने माथे पर तिलक नहीं लगा सकता, कान में आभूषण नहीं पहन सकता। उसे खास किस्म की हजामत करानी होगी और खास किस्म की वर्दी पहननी होगी। इससे हिन्दुस्तानी सिपाहियों में विश्वास फैला कि अंगरेज सभी को ईसाई बनाने पर तुले हैं, उनका धर्म नष्ट कर देना चाहते हैं। इन सबके कारण विभिन्न धर्मों और जातियों के हिन्दुस्तानी

---

१. वे, वही, पृ० १२१-२२

सिपाही अंगरेज शासकों के खिलाफ एक मोर्चे पर आ खड़े हुए। अंगरेज इतिहासकार के ने लिखा :

"सामान्य खतरे की भावना से विचलित और सामान्य आशा से प्रेरित होकर विभिन्न जातियाँ अपने मतभेद भूल गयीं और सामान्य शत्रु के विरुद्ध ऐक्यबद्ध होगयीं।"[१]

इन असन्तुष्ट देशी सिपाहियों ने सारे दक्षिण भारत की छावनियों में अपने को संगठित करना आरंभ किया। रात की सभाओं के अलावा दीवारों पर पोस्टर लगाये जाते ; फकीर, कठपुतलियों का नाच दिखानेवाले छावनियों में जा-जाकर सिपाहियों को अंगरेजों के खिलाफ भड़काते। इतिहासकार के शब्दों में सुनिए ;

"अदृश्य हाथ विभिन्न पत्र लिखकर गिरा देते और दीवारों पर विभिन्न पोस्टर चिपकाये जाते। कर्नाटक और दक्खिन की सभी छावनियों में बेचैनी फैली हुई थी कि कुछ होने जा रहा है। बहुत से लक्षण बता रहे थे कि आक्रमण का अवसर आगया है. . ।"[२]

उस समय टीपू सुल्तान का परिवार वेलोर के किले में नजरबन्द था। उनके शाहजादे सिपाहियों के इस असंतोष को बढ़ाने और उन्हें अंगरेजों के खिलाफ खड़ा करने की पूरी चेष्टा कर रहे थे। सिपाहियों को भी एक लक्ष्य और एक नेता की आवश्यकता थी, टीपू का परिवार उन्हें नेता के रूप में दीख पड़ने लगा। वेलोर के देशी सिपाहियों ने कंपनी सरकार को खत्म कर हैदर अली और टीपू के वंश का राज्य स्थापित करना अपना लक्ष्य निर्धारित किया।

७ मई, १८०६ को वेलोर की एक बटालियन खुली बगावत कर बैठी। अवश्य ही हथियारों के इस्तेमाल की नौबत न आयी। इसलिए अंगरेज अधिकारियों ने उस बटालियन को वेलोर से हटाकर मद्रास भेज दिया और फौजी अदालत ने उसके दो नेताओं को बेंत मारने की सजा दी।

देखने में बगावत दब गयी, लेकिन विद्रोह की आग पुरजोर अन्दर ही अन्दर सुलगती रही। और यह आग सिर्फ वेलोर के किले तक ही सीमित न थी। इतिहासकार के ने इस सम्बन्ध में लिखा है :

"और न यह केवल स्थानीय महामारी थी। कर्नाटक की अन्य छावनियों में भी इसी तरह की सरगरमी फैली हुई थी। लाइनों में आधी रात को सभाएँ होतीं। बातों को गुप्त रखने की सौगन्ध सिपाहियों से ली जाती। धमकी दी जाती कि जो भी उनके साथ गद्दारी करने की हिम्मत करेगा, उससे भयंकर से भयंकर प्रतिशोध लिया जायगा। देशी अफसर नेतृत्व करते, सिपाही उनका अनुकरण करते।"[३]

जो छोटे-छोटे अंगरेज अफसर सिपाहियों की लाइनों के पास रहते, क्या वे इस असन्तोष की बात न जानते थे? अधिकांश न जानते थे, लेकिन जो जानते थे, वे चुप रहना ही उचित समझते थे। उच्च अधिकारी सेना में किसी तरह के असन्तोष या खतरे की बात पर विश्वास करने को तैयार न थे। अगर ये अफसर वास्तविकता की सूचना उच्च अधिकारियों को देते, तो उल्टे अपनी ही फजीहत का उन्हें डर था।[४]

१. के, वही, पृ०२१६ २. के, वही, पृ०२२०-२१ ३. के, वही, पृ० २२४-२५ ४. के, वही, पृ०२२५

वेलोर में देशी सेना का विद्रोह १० जुलाई, १८०६ को आरंभ हुआ। कहा जाता है कि विद्रोह की तारीख १४ जुलाई निश्चित की गयी थी।[1] उसी के अनुसार तैयारी की जा रही थी। आशा की जाती थी कि उस तारीख तक वेलोर में हैदरअली और टीपू सुल्तान के राजवंश के समर्थक १४,००० आदमी इकट्ठा हो जायेंगे। लेकिन एक जमादार ने नशे से ज्यादा जोश में आकर विद्रोह निश्चित तिथि के पहले ही आरंभ कर दिया। किलेदारों को जो पत्र लिखकर रखे गये थे, वे अभी भेजे ही न गये थे।

१० जुलाई को आधी रात के दो घंटे बाद विद्रोह शुरू हुआ। सन्तरियों को गोली मार दी गयी। सदर फाटक के पहरेदार मौत के घाट उतार दिये गये। अंगरेजों को खोज-खोज कर मारा जाने लगा। गोलियों की आवाज सुनकर अंगरेज अफसर नींद से हड़बड़ा कर उठे। बाहर निकल कर ज्योंही उन्होंने गोलमाल का कारण जानना चाहा, किसी देशी सिपाही की गोली उन्हें आ लगी और वे वहीं ढेर हो गये। सबसे पहले मारे जानेवाले इस किले में तैनात सेना के दो बड़े अफसर थे। इसी तरह वेलोर का सेनाध्यक्ष फैनकोर्ट मारा गया।

वेलोर दुर्ग में नजरबन्द टीपू के बेटों ने विद्रोहियों को हर तरह मदद देने की कोशिश की। अंगरेज अधिकारियों के कथनानुसार खुद शाहजादा मोजिउद्दीन ने विद्रोह के नेताओं को उत्साहित किया, अपने हाथ से उन्हें पान दिया। खुद उन्होंने घोषणा की कि अगर विद्रोह सफल हो गया और उनका वंश राजगद्दी पर बैठा, तो विद्रोही नेताओं को उचित पुरस्कार दिया जायगा। उन्हीं के निवासस्थान से एक विश्वासी भृत्य टीपू का झण्डा ले आया जिस पर बाघ का चिह्न था। मैसूर का यह झण्डा 'दीन', 'दीन' के नारों के बीच वेलोर के किले के अन्दर महल की दीवार पर फहरा दिया गया।

इस विद्रोह में १४ अंगरेज अफसर और ९० गोरे सैनिक मारे गये और कितने ही अफसर तथा सैनिक घायल हुए।[2] लेकिन अवसरवश उस दिन कोट्स नामक एक अंगरेज अफसर की ड्यूटी किले के बाहर थी। विद्रोह का समाचार पाते ही वह थोड़ी रात रहे भागकर चन्द मील की दूरी पर स्थित अर्काट पहुंचा और वहां के सेनाध्यक्ष कर्नल गिलेस्पी को इसकी सूचना दी। ७ बजे सबेरे उसे समाचार मिला और १५ मिनट के अन्दर ब्रिटिश ड्रैगून का एक दस्ता लेकर वह तेजी से वेलोर की तरफ चला। बाकी गोरी सेना को जल्दी तैयार होकर आने का आदेश दिया।

किले के अन्दर और बाहर दोनों तरफ से गोरी सेना ने विद्रोहियों पर हमला किया। किले में घिरे गोरों को बाहर से इतनी जल्दी मदद मिल जायगी, इसकी उम्मीद विद्रोहियों ने न की थी। दुतरफे हमले से उनकी पराजय हुई। इसके बाद गोरे सैनिकों ने देशी सिपाहियों का कत्लेआम शुरू किया। इसमें कितने सिपाही मारे गये, यह इतिहास के पन्नों में छिपा है।

गोरे सैनिक टीपू के वंश को भी मौत के घाट उतार देना चाहते थे, लेकिन उनकी देखरेख के लिए नियुक्त अंगरेज अधिकारी कर्नल मैरियट के बड़े अनुरोध पर उन्हें छोड़

---

१. के, वही, पृ० २२८ २. के, वही, पृ० २३०

दिया गया। इस विद्रोह के बाद मैसूर में कहीं भी उनका रहना खतरनाक समझा गया। इसलिए कलकत्ता ले जाकर उन्हें नजरबन्द किया गया।

विद्रोह की तैयारी दूसरी छावनियों में भी हुई थी। सहायक संधि के अन्तर्गत कंपनी की सेना निजाम के हैदराबाद में रहती थी। निजाम और उसके मंत्री कंपनी सरकार के प्रति बड़े वफादार थे, देश के प्रति वफादारी से उन्हें कोई वास्ता न था। लेकिन कंपनी की सेना के देशी सिपाही विद्रोह की तैयारी चुप ही चुप कर रहे थे। २२ जुलाई, १८०६ को उनमें बड़ा असन्तोष देखा गया। अंगरेज अधिकारी उन पर कड़ी नजर रखने लगे। १४ अगस्त को देशी पल्टन के चार सूबेदारों को गिरफ्तार कर लिया गया और उन्हें मसुलीपट्टम भेज दिया गया। अंगरेज अधिकारियों की इस कारंवाई से बाकी विद्रोहियों ने फिलहाल चुप रहना ही उचित समझा।

मैसूर का नन्दी दुर्ग सैनिक दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण था। अपनी स्थिति के कारण यह विद्रोहियों का सदर दफ्तर बनने के योग्य था। लेकिन इसमें देशी सेना बहुत कम थी। फिर भी यहाँ विद्रोह की योजना बनी। १८ अक्तूबर, १८०६ को आधी रात के दो घण्टे पहले विद्रोह आरम्भ करने का फैसला हुआ।[१] लेकिन अंगरेज अधिकारियों को इसका समाचार रात के ८ बजे मिल गया। उन्होंने फौरन विद्रोह रोकने की कारंवाई की। फलतः कोई विद्रोह न हो सका।

नवम्बर १८०६ में पल्लमकोट्टा की छावनी में विद्रोह की चेष्टा की गयी। लेकिन यहाँ भी अधिकारियों को पहले ही सूचना मिल गयी। उन्होंने तुरन्त देशी सेना के १३ अफसर गिरफ्तार कर लिए और ५०० मुसलमान सिपाहियों को किले के बाहर निकाल दिया।[२] इस तरह यहाँ भी विद्रोह न किया जा सका।

दक्षिण में सिपाहियों का यह विद्रोह सुनिश्चित तौर से अंगरेजों की हुकूमत को खत्म कर देशी हुकूमत कायम करने का प्रयास था। अवश्य ही वह अवधि और व्यापकता दोनों दृष्टियों से बड़ा आकार धारण न कर सका। लेकिन मार्के की बात है कि जिन कारणों से दक्खिन में सिपाहियों के असन्तोष की आग भड़की थी, उन्हीं कारणों ने लगभग पचास साल बाद विद्रोह की वह आग लगायी कि अधिकांश उत्तर भारत में अंगरेजी हुकूमत का नामनिशान कितने ही महीनों के लिए मिट गया।

१. के, वही, पृ० २३१ २. के, वही, पृ० २४०

अध्याय २८

बगड़ी का नायक विद्रोह

(१८०६-१८१६)

बगड़ी मेदिनीपुर जिले की एक जमीन्दारी थी। बंगाल पर कब्जा करने के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी ने मालगुजारी बढ़ा दी थी। बगड़ी की जमीन्दारी से भी उसने बढ़ा कर राजस्व वसूल करना चाहा था, लेकिन यहाँ के राजा छत्र सिंह ने अतिरिक्त मालगुजारी देना अस्वीकार कर दिया। कंपनी के अधिकारी यह बर्दाश्त क्यों करने लगे? उन्होंने जमीन्दारी जब्त कर ली, छत्र सिंह को राजा के पद से हटा दिया। जमीन्दारी के टुकड़े-टुकड़े कर उनका बन्दोबस्त अन्य लोगों के साथ कर दिया।

नायक इस राजा की प्रजा थे। वे राजा के सिपाही, बरकन्दाज आदि का काम करते। राज्य की सेवा के लिये उन्हें माफी की जमीनें मिली थीं। इनमें खेती कर वे अपनी जीविका चलाते। राजा को हटाने के बाद कंपनी सरकार ने इन नायकों की जमीनें भी १८०६ में जब्त कर लीं। कंपनी के इस अन्याय के खिलाफ सारे बगड़ी अंचल में नायकों ने विद्रोह कर दिया। प्रायः दस साल तक यह विद्रोह रहा। अंगरेज इतिहासकारों ने इसे 'बगड़ी के नायकों का हंगामा' कहा है।

इस विद्रोह के नेता और संगठक अचल सिंह थे। उन्होंने बगड़ी के राजा के यहाँ सैनिक का कार्य किया था और इसलिए उन्हें सेना के संगठन और संचालन का अनुभव था। यह अनुभव इस अवसर पर बड़ा काम आया। उन्होंने नायकों की सेना संगठित की, उसे सामरिक शिक्षा दी। तीर-धनुष, भाला-बरछा, तलवार-ढाल आदि सहज प्राप्त हाथियारों से उसे लैस किया। इन सब अस्त्रों से ही वे अंगरेज शासकों की बन्दूकों-तोपों, गोली-गोलों का मुकाबिला करने के लिए तैयार हो गये।

वे जानते थे कि खुले मैदान के सम्मुख युद्ध में अंगरेज अपने श्रेष्ठ अस्त्रों से उन्हें जल्दी-ही पराजित कर देंगे। इसलिए इस युद्ध का रास्ता न अपनाकर उन्होंने छापामार युद्ध का रास्ता अपनाया। बगड़ी अंचल में गड़बेता के पास बना साल वन था। विद्रोही नायक इसी जंगल में चले गये और यहीं से अंगरेज शासकों पर आक्रमण करते रहे। विद्रोह की आग सिर्फ बगड़ी रियासत में ही सीमित न रही। विष्णुपुर (बाँकुड़ा) और हुगली जिले के निकट के अंचल में भी यह विद्रोह फैल गया।

इस विद्रोह की आग को तेजी से फैलता देख अंगरेज शासकों का सिंहासन डोला। गवर्नर जनरल ने फौरन ओकली नामक अंगरेज सेनापति के मातहत एक बड़ी सेना इसका दमन करने भेजा। इस सेना के साथ विद्रोही गनगनी के जंगल में और उसके आस-पास के इलाके में बहुत दिन तक लड़ते रहे। विद्रोही जंगल में छिपे रहते। यकायक उनका बड़ा जत्था जंगल से निकल कर कंपनी की सेना पर टूट पड़ता और नुकसान पहुँचा-

कर फिर जंगल में घुस जाता। इस युद्ध के अन्तिम अध्याय का वर्णन करते हुए 'मेदिनीपुर का इतिहास' के रचयिता योगेशचन्द्र बसु ने लिखा :

"विद्रोहियों का दमन करने में असफल होकर अंगरेज सेनापति ने एक दिन रात को कई तोपें इकट्ठा कर अविराम गोलाबारी से सारी वनभूमि को विध्वस्त कर दिया। नायकों के सामने भयंकर विपत्ति आ खड़ी हुई। तोपों के गोलों की बरसा से बहुतों को जान से हाथ धोना पड़ा, बाकी नायक तितर-बितर हो गये। अंगरेज सैनिकों ने उस रात नायकों के गढ़ों को नष्ट कर दिया। दूसरे दिन वृक्षों की शाखाओं पर, जंगल के अन्दर और नदी के किनारे खोज-खोजकर बहुत से नायक नरनारियों को हताहत किया गया और गिरफ्तार किया गया। लेकिन नायकों के नेता अचल सिंह का कोई भी पता न मिला। अंगरेज सेनाध्यक्ष ने उन्हें पकड़ने के लिये कुछ सेना बगड़ी में रखकर बाकी को हुगली तथा मेदिनीपुर की छावनियों में भेज दिया।"[1]

तोपों की गोलाबारी के सामने नायकों की पराजय हुई। उनके बहुत से आदमी मारे गये; लेकिन इतने पर भी उन्होंने हिम्मत न हारी। अचल सिंह के नेतृत्व में फिर उन्होंने अंगरेज शासकों से लोहा लेने की तैयारी की। गनगनी के जंगल से निकल कर अचल सिंह बगड़ी के पश्चिमी हिस्से में पहुँचे और उसे अपना गढ़ बनाया। जो नायक गनगनी के जंगल में मौत के मुँह से बच गये थे, वे अचल सिंह के नवीन शिविर में आ पहुँचे। यहाँ विद्रोहियों के साथ एक नवीन शक्ति आ मिली। १८०४ में अंगरेज साम्राजियों ने मराठों के हाथ से उड़ीसा छीना था। इससे बहुत से मराठे और राजपूत सैनिक छत्रभंग होकर इधर-उधर घूम रहे थे। वे अंगरेजों से बदला लेने का अवसर चाहते थे। ये सैनिक उड़ीसा से मेदिनीपुर आये, और अचल सिंह के साथ मिलकर उनकी और अपनी शक्ति बढ़ाने में समर्थ हुए।[2]

इस विद्रोह की परिणति और बगड़ी के राजा के विश्वासघात का वर्णन करते हुए 'मेदिनीपुर का इतिहास' के रचयिता ने लिखा :

"इस सम्मिलित सेना ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर अंगरेज अधिकृत गाँवों में प्रवेश किया। वे धनियों का सर्वस्व छीनकर अपने नष्ट ऐश्वर्य का पुनरुद्धार करने लगे। अंगरेज अचल सिंह का पता लगाने की कोशिश जी-जान से करने लगे। इस सुअवसर पर बगड़ी के राजच्युत राजा छत्र सिंह ने अंगरेजों की भलाई कर नष्ट गौरव को पुनः प्राप्त करने के इरादे से तरह-तरह की चालें चलकर विश्वासघात कर अचल सिंह को पकड़ कर अंगरेज सेनापति के हाथ सौंप दिया। अंगरेजों ने नायक-वीर अचल सिंह की हत्या गोली मार कर कर दी। नायक वीर अचल सिंह ने राजा छत्र सिंह के आचरण से क्रुद्ध होकर उसके सर पर जिन शापों की बरसा की थी वे अक्षर-अक्षर पूरे हुए।"[3]

---

१. योगेशचन्द्र बसु, मेदिनीपुरेर इतिहास, प्रथम खण्ड, पृ० २४६ २. वही, पृ० २४७
३. वही, पृ० २४७

वीर नायक अपने वीर नेता अचल सिंह के नेतृत्व में जब अंगरेज शासकों पर आक्रमण कर रहे थे, राजा छत्र सिंह ने अपने क्षुद्र स्वार्थ के लिए, राज्य वापस पाने के लिये देश के साथ विश्वासघात किया। उसने देश भक्त अचल सिंह को दुश्मनों के हाथ सौंप दिया। लेकिन क्या उसे मनचाहा पुरस्कार मिला? नहीं, इतनी अंगरेज-परस्ती के बाद भी उसे राज्य वापस न मिला।

अचल सिंह के मारे जाने पर विद्रोही नायक कई हिस्सों में बंट कर अपने नेताओं के नेतृत्व में कितने ही साल लड़ते रहे। अंगरेज सेना ने १८१६ में उन्हें पूरी तरह पराजित कर दिया। उसने विद्रोहियों के सारे अड्डे नष्ट कर दिये। उस वर्ष दो सौ से ज्यादा विद्रोही मारे गये। ये विद्रोही आखिरी दम तक लड़ते थे, जीते-जी आत्मसमर्पण वे जानते ही न थे।

१. वही, पृ० १२८

अध्याय २९

त्रावंकोर का स्वाधीनता संग्राम

(१८०८-९)

"हमलोगों ने समझा था कि कंपनी ईमानदार और मित्रों के प्रति विश्वासपरायण लोगों की है, वे हमें धोखा न देंगे। इसलिए हमलोगों ने उन्हें अंजनगो में दुर्ग बनाने और बसने की इजाजत दे दी। उनकी वफादारी और दोस्ती में विश्वास कर हम टीपू सुल्तान से लड़े और उनके (कंपनी वालों के) साथ संधि की। लेकिन बाद में यह साबित हुआ कि उनके साथ मित्रता हमारे लिए खतरे का कारण है।"

ये शब्द त्रावंकोर में ब्रिटिश-विरोधी विद्रोह के नेता दीवान वेलू थम्पी ने अपनी प्रसिद्ध कुण्डारा घोषणा (१८०९) में कहे थे। इस घोषणा में आगे उन्होंने बताया कि किस तरह कंपनी त्रावंकोर के सामने नयी-नयी मांगें पेश करती और उन्हें हासिल करने के लिए सेना भेजती रही है। घोषणा के अन्त में उन्होंने कहा :

"अंगरेज जो कुछ करने की कोशिश कर रहे हैं, अगर उसका मुकाबिला अभी नहीं किया जाता है तो हमारे देशवासियों को इतने कष्ट सहने होंगे जिन्हें मनुष्य बर्दाश्त नहीं कर सकता। अगर उन्हें हमारे देश को हथियाने के लिए धूर्तता के परम्परागत उपायों के व्यवहार की आज्ञा दे दी जाती है, तो वे राजमहल समेत हर स्थान पर पहरा बैठा देंगे और अपने कब्जे में कर लेंगे। वे हमारे राजा के प्रति परम्परागत सम्मान तथा मन्दिरों और ब्राह्मणों के घरों की परम्परागत प्रथाएँ बन्द कर देंगे। वे नमक समेत हर वस्तु पर अपनी इजारेदारी कायम कर लेंगे, जमीन के हर टुकड़े और हर घर की जगह नापेंगे और बहुत ही ज्यादा भूमिकर, नारियलकर आदि लगा देंगे। जरा से अपराध के लिए भी बर्बर दण्ड देंगे; मन्दिरों पर ईसाइयों का क्रास और झंडा गाड़ देंगे। ब्राह्मणियों का सतीत्व नष्ट करेंगे और ऐसी सारी प्रथाएँ चला देंगे जो हमारे धर्म की विरोधी हैं। ताकि हमारे देश का ऐसा दुर्भाग्य न हो, राज धर्म की रक्षा की जा सके, हमारे देश की परम्परागत जीवन-चर्या नष्ट होने से बचायी जा सके, हमें वह सब करना चाहिए जो मनुष्य के लिए संभव है और बाकी ईश्वर की इच्छा पर छोड़ देना चाहिए। इस तरह हमलोगों ने कंपनी का मुकाबिला करना आरंभ किया है।"[1]

त्रावंकोर के दीवान वेलू थम्पी के नेतृत्व में केरल की जनता ने क्यों विद्रोह का झण्डा खड़ा किया, उपरोक्त घोषणा इस पर काफी रोशनी डालती है। जब तक टीपू सुल्तान से लड़ना था, कंपनी त्रावंकोर की स्वाधीनता छीनने में तेज कदम उठाने से बचती रही। लेकिन १७९९ में टीपू की मृत्यु के बाद उसने तेज कदम उठाने शुरू किये। १८०४

---

१. ई. एम. एस. नम्बूदरीपाद, 'केरला, यस्टर्डे, टुडे एण्ड टुमारो', प्रथम संस्करण, पृ० ११२-१३

में त्रावंकोर राजा की नायर सेना ने भत्ता कम किये जाने के खिलाफ विद्रोह किया। उनका यह विद्रोह कंपनी विरोधी बन गया, क्योंकि कंपनी की दिन-पर-दिन बढ़ती मांगों की वजह से ही उनका भत्ता कम हुआ था। यह विद्रोह जल्दी ही दबा दिया गया। लेकिन इसका बहाना बनाकर अंगरेजों ने जनवरी १८०५ में त्रावंकोर पर नयी संधि लाद दी। इस राज्य के अन्य राज्यों के साथ संबन्ध करने के अधिकार कंपनी ने छीन लिये और राज्य को अपने खर्च से इतनी बड़ी कंपनी सेना रखने को बाध्य किया कि उसका भुगतान करना असंभव हो गया। कंपनी ने बकाया पैसा कड़ाई से मांगना शुरू किया। काली मिर्च लेकर कंपनी यह रकम वसूल कर सकती थी, लेकिन जिसका मकसद किसी भी बहाने राज्य को हड़पना था, वह यह व्यवस्था क्यों अपनाने लगी?

दीवान और राजा ने मजबूरी जाहिर की, कहा कि इतनी बड़ी कंपनी सेना का खर्च देना उनके लिए संभव नहीं। उन्होंने कंपनी से त्रावंकोर में अपनी सेना कम कर देने का अनुरोध किया। लेकिन कंपनी के बदनाम रेजीडेन्ट कर्नल मेकाले ने उल्टे राजा को आदेश दिया कि वे अपनी कर्नाटक सेना तोड़ दें। ऐसा कर अंगरेज राजा और पूरे राज्य को अपनी मुट्ठी में कर लेना चाहते थे। उधर उन्होंने गुपचुप बंगाल और मद्रास से सेना मंगा भेजी।

१८०१ में वेलू थम्पी त्रावंकोर के दीवान नियुक्त किये गये थे। उन्होंने कंपनी की चाल ताड़ ली थी और उसका मुकाबिला करने की तैयारी की थी। उन्होंने कोचीन के दीवान पलीयाथ अच्चन से मित्रता की थी और उन्हें भी अंगरेजों के खिलाफ लड़ने को तैयार किया था। अंगरेजों के मतानुसार उन्होंने फ्रांसीसियों से भी सम्बन्ध स्थापित किया था और अंगरेजों के खिलाफ लड़ाई में उन्हें शामिल करने की कोशिश की थी। जनवरी १८०८ में एक फ्रांसीसी सेना मालाबार के समुद्र तट पर उतरने वाली थी। इतिहासकार थार्नटन का कहना है कि वेलू थंपी ने अमरीकियों से भी लिखा-पढ़ी की थी।[1] इसलिए अंगरेज वेलू थंपी को अपना खास दुश्मन और त्रावंकोर का टीपू सुल्तान समझते थे। स्वभावतः १८०८ में अंगरेज रेजीडेन्ट कर्नल मेकाले ने त्रावंकोर के राजा से मांग की कि वेलू थंपी को दीवान पद से बर्खास्त कर दिया जाय।

वेलू थंपी ने दीवान के पद से हट जाना स्वीकार किया। २८ दिसम्बर, १८०८ की रात को अलेप्पी से कालीकट जाने की उनकी तैयारी भी हो गयी। जब कर्नल मेकाले इस कांटे के हट जाने की खुशी मना रहा था, वेलू थंपी ने उसी रात को उसके निवास स्थान पर धावा बोल दिया। मेकाले ने भाग जाने का पहले ही से इन्तजाम कर रखा था। एक अंगरेज जलयान ऐसी स्थिति के लिए उसने तैयार रखा था। इस पर चढ़ कर वह भाग निकला। दुश्मन के भाग जाने पर वेलू थंपी क्वीलन चले गये और वहाँ बड़ी सेना इकट्ठा की। इसी वक्त उन्होंने उपरोक्त घोषणा निकाली थी। उनकी इस घोषणा का असर बिजली की तरह हुआ। सारा त्रावंकोर-कोचीन हथियार लेकर

१. थार्नटन, चैप्टर्स एटसेट्रा (लन्दन, १८४०) पृ० ६६; शशि भूषण चौधरी, वही, पृ० १९५

अंगरेजों के खिलाफ लड़ने को तैयार हो गया। त्रावंकोर स्टेट मैनुएल के लेखक ने इस सम्बन्ध में लिखा :

"वेलू थंपी ने अपनी बात इतनी जोरदार भाषा में कही कि सारा देश उनलोगों के प्रति समझौताहीन शत्रुता की भावना से उबल पड़ा जिन्हें देश का शत्रु बताया गया था। ··· ··· सारा देश एक आदमी की तरह अपने सब संभव साधनों को लेकर युद्ध के लिए तैयार हो गया। हजार-हजार हथियारबन्द आदमी वेलू थंपी के झण्डे के नीचे आ इकट्ठा हुए। त्रावंकोर सेना में ३० हजार से ज्यादा आदमी और १८ तोपें थीं।"[१]

१५ जनवरी, १९०९ को वेलू थंपी ने अपनी सेना लेकर क्वीलन पर चढ़ाई की, कर्नल चामर्स, कर्नल पिक्टन और मेजर हैमिल्टन ने इसका मुकाबिला किया। उनके पास एक यूरोपीय रेजीमेन्ट और तीन देशी बटालियनें थीं। थंपी की सेना आगे बढ़ी, अंगरेजों की छावनी पर चढ़ गयी। पाँच घण्टे तक घमासान युद्ध चलता रहा, लेकिन अंगरेजों की मोर्चाबन्दी तोड़ी न जा सकी। अपने सात सौ सैनिकों और १५ तोपों को खोकर थंपी की सेना को पीछे हटना पड़ा।

क्वीलन में असफल होकर थंपी ने कोचीन पर हमला किया और उस पर कब्जा करने की कोशिश की। उन्होंने अपने सैनिकों के एक-एक हजार के तीन जत्थे बनाये और एक के बाद एक को हमला करने भेजा। इन सैनिकों ने भयंकर युद्ध किया, पर कोचीन पर कब्जा न कर सके। तब उन्होंने कोचीन के बन्दरगाह पर घेरा डाल दिया, ताकि दुश्मन को जरूरी सामान न मिल सके। अलेप्पी में अंगरेज सैनिकों की एक टुकड़ी एक दम साफ कर दी गयी (जनवरी १८०९)। इसी समय थंपी ने मालाबार के राजा समुद्री (जमोरिन) के पास पत्र लिखकर उन्हें विद्रोह में शामिल होने के लिए आमंत्रित किया।

इस विद्रोह को दबाने के लिए अंगरेजों ने पूरी ताकत लगायी। कर्नल कपेज, कर्नल सेन्ट लेगर, कर्नल वैलेस, लेफ्टिनेन्ट कर्नल गिब्स आदि बड़ी-बड़ी सेनाओं के साथ विद्रोह को दबाने के लिए विभिन्न स्थानों में भेजे गये। सीलोन से तीसरी काफरी रेजीमेन्ट मंगायी गयी। इस तरह विशाल सेना के बल पर कंपनी हालत को काबू में ला सकी।

सेन्ट लेगर १७ फरवरी, १८०९ को त्रावंकोर में घुसने में समर्थ हुआ। क्वीलन में कर्नल चामर्स काफी दिनों से चारों तरफ से घिरा था। लेगर घेरे को तोड़ कर चामर्स से मिलने में समर्थ हुआ। दोनों ने मिलकर त्रिवेन्द्रम पर चढ़ाई की। चारों तरफ से घिरा पाकर राजा ने आत्मसमर्पण कर दिया। अंगरेजों ने अब मनमानी शर्तें उस पर लादीं। उसे अंगरेजों के हुक्म से अपनी नायर सेना और कर्नाटक सेना भंग कर देना, अपनी रक्षा के लिए अंगरेजी सेना अपने खर्च से रखना और अंगरेजों का मनपसन्द नया दीवान नियुक्त करना पड़ा।

१. नम्बूदरीपाद, वही, पृ० ११६

वेलू थंपी ने आत्मसमर्पण करने से इन्कार किया। वे त्रिवेन्द्रम से निकल कर जंगल में चले गये। कंपनी की सेना उनको जिन्दा न पकड़ सकी। जंगल के भगवती के मन्दिर में उनका शव दुश्मन के हाथ लगा। कहा जाता है कि अन्य उपाय न देख उन्होंने खुद अपनी हत्या कर ली थी।

कंपनी ने इस देशभक्त के शव के साथ क्या व्यवहार किया? उसे त्रिवेन्द्रम लाकर फांसी देकर अंगरेज साम्राजियों ने अपनी 'बहादुरी' का परिचय दिया। कई दिन तक उनकी लाशों को टाँग कर रखा गया ताकि डर के मारे कोई भी उनके खिलाफ सर न उठाये। वे यह न समझते थे कि एक दिन सारे भारत की जनता अपनी आजादी के लिए उठ खड़ी होगी और अंगरेज साम्राजियों को दुम दबा कर इस देश से भागना पड़ेगा।

वेलू थंपी के भाई ने भी विद्रोह संगठित करने में पूरा हिस्सा लिया था। उन्हें उसी जंगल से पकड़ कर क्वीलन में फांसी दी गयी।

वेलू थंपी के शव के साथ किया गया व्यवहार इतना नीच था कि स्वयं गवर्नर जनरल को इसे सभ्य सरकार के सिद्धान्तों के विरुद्ध कहना पड़ा था। इसी प्रकार त्रिवेन्द्रम के राजा पर लादा गया बोझ इतना अनुचित था कि स्वयं इतिहासकार मिल को इसकी निन्दा करनी पड़ी।[1]

नये दीवान ने भी १८१२ में कंपनी के अन्याय के खिलाफ विद्रोह की चेष्टा की, लेकिन उसे दबा दिया गया। तब से अंगरेज रेजीडेन्ट को ही कंपनी ने दीवान पद भी सौंप दिया। इस तरह त्रावंकोर पर अंगरेजों ने परोक्ष रूप से शासन करना आरंभ किया। सिर्फ बड़े विद्रोह के डर से वे त्रावंकोर को १८१२ में राजा की मृत्यु के बाद सीधे अंगरेजी राज में मिलाने के लोभ को रोक सके।

वेलू थंपी और पलियाथ अच्चन सामन्त वर्ग के प्रतिनिधि थे। उन्होंने त्रावंकोर-कोचीन की स्वतंत्रता के लिए आम जनता को गोलबन्द किया था। खुद राजा भी उनका समर्थन करता था। त्रावंकोर की स्वतंत्रता के लिए इस संग्राम के महत्व के बारे में ई. एम. एस. नम्बूदरीपाद लिखते हैं:

> "इस तरह अंगरेजों के खिलाफ पहला राष्ट्रीय विद्रोह शुरू किया गया—वह विद्रोह जो सब आवश्यक बातों में देश के दूसरे हिस्से में बाद में हुए बहुत बड़े विद्रोह—१८५७ के प्रसिद्ध 'सिपाही विद्रोह' के समान था।"[2]

१. मिल, खण्ड ७, पृ० १८४; शशिभूषण चौधरी, वही पृ० १६७
२. ई० एम० एस० नम्बूदरीपाद, वही, पृ० ११४

अध्याय ३०

बुन्देलखण्ड और बघेलखण्ड की चुनौती

(१८०८-१२)

दूसरे मराठा युद्ध (१८०३) में अंगरेजों की विजय के बाद बुन्देलखण्ड और बघेलखण्ड के अंचल कंपनी के हाथ आ गये। लेकिन यहाँ के छोटे-छोटे सामन्त सरदारों ने इन परदेशियों की अधीनता स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। इस अंचल में लगभग डेढ़ सौ छोटे-बड़े दुर्ग थे, जिनमें अजयगढ़ और कालिंजर के इतिहास-प्रसिद्ध किले भी थे। इन सामन्त सरदारों ने इन किलों को अपने कब्जे में रख कर अंगरेज साम्राजियों को ललकारा और बिना युद्ध के सूई की नोक के बराबर भूमि भी न देने की घोषणा की।

उनकी सबसे बड़ी कमजोरी थी कि वे ऐक्यवद्ध न थे। अगर ये डेढ़ सौ दुर्ग एक साथ मिलकर मोर्चेबन्दी करते और परस्पर सहायता करते, तो विदेशियों का विजय प्राप्त करना बहुत ही कठिन हो जाता। लेकिन इस कमजोरी के बावजूद उन्होंने कंपनी को लोहे के चने चबवाये और चार साल तक उसका मुकाबिला करते रहे।

अजयगढ़ के किलेदार लक्ष्मण दावा थे। अंगरेजों ने उन्हें दो साल तक अर्थात् १८०८ तक इस दुर्ग को अपने हाथ में रखने की इजाजत दी थी। लेकिन दो साल की अवधि पार हो जाने के बाद भी लक्ष्मण ने दुर्ग कंपनी को न सौंपा। इसलिए कंपनी सेना ने उन पर चढ़ाई की। कर्नल मार्टिन डेल के नेतृत्व में दुश्मन ने अजयगढ़ पर हमला किया। लक्ष्मण ने बड़ी बहादुरी के साथ मुकाबिला किया। लेकिन तोपों के सामने राजपूती वीरता कब तक काम करती? १३ फरवरी, १८०९ को उन्होंने आत्म-समर्पण कर अंगरेज अधिकारियों से अनुरोध किया कि उन्हें तोप के मुँह से उड़ा दिया जाय। अंगरेज उन्हें कैद कर कलकत्ता ले गये। अपमान से बचने के लिए लक्ष्मण की माँ, पत्नी और बच्चों ने मृत्युवरण करना बेहतर समझा। उनके अनुरोध पर लक्ष्मण के श्वसुर ने उन्हें तलवार से काट दिया और स्वयं अपने तलवार भोंक ली।[1]

दूसरे सामन्तों को पराजित करने के बाद १९ जनवरी, १८१२ को कंपनी सेना ने कालिंजर के दुर्ग पर आक्रमण किया। इसके किलेदार दरिया सिंह ने दुश्मनों के छक्के छुड़ा दिये। अंगरेजों को बड़ा नुकसान उठाना पड़ा, किन्तु अन्त में इसका भी पतन हुआ। इस तरह विद्रोह का एक बड़ा महत्वपूर्ण केन्द्र ध्वंस हो गया।

रीवाँ के राजा ने भी कंपनी सेना से डटकर लोहा लिया, लेकिन उन्हें भी झुकना पड़ा और कंपनी की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी।

१. मिल, हिस्ट्री आफ इंडिया, खण्ड ७, पृ० १२-१३, १२४-७; शशि भूषण चौधरी, वही, पृ० ७७

इस अंचल में अंगरेजों को सबसे ज्यादा हैरान करनेवाले थे गोपाल सिंह। उनके और राजा बख्त सिंह के बीच उत्तराधिकार का झगड़ा था। अंगरेजों ने राजा बख्त सिंह को उत्तराधिकारी बनाया। गोपाल सिंह इस घटना से अंगरेजों के और भी कट्टर दुश्मन बन गये। अंगरेजों ने उन्हें पकड़ने या मार डालने की बड़ी कोशिश की। कर्नल मार्टिन डेल, मेजर केली, कैप्टेन विल्सन, मेजर डेलामेन, मेजर मोर्गन, कर्नल ब्राउन, मेजर लेजली, कैप्टेन वाटसन आदि अनेकों अंगरेज अफसर उनका दमन करने को भेजे गये, लेकिन यह बहादुर चार साल तक अंगरेजों से लड़ता रहा। इतिहासकार मिल ने स्वीकार किया है कि गोपाल सिंह की सेना के हमलों से शक्तिशाली कंपनी सेना की हालत पतली हो गयी थी।[१]

इस तरह हालत को काबू में न आता देख अंगरेजों ने एक चाल चली। उन्होंने कंपनी की तरफ से सनद देना शुरू किया, जिसमें वादा किया गया था कि वहाँ का राज्य सामन्त सरदार के हाथ में रहेगा, उसके वंशज पुश्त-दरपुश्त स्वामी होंगे और इसके लिए किसी भी तरह का कर उन्हें न देना होगा। बदले में वे सामन्त सरदारों से इकरारनामा लिखवाते कि वे राज्य में शान्ति-व्यवस्था बनाये रखेंगे, लूट-पाट में शामिल न होंगे, अंगरेजों के आश्रित लोगों से झगड़ा-झमेला न करेंगे, किसी अंगरेज विरोधी को शरण न देंगे। गोपाल सिंह बुन्देला और बहादुर सिंह परिहार के साथ किसी भी तरह का सम्बन्ध न रखने का वादा खास तौर पर कराया जाता।

इस तरह अंगरेज जिस सामन्त-सरदार को मजबूर कर पाते उसे सनद देकर यह इकरारनामा लिखाते। १८१२ तक प्रायः सभी सामन्तों ने इकरारनामा लिखा। उनकी सफलता सिर्फ यह थी कि वे इस अंचल को अपने परिवारों के हाथ में बनाये रख सके, पर गुलामी का पट्टा आखिर उनके गले में पड़ ही गया।

१. मिल, वही. खण्ड ७, पृ० १२७-१२

अध्याय ३१

बनारस की हड़ताल

(१८१०-११)

भारत का धन लूटकर विलायत ले जाने के लिए कंपनी ने १८१० में एक नया उपाय निकाला। उसने उस साल रेगुलेशन १५ पास कर शहरों के मकानों पर टैक्स लगा दिया। हर मकान वाले से कर वसूल किया जाने लगा।

बंगाल और बिहार के शहरों ने तो इसे चुपचाप स्वीकार कर लिया, लेकिन बनारस ने इसे ठुकरा दिया। ज्योंही इस टैक्स के लागू किये जाने की घोषणा हुई, विभिन्न व्यवसायों और पेशों के लोगों की सभाएँ होने लगीं। इन सभाओं में उन्होंने इस टैक्स के खिलाफ संगठित आवाज उठाने का फैसला किया।

हजारों लोग मजिस्ट्रेट के पास निवेदन के लिये गये, लेकिन जब मजिस्ट्रेट ने उल्टे धमकी दी, तो वे वापस आ गये। अब उन्होंने हड़ताल और असहयोग का रास्ता अपनाया। व्यापारियों ने अपनी दूकानें, लोगों ने अपना कारोबार बन्द कर दिया। इतिहासकार मिल ने इस हालत का वर्णन करते हुए लिखा :

"हर चीज ठप्प हो गयी थी ; शव बिना संस्कार के ही नदी में फेंक दिये जाते, क्योंकि कोई दाह-संस्कार करनेवाला न था ; यहाँ तक कि चोरों ने भी अपना पेशा बन्द कर दिया था.. .. .. ..लोग एक साथ शहर छोड़ कर चले गये थे और बनारस तथा सिकरौल के बीच जा टिके थे.. .. ..।"[1]

२६ दिसम्बर, १८१० से ८ जनवरी, १८११ तक हालत बड़ी नाजुक थी, सारे शहर में बड़ी हलचल थी। ऐसी हालत का मुकाबला अंगरेजों को पहले न करना पड़ा था। लोगों ने मजिस्ट्रेट को दरखास्त लिख कर दी और इस कर को रद्द करने का अनुरोध किया। इसका कुछ भी असर न हुआ तो सरगरमी बढ़ गयी। आस-पास के गाँवों और शहरों से हजारों लोग रोज बनारस में जमा होने लगे। वे कड़ाके की सर्दी में घरों से दूर खुले आसमान के नीचे टिके बनारसवासियों के साथ हमदर्दी दिखाते। बूढ़े-बच्चे, स्त्री-पुरुष सभी सारे दिन खुले आकाश के नीचे पड़े रहते। अमीरों की तरफ से गरीबों को खिलाने-पिलाने का इन्तजाम था। लोग टैक्स रद्द करने की मांग के नारे लगाते।

उत्तेजना को बढ़ता देख अंगरेज अधिकारियों ने बल प्रयोग की धमकी दी। १३ जनवरी, १८११ को घोषणा जारी कर उन्होंने यह टैक्स वसूल करने का हुक्म दिया। उन्होंने नागरिकों के इस व्यवहार को सरकारविरोधी बताया और लोगों को तितर-बितर हो जाने का हुक्म दिया।

१. मिल, हिस्ट्री आफ इंडिया, खण्ड ७, पृ० ११४

कुछ लोगों ने प्रस्ताव किया कि सब मिलकर कलकत्ता चलो और वहाँ बड़े लाट के सामने दरखास्त पेश करो। लोगों को यह प्रस्ताव बहुत अच्छा लगा, लेकिन आखिर में अव्यावहारिक मान कर छोड़ दिया। ऐसी हालत में बनारस के राजा ने लोगों को वैधानिक रास्ता ही अपनाने और फिर से दरखास्त देने की सलाह दी। इस सलाह के बाद नयी दरखास्त दी गयी। इसमें तर्क दिया गया कि बनारसवासी तरह-तरह के जो टैक्स देते हैं उनसे वसूल होनेवाली रकम उनकी रक्षा-व्यवस्था के लिए जरूरत से ज्यादा है। इसमें नये टैक्स को आर्थिक दृष्टि से अनुचित बताया गया। कलकत्ते के साथ बनारस की तुलना का उत्तर देते हुए दरखास्त में कहा गया कि कलकत्ता पूरा सरकारी है। इसलिए लोग समझ सकते हैं कि वे मकान का भाड़ा दे रहे हैं। लेकिन बनारस की सारी जमीन यहाँ के निवासियों की है, इसलिए उनके टैक्स देने का कोई सवाल ही नहीं उठना चाहिये।

यह दरखास्त देकर और अपने साथ न्याय की आशा कर वे अपने-अपने घर वापस चले गये। अवश्य ही बनारसवासियों की अन्त में जीत हुई। उन पर टैक्स रद्द कर दिया गया। इस तरह के आन्दोलन की कल्पना करना भी उस वक्त सहेज न था। यही इसकी सार्थकता है।

अध्याय ३२

पार्ल किमेदी रियासत में मुठभेड़

(१८१३-३४)

किमेदी पूर्वी घाट में गंजाम जिले के पश्चिम-दक्खिनी सिरे पर एक पहाड़ी पट्टी है। इसमें पार्ल किमेदी, पेड्डा किमेदी (विजयनगर) और चीना किमेदी (प्रतापगिरि) नाम की तीन पुरानी जमींदारियाँ थीं। प्यादे इस रियासत का राजस्व वसूल करते और सिपाहियों का भी काम करते। इनकी रक्षा का भार ९ बिसाइयों के जिम्मे था। वे अधीनस्थ पहाड़ी सरदार थे और हर एक के पास किला था।

पार्ल किमेदी रियासत के सम्पर्क में अंगरेज पहले-पहल १७६८ में आये।[1] यहाँ के जमीन्दार नारायण देव पर कंपनी ने कर्नल पीच के नेतृत्व में हमला किया और उन्हें पराजित किया। इस रियासत को अपने अधीन कर अंगरेज उससे वार्षिक राजस्व वसूल करने लगे।

आगे चलकर जमीन्दार गजपति ने राजस्व देने में ढिलाई की। ८७,२०३ रु० उनके यहाँ बाकी रह गया। चूंकि वे कलक्टर के हुक्म की जरा भी परवाह न करते थे, इसलिए १७९८ में कंपनी ने उन्हें बागी करार दे दिया। कंपनी की तरफ से घोषणा कर दी गयी कि कोई भी गजपति की सहायता न करे और जो करेगा उसे कंपनी का दुश्मन माना जायगा। इस घोषणा के साथ कर्नल मुआट के नेतृत्व में एक सेना तैयार रखी गयी, ताकि किसी भी स्थिति का मुकाबिला कंपनी सरकार कर सके। इसे काफी न समझ कलक्टर ने जमीन्दार, उसके पुत्र और प्रभावशाली मैनेजर दूगा राजे को कैद कर लिया। इसका परिणाम हुआ कि १७९८ में भयंकर विद्रोह हो गया। कलक्टर स्काट ने २७ जनवरी, १७९९ को रिपोर्ट भेजी :

> "अब रक्षा सिर्फ लूट-पाट के लिए हमला करने वाले पहाड़ियों से ही नहीं करनी है बल्कि पर्याप्त संख्या में सशस्त्र आदमियों से भी करनी है, जो जहाँ भी जाते हैं [illegible] वस्तु को जला देते हैं और नष्ट कर देते हैं . . .।"[2]

इस विद्रोह ने शीघ्र ही आम बगावत का रूप धारण कर लिया और ईस्ट इंडिया कंपनी की नींद हराम करने लगा। दिन दहाड़े विद्रोही गाँव में आते और लोगों को कहते कि कंपनी को कोई भी राजस्व न दे। जो देगा, उसे जान-माल से हाथ धोना पड़ेगा। गजपति के भाई जगन्नाथ खुल कर विद्रोहियों में शामिल हो गये। इससे

१. इंपीरियल गजेटियर आफ इंडिया, मद्रास, खण्ड १, पृ० २१८

२. सेलेक्सन्स फ्राम द रिकार्ड्स आफ मद्रास गवर्नमेन्ट, न० २४; जी० ई० रसेल, १८३२-३६ में पार्ल किमेदी, विजगापट्टम और गुमसुर में हंगामों पर रिपोर्ट (मद्रास, १८५६), पृ० १-४, शशिभूषण चौधरी, पूर्वोक्त, पृ० १४२।

विद्रोहियों की शक्ति और भी बढ़ गयी। इसी वक्त गंजाम में भी विद्रोह (१८००-०५) हो रहा था। जगन्नाथ ने यहाँ के विद्रोहियों के नेता श्रीकर भंज का साथ दिया और उनके साथ मिलकर अंगरेज हुकूमत पर आघात किया।

अंगरेजों ने जगन्नाथ को विद्रोहियों से अलग करने की बड़ी कोशिश की। इसमें असफल होने पर उन्होंने एक चाल चली। स्काट ने गजपति को धमकी दी कि अगर वे अपना रवैया न बदलेंगे तो कंपनी जगन्नाथ को जमीन्दार मान लेगी। अंगरेजों की कैद में पड़े गजपति उनकी चाल को न समझ सके। इस तरह धूर्त स्काट विद्रोहियों में फूट डालने में समर्थ हुआ।

१८०२ में गजपति की मृत्यु हुई और उनके पुत्र पुरुषोत्तम नारायण देव ने जमींदारी संभाली। कर्नल बिगोर्स नये राजा के पुराने मैनेजर दूमा राजे की मदद से बड़ी मुश्किल से विद्रोह शान्त कर सका। इस विद्रोह में सबसे बड़ी भूमिका बिसाइयों (पहाड़ी सरदारों) की थी, जो रियासत की सीमा के रक्षक थे। ये सरदार कंपनी के खिलाफ विद्रोह में जमीन्दार का साथ देने को हमेशा तैयार रहते थे। इनको जमीन्दार से अलग करना कंपनी ने जरूरी समझा। इसलिए उसने रियासत से हमेशा के लिए अलग कर उन्हें सीधे अंगरेज कलक्टर के प्रति जिम्मेदार बनाया, सीधे कंपनी की प्रजा बनाया।[1] अवश्य ही बाद की घटनाएँ बताती हैं कि इससे भी विद्रोह रोका न जा सका।

जगन्नाथ अंगरेजों से बराबर लड़तें रहे। कंपनी की तरफ से उन्हें पकडवा देनेवाले को १०, ००० रुपये के इनाम की घोषणा की गयी। १८०४ में वे पकड़े गये और कैद में डाल दिये गये।

इसी बीच पुरुषोत्तम नारायण देव की मृत्यु हो गयी। उनका लड़का सिर्फ बारह महीने का था। इसलिए उनकी रियासत कोर्ट आफ वार्ड्स में चली गयी। दूमा राजे उनके भी मैनेजर रहे और उनके कार्यकाल में रियासत ने काफी उन्नति की। उनकी मृत्यु के बाद पद्मनाभ देव ने राज्य की व्यवस्था संभाली। पद्मनाभ देव और पहाड़ी सरदारों में फौरन अनबन हो गयी। गजपति की बेवा पट्ट महादेवी ने सरदारो का पक्ष लिया। इसका परिणाम नवीन संकट हुआ। अक्टूबर १८१३ में गड़बड़ी शुरू हुई और मार्च १८१४ तक बगावत इस कदर फैल गयी कि जिलों में कंपनी की सत्ता फिर से स्थापित करने के लिए अंगरेजों को सेना भेजनी पडी। कलक्टर स्पाटिशवुड ने कंपनी के कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स के पास लिख भेजा :

"मैं चिन्तित होकर आपके बोर्ड को रिपोर्ट दे रहा हूँ कि बिसाइयों के विद्रोह से किमेदी अंचल में बड़ा हंगामा फैल गया है।...वे (बिसाई) पुलिस, दारोगा, मुंशी के थानेदार और उसके कर्मचारियों को पकड़ लेते हैं और कैद कर लेते हैं।... और अपनी शिकायतों के सम्बन्ध में बयान भेजते हैं। अब सब की यह मांग है कि पद्मनाव (पद्मनाभ) देव को हटा दिया जाय और उनकी जगह पर पट्ट महादेवी को नियुक्त किया जाय...।"[2]

१. जी० ई० रसेल, पूर्वोक्त, पृ० १०-११ २. जी० ई० रसेल, उपरोक्त, पृ० १४

मजिस्ट्रेट वुडकाक और कलक्टर स्पाटिशवुड सारी बातें समझने के लिए किमेदी गये। उनसे शिकायत की गयी कि पद्मनाभ अपना उल्लू सीधा करने के लिए नाबालिग जमींदार को दबाया तथा सताया करता है। सब तरफ से इतना दबाव पड़ा कि वुडकाक और स्पाटिशवुड को पद्मनाभ के हटाये जाने की सम्मति देनी पड़ी। उनकी जगह नृसिंह राजे नये मैनेजर बने।

लेकिन पद्मनाभ चुप न बैठ सका। उसने अक्तूबर १८१६ में सारी जमींदारी में प्यादों का हंगामा करा दिया। स्पाटिशवुड ने १९ अक्तूबर, १८१६ को पद्मनाभ को गिरफ्तार कर लिया और सारी रियासत में मार्शल्ला लागू कर दिया। एक नामी विद्रोही नेता की गिरफ्तारी के लिए एक हजार रुपए की घोषणा की गयी।[1]

लन्दन के जेन्टल मैन्स मैगजिन के अक्तूबर १८१७ के अंक में रिपोर्ट छपी थी कि गंजाम जिले में हंगामा शुरू हो गया। वह इस हद तक बढ़ गया कि इस विद्रोह को दबाने के लिए १०,०००सेना भेजनी पड़ी और मार्शल्ला लागू कर दिया गया। (पृ० ३५६)[2] यह रिपोर्ट संभवत: इसी हंगामे के बारे में थी। इतना सब करने के बाद शान्ति स्थापित की जा सकी।

पहाड़ी सरदार (बिसाई) और प्यादे (डोरा) अंगरेजों के खिलाफ लड़ने को हमेशा तैयार रहते थे। लेकिन दुर्भाग्य से उन्हें दो रानियों के झगड़े में हिस्सेदार बनना पड़ा। पट्ट महादेवी और नाबालिग १६ वर्षीय जमींदार की माँ सेवा जी महादेवी अपने-अपने हाथ में रियासत का इन्तजाम रखना चाहती थीं। पट्ट महादेवी का समर्थन गूमा के बिसाई और दूसरे प्राय: सभी शक्तिशाली पहाड़ी सरदार कर रहे थे। सेवा जी महादेवी का समर्थन जेरिंगी के बिसाई और चार अन्य सरदार कर रहे थे। इस प्रतिद्वन्द्विता के कारण मैनेजर अक्सर बदला जाता। वह कभी इस रानी का और कभी उस रानी का पक्ष लेता। इन दोनों गुटों में अक्सर लड़ाई हुआ करती। चूंकि राजस्व बाकी रह गया था, इसलिए कंपनी सरकार ने मई १८३० में जमींदारी अपने हाथ में ले ली और फिर उसे कोर्ट आफ वार्ड्स के सिपुर्द कर दिया।

इससे हालत और तेजी के साथ बिगड़ी। पद्मनाभ देव को फिर मैनेजर बनाया गया, लेकिन वह हालत सुधारने में नाकाम रहा। पदच्युत जमींदार जगन्नाथ गजपति नारायण देव और उनकी पत्नी ने सब डोरों (प्यादों) और बिसाइयों (पहाड़ी सरदारों) को ऐक्यबद्ध किया और पद्मनाभ के खिलाफ खड़ा किया। फलत: सारे राज्य में भयंकर विद्रोह फैल गया।

कलक्टर अगस्त १८३१ में चार कंपनी सेना लेकर किमेदी की तरफ चला। उसने देखा कि सड़क पेड़ गिरा कर बन्द कर दी गयी है और आसपास की पहाड़ियों पर हथियार-बन्द विद्रोही उसका मुकाबिला करने को तैयार हैं।[3] विद्रोहियों के नेता थे गोपीनाथ

१. वही, पृ० २२-२३

२. शशिभूषण चौधरी, वही, पृ० १४४

३. जी० ई० रसेल, वही, पृ० १८; शशिभूषण चौधरी, वही, पृ० १४५

पटनायक और नरसिंह राजे। गोपीनाथ पटनायक ने किमेदी की जमींदारी में काफी बड़े हिस्से पर कब्जा कर लिया था और उसकी उत्तम शासन-व्यवस्था की थी।

जनवरी १८३२ में कलक्टर का पद ओजिल्वी ने संभाला, लेकिन सारी रियासत विद्रोहियों के हाथ में बनी रही। मार्शल्ला की घोषणा करने के बार-बार प्रस्ताव किये गये। ११ दिसम्बर, १८३२ को जार्ज रसेल स्पेशल कमिश्नर बन कर विद्रोह के कारणों की जाँच करने आया। विद्रोह का दमन करने की उसे पूरी क्षमता दी गयी थी। उसे रियासत में मार्शल्ला की घोषणा करने की भी क्षमता दी गयी थी और ब्रिगेडियर जनरल टेलर तथा मेजर बैक्सटर की सेनाएँ उसके हुक्म पर विद्रोहियों पर टूट पड़ने को तैयार थीं।

जाँच के बाद रसेल ने भूतपूर्व मैनेजर गोपीनाथ पटनायक तथा प्यादों के प्रधान राखन चन्द्रूदू को गिरफ्तार कर लिया। मई १८३३ में गूमा के किले पर कब्जा कर लिया गया।[1] अगस्त १८३३ में हालत बदतर हो गयी। इसलिए रसेल ने मार्शल्ला लागू कर दिया। मेजर बैक्सटर ने विद्रोहियों के एक मशहूर नेता गोदियापाढ़ी को गिरफ्तार करने में उतावली दिखायी। वह नवम्बर १८३३ में इसके लिए जेरिंगी के बिसाई से मिलने चला, लेकिन रास्ते में ही उसे गोली मार कर मौत के घाट उतार दिया गया। इसके बाद तो सभी बिसाई और डोरा विद्रोह के मैदान में कूद पड़े। 'अंगरेजों को मार भगाओ' की आवाज सारी रियासत में गूँजने लगी।

पहाड़ी अंचल होने के कारण विद्रोही दुश्मन का मुकाबिला आसानी से कर सके। बाँस और दरख्त काट कर उन्होंने सब सड़कें बन्द कर दीं। इन्हें हटाकर जाने में फिरंगी सेना को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। लेफ्टिनेन्ट शेरार्ड और मेजर नाश किसी तरह इस नाकेबन्दी को तोड़कर आगे बढ़ने और रायगुड्डा के किले पर कब्जा करने में कामयाब हुए। यह किला जेरिंगी पर कब्जा करने की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण था। जनवरी १८३४ को जेरिंगी के किले पर भी फिरंगियों का कब्जा हो गया। इस अभेद्य समझे जानेवाले दुर्ग के पतन से विद्रोहियों की हिम्मत टूटने लगी। बहुत से पहाड़ी सरदार अंगरेजों की अधीनता स्वीकार करने को तैयार हो गये। मार्च १८३४ में जेरिंगी के बिसाई के ३५ आदमी पकड़े गये। क्रमशः सभी किलों पर अंगरेजों का अधिकार हो गया। ११ प्रमुख विद्रोही नेता पकड़े गये और उन्हें न्याय का दिखावा कर फाँसी दे दी गयी। कितनों को ही आजीवन कैद की सजा दी गयी। अप्रैल १८३४ में विद्रोह दब गया।

रसेल स्वीकार करता है कि इस विद्रोह को दबाने में हैवानी जुल्म किये गये थे। गाँव के गाँव जला दिये गये थे, अन्न जला दिया गया था ताकि विद्रोहियों को न ठहरने की जगह मिले और न भोजन। लेकिन फिर भी तारीफ की जानी चाहिए विद्रोहियों की कि वे आखिर दम तक लड़ते रहे। उनमें से लगभग दो सौ विद्रोही गिरफ्तार किये गये थे। फिरंगियों ने उन पर जुल्म किये, उन्हें प्रलोभन दिये, लेकिन फिर भी उनसे विद्रोही नेताओं के बारे में कोई काम की बात न जान सके। फिरंगियों को एक भी आदमी गद्दार न मिला।

---
१. रसेल, पूर्वोक्त, पृ० ४५

अध्याय ३३

कच्छ में अशान्ति

(१८१५-३२)

राजनीतिक और सैनिक दोनों दृष्टियों से अंगरेज साम्राजियों की गिद्ध-दृष्टि कच्छ पर लगी हुई थी। बम्बई प्रेसीडेन्सी के गवर्नर एल्फिस्टन के विचार से यह अधिकार दो दृष्टियों से जरूरी था: (१) सिन्ध के अमीरों को दूर रखने के लिए और (२) अगर इन अमीरों के साथ युद्ध छिड़ गया तो यहाँ से होकर सिन्ध में घुसने के लिए।[1] इसी प्रकार मैलकाम के अनुसार इस अंचल का महत्व अंगरेजों के राज्य की पच्छिमी सीमा के लिए बहुत बड़ा था।[2] इसीलिए कच्छ को अपने चंगुल में फंसाने के लिए अंगरेज साम्राजी मौके का इन्तजार कर रहे थे।

यह अवसर १८०९ में उनके हाथ लगा। कच्छ का राव (राजा) पागल हो गया। इससे इस राज्य के विभिन्न गुटों में राजसत्ता हथियाने के लिए संघर्ष जारी हो गया। इन गुटों में से एक का नेता सुप्रसिद्ध मंत्री फतेह मुहम्मद था। राज्य में अशान्ति फैली हुई थी। ऐसी हालत में शान्ति स्थापना के लिए राज परिवार ने अंगरेजों की मदद मांगी। अंगरेज तो ऐसे निमंत्रण का इन्तजार ही कर रहे थे। उन्होंने १८०९ में कच्छ के साथ एक सन्धि की जिसमें व्यवस्था थी कि अन्य यूरोपीयों और अमरीकियों को कच्छ नहीं आने दिया जायगा, डकैतों और लुटेरों का दमन किया जायगा और एक अंगरेज एजेन्ट दरबार में रखा जायगा। डकैतों का दमन अंगरेजों के लिए जरूरी था, क्योंकि पूर्वी कच्छ के वागर जिले से जाकर वे अंगरेजों के राज में लूट-पाट किया करते थे। इससे ज्यादा कच्छ के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप करना अंगरेज अधिकारियों ने उस वक्त उचित न समझा।

लेकिन इस सन्धि की शर्तें पूरी न की जा सकीं। राज्य की वास्तविक सत्ता उस वक्त राव के हाथ में न थी। वह थी वजीर फतेह मुहम्मद और दीवान हंसराज के हाथ में। वजीर फतेह मुहम्मद अंगरेजों का कट्टर विरोधी था और उनको काठियावाड़ से निकाल बाहर करने की योजना बना रहा था।[3] अंगरेजों ने मैकमुर्डो को फरवरी १८१३ में माण्डवी भेजा। उसने रिपोर्ट दी कि कच्छ के अधिकारी डकैतों का दमन करने में दिलचस्पी नहीं रखते, बल्कि उनकी मदद करते हैं।

१८१४ में राव भारमल द्वितीय गद्दी पर बैठे, लेकिन इससे अंगरेजों की मंशा पूरी न हुई। इनका मंत्री आसकरन कट्टर ब्रिटिश विरोधी था, इसलिए अंगरेज जो कुछ

---

१. बाम्बे गजेटियर, कच्छ, पृ० २११. २. वही, पृ० २७५.
३. बाम्बे गजेटियर, कच्छ आदि, पृ० १५४.

राजा से करा लेना चाहते थे, वह न करा सके। उन्होंने वागर के निवासियों को, जिन्हें अंग्रेज डकैत कहते थे, दमन करने से इन्कार किया। यही नहीं, उन्होंने उन लोगों को पुरस्कार दिया, जिन्होंने ३० अगस्त, १८१५ को कैप्टेन मैकमुर्डो के शिविर पर हमला किया था। वे अंगरेज एजेन्ट को राजधानी भुज से निकाल बाहर करने में भी समर्थ हुए।[१]

प्राय: इसी समय पेशवा बाजीराव द्वितीय काठियावाड़ के राजपूत राजाओं को अंगरेजों के खिलाफ खड़ा करने में समर्थ हुए। बड़ौदा के गायकवाड़ के यहाँ रहनेवाली कंपनी की सेना ने इन राजपूत राजाओं का दमन करना चाहा तो राव भारमल ने अपने अरब सिपाही नवानगर के विद्रोही राजा की मदद में भेजे।

अंगरेज अधिकारियों ने अब कच्छ के खिलाफ कड़ी कार्रवाई का फैसला किया। उन्होंने नवम्बर १८१५ के मध्य राव के पास पत्र भेजकर १८ लाख रुपए के हर्जाने का दावा किया। उन्होंने लिखा कि वागर के 'डकैतों' के हमलों के कारण उनका और उनके मित्रों का ८ लाख रुपए का नुकसान हुआ है और रक्षा की कार्रवाई में अंगरेज सरकार को १० लाख रुपए खर्च करने पड़े हैं। यह रकम कच्छ सरकार को देनी ही पड़ेगी। अगर उसने यह रकम न दी और 'डकैतों' के हमले न रोके, तो इसका बुरा परिणाम उसे भोगना पड़ेगा।

राव ने इसका कोई भी जवाब न दिया। अंगरेज अधिकारियों ने अपनी सेना कच्छ भेजी। १४ दिसम्बर, १८१५ को चार हजार सैनिकों को लेकर कर्नल ईस्ट ने कच्छ पर चढ़ाई की। वाण्डिया, अंजर, मूंदड़ा, माण्डवी और सीसागढ़ के सरदार युद्ध में पराजित हुए। बाध्य होकर राव को संधि करनी पड़ी। १८१६ की इस सन्धि के अनुसार राव डकैतों के हमलों और युद्ध के जरिए हुई क्षति को पूरा करने के लिए २० लाख रुपया अंगरेज अधिकारियों को देने को तैयार हुए। अंगरेजों ने इस मौके से लाभ उठा कर राव से अंजर का किला और तेईस गाँव छीन लिए।[२] राव को बाध्य होकर भुज में बम्बई की अंगरेज सरकार का एक एजेन्ट रखना पड़ा।

यह शान्ति चन्द दिन ही रही। झड़ेजा सरदार राव के मित्र थे, लेकिन कुछ नाराज होकर अंगरेजों से जा मिले। इधर राव के परिवार में झगड़ा खड़ा हो गया। उनका भतीजा उनका प्रतिद्वन्द्वी बन रहा था। राव ने उसे मरवा दिया। कुछ झड़ेजा सरदारों के निमंत्रण पर अंगरेज भतीजे की विधवा के मददगार बन कर सामने आये। अपने परिवार के इस झगड़े में अंगरेजों की दखलन्दाजी से राव आग बबूला हो गये। सन्धि की किसी भी धारा के अनुसार अंगरेजों को इस हस्तक्षेप का अधिकार न था। उन्होंने अंगरेजों को अपने देश से निकाल बाहर करने की कसम खाई और इसके लिए अरबों को सेना में भरती किया।

१. वही, पृ० १५७
२. विल्सन, वही पृ० २१

वे अंजर के किले को अंगरेजों से छीन लेना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने योजना भी बनायी, पर वह सफल न हुई। तब उन्होंने अरिसीर नामक नगर को जा घेरा, जिसका झड़ेजा सरदार अंगरेजों का वफादार था। अंगरेज शासकों ने राव पर चढ़ाई की। २४ मार्च, १८१९ को सर विलियम कीर के नेतृत्व में अंगरेज सेना भुज के पास पहुँची। अंगरेजों के पिट्ठू प्रमुख झड़ेजा सरदार उनके साथ थे। दूसरे दिन उन्होंने भुज के किले पर धावा बोल दिया। राव को बाध्य होकर घुटने टेकने पड़े। अंगरेजों ने १९ अप्रैल, १८१९ को उन्हें राजगद्दी से हटा दिया और उनके नाबालिक पुत्र को राव देसल द्वितीय के नाम से भुज की गद्दी पर बैठाया। इस नाबालिग का राज चलाने के लिए एक कमेटी बनायी गयी, जिसका अध्यक्ष अंगरेज रेजीडेन्ट था और जिसके सदस्य कुछ झड़ेजा सरदार थे। अंगरेजों ने इस नाबालिग पर १८१९ में एक सन्धि लाद दी, जिसमें हर साल दो लाख रुपया कंपनी को देने के लिए कच्छ को बाध्य किया गया। इसके बदले में कंपनी सरकार ने वादा किया कि वह बाहरी और अन्दरूनी दुश्मनों से कच्छ की अखंडता की रक्षा करेगी। झड़ेजा सरदारों की जागीरें उनके पास रहने दी गयीं, बदले में वादा कराया गया कि वे अपनी लड़कियों को जिन्दा रहने देंगे।

१८१६ में वागर में शान्ति की स्थापना के समय कुछ जमीन्दार, जो डकैती भी करते थे, पारकर भाग गये थे। राव ने उन लोगों को फिर से वही जागीर देने से इन्कार कर दिया था। इसलिए ये दुर्द्धर्ष डाकू गिरोहों के नेता बन बैठे थे। उनके लूटपाट के कार्यों का समर्थन 'खोसा' जाति वाले और सिन्ध के अमीर करते थे। ये सरदार लूटपाट के लिए गुजरात और कच्छ पर हमले करते थे। मई १८१९ में ८०० आदमियों के गिरोह ने खाड़ी के बहुत करीब दक्षिण वागर को लूट लिया और सम्पन्न गाँवों को उजाड़ दिया।

अंगरेज शासकों ने अब इनसे मित्रता के लिए हाथ बढ़ाया। उन्होंने ग्रासियाओं अर्थात् इन जागीरदारों को जमीन देकर फिर से वागर में बसाया। सिर्फ उनसे अंगरेजों के प्रति वफादारी का वादा कराया। किन्तु इसी से अंगरेज कच्छ में शान्ति स्थापित न कर सके। एक तरफ अन्दर ही अन्दर अंगरेजों को मार भगाने की योजनाएँ बन रही थीं और दूसरी तरफ सिन्ध से लोग आ-आकर लूटपाट मचा रहे थे। अंगरेजों ने शान्ति की स्थापना के लिए सिन्ध के अमीरों का सहयोग लिया। ९ नवम्बर, १८२० को उनके और अमीरों के बीच सन्धि हुई और अमीरों को खोसा लोगों के हमले को रोकने का काम सौंपा गया। लेकिन ये अमीर तो खुद ही अंगरेजों के खिलाफ थे, इसलिए अंगरेज कच्छ में शान्ति स्थापित करने में असफल रहे।

ऐसी हालत में १८२४ के दिन आये। बर्मा के युद्ध में अंगरेजों की करारी हार की खबर यहाँ भी पहुँची। इसी बीच अंगरेजों ने अपने व्यवहार से बहुत से झड़ेजा सरदारों को रुष्ट कर दिया था, बहुतों को उन्होंने देश-निकाला दे दिया था। वे सिन्ध में रहते थे और वहाँ से आक्रमण कर अंगरेजों को हैरान करते। सिन्ध के अमीर भी उन्हें बढ़ावा देते।

कच्छ में अंगरेजों की सेना कम देख इन सब अंगरेज-विरोधियों ने हाथ मिलाया और उन्हें निकाल बाहर करने की कोशिश की। झड़ेजा सरदारों ने गद्दी से हटाये गये राजा भारमल को फिर से गद्दी पर बैठाने और अपने खोये किले प्राप्त करने का प्रयत्न किया। सिन्ध के अमीरों की मदद से उन्होंने लगभग दो हजार मियानी और सिन्धी सैनिक जमा किये। १८२५ के आरम्भ में सदल बल सीमा पारकर उन्होंने एक आवेदन-पत्र ब्रिटिश रेजिडेन्ट कैप्टेन वाल्टर को दिया। इस पत्र पर सरक जस, मीमा जूमू आदि के दस्तखत थे। इसमें कहा गया था :

"हम ग्रासिया (जागीरदार) हैं, अगर आप राव भारमल जी को फिर राजगद्दी दे देंगे तो हम आपके सेवक बनकर रहेंगे।"[1]

अंगरेजों के हाथ में सेना इतनी कम थी कि वे राजधानी छोड़कर और कहीं की रक्षा न कर सकते थे। विद्रोही अबाध गति से आगे बढ़ते गये। वे अंजर के पास पहुँच गये और हब्बाई पहाड़ियों के एक मजबूत किले पर चढ़ गये। उनके एक जत्थे ने बेलारी के किले पर अधिकार कर लिया और राजधानी भुज तथा राज्य के बाकी हिस्सों के बीच सम्बन्ध काट दिया। अंगरेज शासक ने एक देशी पल्टन विद्रोहियों को बेलारी से मार भगाने को भेजा, लेकिन वह खुद मार खाकर भाग आयी। इस देशी पल्टन का नेतृत्व करनेवाले कई झड़ेजा सरदार मारे गये।

तब भुज के किले से अंगरेजी पल्टन भेजी गयी। यह विद्रोहियों से बेलारी का किला छीनने और कैदियों को छुड़ाने में सफल हुई। लेकिन जब अंगरेज पल्टन बेलारी पर आक्रमण कर रही थी, विद्रोही अंजर के किले पर चढ़ आये। इसकी रक्षा के लिए अंगरेज शासकों ने अरब भरती कर रखे थे। इन अरबों ने इसकी हिफाजत बड़ी बहादुरी के साथ की। काफी बड़ी लड़ाई के बाद विद्रोहियों को पीछे हटना पड़ा। वे कैमाल की पहाड़ियों में चले गये। वहाँ भी जब उनका पीछा किया गया तो वे रन में जाकर गायब हो गये।

उन्होंने फिर बड़ी सेना कच्छ और सिन्ध की सीमा पर इकट्ठा की। अंगरेजों ने देख लिया कि कच्छ में ज्यादा सेना भेजे बगैर वे उसे विद्रोहियों के हाथ से न बचा सकेंगे। इसलिए खेड़ा और बम्बई से फौज मंगायी गयी। एक विशाल सेना इकट्ठी की गयी और उसके सेनापति कर्नल एम. नेपियर बनाये गये। इसी बीच बर्मा में अंगरेजों की हालत सुधर चली थी और भरतपुर के किले पर अंगरेजों का अधिकार हो गया था। इससे सिन्ध के अमीर अब खुल कर विद्रोहियों की मदद करने से हिचकिचाने लगे। अंगरेजों ने फिर अमीरों को अपनी तरफ खींचने की कोशिश की। उनके और अंगरेजों के सम्बन्ध कुछ सुधर गये, लेकिन फिर भी अमीर विद्रोहियों के दमन में अंगरेजों का साथ देने को तैयार न हुए।

इस विशाल सेना के इस्तेमाल के साथ-साथ अंगरेजों ने एक और रास्ता अपनाया। उन्होंने झड़ेजा सरदारों की सभा की और उसमें खुल कर धमकी दी कि जो सरदार

१. होरेस हेमैन विल्सन, वही, पृ० १७८.

साथ न देगा, उसे विद्रोही करार दिया जायगा और उसकी जागीर छीन ली जायगी। मैल्कम ने इस सभा में बोलते हुए झड़ेजा सरदारों को याद दिलाया कि अंगरेज सरकार ने उन्हें जागीरें दे रखी हैं और इसके बदले वह उनसे एक कौड़ी भी नहीं लेती। लेकिन अंगरेज सरकार आशा करती है कि ये सरदार लूटपाट से अपने शहरों की और बरबादी से अपने खेतों की रक्षा करेंगे। उसने चेतावनी दी :

"और अब इसके बाद जो भी सरदार अपने दुश्मनों या लुटेरों का मुकाबिला करने और नष्ट करने में निष्क्रिय रहेगा और जो भरसक चेष्टा न करेगा, उसके साथ वैसा ही बर्ताव किया जायगा जैसा उनकी (दुश्मनों की) मदद करनेवालों के साथ किया जाता है और घोषणा कर दी जायगी कि उसने ब्रिटिश संरक्षण प्राप्त करने के सारे अधिकार खो दिये हैं; और यह सबसे कम दण्ड होगा।"[1]

इस तरह सख्ती कर अंगरेज शान्ति स्थापित कर सके।

१८३१ में फिर कच्छ में अशान्ति दीख पड़ी। इसके बड़े कारण अंगरेज शासकों द्वारा आम जनता पर लादे गये राजस्व के बोझ और उनके कायदे-कानून थे, जिनका आम जनता की जिन्दगी से कोई वास्ता न था। फिर लूटपाट शुरू हो गयी। किसानों ने विदेशी शासन के प्रतीकों पर हमला करना आरम्भ किया। इस बढ़ती अशान्ति को देख कर अंगरेज शासकों के कान खड़े हो गये और १८३२ में उन्होंने घोषणा जारी की :

"जनता को सूचित किया जाता है कि सब क्षेत्रों में देश की पुरानी प्रथाओं और रीति-रस्मों को फिर से जारी करना और बड़ी कठोरता के साथ उनका पालन करना सरकार का इरादा है ताकि सार्वजनिक शान्ति व्यवस्था बनायी रखी जा सके।"[2]

१८४३ में सिन्ध की विजय से पारकर और थर के अंचल कंपनी सरकार के हाथ आ गये। इन पर अधिकार हो जाने से इन अंचलों से कच्छ पर हमले की गुंजाइश कम हो गयी। इसलिए क्रमशः कच्छ में शान्ति दीख पड़ने लगी।

इस तरह कच्छवासियों का विद्रोह क्रमशः कुचल दिया गया। अंगरेजों का पिट्ठू देसल जी १८३४ में बालिग हो गया। इसलिए रीजेन्सी समाप्त कर दी गयी। उसके हाथ में कच्छ का शासन सौंप दिया गया। लेकिन आम कच्छवासियों की क्या हालत हुई? किसानों के हाथ से जमीन निकलती गयी, जागीरदार उन्हें रास्ते का भिखारी बनाते रहे। मिसेज पोस्टन्स ने १८३७ में लिखा कि "बहुत वर्षों के बाद कच्छ में शान्ति व्यवस्था फिर स्थापित हो गयी है।" उन्होंने राव देसल जी की सरकार को सुखी और सम्पन्न बताया, लेकिन साथ ही लिखा :

"वास्तविक किसानों की हालत शोचनीय है. किसी तरह पेट भरने से ज्यादा वे कुछ कमा नहीं पाते, शोषक ग्रासिया (जागीरदार) उन्हें अपनी जमीन से बेदखल किया करते हैं।"

अंगरेज बनिये, देशी जागीदार और सामन्त मिलकर आम जनता को तबाह और बरबाद करने लगे।

---

१. बाम्बे गजेटियर, कच्छ आदि, पृ० २६०, २६७, २७२.

२. पी० पी० १८५२-५३, खण्ड ११, पेपर १६२, पृ० ११; शशिभूषण चौधरी, वही, पृ० १६४.

अध्याय ३४

बरेली का विद्रोह

(१८१६)

सआदत अली खाँ का जिक्र हम पहले कर आये हैं। अंगरेजों के इस पिट्ठू ने जनवरी १८०१ की संधि से रुहेलखण्ड कंपनी को सौंप दिया। अवध में कंपनी की सेना के खर्च के सिलसिले में जो 'कर्ज' उस पर चढ़ गया था, उसी के बदले उसने अपने राज्य का एक महत्वपूर्ण प्रान्त अंगरेजों को दे दिया।

वीर रुहेलों ने अपनी बरेली को अंगरेजों के हाथ जाते बड़े दुःख और क्षोभ के साथ देखा। यह क्षोभ किसी भी वक्त फट पड़ने को तैयार था। १८१६ का बरेली का विद्रोह इसी का परिणाम था।

विद्रोह का फौरी कारण पुलिस टैक्स का लगाया जाना था। पहले बरेली के बाजार में पहरा देने के लिए चौकीदार थे। उन्हें एक रुपया महीना वेतन दिया जाता। इस खर्च को पूरा करने के लिए लोग अपनी मर्जी से चन्दा देते थे। १८१४ के रेगुलेशन १६ के जरिए यह व्यवस्था बदल दी गयी। चौकीदारों का वेतन ३ रुपया महीना कर दिया गया, लेकिन इसके खर्च को पूरा करने के लिए हर परिवार पर पुलिस टैक्स लगा दिया गया। इस जबरिया वसूली से लोगों ने स्वभावतः अनुमान लगाया कि यह तो अन्य टैक्सों के लगाये जाने की शुरुआत है। बनारस में गृहकर को लेकर हड़ताल हुई थी, बरेली में पुलिस टैक्स के चलते विद्रोह हो गया।

आरंभ में बरेली के आन्दोलन ने बनारस के आन्दोलन का ही अनुकरण किया। इतिहासकार मिल के अनुसार यहाँ भी :

> "व्यवसाय ठप्प हो गया, दूकानें बन्द कर दी गयीं, और भीड़ टैक्स को रद्द करने का आवेदन करने के लिए मजिस्ट्रेट के दफ्तर के नजदीक इकट्ठा हो गयी. . ।"[1]

सभाएँ होने लगीं, जिनमें इस टैक्स को हटाने की मांग की जाती; सारे शहर में पोस्टर लगाये गये, कितने ही गाने बन गये जो अंगरेजों की लूट का चित्रण करते। सब वर्गों की जनता इस कर के खिलाफ उठ खड़ी हुई। उसका असंतोष बढ़ता गया।

इस कर को वसूल करने की जिम्मेदारी जिसे दी गयी, उसने एक का तीन वसूल करना शुरू किया। इस वसूली में हर तरह की सख्ती बरती जाती। उसके खिलाफ कहीं भी सुनवाही न थी। इसी बीच वहाँ मुफ्ती मुहम्मद एवाज आ पहुँचे। वे वयोवृद्ध थे और सारे रुहेलखण्ड में सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे। २७ मार्च, १८१६ को उन्होंने मजिस्ट्रेट के सामने कर रद्द करने की दरख्वास्त पेश की, लेकिन उस पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। इससे सरगरमी बढ़ चली।

---

१. होरेस हेमैन विल्सन, मिल्स हिस्ट्री आफ इंडिया, खण्ड २, पृ० १२१.

लेकिन इस विक्षोभ ने उग्र रूप १६ अप्रैल, १८१६ को धारण किया। उस दिन कर वसूल करने के सिलसिले में पुलिस ने एक औरत को घायल कर दिया था। इतिहासकार मिल ने इस घटना के बारे में लिखा है कि इस अवसर पर खुद मजिस्ट्रेट डम्बलटन कर वसूल करवा रहा था। उसी के हुक्म से पुलिस ने एक व्यापारी की दूकान जबर्दस्ती खोली जिसने पुलिस कर न दिया था। ऐसा करने में एक औरत को चोट आ गयी।[1]

घायल औरत मजिस्ट्रेट के निवास-स्थान पर ले जायी गयी और इन्साफ की मांग की गयी, लेकिन उसे अदालत में दरख्वास्त देने को कह कर भगा दिया गया। इससे लोगों का गुस्सा बढ़ गया। वे बरेली की सड़कों में, खासकर मुफ्ती के निवास स्थान के आस-पास जमा हो गये। इसी बीच मजिस्ट्रेट कुछ घुड़सवारों और सिपाहियों के साथ मुफ्ती को पकड़ने आ पहुँचा। भीड़ ने उसका मुकाबला किया। कितने ही लोग मारे गये, जिनमें मुफ्ती के दो शिष्य भी थे। मुफ्ती को खुद भी कुछ चोट आयी, पर वे अंगरेजों के चंगुल से बच कर निकल गये। वे शाहदरा पहुँचे और स्वतंत्रता का हरा झण्डा फहराया।

मुफ्ती पर हमले को मुसलमानों ने अपने धर्म पर हमला माना और वे हथियार ले ले कर पीलीभीत, शाहजहाँपुर, रामपुर आदि से शाहदरा आ पहुँचे। अनुमान लगाया गया है कि इन लोगों की संख्या दस-पन्द्रह हजार रही होगी।[2]

इसी बीच विद्रोही नेताओं और कंपनी सरकार के बीच समझौते की भी बात चली, लेकिन अन्त में यह वार्ता असफल रही। जनता का गुस्सा आखिरकार २१ अप्रैल, १८१६ को फट पड़ा। उसने कंपनी के सैनिकों से खुल कर मोर्चा लेना शुरू कर दिया। मजिस्ट्रेट के पास जो सेना थी वह नाकाफी समझी गयी। इसलिए कैप्टेन कनिंघम और मेजर रिचार्ड के नेतृत्व में तेरहवीं पलटन की दूसरी बटालियन बरेली भेजी गयी। विद्रोहियों ने पहले कंपनी की सेना को कई बार मार भगाया, लेकिन क्रमशः अंगरेजों के पैर युद्ध क्षेत्र में जमने लगे। अन्त में कनिंघम ने कबरिस्तान के पास विद्रोहियों की मोर्चेबन्दी तोड़ दी और उनका पीछा करते हुए पुराने शहर में घुस गया। अंगरेजों के बयान के अनुसार इस लड़ाई में तीन सौ से ज्यादा विद्रोही मारे गये। कंपनी की सेना के सिर्फ २१ आदमी मारे गये तथा ६२ आदमी घायल हुए।

इस तरह विद्रोह समाप्त हो गया। कितने ही लोगों को कड़ी सजा दी गयी और मुफ्ती को देश निकाला दे दिया गया। संगीनों के जोर से बरेलीवासियों को पुलिस कर देने को मजबूर किया गया।

१. मिल, वही, पृ० ८८.
२. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, पीलीभीत, पृ० १६२.

अध्याय ३५

हाथरस की चुनौती

(१८१७)

बरेली के विद्रोह के एक साल बाद ही अंगरेजों को नवविजित आगरा प्रान्त में एक और विद्रोह का दमन करना पड़ा। यह विद्रोह था अलीगढ़ के सिपाहियों, किसानों और जमीन्दारों का। इस विद्रोह का प्रधान केन्द्र हाथरस था जिसका दुर्ग 'दूसरा भरतपुर का किला' माना जाता था।

मराठों की पराजय के बाद अंगरेजों ने आगरा प्रान्त पर कब्जा किया, लेकिन इस प्रान्त पर अपना पूर्ण अधिकार स्थापित करने में जितने विरोध का सामना उन्हें अलीगढ़ में करना पड़ा, उतना अन्यत्र नहीं। मराठा सेना के भंग होने से कितने ही सैनिक बेकार हो गये। उन्होंने छोटे-बड़े गिरोह बनाकर नये शासकों की नाक में दम कर दिया। इन सैनिकों तथा किसानों और जमीन्दारों का मोर्चा जगह-जगह देखा गया। किलों और जंगलों ने उनकी काफी मदद की। यहाँ से वे कंपनी राज को चुनौती देते। अंगरेजों ने इन्हें डकैत आदि भी कहा और उनके दमन का कदम १८०६ में ही उठाया। कर्नल गार्डनर के नेतृत्व में ५० घुड़सवार इस काम के लिए भेजे गये; लेकिन मुट्ठी भर सैनिक बहुत ही नाकाफी थे। अशान्ति चारों तरफ जारी रही, अंगरेजी हुकूमत किसी को स्वीकार न थी।

अंगरेजों के खिलाफ इस बगावत के लिए उत्तरदायी थे अवा के ठाकुर हीरा सिंह। उनकी देखा-देखी अनेक जमीन्दारों ने अपनी कोठियों को किले में बदल दिया। १८१४ में हालत इतनी बिगड़ गयी कि विद्रोहियों को दबाने के लिए सेना भेजी गयी।

हाथरस और मुरसान विद्रोहियों के मुख्य केन्द्र थे। हाथरस के तालुकदार दयाराम थे। उनके किले की रक्षा आठ हजार सिपाही करते थे जिनमें साढ़े तीन हजार घुड़सवार थे। किले की बुर्ज पर तोपें लगी थीं।

कंपनी ने पहले हाथरस और मुरसान के बारे में क्रमश: दयाराम और भगवन्त सिंह से समझौता किया। उन्हें बड़ा किसान मानकर ये तालुके उनके हाथ में रहने दिये गये। लेकिन कुछ ही साल के बाद इलियट ने आकर कंपनी की मांग बढ़ानी शुरू की। तीन साल के अन्दर इस जिले की मालगुजारी ३, ५२, ४३५ रुपया बढ़ा दी गयी।[1] जो लोग यह राजस्व न दे पाते थे, उनकी जमीन नीलाम पर चढ़ा दी जाती थी। इस तरह कितने ही छोटे-छोटे भूस्वामी बेदखल हो गये।

दयाराम और भगवन्त सिंह का भी राजस्व बाकी था। वे अंगरेजों के विरोधी थे

१. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर अलीगढ़, पृ० १४२-३

और अंगरेजों पर हमला करनेवालों की मदद करते थे। इसलिए अंगरेज अधिकारी मारजोरी बैंक्स ने कंपनी के सामने सुझाव पेश किया कि दयाराम और भगवन्त सिंह के हाथ से उनके तालुके छीन लिये जायें, उनके किले तोड़ दिये जायें और अन्य सुविधाएँ छीन ली जायें।

कंपनी ने दयाराम से मांग की कि वे अपनी वफादारी साबित करने के लिए अपनी सेना भंग कर दें और हाथरस का शक्तिशाली दुर्ग तोड़ दें। इसके उत्तर की भी विदेशी आक्रमणकारियों ने जरूरत नहीं समझी। उन्होंने तुरन्त एक डिवीजन सेना मेजर जनरल मार्शल के मातहत हाथरस पर आक्रमण करने के लिए भेज दी और चारों तरफ से सेना मंगायी। कानपुर, मथुरा और मेरठ की छावनियों से बड़े-बड़े तोपखाने मंगाये गये। तोपों का इतना बड़ा जमघट पहले भारत में एक जगह न देखा गया था।

१२ फरवरी १८१७ को कंपनी सेना ने हाथरस पर हमला किया और १७ फरवरी से शहर और किले का घेरा आरम्भ किया। दयाराम और उनके सिपाहियों ने बड़ी बहादुरी के साथ अंगरेजों का मुकाबिला किया। एक सप्ताह की भयंकर लड़ाई के बाद कंपनी सेना हाथरस शहर में घुस गयी। इसके बाद उसने भयंकर गोलाबारी किले पर की। जल्दी से विजय प्राप्त करना ही कंपनी सेना का लक्ष्य था। इसके लिए कुछ भी नुकसान सहने को कंपनी तैयार थी। विंसेन्ट स्मिथ ने इस पर लिखा :

> "गवर्नर जनरल ने, जो खुद अपने प्रधान सेनापति हैं, पहले ही अपने को संतुष्ट कर लिया था कि झूठी मितव्ययिता के विचार ने तोपखाने के व्यवहार को सीमित कर दिया था और इसी से भरतपुर तथा अन्य स्थानों में असफलता मिली थी। उन्होंने इस गल्ती को न दोहराने का निश्चय कर लिया था।"[१]

हाथरस का किला जिस तरह अपनी रक्षा कर रहा था, उससे ब्रिटेन में भी हलचल मच गयी थी। आखिरकार अंगरेज सेनापतियों ने भीषण गोलाबारी और सीधा आक्रमण करने का फैसला किया। २ मार्च को दयाराम दुर्ग छोड़कर चले गये और उस पर अंगरेजों का अधिकार हो गया। बहुत दिनों बाद वे फिर वापस आये और पेंशन लेकर बाकी जीवन बिताया।

हाथरस के किले के पतन का असर अलीगढ़ के बाकी विद्रोहियों पर पड़ा। मुरसान के राजा ने डर कर अपना किला तोड़ दिया और आत्मसमर्पण कर दिया। दूसरे विद्रोही भी दब गये। इस विद्रोह के नेता भी सामन्त वर्ग के ही लोग थे, हालांकि किसानों और सिपाहियों ने इसमें काफी हिस्सा लिया था।

१. विंसेन्ट स्मिथ, आक्सफोर्ड हिस्ट्री, पृ० ६४२

अध्याय ३६

कटक के पाइकों का मुक्ति संग्राम

(१८१७-१८)

जब दयाराम ने हाथरस में फिरंगियों के खिलाफ मोर्चा लगा रखा था और जब पूना में पेशवा अपने ब्रिटिश विरोधी मनोभाव प्रकट कर रहे थे, कटक में ऐसा भयंकर विद्रोह हुआ कि उसने कुछ समय के लिए कंपनी के राज का नाम मिटा दिया। कलकत्ता तथा मद्रास के बीच जमीन के रास्ते सारा सम्बन्ध विच्छेद हो गया। यही हालत कलकत्ता और पूना के बीच सम्बन्ध की भी हुई।[1] एक महीने तक यही हालत रही।

ओड़िसा के पाइक स्थानीय सेना के सिपाही थे। अपने सरदारों के नेतृत्व में उन्होंने मुगलों और मराठों के खिलाफ भयंकर युद्ध किये थे। मराठों के राज के समय उन्हें पुलिस का काम सौंपा गया था। अपनी सेवा के बदले उन्हें जमीन दी गयी थी जिसका कोई भी कर उन्हें न देना पड़ता था। अंगरेजों ने कटक का प्रान्त हथियाते ही इनकी नौकरियाँ खतम कर दीं। रुपए बटोरने के लोभ से उन्होंने इनकी जमीनें छीन लीं और उन पर भारी कर लगा कर नये जमीन्दारों के हाथ बेच दीं। कलकत्ते से कितने ही अंगरेजपरस्त बंगाली जमीन्दारों ने आकर यहाँ जमीन हथियाई।

अंगरेजों ने यहाँ के पुराने भूस्वामियों और प्रजा की हालत बदतर करने में कोर-कसर न की। जान-बूझ कर उनकी ताकत तोड़ने की गरज से भूमि-कर मनमाना बढ़ाया। कटक प्रान्त से मराठा सिर्फ १०, १५,००० रुपया सालाना वसूल करते थे। वह भी कभी वसूल किया जाता और कभी नहीं। अंगरेजों ने आते ही उसे बढ़ा कर ११, ८०,००० रुपया कर दिया अर्थात् १, ६५,००० रुपया बढ़ा दिया। १८१६-१७ में उन्होंने इसे और भी बढ़ा कर १३,८२,००० रुपया कर दिया।[2] इस तरह भूमि कर बढ़ा कर उन्होंने जमीन्दारों को भी बेदखल किया। इसलिए जहाँ १८०३ में ३,००० जमीन्दार थे, १८१७-१८ में १,४५० ही रह गये।

नये जमीन्दारों ने आकर बड़ी बेरहमी से राजस्व वसूल करना और कंपनी को सौंपना शुरू किया। उन्होंने सारे कटक प्रान्त को तबाह कर दिया। पाइकों की जमीनों पर भी राजस्व बैठाया गया और बेरहमी से वसूल किया गया। जिन्दा रहने के लिए पहले उन्होंने अपने घर का सामान बेचा, फिर बीबी-बच्चे बेचे और जब इतने पर भी गुजारा करना असंभव हो गया तो वे घर द्वार छोड़ कर जंगल भाग गये। अनुमान लगाया गया है कि इस तरह १८१६ में कम से कम ५-६ हजार घर सूने हो गये थे।

---

१. जेन्टिलमैन्स मैगजिन, अक्टूबर १८१७, पृ० ३५६; थार्नटन, चैप्टर्स एटसेट्रा (लन्दन, १८४०), पृ० ३०३; शशि भूषण चौधरी, वही, पृ० ६०

२. मिल, हिस्ट्री आफ इंडिया, खण्ड ८, पृ० ६७; शशिभूषण चौधरी, वही, पृ० ६०

इनके अलावा नमक की कीमत बेतहाशा बढ़ायी गयी। अंगरेजों के आने के समय नमक लगभग १४ आने मन मिलता था। अंगरेजों के राज में वह ६ रुपये बिकने लगा। पाइकों को हटा कर थाना-पुलिस लायी गयी। इन सबसे कटकवासियों का असंतोष ज्वालामुखी की तरह अन्दर ही अन्दर धधकने लगा।

खुर्दा के राजा के साथ ईस्ट इंडिया कंपनी ने जो अन्याय किया, उसने इस असंतोष को और भी बढ़ा दिया। ओड़िसा में अन्य जमीन्दारों की तरह यह राजा (मुकुन्द देव) भी एक जागीरदार था और पुरी के जगन्नाथ मंदिर के साथ उसका वंशगत सम्बन्ध था। ये जागीरदार अपने यहाँ पाइक रखते और शासक की मांग पर सेना समेत उसके पक्ष में लड़ने जाते। इसी सेवा के लिए उन्हें जागीर दी जाती थी। खुर्दा का जागीरदार बहुत ही जनप्रिय था। उसी के राज (१७९८-१८०५) में अंगरेजों ने ओड़िसा पर अधिकार किया था।

यह राजा मराठों को १५,००० रुपया वार्षिक देता था और वह भी हर साल नहीं। कंपनी ने ओड़िसा को हथियाते ही इस राजा से एक लाख रुपया सालाना की मांग की। राजा यह रकम देने में असमर्थ था। उसे असंतोष इस बात का भी था कि कंपनी ने उसके हाथ वे परगने नहीं सौंपे जिन्हें मराठों ने इस राजा से पहले छीन लिया था। सितम्बर १८०४ में कंपनी सरकार ने राजा पर ब्रिटिश विरोधी षड़यंत्र का आरोप लगाया और १८०५ में उसकी जागीर जप्त कर ली। उसे तीन साल कैद रखा गया। बाद में उसे पुरी के मंदिर का सुपरिंटेन्डेन्ट बना दिया गया और नाम मात्र को भत्ता दिया जाने लगा। इसके बाद तेजी से राजस्व बढ़ाया जाने लगा और १८१६ में १, ३८,००० रुपया वार्षिक कर दिया गया।[1] कहाँ १५,००० रुपया और कहाँ १,३८,००० रुपया! पाइकों की जमीन पर भी भूमि कर लग गया। इससे जागीरदार और पाइक दोनों ही उजड़ गये। खुर्दा के राजा के साथ किये गये व्यवहार से दूसरे जागीरदारों ने शिक्षा ली। वे समझ गये कि अंगरेज राज को उल्टे बगैर उनका कल्याण नहीं।

ऐसे समय विद्रोह का नेतृत्व करने के लिए एक नेता की जरूरत थी। खुर्दा राजा के बख्शी जगबन्धु विद्याधर महापात्र भवनवीर राय के रूप में उसे एक नेता भी मिल गया। उन्हें भी कई पुश्तों से किला गेरंग की जागीर मिली हुई थी। ओड़िसा पर कंपनी का अधिकार होने के बाद भी अंगरेजों ने इस जागीर का बन्दोबस्त इन्हीं के साथ किया था। लेकिन १८१४ में उनसे वह छीन ली गयी और एक कंपनीपरस्त बंगाली बाबू के हाथ सौंप दी गयी। कंपनी सरकार ने उनके आवेदन पत्रों पर कोई ध्यान न दिया। उल्टे उन्हें अदालत में मुकदमा लड़ कर अपना हक साबित करने को कहा। जगबन्धु ने कंपनी से न्याय पाने की आशा छोड़ दी। जागीर के हाथ से निकल जाने से उनकी आर्थिक हालत बहुत ही बिगड़ गयी।

मार्च १८१७ में ४०० खोंड़ गुमसुर से खुर्दा आ पहुँचे। अब सब असंतुष्ट तत्व

---

१. मिल, वही, खण्ड ८, पृ० १००; शशिभूषण चौधरी, वही, पृ० ६२

ऐक्यबद्ध हो गये। पाइकों ने अपने प्रिय नेता जगबन्धु के नेतृत्व में विद्रोह शुरू कर दिया। पहले उन्होंने बानपुर के थाने और सरकारी इमारतों पर हमला किया। कंपनी के एक सौ से ज्यादा आदमी उन्होंने खत्म कर दिये और १५,००० रु० खजाने से उठा ले गये।

विद्रोहियों की इस सफलता से सारे कटक में विद्रोह की आग फैल गयी। सब जगह पाइक और किसान मिलकर कंपनी सरकार के खिलाफ खड़े हो गये। विद्रोही खुर्दा की तरफ बढ़े। उनकी संख्या बढ़ती गयी। सारी सरकारी इमारतें जला कर ढहा दी गयीं, खजाना लूट लिया गया। सरकारी अफसर जान बचा कर भाग खड़े हुए। ब्रिटिश राज के सारे चिह्न मिट गये।

कटक से अंगरेज अधिकारियों ने विद्रोहियों के दमन के लिए सेना भेजी। एक सेना सीधा खुर्दा गयी और दूसरी पिपली। मजिस्ट्रेट के नेतृत्व में ६० सिपाहियों की एक टुकड़ी पहली सेना से मिलने जा रही थी। विद्रोहियों ने २ अप्रैल १८१७ को खुर्दा से दो मील गंगपाड़ा में इसे घेर कर बहुत नुकसान पहुँचाया। कंपनी के सिपाहियों को भागना पड़ा। ४ अप्रैल १८१७ को वे वापस कटक आ गये। इस बीच खुर्दा के आस पास का सारा अंचल मुक्त हो गया था। पाइक खुर्दा के राजा को अपना राजा मानते थे और जगबन्धु राजा के नाम पर हुक्म जारी करते थे। मजिस्ट्रट ने रिपोर्ट दी :

"..   ..   ..खुर्दा का सारा अंचल पूर्ण विद्रोह की हालत में है। विद्रोही खुर्दा के राजा से आवेदन करते हैं और जगबन्धु राजा के नाम पर हुक्म जारी करते हैं। उनका पक्का इरादा पुरी की तरफ बढ़ने और विजय उल्लास के साथ उन्हें उनकी जागीर में फिर ले जाने का है।"[1]

कंपनी सेना की अन्य दो टुकड़ियों की हालत भी बदतर हुई। अपना सारा सामान छोड़ कर उन्हें वापस भागना पड़ा। पिपली पर पाइकों का अधिकार हो गया। लेकिन कंपनी की ५५० सैनिकों की एक टुकड़ी आगे बढ़ने और खुर्दा अंचल पर कब्जा करने में कामयाब हुई। अवश्य ही इसका नुकसान विद्रोहियों ने उसी तारीख (१२ अप्रैल) को पुरी के पास सुकल में विद्रोह करा कर और उसे तहस-नहस कर पूरा किया। उन्होने चारों तरफ से पुरी को घेर लिया। अंगरेजों की हालत बदतर हो गयी। पुरी मदिर के पुजारी ने खुलेआम घोषणा की कि अंगरेजों के राज का अन्त हो गया है और पुराने राजाओं का राज आ गया है।[2]

कंपनी सेना दो पाटों के बीच में पड़ गयी। सामने हजारों विद्रोही थे और पीछे समुद्र। उसे पुरी को भाग्य-भरोसे छोड़ कर भागना पड़ा। वह भाग कर १८ अप्रैल को कटक पहुँची।

इस पराजय का समाचार पाकर खुर्दा की कंपनी की सेना का अफसर कैप्टेन ले फेवरे अपने सैनिकों को जबर्दस्ती दौड़ाता हुआ पुरी आ पहुँचा। यहाँ एक हजार विद्रोहियों ने उसका मुकाबला किया। तोपों की लगातार गोलाबारी और सैन्य-संचालन से उसने

१. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर पुरी. पृ० ५३   २. वही, पृ० ५४

विद्रोहियों को हटा दिया और फिर पुरी पर कब्जा कर लिया। राजा उसके हाथ में पड़ गया।

मई के आरंभ में भी विद्रोहियों की ताकत बहुत जबर्दस्त थी। विद्रोह का दमन करना कंपनी के लिए मुश्किल हो रहा था। इसलिए उसने मार्शल्ला की घोषणा की और जनरल मार्टिनडेल ने विद्रोह के दमन का भार संभाला। कंपनी ने एक तरफ फौजी कार्रवाई और दूसरी तरफ आश्वासन आदि का सहारा लिया। इसका नतीजा हुआ कि १८१७ के अन्त तक विद्रोह बहुत कुछ शान्त हो गया। अवश्य ही कुछ कुछ जगहों में विद्रोही १८१८ में सारे साल कंपनी के खिलाफ लड़ते रहे।

सरकारी कागजात बताते हैं कि जगबन्धु को बागी घोषित कर दिया गया था और उनको पकड़वाने के लिए इनाम की घोषणा की गयी थी। जगबन्धु और दूसरे विद्रोहियों को नयागढ़ के राजा ने आश्रय दिया था। यहाँ से उन्हें निकाल बाहर करने में कंपनी को लोहे के चने चबाने पड़े।

विद्रोही दीनबन्धु सांतरा और उनके दल ने हार मानी और नवम्बर १८१८ में अंगरेजों के सामने आत्म समर्पण कर दिया। लेकिन जगबन्धु अंगरेजों से मोर्चा १८२१ तक लेते रहे। इनाम के बावजूद कटक की जनता ने अपने प्यारे नेता के साथ गद्दारी नहीं की। १८२५ में नयागढ़ के राजा ने जगबन्धु को आत्मसमर्पण करने के लिए तैयार कर लिया। उन्हें कटक में रहने की इजाजत दी गयी और सरकार की तरफ से १५० रु० प्रतिमाह पेंशन मंजूर की गयी।

इस विद्रोह की आंशिक सफलता स्वीकार करते हुए इतिहासकार ओ' मैली ने लिखा :

> "विद्रोह का फल इस माने में अच्छा हुआ कि इसने गलतियों को सुधारने और बुराइयों को दूर करने की, जिनकी वजह से ओड़िसा की जनता खिलाफ हो गयी थी, जरूरत का विश्वास सरकार को दिलाने में बड़ा काम किया। विद्रोह के कारणों की जाँच के लिए नियुक्त किये गये आयोग (कमीशन) ने रिपोर्ट दी कि दोष प्रशासन व्यवस्था का था और जनता की बहुत सी तथा वास्तविक शिकायतें थीं।"[१]

बकाया राजस्व बन्द कर दिया गया। बहुत सी जागीरों की बिक्री बन्द कर दी गयी। राजस्व कम कर दिया गया। १८२२ में सरकार की तरफ से घोषणा की गयी कि अच्छी तरह जाँच पड़ताल के बाद जमीन के नये समझौते किये जायेंगे। अपनी गल्तियों को सुधारने के लिए अंगरेज शासकों को कितने ही उदार प्रशासकीय कदम उठाने पड़े।

---

१. एल० एस० ओ० मैली, हिस्ट्री आफ बेंगाल, बिहार एण्ड ओरिस्सा अण्डर ब्रिटिश रूल, १९२५ का संस्करण, पृ० ३२६

अध्याय ३७

भील विद्रोह

(१८१८-१८३१)

उत्तर में विन्ध्याचल से लेकर दक्षिण-पच्छिम में सह्याद्रि या पच्छिमी घाट तक का अंचल भीलों का पुराना वासस्थान रहा है। खान देश में तो उनका प्रबल बहुमत रहा है। मैदानी हिस्से में वे खेती करते और शान्तिपूर्ण जीवन बिताते। वे स्वयं अपनी जमीनों के स्वामी थे। पहाड़ों के भील अपनी जीवन रक्षा के लिए आस पास के धनी जमींदारों को लूट भी लिया करते थे।

सामन्त-सरदारों ने भीलों को हर तरह सताया था। अरब सूदखोरों ने उनको तबाह कर दिया था। बाजीराव द्वितीय के पेशवा बनने के बाद जसवन्त राव होलकर ने विद्रोह किया, तो मराठा सेना ने आकर भीलों की बस्तियाँ उजाड़ दीं। दो साल तक जमीन जोती-बोयी न जा सकी। परिणाम भयंकर अकाल हुआ। फिर पेशवा के अफसरों के कुशासन ने उन्हें लूटा-खसोटा। १८१६ में पिण्डारियों ने पूर्वी पहाड़ियों के मुसलमान भीलों की मदद से इन भीलों पर ऐसे जुल्म ढाये कि उनके सामने मराठों और अरबों के जुल्म फीके पड़ गये। इन अत्याचारों से बचने के लिए भीलों ने भाग कर पहाड़ियों में शरण ली। सामन्त सरदारों के अत्याचारों ने उनमें विद्रोह की भावना भर दी। इस हालत में खान देश का प्रान्त अंगरेजों के हाथ आया। इन नये शासकों के खिलाफ भीलों का विद्रोह करना इसलिए स्वाभाविक था। ग्राहम ने लिखा :

"भूतपूर्व देशी सरदारों की बराबर वादाखिलाफी से क्रुद्ध और अपने परिवारों तथा नाते-रिश्तेदारों के कत्लेआम से बर्बर बन जाने वाले भील आमतौर पर विदेशियों की नयी सरकार को सन्देह की दृष्टि से देखते थे और व्यवस्था तथा नियंत्रण के बन्धन में बंधने को पहले से कहीं कम इच्छुक थे।"[१]

ग्राहम किसी भी साम्राज्यवादी की तरह अंगरेजों की गुलामी को 'व्यवस्था तथा नियंत्रण का बन्धन' बताते हैं, किन्तु वह इस सच्चाई को स्वीकार करते हैं कि सामन्त शासकों ने उनके साथ बार-बार दगाबाजी की, अपने वादे कभी पूरे न किये, उल्टे उनके परिवार के सब लोगों को मौत के घाट उतारा। इसलिए शासक वर्ग का विश्वास वे न करते थे। ग्राहम यह भी स्वीकार करते हैं कि भील अंगरेज शासकों को और भी सन्देह की नजर से देखते थे तथा उनकी गुलामी स्वीकार करने को कतई तैयार न थे।

इन असंतुष्ट भीलों ने उत्तर में सतपुड़ा की पहाड़ियों को और दक्षिण में सतमाला तथा अजन्ता की पहाड़ियों को अपना अड्डा बनाया था। उन्होंने अपने विभिन्न गुट बनाये,

१. ग्राहम, हिस्टोरिकल स्केच आफ द भील ट्राइब्स आफ खानदेश (१८४३), पृ० ४

उनके नेता चुने और अपने दुश्मनों से बदला लेने के लिए विभिन्न दिशाओं में चल पड़े। सहाद्रि के भीलों ने भी शान्तिपूर्ण जीवन छोड़ कर शस्त्र उठाये और आसपास के दुश्मनों के लिए आतंक बन गये।

१८१७ में खानदेश में भीलों का विद्रोह हुआ। अंगरेजों ने इस विद्रोह के पीछे पेशवा के मंत्री त्रियंबक का हाथ बताया। त्रियंबक थाना के किले से निकल भागे थे। भीलों के अंचल को उन्होंने अपने लिए सुरक्षित समझा। उनकी प्रेरणा से भीलों ने विद्रोह किया और अंगरेजों के राज में लूटपाट जारी कर दी। बम्बई प्रेसीडेन्सी के लाट एलफिस्टन ने बाजीराव द्वितीय पर दबाव डाला और मांग की कि वे त्रियंबक को गिरफ्तार कर अंगरेजों के हाथ सौंप दें। बाजीराव ने कहा कि त्रियंबक कभी भी विद्रोहियों के साथ नहीं रहे और एलफिस्टन का अनुरोध पूरा करने से इन्कार कर दिया। उनके उत्तर में एलफिस्टन ने लिखा :

"बहुत से लोगों ने त्रियंबक को देखा है और उनके दो भतीजे गोड़ा जी दंगल तथा महीपा दंगल अब खानदेश के विद्रोहियों के नेता हैं।"

एलफिस्टन ने यह भी लिखा कि विद्रोहियों की संख्या लगभग आठ हजार है।[१]

बम्बई प्रेसीडेन्सी के लाट का यह पत्र प्रमाण है कि खुद बाजीराव पेशवा द्वितीय की हमदर्दी त्रियंबक के साथ थी। दरअस्ल वे खुद अंग्रेजों को मार भगाने की योजना चुप ही चुप बना रहे थे।

१८१८ में खानदेश के अंगरेजों के हाथ आते ही भील उनसे भिड़ गये। अंगरेजों ने उनके दमन के लिए सक्रिय कदम उठाये। कैप्टेन ब्रिग्स ने उनके कई नेताओं को पकड़ लिया। भीलों की गतिविधि और रसद की सप्लाई रोकने के लिए अंगरेजों ने पहाड़ियों के दर्रों पर सेना बैठाई। सैनिक कार्रवाई के साथ-साथ एलफिस्टन ने भीलों को कितनी ही रियायतें देने की घोषणा की। एलान किया गया कि जो भील अंगरेजों की पुलिस में भर्ती होकर पहले की तरह पहरेदारी का काम करेंगे उन्हें बड़ी उदारता के साथ पेन्शन और भत्ता दिया जायगा। एलफिस्टन का विचार था कि अगर भीलों के सरदारों को अंगरेजों के पक्ष में लाया जा सका तो इस विद्रोह को शान्त और भीलों को अपने कब्जे में करना कंपनी सरकार के लिए आसान होगा। वह भील सरदारों के जरिए भीलों पर कंपनी का शासन लादन की नीति अपनाने का पक्षपाती था। इसी उद्देश्य से उसने भीलों की मिलिशिया कायम करने की योजना बनायी। इसका कुछ फल भी अंगरेजों को मिला। कुछ भील सरदार अंगरेजों के प्रति नरम पड़ गये और अंगरेजों के कट्टर दुश्मन नादिर सिंह को उल्टा सीधा समझा बुझा कर दुश्मनों के हाथ गिरफ्तार करा दिया।[१]

लेकिन आम भील अंगरेजों के खिलाफ बने रहे। १८१९ में उन्होंने चारों तरफ

१. फारेस्ट, अफीशियल राइटिंग्स आफ एलफिंस्टन, पृ० २२७, २३७

१. शशिभूषण चौधरी, वही, पृ० १५८

विद्रोह आरंभ किया। उनके नेताओं ने पहाड़ी अंचल की विभिन्न चौकियों पर कब्जा किया और अपने दस्ते चारों तरफ भेज कर अंगरेज शासकों की नाक में दम कर दिया। कंपनी सरकार न फौज की कई टुकड़ियां उनका दमन करने भेजीं। उन्होंने कुछ चौकियों पर कब्जा किया, लकिन विद्रोह का दमन न किया जा सका। पुराने नेताओं के अभाव में नये नेता पैदा हो जाते और उन चौकियों की रक्षा करते। इस तरह युद्ध पहाड़ियों और जंगलों में जारी रहा। भील अजेय बने रहे।

कंपनी सरकार ने दूसरा दाँव फेंका। उसने एलान किया कि जो भील हथियार रख देंगे, उन्हें माफ कर दिया जायगा, लेकिन भीलों ने उस पर कोई कान न दिया। अब अंगरेजों ने अपना दमनचक्र तेज किया। उन्होंने उनके नेताओं को पकड़ कर फांसी पर लटकाना शुरू किया। सतमाला पहाड़ी के भील सरदार चील नायक उनके हाथ में पड़ गये। अंगरेजों ने उन्हें फाँसी दे दी। लेकिन यह दमन चक्र भी कारगर न हुआ। अंगरेजों के विरुद्ध साधारण जनता की भावना इतनी प्रबल थी कि कंपनी द्वारा नियुक्त गाँवों के चौकीदार भी विद्रोही भीलों की मदद करते थे।

१८२० में भील सरदार दशरथ ने अंगरेजों के खिलाफ पुरजोर हमला शुरू किया। कंपनी सरकार के अंचलों में घुस-घुस कर उन्होंने मार काट, लूट पाट आरंभ कर दी। मशहूर पिण्डारी सरदार शेख दुल्ला ने उनका साथ दिया। इस सम्मिलित शक्ति का मुकाबिला करने का फैसला अंगरेज़ों ने तुरन्त किया और मेजर मोरिन को इसकी हिदायत दी। इसने एक-एक कर प्राय: एक सौ मील लम्बी पट्टी की चौकियों पर कब्जा कर लिया और क्रमश: दक्षिण के भील सरदारों को आत्मसमर्पण करन को बाध्य किया।[1]

१८२२ में मशहूर नेता हिरिया के नेतृत्व में भीलों ने अंगरेज शासकों को चुनौती दी। उनके हमल रोके न जा सके। सब जगह अराजकता जैसी फैल गयी। लगता था कि कहीं भी कंपनी का राज नहीं रह गया। अंगरेज शासकों के अन्दर भी आतंक सा फैल गया। भीलों के दल चारों तरफ कंपनी राज पर हमला करते, लूट-पाट मचाते। अंगरेज शासन के स्तंभ मामलातदारों की पिंडली भय से कांपन लगी।

१८२३ में कर्नल राबिन्सन सेना लेकर अप्रैल में विद्रोहियों का मुकाबिला करने आया। उसने विद्रोहियों को तिर-बितर करने और उनकी बस्तियों को उजाड़ने में कुछ सफलता पायी। इसके बाद दो वर्ष तक अंगरेज भीलों का कत्ल करते और उनकी बस्तियों में आग लगाते रहे। कितनों ही को पकड़ कर उसी वक्त मार दिया गया, कितनों ही को कड़ी सजाएँ दी गयी।[2]

१८२४ में हालत और भी बिगड़ी। त्रियंबक के भतीजे गोड़ा जी दंगलिया ने सतारा के राजा के नाम पर बागलाना के भीलों का विद्रोह के लिए और मराठा साम्राज्य की फिर से स्थापना में मदद के लिए आवाहन किया।[3] बहादुर भील इस आवाहन को

१. ग्राहम, वही, पृ० १५
२. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, खानदेश, पृ० २५७-६०
३. विल्सन, वही, पृ० १६६

सुनकर अंगरेजों के राज को खत्म करने को आगे बढ़े। कितनी ही जगह उन्होंने कंपनी सेना को हराया और मुरलीहर के पहाड़ी किले पर कब्जा कर लिया।

उनका दमन करने को कंपनी की बड़ी सेना आयी। उसे आधुनिक अस्त्रों-शस्त्रों से सज्जित देख भील किले से हट गये और पहाड़ियों में जाकर अपना मोर्चा लगाया। हैदराबाद और दक्षिण से नयी सेनाओं ने आकर हालत संभाली।

कुछ इतिहासकारों ने ऐसी ही घटना १८२५ में बतायी है। उनके अनुसार शिवराम नामक सोनार ने सतारा के राजा के नाम पर बागलान के भीलों की बगावत करायी। करीब ८ सौ भीलों ने उन्तापुर पर हमला कर उसे लूट लिया और मुरलीहर पर कब्जा कर लिया। लेफ्टिनेन्ट आउटराम ने आकर किले को विद्रोहियों के हाथ से छीन लिया। बाद में अंगरेज शिवराम और दूसरे विद्रोहियों का दमन करने में सफल हुए।

बहुत से विद्रोहियों को माफ किया गया और उन्हें शान्ति के साथ खेती करने की इजाजत दी गयी। भीलों की सेना बनायी गयी, जमीन का बन्दोबस्त किया गया और भीलों को काफी तकाबी देने की व्यवस्था की गयी। लेकिन फिर भी जल्दी शान्ति स्थापित न हो सकी। गाँव के पटेल तक विद्रोही भीलों की मदद करते देखे गये। पेंडिया, बुन्दी, सुतवा आदि भील सरदार अंगरेज शासकों के खिलाफ लड़ते रहे। लेफ्टिनेन्ट आउटराम, कैप्टेन ओवान्स और कैप्टेन रिगबी ने साम, दाम, भय, भेद आदि से विद्रोह को शान्त करने में पूरी ताकत लगायी।

इन सब में आउटराम ने भीलों को अंगरेजों के पक्ष में मिलाने में सबसे ज्यादा काम किया। वह भीलों को मित्र बनाता, उनकी बस्तियों में अकेले जाकर हफ्तों रहता और विश्वास दिलाता कि कंपनी सरकार सचमुच भीलों को मित्र बनाना चाहती है, तकाबी आदि से उनकी मदद करना चाहती है, भीलों को सेना में भरती कर उनकी मदद से वह भारत में राज करना चाहती है और जो कुछ वादा करती है, वह अवश्य पूरा करेगी।[1]

इसका परिणाम भी अंगरेज शासकों के लिए अच्छा हुआ। कितने ही भील सेना में भरती हो गये, कितने ही खेती कर शान्तिपूर्ण जीवन बिताने लगे। नये शासकों ने उन्हें जमीन, बैल, बीज आदि की मदद दी।

१८२६ में दांग सरदारों और लोहारा के भीलों ने अंगरेजों के खिलाफ मोर्चा लगाया। फौज काफी खून-खराबा के बाद उनका दमन कर सकी। यहाँ देशमुखों को भी विद्रोही भीलों की मदद करते देखा गया।

१८२७ में आउटराम द्वारा स्थपित 'भील सेना' ने मोर्चा लेना शुरू किया। काँटे से काँटा निकालने की अंगरेजों की नीति काफी सफल रही। कितने ही विद्रोही भीलों की इस भील सेना ने हत्या की।

१८२८ में हालत सुधरी मालूम होती थी। कलक्टर ने रिपोर्ट भेजी कि पिछले ६ महीनों में सर्वत्र शान्ति रही। बीस साल के दौरान सिर्फ इन ६ महीनों में ही इस

१. ग्राहम, वही, पृ० १५-२१

अंचल ने शान्ति देखी है। लेकिन इसके बाद कई साल तक विद्रोह की आग जलती रही।

१८३१ में धार राज्य के भीलों ने विद्रोह किया। उनके विद्रोह का कारण धार सरकार की उनकी जमीन छीनने और उनसे अनाप-सनाप कर वसूल करने की नीति थी। विद्रोही भीलों के नेता उचेत सिंह ने धार की गद्दी का भी दावा किया। उन्होंने अपने को सुप्रसिद्ध मुरारी राव पवार का पुत्र घोषित किया। मुरारी राव ने अपनी भील सेना लेकर राज्य पर अधिकार के लिए धार के राजा के साथ युद्ध किया था। भीलों ने उचेत सिंह को अपना नेता माना और विद्रोह में उनका साथ दिया।

धार के राजा ने विद्रोह शान्त करने के लिए आउटराम की मदद मांगी। आउटराम ने आकर अपना पहले का रास्ता अपनाया और धैर्य के साथ उन्हें अपना मित्र बनाया।

अवश्य ही भीलों के विद्रोहों का अन्त यहीं नहीं हो जाता। १८४६ में मालवा के भीलों ने विद्रोह किया। खानदेश के भीलों ने १८५२ में मोर्चा लगाया। फिर उन्होंने १८५७ में भागोजी तथा काजर सिंह के नेतृत्व में अंगरेज साम्राजियों से लोहा लिया। अवश्य ही ये बुरी तरह दबा दिये गये।[1]

१. इम्पीरियल गजेटियर आफ इंडिया, बाम्बे प्रेसीडेन्सी, खण्ड १, पृ० ४१८

अध्याय ३८

हो आदिवासियों का मोर्चा

(१८२०-२१)

धलभूमि पर पहली चढ़ाई (१७६७) के वक्त अंगरेज पोराहाट (पुरीहाटी) के राजा के सम्पर्क में आये जो उस वक्त वीरभूम का राजा कहलाता था। इस राजा का नाम जगन्नाथ सिंह था। उसे उसके भतीजे ने कैद कर रखा था। अंगरेजों की सफलता देख राजा ने अपना दूत उनके पास भेजा, उनकी सहायता मांगी और सूचित किया कि वह अंगरेजों की अधीनता स्वीकार करने तथा वार्षिक कर देने को तैयार है। अंगरेज तो इसी तरह भारतीय राजाओं को अपनी शरण में आते देखने और उनका संरक्षक बन सारे भारत में ब्रिटिश राज्य लाने को उत्सुक रहते थे। यह प्रस्ताव पाते ही मेदिनीपुर के अंगरेज रेजीडेन्ट जार्ज वसीटार्ट ने दिसम्बर १७७६ को कलकत्ते में कंपनी सरकार के तत्कालीन प्रधान वेरेल्स्ट के पास लिख भेजा :

> "सिंहभूमि (राज्य) में पहले लगभग १४,००० गाँव थे, लेकिन इस वक्त केवल लगभग ५०० गाँव राजा के अधिकार में रह गये हैं। दूसरों में से कुछ तो नष्ट हो चुके हैं। बाकी कोलों के, जो लूट पाट करने वाले डकैतों की उपजाति है, हाथ में हैं। यह राजा विवाह के जरिए संभलपुर के राजा का दूर का सम्बन्धी है। दोनों रियासतों के बीच बराबर पत्राचार होता है और व्यापारियों के बीच अबाध आदान-प्रदान हुआ करता है। वे एक दूसरे से लगभग ९० कोस की दूरी पर हैं और दोनों के बीच साधारणत: सारे रास्ते अच्छी सड़क है। मुगलों के राज में सिंहभूम कभी भी पराधीन नहीं हुआ ; बल्कि ५२ पीढ़ियों से स्वतंत्र और वर्तमान परिवार के अधिकार में रहा है। अगर आप इस देश को कंपनी के संरक्षण में लेने की सम्मति दें, तो मेरा विश्वास है कि सिपाहियों की चार कंपनियां काफी सेना होंगी और इससे संभवत: संभलपुर के साथ आसानी से परस्पर सम्बन्ध का दरवाजा खुल जायगा।"[१]

वन्सीटार्ट इस प्रकार इस राज्य को कंपनी के संरक्षण में लेने की सिफारिश कर रहा था। जिस राज्य को मुगल भी नहीं जीत सके, जो बावन पीढ़ियों से स्वतंत्र चला जा रहा है, वह कंपनी की अधीनता स्वीकार करने को तैयार है। वन्सीटार्ट के अनुसार ऐसा मौका नहीं चूकना चाहिए। यही नहीं, यह मुट्ठी में आ जाता है तो संभलपुर को भी मुट्ठी में लाना आसान होगा।

इस सिफारिश के पाते ही कलक्टर जनरल ने वन्सीटार्ट को दो जासूस सिंहभूम भेजने

१. बेंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, सिंहभूम, सराइकेला एण्ड खर्सवान, पृ० ११

का आदेश दिया जो उस राज्य और किले में सेना के बारे में जानकारी हासिल करके आयेंगे। साथ ही वे यह भी खबर ले आयेंगे कि किसी प्रकार मराठे तो इस पर दावा नहीं करते, क्योंकि उस वक्त मराठों से भिड़ना कंपनी के बूते के बाहर की बात थी।

इस आदेश के अनुसार दो सिपाही सिंहभूमि भेजे गये। लेकिन उन्हें जल्दी ही वापस आना पड़ा, क्योंकि ज्योंही वे सिंहभूम के अन्दर एक या दो कोस पहुँचे, उन्हें वापस जाने को बाध्य किया गया। किन्तु वे यह जानकारी ले आये कि राजा जगन्नाथ सिंह अपने भतीजे शिवनाथ सिंह की मुट्ठी में है, राजा पोराहाट में रहता है और सिंहभूम पर मराठों का कभी भी राज न था और न कभी मराठे वहाँ से कोई चौथ वसूल कर सके। इस पर भी उस वक्त अंगरेजों ने सिंहभूम को अपने हाथ में लेना उचित न समझा। इसका कारण वेरेल्स्ट के शब्दों में मिलता है :

"चूंकि मैं कटक पर अधिकार करने की जल्दी आशा करता हूँ, इसलिए मैं तब तक सिंहभूम के बारे में कोई भी कार्रवाई करना उचित नहीं समझता।"[1]

सिंहभूम को अपने नियंत्रण में लाने का कदम अंगरेजों ने १८२० में उठाया। पोराहाट के राजा ने कंपनी राज्य की अधीनता स्वीकार कर ली और सालाना १०१ रुपया कर देना मंजूर किया। अंगरेज उसके संरक्षक बने। ऐसा करने में राजा के लक्ष्य तीन थे : खरसवान और सराइकेला के सामन्तों को अपने अधीन लाना, सराइकेला के राजा के यहाँ से अपनी कुलदेवी की मूर्त्ति वापस पाना और अंगरेजों की मदद से हो आदिवासियों का दमन करना, जिन्हें वह अपनी प्रजा बताता था, लेकिन जो पचास साल से ज्यादा से स्वाधीन चले आ रहे थे।

अंगरेजों ने पहला दावा मानने से इन्कार कर दिया, किन्तु पिछले दो दावे स्वीकार किये। राजा और उसके सामन्त सरदारों की अन्तिम इच्छा पूरी करने के लिए मेजर रफसेज हो आदिवासियों का दमन करने चला। लेकिन ज्यों ही उसने हो आदिवासियों पर चढ़ाई की तैयारी की, राजा और अन्य सामन्त सरदारों ने उसे ऐसा न करने को कहा। ये राजा और सामन्त सरदार अंगरेजों की मदद करने की हिम्मत न करते थे, क्योंकि हो आदिवासियों का आतंक उनके मन में घर किये हुए था। रफसेज ने लिखा :

"इन जंगली लोगों की ताकत और खूंखारी के बारे में उनकी धारणा इतनी भयग्रस्त थी कि वे मेरे मातहत काफी सेना के बावजूद स्पष्टतः बहुत डर गये थे और उन्होंने चढ़ाई के खतरे के खिलाफ विधिवत प्रतिवाद किया था।"[2]

मेजर रफसेज हो आदिवासियों को राजा की अधीनता स्वीकार करने को बाध्य करने के लिए गया था, लेकिन उसने ऐसा दिखावा किया कि मानों वह उनका दोस्त बनना चाहता है। वह हो आदिवासियों को बेवकूफ बना कर उल्लू सीधा करना चाहता था, लेकिन हो आदिवासियों ने उसे ही बेवकूफ बनाया और वह भी काफी।

१. जे० सी० प्राइस, नोट्स आन द हिस्ट्री आफ मिदनापुर (१८७६), पृ० ५३, ५४, ५६; बेंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, सिंहभूम, सराइकेला एण्ड खरसवान, पृ० ३२
२. उपरोक्त गजेटियर, पृ० ३३

उन्होंने भी उसके साथ मित्रता का ही दिखावा किया। रफसेज का कैम्प उन्हें दोपहर की मीठी नींद लेने की बड़ी अच्छी जगह मालूम हुई। वे उससे अच्छी तरह बातें करते, उसकी दरियों पर पैर फैला कर लेट जाते और मीठी नींद लेते। रफसेज समझ रहा था कि वह इन जंगली आदमियों को वश में करने में समर्थ हो रहा है, लेकिन जल्दी ही उसकी नींद खुली।

हो आदिवासियों ने रफसेज को अपने अंचल में काफी अन्दर तक घुस जाने दिया और चायबासा में अपने सबसे अच्छे गाँवों के बीच पड़ाव डालने दिया। यहाँ एक दिन रफसेज की सेना के सेवकों पर कुछ सशस्त्र हो नें हमला किया। एक घसियारा मारा गया और दूसरे घायल हुए। इसके बाद ही हो पहाड़ियों की तरफ चल पड़े। उन्हें घेरने के लिए लेफ्टिनेन्ट मेटलैण्ड के अधीन कुछ घुड़सवार और पैदल सैनिक भेजे गये। हो लोगों ने तुरन्त इन पीछा करने वालों पर तीरों की बरसा की। तीरों का असर होता न देख वे दुस्साहस कर खुली जगह में हाथ में फरसा लेकर पीछा करने वालों का मुकाबिला करने को डट गये।

गोलियों के मुकाबिले मे आमने सामने की लड़ाई में बेचारा फरसा क्या करता? वे बहुत बड़ी संख्या में मारे गये, आधे से कम ही बच कर आ सके। अब रफसेज तेजीसे उस गाँव की तरफ बढ़ा जहाँ घसियारा मारा गया था। यहाँ ६० आदमियों को उसने घसियारे की लाश के पास फरसा ताने मुकाबिला करने को तैयार पाया। ज्योंही कंपनी की सेना पास पहुँची, वे घोड़ों और आदमियों पर बाज की तरह टूट पड़े। सारे के सारे यहाँ मारे गये।

शाम को रफसेज ने देखा कि उसके पृष्ठभाग के कट जाने का खतरा उपस्थित है, उसका समाचार आदान-प्रदान का रास्ता बन्द है। दूसरे दिन उसने अपनी सेना की एक टुकड़ी हो आदिवासियों पर हमला करने को भेजा जो गुटियालोर गाँव में हथियार लेकर इकट्ठा हुए थे। मेटलैण्ड अपनी टुकड़ी के साथ ज्योंही गाँव के पास पहुँचा, उसने देखा कि हो बड़ी संख्या में वहाँ इकट्ठा हैं। गाँव के पास पहुँचते ही विद्रोहियों ने उसका स्वागत तीरों की बरसा से किया। इससे उसका काफी नुकसान हुआ।

उनको गाँव से भगाने के लिए उसने एक नीच चाल चली। उसने गाँव में आग लगा दी, लेकिन इसके बावजूद हो लोगों ने बड़ी दृढ़ता से आक्रमणकारियों का मुकाबिला किया। वे फिर बहुत बड़ी संख्या में मारे गये। दूसरी मुठभेड़ में भी उन्हें बहुत नुकसान उठाना पड़ा।

हो लोगों ने आखिर में अनुभव किया कि वे सिर्फ तीरों और फरसों से फिरंगी सेना की गोलियों का मुकाबिला नहीं कर सकते। इसलिए और ज्यादा नुकसान से बचने के लिए उत्तरी अंचल के हो लोगों ने आत्मसमर्पण कर दिया। वे पोराहाट के राजा को कर देने के समझौते पर टीप देने को बाध्य हुए।

लेकिन तभी दक्षिण अंचल के हो आदिवासियों ने मोर्चा संभाला। मेजर रफसेज को उन्होंने बहुत ही परेशान किया। वह एक एक इंच जमीन के लिए लड़ता हुआ किसी

तरह संभलपुर पहुँचा। इस अंचल के हो स्वाधीन बने रहे। ज्योंही रफसेज जिला छोड़कर गया, उत्तर और दक्षिण के हो लोगों के बीच भयंकर युद्ध छिड़ गया। हो गुलाम बन कर जिन्दा रहे, दक्षिण के हो इसे कतई पसन्द न करते थे।

एक देसी सूबेदार के मातहत हथियारों से अच्छी तरह लैस एक सौ हिन्दुस्तानी सैनिक राजा और उत्तर के हो लोगों की मदद को भेजे गये। पहले तो दक्षिण वाले हो ने इस सेना को अपने अंचल में घुसने दिया। सूबेदार उनके चक्कर में पड़ गया। वह कुछ सिपाहियों को साथ लेकर पैसे की वसूली में मदद करने कोलहान गया। वहाँ उसे और उसके सब साथियों को काट कर रख दिया गया। इसके बाद हो लोगों ने उस छोटे से किले पर हमला किया जहाँ हिन्दुस्तानी सैनिकों ने भागकर शरण ली थी। यहाँ से भी अपने बारह साथियों को मरा और दस को घायल छोड़ कर कंपनी के सिपाहियों को भागना पड़ा। इस विजय के बाद ही लोगों ने पोराहाट राजा के राज्य के अधिकांश हिस्से को उजाड़ दिया। वे सराइकेला पर भी चढ़ गये जहाँ के सामन्त ने मदद के लिए कंपनी के एजेन्ट को लिख भेजा।

१८२१ में हो आदिवासियों का विद्रोह शान्त करने के लिए कंपनी की बड़ी भारी सेना आयी। एक महीने तक उन्होंने इस सेना का डट कर मुकाबिला किया। इसके बाद मजबूर होकर उन्हें निम्नलिखित समझौता करना पड़ा :

"(१) हम अपने को ब्रिटिश सरकार की प्रजा मानते हैं और इसके अधिकारियों के प्रति विश्वासपरायण तथा आज्ञाकारी होने का वादा करते हैं। (२) हम आगामी वर्ष से पाँचसाल तक आठ आना प्रति हल, अगर हमारी हालत इस लायक हुई, अपने प्रधान या जमींदार को देने को सहमत हैं। (३) हम अपने परगनों से गुजरने वाली सड़क सब किस्म के मुसाफिरों के लिए खुली और सुरक्षित रखने का वादा करते हैं और अगर बटमारी होती है तो हम चोर को न्याय के सिपुर्द करने तथा चोरी गये माल के लिए जिम्मेदार बनने का वादा करते हैं। (४) हम सब जातियों के लोगों को अपने गाँवों में बसने की इजाजत देंगे और उनकी रक्षा करेंगे ; हम अपने बच्चों को ओड़िया और हिन्दी भाषा सीखने का भी बढ़ावा देंगे। (५) अगर हमारे प्रधान या जमींदार हमारे ऊपर अत्याचार करेंगे, तो हम इसके प्रतिकार के लिए अस्त्र धारण न करेंगे, बल्कि अपनी सरहद पर स्थित सेना के अफसरों या किसी अन्य उपयुक्त अधिकारी के पास शिकायत करेंगे।"[१]

इस तरह साम्राजियों ने इन आदिवासियों को वादा करने को बाध्य किया कि जमीन्दार और दूसरे अधिकारी उन पर चाहे जो अत्याचार करें, लेकिन वे अस्त्र धारण न करेंगे। विदेशी पूँजीपतियों के प्रतिनिधियों ने देशी सामन्तों को निर्बाध शोषण और उत्पीड़न चलाने की पूरी सुविधा दी।

इस गुलामी के समझौते को हो लोगों ने डेढ़ दो साल में ही फाड़ फेंका, उन्होंने

---

१. उपरोक्त गजेटियर, पृ०, ३५

पहले से भी बड़े पैमाने पर आक्रमण किये। धलभूम और बामनघाटी को उजाड़ कर छोटानागपुर के अन्दर बहुत दूर तक वे घुस गये। १८३१ में जब मुण्डा लोगों ने विद्रोह किया, तो हो भी उनके साथ मिल गये। उनकी सम्मिलित शक्ति के आक्रमण के सामने कंपनी सरकार थर्रा उठी।

अध्याय ३६

मेर विद्रोह

(१८२०)

राजस्थान के मेरवाड़ा के निवासी मुख्यतः मेर हैं। वे अपन को पृथ्वीराज चौहान और एक मीना जाति की कन्या की सन्तान बताते हैं। कहा जाता है कि पृथ्वीराज और इस मीना कन्या से दो पुत्र अनहल और अनूप हुए। वे ब्यावर के पास चंग गाँव में बस गये। ऐसे भी मेर हैं जो दावा करते हैं कि वे धारानाथ परमार के वंशज हैं जिन्होंने मारवाड़ में राठौरों के आने के पहले धारानगर बसाया था।[1] कालक्रम से उनके कई हिस्से हो गये और कुछ ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। इसीलिए आज मेरों में हिन्दू-मुसलमान दोनों पाये जाते हैं। ये मेर अपनी स्वाधीनता को बड़ा महत्व देते रहे। वे अपनी स्वाधीनता के लिए एक तरफ मारवाड़ और मेवाड़ के राजाओं से तथा दूसरी तरफ दिल्ली के मुगल बादशाहों से लड़ते।

१८२० में मेरवाड़ा के तीन हिस्से थे। एक अजमेर का था जो १८१८ में अंगरेजों को दौलत राव से मिला था। बाकी दो हिस्से मारवाड़ (जोधपुर) और मेवाड़ के राजाओं के थे। ये राजा इस अंचल को कभी भी नहीं जीत सके। मेरवाड़ा के तीन टुकड़े कर दिये गये थे, लेकिन मेर इस विभाजन को न मानते थे। वे अपने सारे अंचल को एक समझते थे और उस पर अपना पुश्तनी अधिकार मानते थे।

अजमेर पर कब्जा करने के बाद अंगरेजों ने मेरों को बल से वश में करने की कोशिश की। मार्च १८१९ में उन्होंने मेरों को दबाने के लिए नसीराबाद से एक सेना भेजी। इसके उत्तर में १८२० में सारे मेरबाड़ा में विद्रोह हो गया। मेरों ने पुलिस चौकियों पर हमला कर उन्हें ध्वंस कर दिया और उनके रक्षक सिपाहियों को मार डाला।[2] इस विद्रोह को दबाने के लिए और मेरों को हमेशा के लिए कुचल डालने के लिए अंगरेजों ने कदम उठाया और उदयपुर तथा जोधपुर के राजाओं का सहयोग लिया। अंगरेज सरकार की सेना ने आक्रमण कर झाक, लुलवा और शामगढ़ पर कब्जा कर लिया। यहाँ के मेरों ने हट कर मेवाड़ और मारवाड़ के मेरवाड़ा में शरण लीं।

मेवाड़ और मारवाड़ के राजाओं के सहयोग से अंगरेज सरकार की सेना इन अंचलों में घुसी। पहले उसने बोरवा नामक गाँव पर कब्जा किया और फिर हाथुन गाँव पर चढ़ाई की। यहाँ विद्रोहियों ने शत्रु सेना का डट कर मुकाबिला किया, तीन को मार गिराया और २३ को घायल कर दिया; लेकिन रात को मेरों ने यहाँ के किले को खाली कर दिया। कंपनी सरकार की सेना और मेरों के बीच हल्की भिड़न्त बरार में हुई। मण्डलान और

---

१. राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, अजमेर, पृ० ८४ २. वही, पृ० ८४

बरसवाड़ा पर कब्जा करने के बाद अंगरेजों ने एक बड़ी सेना मारवाड़ के मेरवाड़ा में स्थित कोट किरण और बागड़ी पर चढ़ाई करने भेजी। इन्हें मेरों से छीन कर अंगरेजों ने मारवाड़ के राजा के हवाले किया।

इस बीच मेरों के अधिकांश नेताओं ने रामगढ़ को अपना केन्द्र बनाया था। इस पर अंगरेज सेना चढ़ आयी। युद्ध में मेरों के अधिकांश नेता लड़ते-लड़ते मारे गये, घायल हुए या पकड़े गये।[1] इस पराजय से मेर विद्रोह की रीढ़ टूट गयी। इसके बाद उनके किलों का पतन जल्दी हो गया और जनवरी १८२१ तक विद्रोह दब गया।

कर्नल टाड ने राजा के नाम पर मेवाड़ के मेरवाड़ा का प्रशासन संभाला। उसने इसके लिए एक गवर्नर नियुक्त किया और इस अंचल के बीचोबीच टाडगढ़ नाम का किला बनाया। उसने ६००बन्दूकधारियों की एक सेना भरती की और राजस्व वसूल करना आरंभ किया। मेरों को अपने प्रशासन-यंत्र का पुर्जा बनाने के लिए उसने मेर बटालियन बनायी।

इस तरह जो मेर अपनी स्वाधीनता के लिए लड़ते आ रहे थे, वे ब्रिटिश साम्राजियों और जोधपुर तथा मेवाड़ के सामन्तों की सम्मिलित शक्ति का मुकाबिला न कर सके। जोधपुर और मेवाड़ के सामन्तों ने मेरों के साथ मिल कर अंगरेजों का मुकाबिला करने का देशप्रेम का रास्ता न अपनाया। उन्होंने अपने संकुचित स्वार्थ के लिए मीरजाफर का रास्ता अपना कर भारत में ब्रिटिश शासन की नींव मजबूत की। आज के भारतवासी इन बहादुर मेरों को अपना सम्मानपूर्ण अभिवादन देंगे और उक्त सामन्त सरदारों के नाम पर थूकेंगे।

---

१. वही, पृ० ८५

अध्याय ४०

१८२४-२६ के विद्रोह

सन् १८२४ भारत के इतिहास में १८५७ का लघु संस्करण था या यों कहा जा सकता है कि यह तेंतीस साल के बाद हुए राष्ट्रीय महा विद्रोह का रिहर्सल था। १८२४ में भी हम ईस्ट इंडिया कंपनी की देशी सेना को विद्रोह करते और पच्छिम उत्तर प्रदेश, हरयाना, पंजाब, बुन्देलखण्ड, महाराष्ट्र आदि में सामन्त सरदारों के नेतृत्व में भूतपूर्व सिपाहियों और किसानों को विदेशी हुकूमत से लोहा लेते देखते हैं। इस साल बर्मा के साथ युद्ध (१८२४-२६) में फंसा देख अंगरेजों को मार भगाने की चेष्टा पायी जाती है। अवश्य ही यह चेष्टा १८५७ की तरह न तो संगठित थी और न उतनी व्यापक।

१८२४ में आम जनता के असंतोष के कारण क्या थे? जिन नये जिलों को कंपनी ने हथियाया था, उनमें राजस्व बेतहाशा बढ़ा दिया गया था। जमीन का लगान अन्न के अस्वाभाविक चढ़े दामों को देख कर ठीक किया गया था। दाम इसलिए चढ़े हुए थे कि उन अंचलों में सेना आ गयी थी और लड़ाई की फिजा में बहुत सी जमीन बंजर पड़ गयी थी। लेकिन लड़ाई के खत्म होने और शान्ति की स्थापना से फौजी बाजार समाप्त हो गया तथा दूसरी तरफ शान्ति काल में खेती की पैदावार के बढ़ जाने से उसकी कीमत गिर गयी। लोगों के लिए साधारण राजस्व चुका सकना असंभव हो रहा था। लेकिन कंपनी की सरकार के यहाँ इस पर किसी तरह का मुलाहजा न बरता जाता था। पूरी कड़ाई से राजस्व वसूल किया जाता था।[१] मुगलों और मराठों की सेनाओं के भंग होने से बहुत से सिपाही बेकार हो गये। इससे आर्थिक संकट और गहरा हुआ। कंपनी का प्रशासन और न्याय विभाग बहुत ही निकम्मा था। पुलिस बहुत ही दुर्बल थी। कंपनी की सरकार आम जनता को तरह-तरह से लूटती थी, लेकिन उसकी हालत सुधारने के लिए कुछ भी न करती थी। इन सब का परिणाम क्या हुआ? इतिहासकार मिल के शब्दों में सुनिए :

> "इन कारणों ने असंतोष की आम भावना पैदा की और १८२४ के दौरान कोई भी ऐसा जिला न था, खासकर उत्तर के प्रान्तों में, जहाँ असंतोष की भावना कमो-बेश न प्रकट हुई हो।"[२]

मिल ने अपने इस कथन की पुष्टि के लिए एर जान शोर के कागजात का हवाला दिया है।[३]

१. होरेस हेमैन विल्सन, मिल्स हिस्ट्री आफ ब्रिटिश इंडिया १८०५ से १८३५, खण्ड ३, १८४८ का संस्करण, पृ० १६४.

२. विल्सन, वही, पृ० १६५

३. नोट्स आन इंडियन अफेयर्स बाइ दि आनरेबुल सर जान शोर, खण्ड १, पृ० १५६; विल्सन, वही, पृ० १६५.

मिल स्वीकार करते हैं कि बर्मा के साथ युद्ध में भारत के विभिन्न हिस्सों से कंपनी की सेना हटा कर मोर्चे पर भेज दी गयी थी। यह देख लोगों के अन्दर ख्याल पैदा हो गया था कि कंपनी भारत पर अपने अधिकार और बर्मा के साथ मोर्चा, इन दोनों को संभालने में असमर्थ है। कंपनी को अपने सारे साधन मोर्चे पर लगाने पड़ रहे हैं।[1] रामू में बर्मी सेनापति महा बन्दूला के हाथ अंगरेजों की बुरी हार (१७ मई १८२४) ने भारतवासियों के अन्दर आत्मविश्वास पैदा कर दिया कि अंगरेज राज खत्म किया जा सकता है। कंपनी की इस संकटपूर्ण हालत को देख कर उसके खिलाफ कितनों ही ने विद्रोह किया।

ये विद्रोह बड़े ही राजनीतिक महत्व के थे। उनका लक्ष्य अंगरेज शासकों से मुक्ति पाना था। शोर ने यू० पी० के अधिकांश जिलों के सरकारी पत्राचार देखे थे। सारी हालत देखने के बाद शोर को कहने को बाध्य होना पड़ा था कि अगर फौरन कड़ी कार्रवाई न की गयी होती तो सारा देश 'विद्रोह और अनाचार का स्थल' बन जाता। जब कंपनी सरकार की तरफ से कहा गया कि विद्रोही चन्द डकैत हैं, तो उन्होंने अधिकारियों को एक भी सामन्त सरदार का नाम बताने की चुनौती दी जो इस दौरान कंपनी सरकार की मदद के लिए आगे आया हो। शोर ने कहा कि इसके विपरीत

> "सारे देश में जो एकमात्र नारा बुलन्द हो रहा है और बड़े जोशोखरोश के साथ बार-बार लगाया जा रहा है, वह है: अंगरेज राज खत्म हो गया है! अंगरेज मुर्दाबाद!"[2]

देशी पल्टनों का विद्रोह

बर्मा के साथ अंगरेजों के युद्ध की घोषणा २४ फरवरी १८२४ को हुई। इस युद्ध को जीतने के लिए कंपनी ने भारत के विभिन्न हिस्सों से अंगरेजी और देशी पल्टनें बर्मा भेजीं। इसी मोर्चे पर भेजने के लिए बंगाल आर्मी की तीन पल्टनें २६ वीं, ४७ वीं और ६२ वीं बैरकपुर छावनी (कलकत्ता के पास) में जमा की गयीं।

चूंकि बंगाल आर्मी में ज्यादातर लोग अवध और बिहार के 'उच्च' जाति वाले लोग थे, इसलिए वे जहाज से समुद्र पार जाना धर्म के खिलाफ मानते थे। हुक्म यह हुआ था कि ये पल्टनें जमीन के रास्ते चटगांव जायेंगी और वहां से जमीन के ही रास्ते बर्मा के अन्दर घुसेंगी।

लेकिन उस वक्त सेना में एक रिवाज यह था कि हर सिपाही को अपना सामान ढोने के लिए बैलगाड़ी का इन्तजाम खुद करना पड़ता था। कंपनी की तरफ से ऐसी कोई भी व्यवस्था न थी। उत्तर प्रदेश और बिहार के ये ब्राह्मण-क्षत्रिय अपने बर्तन-भांड़े अपने साथ रखते और स्वयं ही खाना पकाते। कठिनाई यह थी कि बंगाल में जो बैलगाड़ियां थीं, उन्हें पहले ही कंपनी ले गयी थी। अब उनका मिलना मुश्किल था, जो मिलतीं, उनका मूल्य या भाड़ा इतना ज्यादा था कि सिपाहियों के लिए उतना दे सकना

१. विल्सन, वही, पृ० १६५.
२. शोर, नोट्स आन इंडियन अफेयर्स, खण्ड १, पृ० १६०; शशिभूषण चौधरी, वही, पृ० २०४

नामुमकिन था। ऐसी हालत में सिपाही क्या करें? कुछ समय पहले ही सफरमैना के लोगों का वेतन बढ़ाया गया था, लेकिन सिपाहियों का नहीं। सिपाही मोर्चे पर लड़ते थे, अपनी जान खतरे में डालते थे, लेकिन उनके वेतन में कोई भी वृद्धि न की गयी थी। सफरमैना में काम करने वाले लोग, जो कि ज्यादातर तथाकथित छोटी जाति के थे, उनसे ज्यादा वेतन पाते थे। सिपाहियों के असंतोष का एक और कारण पदोन्नति में पक्षपात था। नये थैलों का न दिया जाना एक अन्य कारण था, हालाँकि इसीलिए पल्टन बैरकपुर में रुकी हुई थी।

इसके अलावा वे बर्मा के साथ युद्ध नापसन्द करते थे! तत्कालीन अंगरेज इतिहास-कारों ने बताया है कि इसका कारण यह था कि ये सिपाही समझते थे कि बर्मावासी जादू जानते हैं और इसलिए वे अजेय हैं। रामू में कंपनी की सेना के नष्ट हो जाने से उनका यह अन्ध विश्वास बढ़ गया था। वहाँ का अस्वस्थ्यकर जलवायु दूसरा कारण था। और जमीन के रास्ते बर्मा जाया ही नहीं जा सकता, जहाज पर बैठ कर समुद्र पार करना और धर्म नष्ट करना ही होगा, यह विश्वास तीसरा कारण था। अंगरेज बर्मा ले जाकर धर्म नष्ट कर देना चाहते हैं, यह भावना उनके अन्दर काम कर रही थी। इन कारणों को लेकर विवाद और मतभेद हो सकता है, लेकिन एक बात निर्विवाद थी और वह यह कि बर्मा के साथ युद्ध में जाना अधिकांश सिपाही पसन्द न करते थे। इसीलिए देखा जाता है कि देशी पल्टनों के बहुत से सैनिक रास्ते में ही सेना छोड़ कर भाग आये थे।[१]

उक्त तीनों पल्टनों को हुक्म दिया गया कि अक्टूबर १८२४ में उन्हें बर्मा जाना होगा। सिपाहियों ने सुना और मन ही मन भुनभुनाये। ४७ वीं पल्टन को पहले रवाना होना था। उसकी तरफ से अधिकारियों को बैलों के मिलने में कठिनाई की सूचमा दी गयी, लेकिन ऊपर से हुक्म आया : बैलों का इन्तजाम सिपाहियों को ही करना होगा और अपने ही पैसे से। ऐसी हालत में सिपाहियों का सारा असंतोष उभड़ पड़ा। उन्होंने गुप्त सभाएँ कर सौगन्ध ली कि अगर उनका वेतन बढ़ाया नहीं जाता तो वे युद्ध में न जायेंगे। उन्होंने दूने भत्ते की मांग उठायी।

इस पल्टन के अफसर नये थे और सिपाहियों के साथ उनका सम्बन्ध सिर्फ तीन चार महीने का था। वे सिपाहियों की दिक्कतें न समझते थे।

१ नवम्बर को ४७ वीं पल्टन को हुक्म मिला कि वह रवाना होने के लिए तैयार होकर परेड में आये। एक तिहाई से कम सिपाहियों ने ही इस हुक्म का पालन किया। बाकी सिपाही पास की लाइनों में इकट्ठा होकर इन सिपाहियों को धिक्कारते रहे। जनरल डालवेल और दूसरे अफसरों ने उनको अनुशासन और कर्तव्यपरायणता का उपदेश दिया, तो सिपाहियों ने उन्हें भी अपने कर्त्तव्य की याद दिलायी। यह देख अंगरेज अफसर चुपचाप वहाँ से चले गये। सिपाही छावनी में ही बने रहे, उन्होंने किसी भी प्रकार का उपद्रव नहीं किया।

---

१. एडवर्ड थार्नटन, हिस्ट्री आफ द ब्रिटिश एम्पायर इन इंडिया, खण्ड ५, पृ० १०६, ११२.

अंगरेज अधिकारियों ने इस पल्टन को कठोर दण्ड देने का फैसला किया। उन्होंने दो अंगरेजी पल्टनें बुलायीं, तोपखाना बुलाया और कलकत्ते से बड़े लाट के अंगरक्षक सैनिकों को बुलाया। इस बीच सिपाहियों ने अंगरेज अधिकारियों के पास आवेदन भेजा कि उन्हें पल्टन से बर्खास्त कर दिया जाय और अपने-अपने घर चले जाने दिया जाय। लेकिन अंगरेज अधिकारी तो उसे कठोर दण्ड देने पर तुले थे।

२ नवम्बर को सबेरे ही ४७ वीं पल्टन को परेड में हाजिर किया गया। अंगरेजी पल्टनों ने उसे घेर रखा। अफसरों ने हुक्म दिया : फौरन मोर्चे की तरफ मार्च करो या हथियार रख दो। सिपाही इस हुक्म को अनसुना कर खड़े रहे। यह देख अंगरेज अधिकारियों ने सिपाहियों पर तोपें दागने का हुक्म दिया। तोपों के दगते ही सिपाही तितर-बितर होकर इधर-उधर भागने लगे। अंगरेज सैनिकों ने उन पर गोलियों की बौछार की। लगभग डेढ़ दो सौ सिपाही मारे गये। कितने ही हुगली नदी में कूद गये और डूब कर मर गये। कितने ही गिरफ्तार किये गये। फौजी अदालत ने विद्रोह के कई नेताओं को फांसी दी और कितनों ही को कैद की कड़ी सजा। ४७ वीं पल्टन का नाम सेना की सूची से उड़ा दिया गया। उसके देशी अफसरों को भी बरखास्त कर दिया गया।

इन सिपाहियों के पास बन्दूकें और चालीस राउण्ड गोलियां थी।[1] वे कितने ही अंगरेज अधिकारियों को मार कर बदला ले सकते थे, लेकिन उस वक्त उन्होंने वह रास्ता न अपनाया। अंगरेज अधिकारियों ने इन शान्तिपूर्ण सिपाहियों पर गोले बरसा कर और गोलियों की बौछार कर अपनी रक्त-पिपासा का परिचय दिया। अवश्य ही इस हत्याकाण्ड को उचित ठहराने के लिए उन्होंने हांउस आफ कामन्स में कहा कि सिपाहियों ने आगे बढ़ने वाली अंगरेजी सेना पर गोली चलायी थी। खुद अंगरेज इतिहासकार ही आज इसे झूठ मानते हैं। अवश्य ही अगर वे सिपाही अंगरेज सेना से लड़ते मारे जाते, तो आज भारतवासी उनके गुण गाते और मंगल पाण्डे की तरह उनका नाम सम्मान के साथ लेते।

गूजरों का विद्रोह

अंगरेजों के साथ सिंधिया का युद्ध ३० दिसम्बर १८०३ की संधि से समाप्त हुआ। इस संधि के अनुसार दोआबा के बाकी हिस्से के साथ सहारनपुर भी कंपनी के हाथ आ गया। १८१३ में राजा रामदयाल की मृत्यु के बाद अंगरेजों ने उनका बड़ा राज्य हड़प लिया। गूजरों ने उसी वक्त इस अन्याय के खिलाफ विद्रोह किया था। उसे दबा दिया गया था, लेकिन उसकी आग बुझी न थी। वह अन्दर ही अन्दर सुलग रही थी।

बर्मा के साथ अंगरेजों के प्रथम युद्ध (१८२४) के समय भारत में कंपनी की सेना को कम हुआ देख लोगों ने फिर बगावत का झंडा बुलन्द किया। रुड़की के पास कुंजा के

---

१. एडवर्ड थार्नटन, वही, पृ० ११५

तालुकदार विजय सिंह थे। वे रामदयाल के रिश्तेदार होते थे। उन्होंने अपना स्वाधीन राज्य स्थापित करने के लिए अंगरेजों से विद्रोह किया और अपने को स्वाधीन राजा घोषित किया। उन्होंने अपने राज्य के गाँवों से राजस्व वसूल करना आरंभ किया और अंगरेजों का राजस्व बन्द कर दिया। उनका दाहिना हाथ कलवा था जिसके नाम से कुमायूं-गढ़वाल के बहुत से धनी लोग थर-थर कांपते थे। इन दोनों ने बड़ी सेना इकट्ठा की, भगवानपुर शहर को हमला कर नष्ट कर दिया और कंपनी का खजाना रास्ते में ही लूट लिया।[1]

चूंकि इस हालत में कंपनी की सरकार हर तरह के विद्रोह को अपने अस्तित्व के लिए खतरनाक समझती थी, इसलिए उसने फौरन कार्रवाई की। कैप्टेन यंग और सिविल कमिश्नर शोर के नेतृत्व में कंपनी की सेना कुंज पर चढ़ आयी। भयंकर युद्ध में डेढ़ सौ विद्रोही मारे गये, वे तितर-बितर कर दिये गये। प्राप्त तथ्य बताते हैं कि अन्य स्थानों के हजारों लोग इस विद्रोह में शामिल होने के लिए तैयार हो रहे थे, लेकिन विद्रोह पहले ही दब गया।

पंजाब और हरियाना में अशान्ति

गूजर विद्रोह के कुछ पहले बड़वार में एक साधू ने कहना शुरू किया कि वह कल्कि अवतार है और विदेशियों का राज भारत में समाप्त करने के लिए आया है। उसके अनुयायियों की संख्या और आम जनता में अंगरेजों का राज खत्म करने की भावना बढ़ने लगी। इसे देख अंगरेज अधिकारियों ने दमन का कदम उठाया।

योजना के मुताबिक वह साधू गिरफ्तार कर लिया गया। लेकिन उसी वक्त उसे छुड़ाने के लिए अकालियों के नेतृत्व में एक भीड़ इकट्ठा हो गयी। इस भीड़ का मुकाबिला करने के लिए फौरन पटियाला का रिसाला बुलाया गया। उसकी मदद से भीड़ को तितर-बितर किया गया।

इसी साल हरयाना में फसल खराब हुई। इससे किसानों का असंतोष बढ़ा। रोहतक जिले के विभिन्न गाँवों के किसानों ने बेरी के एक बड़े मेले को लूट लिया और कंपनी सरकार ने जो मवेशी खरीदे थे, उन्हें छीन ले गये। उन्होंने एलान किया कि अंगरेज सरकार अब खत्म हो चुकी है।

इसी तरह कुछ घुड़सवार कंपनी की सेना के लिए ऊँट लेकर जा रहे थे। भिवानी और दूसरे गाँव के निवासियों ने उन पर हमला कर कई घुड़सवारों को मार दिया।

सब जगह हथियार और लड़ाई का सामान इकट्ठा किया जाने लगा। अंगरेजों के किलों पर हमले किये जाने लगे। सूरजमल को अंगरेजों ने देशनिकाला दिया था। उसने वापस आकर चार सौ बन्दूकधारियों और घुड़सवारों को लेकर बेहुत के किले पर कब्जा कर लिया। कंपनी के चंद रक्षक मारे गये। इसी तरह की घटनाएँ रेवाड़ी

१. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर सहारनपुर, पृ० १६७-८

और अन्य स्थानों में हुई। इन्हें रोकने के लिए अंगरेजों को गोरखा बटालियनें बढ़ानी पड़ीं और दिल्ली के जिलों में ही रहने के लिए दो अतिरिक्त रिसाले भर्ती करने पड़े।

बुन्देलखण्ड और मालवा में हमले

अंगरेजों का राज खत्म जान कर जालौन के राजा के एक जागीरदार ने विद्रोह का झण्डा १८२४ में उठाया। उसने काफी लोगों को इकट्ठा कर कालपी के किले और शहर पर हमला किया। वह कालपी के किले से कंपनी का खजाना उठा ले जाना चाहता था। उस वक्त किले की रक्षा कैप्टेन रैमजे कुछ सिपाहियों के साथ कर रहा था। वह किले की रक्षा करने में सफल हुआ, लेकिन शहर न बचा सका। विद्रोहियों ने उसे लूट लिया। कंपनी की नयी सेना आकर ही विद्रोहियों को कालपी से भगा सकी। उनका नेता नाना पंडित पकड़ा गया और उसे आजीवन कारावास का दंड दे दिया गया।

अंगरेजों के राज के खात्मे की उम्मीद से मालवा की आम जनता में बड़ा जोश और उत्साह फैला। गोंड़वाना में विद्रोह करने की कोशिश की गयी, लेकिन कंपनी सरकार ने फौरन फौज भेज कर इसे शान्त कर दिया।

इसी समय नर्मदा के तट पर नीमाड़ में प्रसिद्ध पिण्डारी सरदार दुल्ला ने अंगमेजों को बहुत परेशान किया। इसके बारे में जनश्रुति थी कि वह रात को भी अपनी काली घोड़ी की पीठ से न उतरता था। लोग कहते :

"नीचे जमीन और ऊपर अल्ला, और बीच में फिरे शेख दुल्ला।"[1]

बुरहानपुर के मराठा मैनेजर की, जो सिंधिया का प्रतिनिधि था, और पूर्वांचल के भीलों की मदद से उसने अंगरेज अधिकारियों की नाक में दम कर दिया। असीरगढ़ और एलिचपुर के बीच जंगलों को उसने अपना अड्डा बनाया। यहाँ से वह निकल कर अंगरेजों के राज्य पर हमले किया करता। उसके साथ चिमना जी आ मिले थे जो अपने को पदच्युत द्वितीय बाजीराव पेशवा का भाई कहते थे, किन्तु अंगरेज अधिकारी जिन्हें मक्कार कहते थे। चिमना जी अप्पा ने अपनी सेना के साथ बरार पर अधिकार करने की कोशिश की। अंगरेजों को दुल्ला और चिमना जी का दमन करने में काफी मेहनत करनी पड़ी।

कित्तूर का विद्रोह

बम्बई प्रेसीडेन्सी के अधिकांश देशाइयों की स्वाधीनता मराठों ने छीन ली थी। कित्तूर (आजकल मैसूर में) का देशाई अंगरेजों की मदद से अपनी स्वाधीनता बनाये रखने में समर्थ हुआ था। तीसरे मराठा-अंगरेज युद्ध में मदद के कारण अंगरेजों ने भी इसे स्वाधीन राजा स्वीकार किया। बेलगाँव जिले में सॉपगाँव पर और बीड़ी के बड़े हिस्से पर इस राजा का राज था।

१ डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, नीमाड़, पृ० ४१-४१; शशिभूषण चौधरी, वहीं, पृ० १०६.

१२ सितम्बर १८२४ को धारवाड़ के मुख्य कलेक्टर थाकरे को समाचार मिला कि कित्तूर के देशाई शिवलिंग रुद्र मरनेवाले हैं और उन्होंने एक पुत्र गोद लिया है। अंगरेजों ने इस पुत्र को उत्तराधिकारी मानने से इन्कार कर दिया। उन्होंने कहा कि उनकी जांच के अनुसार देशाई की मृत्यु ११ सितम्बर को ही हो गयी थी। उनकी मृत्यु के बाद लड़का गोद लिया गया है। उन्होंने यह भी साबित किया कि वह लड़का देशाई का कोई सम्बन्धी भी नहीं।

इसलिए थाकरे को हुक्म हुआ कि वह देशाई की सारी जायदाद पर अधिकार कर ले, उनकी रियासत का शासन भार अपने हाथ में ले ले तथा अच्छी तरह जाँच कर देखे कि किन हालतों में उक्त लड़का गोद लिया गया। कित्तूर की रानियों ने पहले थाकरे को किले के अन्दर आने दिया। थाकरे ने राजा के खजाने पर अपनी मुहर लगायी और पहरा बैठाया, ताकि राज परिवार उसे अपने काम में न ला सके। वह खुद अपनी छोटी सी सेना लिए किले के बाहर ठहरा।

२३ अक्तूबर को कित्तूर विद्रोह आरंभ हुआ। इस विद्रोह का नेतृत्व शिवलिंग रुद्र की ४६ वर्षीया मां चेन्नमा ने किया जिन्हें दक्षिण की रानी लक्ष्मी बाई कहा जा सकता है। उस दिन सबेरे किले के बाहरी फाटक बन्द कर दिये गये और अंगरेजों को किले के अन्दर जाने और पहरा बदलने की इजाजत न दी गयी। थाकरे ने तोपों से फाटक उड़ा देने का हुक्म दिया। उसका यह हुक्म देना था कि किले के रक्षक विद्रोही फाटक खोल कर कंपनी की सेना पर टूट पड़े। थाकरे, कैप्टेन ब्लेक और लेफ्टिनेन्ट डाइटन वहीं मारे गये, कैप्टेन सेवेल घायल हुआ और सहायक कलेक्टर स्टेवेन्सन तथा इलियट को पकड़ कर किले के अन्दर ले जाया गया। उन्हें साफ बता दिया गया कि अगर कित्तूर पर कोई हमला हुआ तो वे दोनों मार दिये जायेंगे।

यह विद्रोह तेजी के साथ फैला। मालपर्व और कित्तूर के बीच के अंचल की सारी जनता विद्रोही बन गयी। खुद किले के अन्दर उसके रक्षकों की संख्या ५ हजार थी। ये अंगरेजों की गुलामी से बचने के लिए मारने-मरने को तैयार थे। उन्होंने अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए कोल्हापुर के राजा से लिखा-पढ़ी शुरू की। दूसरी तरफ कंपनी को पत्र लिख कर थाकरे के कामों की निन्दा की तथा मांग की कि कंपनी अपने वादे के अनुसार कित्तूर की स्वाधीनता का सम्मान करती रहे।

अंगरेजों ने कित्तूर का विद्रोह दबाने के लिए मद्रास और बंबई से सेना भेजी। ३० नवम्बर को लेफ्टिनेन्ट-कर्नल डीकन के मातहत और सिविल कमिश्नर चैपलिन के निर्देशन में कंपनी की सेना ने कित्तूर के किले पर हमला किया। ४ दिसम्बर को २०० भारी तोपों की गोलाबारी से वे किले की दीवार तोड़ने में समर्थ हुए। उसी दिन विद्रोहियों ने आत्मसमर्पण कर दिया। बारह विद्रोही नेता अंगरेजों के हाथ में आये, कुछ भाग निकले।

अंगरेजों ने कित्तूर की रियासत को अपने राज में मिला लिया और उसके तीन टुकड़े कर दिये। देशाई के परिवार की अन्य महिलाओं के साथ रानी चेन्नम्मा को बेल-होंगल (बेलगांव) के किले में नजरबन्द रखा गया।

लेकिन १८२९ में फिर कित्तूर में विद्रोहियों ने सर उठाया। इस बार विद्रोह का नेता संगौली गाँव का चौकीदार रायप्पा था। उसने भी १८२४ के विद्रोह में हिस्सा लिया था, लेकिन उसे माफ कर दिया गया था। उसने गोद लिये गये लड़के का पक्ष लेकर विद्रोह का झण्डा बुलन्द किया और कित्तूर को स्वाधीन घोषित किया। कित्तूर की आम जनता ने उसका साथ दिया।

रायप्पा ने बीड़ी के मामलातदार के आफिस में आग लगा कर अंगरेजों पर हमला शुरू किया। विद्रोही दिन में छिपे रहते और रात को निकल कर कंपनी के अधिकारियों पर हमला करते। रायप्पा के नेतृत्व में विद्रोहियों ने धावा बोलकर बेलगाँव के किले पर भी अधिकार करने की कोशिश की।

विद्रोह के फैलने पर कित्तूर की पल्टन ने भी अंगरेजों का हुक्म मानने से इन्कार कर दिया। अंगरेजों ने अपनी नियमित सेना विद्रोह को कुचलने को भेजी, पर यह काम आसान न था। इसलिए उन्होंने स्थानीय सामन्त सरदारों को अपने पक्ष में लाने और उनके जरिए विद्रोह का दमन करने का कदम उठाया।

रानी चेन्नम्मा का बेल-होंगल में नजरबन्दी की हालत में बन्द रहना भी कपनी को खतरनाक लगा और इसलिए उन्हें धाड़वाड़ ले जाने का फैसला किया। यह खबर पाते ही आम जनता ने किले को आ घेरा और रानी के हटाये जाने का विरोध किया। अंगरेजों ने संगीनों के बल पर जनता को हटाया और रानी को धाड़वाड़ में ले जाकर नजरबन्द किया। वहाँ जुलाई १८२९ में उनकी मृत्यु हो गयी। स्वतंत्र भारत ने बेलगाँव में इस रानी का स्मारक बनाकर अपना आभार प्रकट किया है।

रायप्पा का दमन करना सहज न देख अंगरेजों ने छल से काम लिया। उनके पिट्ठू साँपगाँव के मामलातदार कृष्ण राव ने अपना विश्वासी आदमी रायप्पा के दल में घुसा दिया। यह आदमी रायप्पा का विश्वासपात्र बन गया। एक दिन उसी के आदमियों ने रायप्पा को पकड़ कर अंगरेजों के हाथ सौप दिया। अंगरेजों ने उसे फांसी दी।

ओमरेज के पटेल की बगावत

इसी अंचल में इसी तरह की एक घटना और घटी। ओमरेज के पटेल ने अंगरेजों को अपना शासक मानने से इन्कार कर दिया और ईस्ट इंडिया कंपनी को कर देना बन्द कर दिया। उसने छोटी सी सेना इकट्ठा कर अंगरेजों के कब्जे से आस पास के गाँवों को मुक्त करना और उन पर अपना कब्जा करना आरंभ किया।

उसका दमन करने के लिए अंगरेज शासकों ने ७ वें रिसाले का एक दस्ता, ४४ वीं देशी पल्टन के तीन सौ जवान और एक तोप लेफ्टिनेन्ट कर्नल कोलेट के नेतृत्व में भेजी। फरवरी १८२५ में वह शोलापुर से रवाना हुआ और ओमरेज पर चढ़ आया। उसने फाटक उड़ा कर उस पर कब्जा करने की कोशिश की, पर कामयाबी हाथ न लगी। पहला और दूसरा फाटक तोड़ना आसान साबित हुआ, लेकिन तीसरा तोड़ा न जा सका।

विद्रोहियों ने अपनी गोलियों की बौछार से आक्रमणकारियों की लाशें बिछा दीं। इस आक्रमण का नेता लेफ्टिनेन्ट फिलिपसन और ४४ वीं पल्टन के बहुत से सिपाही मारे गये। अंगरेजों को बाध्य होकर पीछे हटना पड़ा।[१]

अब अंगरेजों ने पहले से काफी बड़ी सेना इकट्ठा करना शुरू किया। इस बड़ी सेना का मुकाबिला करना असंभव देख विद्रोहियों ने किला खाली कर दिया। वे पास के जंगल में चले गये। अंगरेज शासक विद्रोहियों का दमन करने में क्रमशः सफल हुए।

गुजरात के कोलियों का विद्रोह

गुजरात में कच्छ की सीमा से लेकर पच्छिमी घाट तक कोलियों का निवास स्थान रहा है। १८२४ के अन्त में इस जाति ने अंगरेज शासकों के खिलाफ विद्रोह किया।

अंगरेज शासकों ने उनका दमन करने के लिए सेना भेजी। इस सेना ने जाकर खैरा के पास दुदाना गाँव के कोलियों के मिट्टी के किले पर हमला किया। यह किला चारों तरफ से घनी झाड़ियों से घिरा था। कंपनी की सेना ज्योंही नजदीक आयी विद्रोहियों ने झाड़ियों में आग लगा दी। आग की लपटों से बचने के लिए कंपनी सेना को भागना पड़ा। उसका अफसर लेफ्टिनेन्ट एलिस मारा गया।

कुछ समय बाद कोलियों को यह किला खाली कर देना पड़ा, लेकिन फिर भी वे कंपनी के खिलाफ लड़ाई चलाते रहे। कंपनी का राज दखल करते-करते वे बड़ौदा के किनारे पहुँच गये। गायकवाड़ की सेना और कंपनी की सेना उन्हें वहाँ से मार भगाने में समर्थ हुई।

कोली वहाँ से हट कर कच्छ के रन चले गये। थोड़े दिनों के बाद अपनी ताकत इकट्ठा कर वे वापस आये और फिर कंपनी को हैरान करना शुरू किया। १८२५ के आरंभ में आठवीं देशी पल्टन और अंगरेज पल्टन ड्रैगून ने मिल कर दुदाना के पास विट्ठलपुर में यकायक कोलियों को आ घेरा। उन्होंने घेरा तोड़ कर पास के जंगल में घुस जाने की चेष्टा की। अंगरेज घुड़सवारों ने उनका रास्ता रोका। कुछ मुख्य नेताओं समेत कितने ही विद्रोही मारे गये। किन्तु इस पर भी विद्रोह का दमन न किया जा सका। अन्त में कई वर्ष बाद उनका प्रधान नेता कुछ अनुयायियों के साथ नासिक के पास पकड़ा गया। पकड़ने वाला था कैप्टेन मैकिंतोष के नेतृत्व में अहमदनगर से भेजा गया फौजी दस्ता। इस नेता की गिरफ्तारी से विद्रोह दब गया।

पूना के रमोसियों की बगावत

रमोसी कौन थे? वे मराठा राजा के जमाने में पुलिस विभाग के छोटे कर्मचारी थे।[२] जैसे-जैसे मराठा साम्राज्य भंग होता गया, ये पुलिस वाले बेकार होते गये। अंगरेज

१. विल्सन, वही, पृ० १७४; डिस्ट्रिक्ट गजेटियर बेलगाँव, पृ० ४०१-८.
२. फारेस्ट, अफीशियल राइटिंग्स आफ एलफिंस्टन, पृ० १०६-७; शशिभूषण चौधरी, वही, पृ० १५५.

शासकों ने इनकी जमीनों पर खूब बढ़ा-चढ़ा कर राजस्व बैठाया। इन हालतों ने इन्हें नये शासकों के खिलाफ विद्रोह करने को वाध्य कर दिया।

उन्होंने अंगरेजों के अधिकृत अंचलों पर चित्तूर सिंह के नेतृत्व में हमला करना, उनके किले को ध्वंस करना और लूटना आरंभ किया। २३ फरवरी १८२२ को बम्बई से भेजे गये सरकारी पत्र में स्वीकार किया गया है कि बेजा राजस्व लगाये जाने के कारण ही चितूर सिंह विद्रोही बन गये थे।[1] इनके विद्रोह के कारणों के सिलसिले में कैप्टेन डफ ने १८३२ में लिखा :

> "दक्खिन में पेशवा के राज्य में आन्तरिक अशान्ति का खतरा बहुत काफी बढ़ गया। बेकार सिपाही बहुत बड़ी संख्या मे देश के ऊपर लाद दिये गये। इनमें सिर्फ पेशवा की ही सेना के मराठा और विदेशी सिपाही न थे, बल्कि होल्कर, सिंधिया और बरार के राजा की भंग सेनाओं के भी सिपाही थे।......वे सिर्फ हमारी सत्ता को उखाड़ फेंकने के किसी भी प्रयास में ही नहीं, बल्कि लूटपाट और अराजकता की किसी भी योजना में शामिल होने को तैयार थे।"[2]

१८२५ में पूना में सूखा पड़ा। इससे आम जनता का असंतोष बढ़ा। गाँवों की हालत बिगड़ी। छटाई के कारण रमोसियों की हालत बदतर हुई। इस हालत में किसान और ये पुलिसवाले क्या करें? उन्होंने उमाजी के नेतृत्व में विद्रोह किया। १८२६ से लेकर १८२९ तक वे अंगरेज शासकों से लड़ते रहे।

उनके साथ हुए अन्यायों पर आखिरकार अंगरेज शासकों को विचार करना पड़ा। उनकी बेकारी दूर करने के लिए उन्हें पहाड़ी पुलिस में भर्ती करना शुरू किया गया और कितनों ही को जमीन दी गयी। इस तरह तीन साल में यह विद्रोह दमन किया जा सका।[3]

इन विद्रोहों के अलावा बर्मा युद्ध के दौरान भील विद्रोह और कच्छ विद्रोह हुए जिनके सम्बन्ध में हम पिछले अध्यायों (क्रमशः ३६ और ३२) में कुछ विस्तार के साथ लिख आये हैं।

१. पी० पी० १८३१-३२, खण्ड ११, पेपर ७३५-III, एपेंडेक्स नं० १२८. पृ० ६४२; शशिभूषण चौधरी, वही, पृ० १५५.

२. पी० पी०, वही, खण्ड १४ (कामण्स) पेपर ७३५-VI, पृ० १७५; शशिभूषण चौधरी, वही, पृ० १५६.

३. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर पूना, खण्ड २, पृ० ३०५-७.

अध्याय ४१

पागलपंथी विद्रोह

(१८२५-३३)

यह विद्रोह १८२५-२७ और १८३२-३३ में हुआ। वस्तुत: यह विद्रोह गारो जाति का विद्रोह था। इसका क्षेत्र बंगाल के मयमन सिंह जिले का सुसंग-शेरपुर अंचल था जो आजकल बंगला देश में है।

सुसंग अंचल में उन्नीसवीं सदी के प्रथम भाग में हाजंग आदिवासी किसानों ने गारो आदिवासियों के साथ मिलकर प्रसिद्ध 'हाथी खेदा विद्रोह' किया था। ये हाजंग गारो पहाड़ियों की तलहटी में घने जंगल में 'खेदा' बनाकर हाथी पकड़ते थे। जमीन्दार ये हाथी बेचकर मालोमाल होते। वे हाजंगों को बेकार खटा कर हाथी पकड़ने को बाध्य करने लगे, तो ये आदिवासी विद्रोही बन गये। उन्होंने जमीन्दार के पाइकों-बरकन्दाजों की सेना को बारोमारी के मैदान में पराजित किया। जमीन्दार सपरिवार जान लेकर नेत्रकोना भाग गया। पांच साल तक लड़कर हाजंगों ने बेगार प्रथा खत्म करा दी। पागलपंथी विद्रोह भी किसानों का विद्रोह था, लेकिन वह सिर्फ जमीन्दारों के खिलाफ न था, अंगरेज साम्राजियों के भी खिलाफ था।

इस विद्रोह को 'पागलपंथी विद्रोह' क्यों कहते हैं? 'पागलपंथी' धर्म बंगाल में फैले बाउल धर्म का ही दूसरा नाम है। बंगाल के बाउल अपना परिचय अक्सर पागल कहकर देते हैं।

१८१३ में पागलपंथी धर्म के प्रचारक करमशाह की मृत्यु हुई। उनकी मृत्यु के बाद सुसंग परगना के लेटियाकांदा गाँव के टीपू गारो ने अपनी जाति के लोगों को 'पागलपंथी' धर्म में दीक्षित किया। टीपू गारो का यह धर्म कहता था : "सभी मनुष्यों को ईश्वर ने बनाया है। कोई किसी के अधीन नहीं; इसलिए ऊँच-नीच का भेद करना उचित नहीं।"[1]

१८१२ में गारो सरदार सफाती ने स्वाधीन गारो राज्य स्थापित करने की कोशिश की थी।[2] यह चेष्टा असफल रही, लेकिन उसने गारो जाति को जगा दिया। उक्त असफलता के बाद जमीन्दारों ने अंगरेज शासकों की सहायता से अपना शोषण और अत्याचार बढ़ा दिया। इस अंचल का शोषण जमीन्दार किस तरह करते थे, इसके उदाहरण के लिए राजस्व को लीजिए। दस साला बन्दोबस्त के समय विस्तृत पहाड़ी अंचल का राजस्व सिर्फ १२ रुपया निश्चित किया गया था। जमीन्दार अंगरेज शासकों

---

१. हरचन्द्र चौधरी, शेरपुर विवरण, पृ० १०७
२. बंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, मैमनसिंह, पृ० ३१.

को सिर्फ १२ रुपया देते थे, लेकिन प्रजा से तरह-तरह के कर बैठा कर २० हजार रुपया वसूल करते थे। १७९३ में इस्तेमारी बन्दोबस्त में सब जगह की तरह यहाँ भी राजस्व बहुत ज्यादा बढ़ाया गया। इसका अन्दाज इस बात से लगाया जा सकता है कि मीर-कासिम की नबाबी के जमाने में पूरे सुसंग परगने का राजस्व २५,१८६ रु० था, लेकिन इस्तमारी बन्दोबस्त में सिर्फ पहाड़ी अंचल से ४० हजार रुपया वसूल किया जाने लगा।[1]

१८२४ ई० में बर्मा युद्ध के समय अंगरेज शासकों की सहायता के नाम पर जमीन्दारों ने करों का बोझ एकाएक बहुत बढ़ा दिया। इससे गारो विद्रोही हो गये। मयमन सिंह जिले के गजेटियर ने लिखा कि टीपू के नेतृत्व में पागलपंथी (गारो) विद्रोह "जमीन्दारों के भयंकर शोषण-उत्पीड़ण का ही अनिवार्य परिणाम था।" (पृ० ३२)

करमशाह के द्वितीय पुत्र टीपू के आदेश से सारी प्रजा ने जमीन्दारों को लगान आदि देना बन्द कर दिया। जमीन्दारों ने जबर्दस्ती वसूल करने की कोशिश की तो विद्रोही उनसे भिड़ गये। जनवरी १८२५ में गढ़ जरीपा में दोनों पक्षों में युद्ध हुआ। जमीन्दार हार कर सपरिवार भाग गये। उन्होंने कालीगंज के ज्वायंट मजिस्ट्रेट डेम्पियर की कचहरी में जाकर शरण ली। विजयी सात सौ विद्रोहियों ने शेरपुर शहर पर अधिकार कर लिया। इस शहर को केन्द्र बनाकर विद्रोहियों के सरदारों ने नया गारो राज्य स्थापित किया। इस शहर में उनका न्यायालय और प्रशासन विभाग स्थापित हुआ। गढ़ जरीपा से टीपू विद्रोहियों का नेतृत्व करते रहे। बकसू को न्यायाधीश और दीपचान को फौजदार या मजिस्ट्रेट नियुक्त किया।

गारो जाति का यह राज्य दो साल तक रहा। इस बीच उनके और अंगरेजी सेना के बीच कई बार युद्ध हुए। इन सब में अंगरेज शासकों की सेना पराजित हुई। १८२६ के अन्त में अंगरेज शासकों की एक बड़ी सेना रंगपुर से आयी। इस सेना के साथ युद्ध में विद्रोही पराजित हुए। १८२७ में छल से एक दारोगा दस बरकन्दाजों के साथ जरीपा के किले में घुस गया और टीपू को गिरफ्तार कर लिया। मयमन सिंह के सेशन जज ने उन्हें जिन्दगी भर कैद की सजा दी। मई १८५२ में जेल में ही टीपू की मृत्य हुई।

यह पहला विद्रोह पराजित हुआ, पर इसने अंगरेज शासकों को आदिवासियों पर होनेवाले जुल्मों को कम करने का आदेश देने को बाध्य किया। किन्तु जमीन्दारों के अत्याचार ने फिर विद्रोह की ज्वाला धधका दी। १८३३ ई० में फिर जमीन्दारों और अंगरेज शासकों के विरुद्ध गारो उठ खड़े हुए।

१८३२ के अन्त में विद्रोहियों ने जमीन्दारों की कचहरियों और जमीन्दारपरस्त गारो पर हमले शुरू किये। कितनी ही जगह उन्होंने जमीन्दारों के बरकन्दाजों और पुलिस पर आक्रमण किये। १८३३ के आरंभ में जानकू पाथर और दोबराज पाथर नामक दो गारो सरदारों ने विद्रोहियों का नेतृत्व संभाला। विद्रोहियों को दो भागों में बाँटा गया। एक भाग ने जानकू पाथर के नेतृत्व में शेरपुर के पश्छिमी कोने में कड़ेबाड़ी को

---

१. पूर्वोक्त, पृ० १११.

और दूसरे ने दोबराज के नेतृत्व में नलिताबाड़ी को अपना अड्डा बनाया और आक्रमण की तैयारी की।

अप्रेल १८३३ में दोनों ने मिलकर शेरपुर पर आक्रमण किया और जमीन्दार के घर तथा कचहरी को लूट लिया। जमीन्दार और उसके आदमी जान लेकर भागे। इसके बाद विद्रोहियों ने थाने पर आक्रमण कर उसमें आग लगा दी। कुछ दिनों तक लगता था मानों अंगरेज राज खतम हो गया है।

शेरपुर पर आक्रमण का समाचार पाते ही जिला मजिस्ट्रेट डनबर ने ज्वायन्ट मजिस्ट्रेट गैरेट को वहाँ भेजा। गैरेट के शेरपुर पहुँचते ही विद्रोहियों ने उसका बंगला घेर लिया। वह किसी तरह भाग निकला और जमीन्दारों के सिपाहियों तथा पुलिस को जमा कर फिर आगे बढ़ा। नलिताबाड़ी की तरफ गैरेट को सदल-बल आता देख दोबराज विद्रोहियों को लेकर पीछे हट गये और पहाड़ों में छिप गये। सरकारी सेना ने नलिताबाड़ी पर अधिकार कर लिया। जमीन्दार की कचहरी फिर लगने लगी। सरकारी सेना और जमीन्दार के कर्मचारी विजय उत्सव मना रहे थे कि रात को विद्रोहियों ने नलिताबाड़ी पर धावा बोल दिया। सरकारी सिपाहियों को बन्दूकें उठाने का भी मौका न मिला, सब जान लेकर भागे। बहुत से सिपाही और जमीन्दार के कर्मचारी मारे गये और घायल हुए। सारे शेरपुर में आतंक छा गया।

२७ मई १८३३ को जमालपुर स्थित सरकारी सेना के पास पत्र लिख कर मयमन सिंह जिले के मजिस्ट्रेट डनबर ने सूचित किया कि सेना के बगैर विद्रोह का दमन नहीं किया जा सकता। विद्रोहियों ने शेरपुर और गारो पहाड़ी के बीच सारे विस्तृत अंचल पर अधिकार कर लिया है, वे अब शेरपुर पर आक्रमण की तैयारी कर रहे हैं। जिला मजिस्ट्रेट ने यह भी बताया कि विद्रोहियों की मुख्य सेना लगभग चार पाँच हजार होगी। बल्लम, तलवार, जहरीले तीर और धनुष उनके हथियार हैं। किसी-किसी के पास बन्दूकें भी हैं।[1]

नियमित सेना ने आकर जब चारों तरफ से हमले किये, तब विद्रोहियों को पराजित किया जा सका। गारो पराजित हुए, लेकिन वे बीच-बीच में सर उठाते रहे। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक उनके विद्रोह के प्रमाण पाये जाते हैं।

१. जामिनी मोहन घोष, द पगलापंथीज आफ मयमन सिंह (बेंगाल पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट, खण्ड २८ पृ० ४१-५०.)

अध्याय ४२

गदाधर सिंह का विद्रोह

(१८२८-३०)

आंग्ल-बर्मी युद्ध (१८२४) के आरम्भ में अंगरेजों ने घोषणा की थी कि वे ब्रह्मपुत्र उपत्यका का कोई भी अंश अपने राज्य में मिलाना नहीं चाहते। इसलिए उत्तर असम के सामन्त-सरदारों ने आशा की थी कि बर्मियों को असम से निकाल कर विजय के बाद अंगरेज इसे यहाँ के राजवंश को सौंप कर वापस चले जायेंगे।

लेकिन युद्ध में विजय प्राप्त करते ही अंगरेज साम्राजी अपना वादा भूल गये। वे ब्रह्मपुत्र की घाटी पर कब्जा कर बैठ गये। यह यहाँ के सामन्तों की आशा पर तुषारपात था। उन्होंने समझ लिया कि ये परदेशी बिना युद्ध के वापस न जायेंगे। इसलिए उन्होंने अंगरेजों को भगाने की योजना बनायी। आंग्ल-बर्मी युद्ध में अंगरेजों की विजय के दो साल बीतते न बीतते ये सामन्त सरदार विदेशी साम्राजियों से भिड़ गये। दो बार उन्होंने अंगरेजों को मार भगाने के प्रयत्न किये। अवश्य ही ये दोनों ही असफल हुए।

उत्तर असम के सामन्तों का अंग्रेजों की हुकूमत के खिलाफ पहला विद्रोह गदाधर सिंह का विद्रोह कहलाता है। यह १८२८ से १८३० तक रहा। गदाधर सिंह अपने को असम के भूतपूर्व राजा (१८१०-१८) चन्द्रकान्त का भतीजा और जोगेश्वर सिंह का निकट सम्बन्धी बताते थे। वे असम में १६०३-४१ तक राज करनेवाले मेरू को अपना पूर्वज बताते थे। इस तरह वे अपने को अहोम राजवंश के संस्थापक सुखाफा का वंशज सिद्ध करते थे।[1]

इनका पूर्व इतिहास अज्ञात है। कहा जाता है कि उनके पिता धुतूवा गोहाई १८१८ में अपने निकट सम्बन्ध की एक सुन्दरी कुमारी के साथ बर्मा की तत्कालीन राजधानी आवा गये थे। राजा जोगेश्वर सिंह ने, जिन्हें बर्मा के राजा ने चन्द्रकान्त को हटा कर उसी साल उत्तर असम का राजा बनाया था, इस कुमारी को बर्मा के राजा के पास उपहार के रूप में भेजा था। इस कुमारी का व्याह बर्मा के युवराज बागयीदा के साथ हुआ जो १८१९ में बर्मा का राजा बना।

डा० भुइयाँ द्वारा सम्पादित 'पाडय बुरंजी' में कहा गया है कि यह कुमारी जोगेश्वर सिंह की बहन थी और चन्द्रकान्त ने उसे बर्मा के राजा के पास उपहार-स्वरूप भेजा था।[2]

---

१. सेक्रेट कांसल्टेशन्स, १८३०, १२ मार्च, नं०, १२; डा० रेवती मोहन लाहिड़ी, दि एनेक्सेशन आफ आसाम, पृ० ६१.

२. डा० रेवती मोहन लाहिड़ी, उपरोक्त, पृ० ६२.

लेकिन इस अंचल के उस वक्त के प्रधान अंगरेज अधिकारी स्काट ने लिखा है कि उसे जोंगश्वर सिंह ने भेजा था। उसका कोई भी सम्बन्ध उनसे न था। वह राजवंश की कुमारी भी न थी, लेकिन बर्मा के राजा को प्रसन्न करने के उद्देश्य से उसे राजकुमारी बताया गया था।

धुतूवा गोहाई को आवा दरबार में उच्च स्थान मिला। बर्मा के राजा ने गदाधर सिंह को असम भेजा यह जाँच करने के लिए असम से अंगरेजों को हटाकर गदाधर को राजा बनाने की योजना में वहाँ के सामन्त सरदार साथ देंगे या नहीं। साथ ही यह भी जानने के लिए कि असम में अंगरेजो की सेना कितनी है। बर्मा का राजा असम से अंगरेजों को मार भगाना चाहता था, पर खुल कर सामने आना न चाहता था।

इसी बीच आसाम के सामन्त सरदार अपनी शक्ति इकट्ठा कर अंगरेजो को मार भगाने की तैयारी कर रहे थे। यह १८२८ की बात है। कंपनी सरकार का पोलिटिकल एजेन्ट बहुत दिनों से सदिया से अनुपस्थित था। ५४ वीं रेजीमेन्ट की तीन कंपनियाँ पूर्वी असम से हटा ली गयी थीं, और अफवाह फैल रही थी कि उत्तर असम से कंपनी की सारी सेना जल्दी हटा ली जायगी। इसलिए सामन्त सरदार इसे अंगरेजों को मार भगाने का सुनहरा अवसर समझते थे।

इसी अवसर पर खामती पुरोहित के भेष में गदाधर सिंह असम आये[1]। पहले उन्होंने उत्तर असम में कम्पनी सरकार के पोलिटिकल एजेन्ट कैप्टेन न्यूफविल के पास पत्र लिख कर अनुरोध किया कि कंपनी असम का राज उन्हें दे दे। उदाहरण के तौर पर उन्होंने दिखाया कि कैप्टेन वेल्स ने मोआमारियाओं को निकाल बाहर कर राजा गौरीनाथ को वहाँ का राज्य सौंप दिया था। अब चूँकि बर्मी असम से निकाल बाहर किये जा चुके हैं, इसलिए वहाँ का राज्य कंपनी उन्हें दे दे। उन्होंने वादा किया कि वे राज-काज अंगरेजों की मरजी के अनुसार चलायेंगे।[2]

यह कदम उन्होंने अंगरेजों का सन्देह दूर करने के लिए उठाया था, क्योंकि इसी के साथ ही उन्हें कंपनी सेना के सिपाहियों को अंगरेजों की हत्या के लिए भड़काते और अपने राज में उन्हें ज्यादा वेतन देने का वादा करते पाया जाता है।[3] इसी समय उनकी मुलाकात असम के सामन्त सरदारों से हुई। सरदारों ने अपने राजनीतिक उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्हें अच्छा अस्त्र समझा।

राजगुरु बुलाये गये और गदाधर सिंह को राजा बनाया गया। दाहा फूकन, मंत्री धर्माधार और खामती बूढ़ा गोहाई उनके प्रधान सहायक बने। उनकी सलाह से गदाधर ने बड़ बड़ुवा, बड़ फूकन और पुराने राज्य दरबार के अन्य अधिकारियों के पास पत्र लिखे। इनमें उन्होंने सहायता और सहयोग मांगा। भूतपूर्व बूढ़ा गोहाई ने उन्हें फूँक-फूँक कर

१. सेक्रेट कान्सल्टेशन्स, १८३०, १२ मार्च, नं० १२; डा० रेवती मोहन लाहिरी, वही, पृ० ६२.
२. सेक्रेट कन्सल्टेशन्स, १८३०, १२ मार्च, नं० १३ (१); डा०रेवती मोहन लाहिरी, वही, पृ० ६३.
३. सेक्रेट कांसल्टेशन्स, १८३०, जून २५, नं० ४; डा० रेवती मोहन लाहिरी, वही, पृ० ६३.

कदम आगे रखने की सलाह दी। उनका बराबर सम्पर्क कर्नल कूपर और कैपटेन न्यू-फविल से था। फिर भी वे गुप्त रूप से गदाधर सिंह से सम्पर्क रखते थे। उन्होंने जल्दी में कदम न उठाने की सलाह दी, उनकी सफलता की कामना की और वादा किया कि सफलता सुनिश्चित मालूम होगी तो वे खुल कर उनके साथ मिल जायेंगे।

खुद ईस्ट इंडिया कंपनी के उत्तर असम में पोलिटिकल एजेन्ट के दरबार में ऐसे आदमी थे जो गदाधर सिंह की सफलता की कामना करते थे।[1] गदाधर ने बड़ बड़ुवा के पास एक पत्र में लिखा : मैं मातृभूमि के मन्दिरों और गृहों की रक्षा करने आया हूँ। अनादि काल से हमारे पूर्वज बड़ बड़ुवों के हाथ से राज पाते रहे हैं। ऐसे अवसर पर मैं आपकी सहायता का अनुरोध करता हूँ। इसी तरह का पत्र उन्होंने बड़ फूकन को भी लिखा। दोनों ने वादा किया कि जिस दिन गदाधर को सफलता मिलेगी, उसके दूसरे दिन ही वे खुल कर उनके आदमी हो जायेंगे।[2] यह भी कहा जाता है कि गदाधर ने चन्द्रकान्त का भी आशीर्वाद प्राप्त किया था।

अपने को असम का राजा घोषित कर गदाधर ने राजचिह्न धारण किये और कंपनी का राज उखाड़ फेंकने के लिए सब लोगों का आह्वान किया। उन्होंने छोटी-मोटी सेना भी इकट्ठा की। असम की आम जनता की हमदर्दी इस राजा के साथ थी और वह अंगरेजों के राज का अन्त देखना चाहती थी। अगर किसी तरह रंगपुर पर उनका कब्जा हो जाता, तो फिर असम को गुलाम बनाना अंगरेजों के लिए बड़ा मुश्किल होता। खुद स्काट ने स्वीकार किया :

"फिर से शान्ति व्यवस्था स्थापित करने में बहुत ही बड़ी असुविधा का सामना करना पड़ता और बहुत बड़ी क्षति उठानी पड़ती।"[3]

विद्रोही सरदार मोहियानू में इकट्ठा हुए जो जोरहाट के दक्षिण में है। उनका नेतृत्व खामती बूढ़ा गोहाईं, बड़ बड़ुवा, डाहा फूकन आदि कर रहे थे।[4] रंगपुर (असम) पर चढ़ाई का एक शुभ दिन निश्चित किया गया। गदाधर का विश्वास था कि ज्योंही उनकी सेना रंगपुर के पास पहुँचेगी, हिन्दुस्तानी सिपाही उनके पक्ष में आ मिलेंगे।

जब गदाधर की सेना रंगपुर पर चढ़ाई के लिए एकदम तैयार थी, तभी कैप्टेन न्यूफविल वहाँ आ पहुँचा। उसके आगमन की कोई भी पूर्व सूचना उसके मातहत काम करनेवाले गदाधर के समर्थकों को न मिल सकी थी। इसलिए उन्हें मौका न मिल सका कि गदाधर को समाचार भेज खुले विद्रोह से उस वक्त रोक सकें। जिस पोलिटिकल एजेन्ट की अनुपस्थिति से वे लाभ उठा लेना चाहते थे, वह उनकी छाती पर आ बैठा था। ऐसी हालत में बड़ गोहाईं और बड़ फूकन घबरा गये। उन्हें अपनी गर्दन फंस जाने का डर

१. सेक्रेट कांसलटेशन्स, १८३०, मार्च १२, न० १२; डा० रेवती मोहन लाहिड़ी, वही, पृ० ६४
२. सेक्रेट कांसलटेशन्स, १८३०, मार्च १२, न० १३ बी; डा० रेवती मोहन लाहिड़ी, वही, पृ० ६४
३. सेक्रेट कांसलटेशन्स, १८३०, मार्च, १२, न० १२; डा० लाहिड़ी, वही, पृ० ६४
४. सेक्रेट कांसल्टेशन्स, १८२८, दिसम्बर ४, नं० १०; डा० लाहिड़ी, वही, पृ० ६४

लगा। इसलिए उन्होंने अपने पास लिखे गये गदाधर के पत्रों को न्यूफविल को दे दिया और सारी योजना जाहिर कर दी।

न्यूफविल ने तुरन्त कार्रवाई की। उसने लेफ्टिनेन्ट रदरफोर्ड के नेतृत्व में एक बड़ी सेना को विद्रोहियों पर हमला करने भेजा। इस सेना ने देवरापार में विद्रोहियों को परास्त किया। राजा गदाधर अपने बाकी बचे साथियों को लेकर नागा पहाड़ियों में चले गये। रदरफोर्ड उनका पीछा करता हुआ हुनबाल तक गया और नागा सरदारों के पास चिट्ठियां भेज विद्रोहियों को पकड़ने में मदद मांगी। इसी बीच असम मिलिशिया गदाधर की माँ, पत्नी और बहनों को पकड़ने में सफल हुई। रदरफोर्ड ने गदाधर की माँ से मुलाकात की और उनसे अनुरोध किया कि वे गदाधर को आत्मसमर्पण करने को समझायें और वादा किया कि अगर वे अपने मन से आत्मसमर्पण कर देंगे तो उनके साथ नरमी का वर्ताव किया जायगा।

गदाधर काफी दिनों तक जंगलों में छिपते और बचते रहे। इस बीच उनके अधिकांश समर्थकों ने, यहाँ तक कि उनके प्रधान मित्र खामती बूढ़ा गोहाईं ने भी साथ छोड़ दिया। ऐसी हालत में न्यूफविल के वादे पर निर्भर कर उन्होंने अपने साथियों के साथ १० नवम्बर १८२८ को आत्मसमर्पण कर दिया। उनके पास पाये गये पत्रों के आधार पर कुछ लोग गौहाटी में गिरफ्तार गिये गये।

गदाधर, दाहा फूकन, धर्माधार मंत्री, खामती बूढ़ा गोहाईं, भूतपूर्व बड़ गोहाईं और उनके पुत्र पर मामला चलाया गया। गदाधर को मृत्यु की सजा सुनायी गयी, लेकिन न्यूफविल ने उसे ७ वर्ष के निर्वासन में बदल दिया और कंपनी सरकार ने इसकी पुष्टि की। दूसरों को भी मृत्य दंड मिला था, लेकिन उसे भी बदल दिया गया।

जेल से गदाधर निकल भागे, किन्तु फिर पकड़ लिए गये। फिर उन्हें कारारक्षकों के साथ साजिश करते देखा गया। इसलिए उन्हें बंगाल के रंगपुर जेल में ले जाकर नजरबन्द कर दिया गया। इस तरह अंगरेजों के खिलाफ असम के सामन्तों का पहला विद्रोह समाप्त हुआ।

अध्याय ४३

कुमार रूपचन्द का विद्रोह

(१८३०)

कुमार रूपचन्द का विद्रोह असम को अंगरेजों के चंगुल से मुक्त करने का सामन्तों का दूसरा प्रयास था। भूतपूर्व बड़ गोहाईं के पुत्र हरनाथ पर भी पहले विद्रोह में मुकदमा चला था, पर प्रमाण के अभाव में उन्हें छोड़ दिया गया था। बाद में उन्होंने अपने पिता और दूसरों को जेल से निकल भागने में मदद दी और दूसरा विद्रोह संगठित किया।

पहले वे लोग रंगपुर (असम) के पूर्व की पहाड़ियों और जंगल में छिपे रहे और फिर मुत्तुक लोगों के अंचल म गये। उनका प्रधान बड़ सेनापति इन विद्रोहियों का विरोधी था, लेकिन उसका दूसरा पुत्र अपने पिता की मरजी के खिलाफ उन्हें आश्रय देने को राजी हो गया। यहां उनके साथ बड़ फूकन और बड़ सेनापति के कुछ असंतुष्ट लोग आ मिले। वे अब खुला विद्रोह करने का सुअवसर देखने लगे। बड़ फूकन बदनचन्द का बेटा था जिसने पहले पहल बर्मियों को असम बुलाया था।

इसी बीच नंकलो के राजा तीरथ सिंह के नेतृत्व में खसिया विद्रोह आरंभ हो गया। १८३० के आरंभ में जबकि अंगरेज खसिया लोगों के साथ युद्ध में फंसे थे, सिंगफो विद्रोह एक असंतुष्ट खामती सरदार के नेतृत्व में आरंभ हो गया। उसकी मदद पटकोई अंचल का साहसी सिंगफो सरदार कर रहा था। इसलिए विद्रोहियों को लगा कि वे जिस सुअवसर का इन्तजार कर रहे थे, वह आ गया है। इन दोनों विद्रोहों के नेताओं से उन्होंने पत्र व्यवहार किया और उनके साथ मिल कर अंगरेजों को मार भगाने की योजना बनायी। उन्होंने कुमार रूपचन्द को राजा बनाया और अपनी योजना को सफल बनाने की व्यापक प्रस्तुति की।[1]

उन्होंने खामती, मोआमारिया, नागा, खसिया और गारो आदिवासियों के सरदारों के पास दूत भेजे और ब्रिटिश सरकार के खिलाफ उठ खड़े होने का आह्वान किया। उन्होंने कंपनी के समर्थकों को भी अपनी तरफ मिलाने के लिए सब तरफ दूत भेजे।[2] सदिया में भी उनके गुप्त समर्थक थे। उन्होंने सारे असम में अपने जासूसों का जाल बिछाया जिससे उन्हें बहुत ही मूल्यवान समाचार मिल जाते। उन्हें कंपनी की सेना की सही ताकत का भी समाचार मिल रहा था।

लेकिन उनकी यह गुप्तचर व्यवस्था त्रुटिपूर्ण थी जिससे पड़ोसी सरदारों के पास भेजे गये प्रायः सभी पत्र अंगरेजों के जासूसों के हाथ में पड़ गये और सदिया स्थित कंपनी

१. पोलिटिकल प्रोसीडिंग्स, १८३०, १६ जुलाई, न० ४६ ; डा० लाहिरी, वही, पृ० ६८
२. पोलिटिकल कांसल्टेशन्स, १८३०, २४ सितम्बर, न० ७६ ; डा० लाहिरी, वही, पृ० ६८

के पोलिटिकल एजेन्ट के पास पहुँच गये।[1] विद्रोहियों के लिए इससे भी ज्यादा नुकसान-देह हरनाथ की गिरफ्तारी थी, जिन्हें खामती लोगों का विद्रोह कराने के लिए भेजा गया था। उन्होंने दो पत्र सदिया के खवा गोहाईं को दिये जिन्हें उसके नाम बड़ गोहाईं और बड़ फूकन ने लिखा था। सदिया के खवा गोहाईं ने खुद ले जाकर ये पत्र पोलिटिकल एजेन्ट न्यूफविल को सौंप दिये। इन पत्रों के आधार पर हरनाथ को गिरफ्तार कर लिया गया।

न्यूफविल ने विद्रोहियों को कुचलने के लिए तुरन्त कदम उठाये। उसने उत्तर और पूर्व असम के सरदारों के पास अत्यावश्यक सन्देश भेजे और उनसे सहयोग का अनुरोध किया। इस बीच उसने कुछ सतर्कता बरती। सदिया में शस्त्रागार की छत फूस की छायी हुई थी। विद्रोहियों की योजना थी कि वे अग्निवाण चलाकर इसमें आग लगा देंगे और इस प्रकार शत्रु को शस्त्रहीन कर देंगे। न्यूफविल ने फौरन फूस हटवाकर छत खपरैलों की करवा दी। उसने रंगपुर में भी अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाई।

इस बीच सिंगफो विद्रोह भी दब गया। लेकिन इससे या हरनाथ की गिरफ्तारी से विद्रोहियों ने हार न मानी। उन्होंने ४०० आदमी लेकर रंगपुर पर चढ़ाई कर दी। २५ मार्च १८३० की रात को उन्होंने कंपनी की सेना के शिविर पर हमला किया। उनकी योजना शिविर की झोपड़ियों में आग लगाकर दुश्मन पर टूट पड़ना था, लेकिन असफल होकर उन्हें पीछे हटना पड़ा।

इस आक्रमण का समाचार पाते ही कैप्टेन न्यूफविल ने असम लाइट इन्फैन्ट्री की एक टुकड़ी और असम मिलिशिया का एक हिस्सा फौरन रंगपुर रवाना किया और विद्रोहियों का पीछा करने का आदेश दिया। असम लाइट इन्फैन्ट्री की टुकड़ी फौरन रंगपुर के पूर्व सरदार पहाड़ियों के पास स्थित गिलेकू नगर की तरफ चल पड़ी। वहाँ उसका मुकाबिला विद्रोहियों से हुआ। विद्रोहियों की पूर्ण पराजय हुई और वे पूर्व की तरफ भाग कर नागा पहाड़ियों में चले गये। कंपनी की सेना ने यहाँ भी उनका पीछा किया और अन्त में प्रायः सभी विद्रोही नेताओं और उनके आदमियों को गिरफ्तार करने में सफल हुई। सिर्फ भूतपूर्व बड़ गोहाईं और उनके ज्येष्ठ पुत्र कंपनी की सेना के घेरे से बच कर निकल सके। घने जंगल में उन्हें पकड़ा न जा सका।

असम लाइट इन्फैन्ट्री की टुकड़ी वापस सदर दफ्तर सदिया बुला ली गयी और बाकी विद्रोहियों को गिरफ्तार करने का काम बड़ सेनापति के मातहत असम मिलिशिया पर छोड़ दिया गया। बाकी विद्रोही भी बाद में गिरफ्तार कर लिए गये। असम के कुछ बेकार सामन्त भी गिरफ्तार किये गये क्योंकि उन्होंने विद्रोहियों की सहायता की थी। बड़ सेनापति को अपनी ही रियाया के कुछ लोगों को गिरफ्तार करने का आदेश दिया गया क्योंकि इन लोगों ने विद्रोह में सक्रिय हिस्सा लिया था।

विद्रोह के नेता भूतपूर्व बड़ गोहाईं, बड़ फूकन, हरनाथ, रूपचन्द और जयराम दुली

१. सेक्रेट कान्सल्टेशन्स, १८३०, ३० अप्रैल, नं० ५ (अ); डा० लाहिड़ी, वही, पृ० ६६

पर, जो भूतपूर्व बड़ गोहाईं के दामाद थे, सदर पंचायत में मामला चला और सब को मृत्यु दंड देने का निर्णय हुआ। कैप्टेन न्यूफविल ने इस फैसले के समीक्षा के लिए स्काट के पास भेजा। स्काट की अध्यक्षता में चेरापुंजी में फौजदारी अदालत ने इस पर विचार किया। उसने बड़ फूकन और जयराम को मृत्यु दण्ड का समर्थन किया, किन्तु रूपचन्द और बाकी का मृत्यु दंड बदल कर १४ साल के निर्वासन का और उनकी सारी जायदाद जप्त कर लेने का हुक्म दिया।

प्रचलित नियम का तकाजा था कि इस फैसल को पुष्टि के लिए कंपनी सरकार के पास कलकत्ता भेजा जाता। लेकिन इसी समय कैप्टेन न्यूफविल की मृत्यु हो गयी। स्काट को लगा कि अगर असम के सामन्तों में आतंक पैदा करने के लिए फौरन कुछ न किया गया, तो न्यूफविल जैसे कठोर प्रशासक के न रह जाने से वे फिर विद्रोह कर सकते हैं। इसलिए उसने नियम कानून को ताक पर रख कर बड़ फूकन और जयराम को मृत्युदंड दे दिया। बाकी को असम से निर्वासित कर ढाका जेल में बन्द कर दिया गया जो उस वक्त इस तरह के अपराधियों की नजरबन्दी के लिए बहुत सुरक्षित स्थान माना जाता था।[१]

इस तरह ब्रह्मपुत्र की घाटी से अंगरेजों को मार भगाने का असम के सामन्त सरदारों का दूसरा प्रयास भी असफल गया। इन साम्राजियों का मुकाबिला करने में वे असम के निवासियों की प्रबल भावना का प्रतिनिधित्व कर रहे थे, यह सुनिश्चित है।

१. पोलिटिकल कांसल्टेशन्स, १८३०, २४ सितम्बर, न० ७६; डा० लाहिड़ी, वही, पृ० ७१

अध्याय ४४

खसिया विद्रोह

(१८२९-३३)

पूर्व में जयन्तिया और पच्छिम में गारो पहाड़ियों के बीच ७० मील लम्बा और ५० मील चौड़ा अर्थात् ३,५०० वर्गमील का पहाड़ी अंचल है जहाँ बहादुर और लड़ाकू खसिया रहते हैं। अंगरेजों के अधिकार के पहले यहाँ खसियों के ३० राज्य थे। इन खसिया राज्यों के प्रधान या सरदार असीम शक्ति सम्पन्न राजा न थे। वे हर गणतंत्र के चुने हुए प्रधान थे। हर राज्य की एक परिषद थी जिसकी स्वीकृति लिए बगैर राजा अर्थात् प्रधान कोई भी महत्वपूर्ण काम न कर सकता था। ये सब राज्य मिल कर गणतंत्रों के संघ की तरह कार्य करते थे, हालाँकि इस संघ का कोई अध्यक्ष न था। राबर्टसन ने, जो अगस्त १८३१ में डेविड स्काट की मृत्यु के बाद इस अंचल में गवर्नर जनरल का एजेन्ट नियुक्त हुआ, कहा था :

"उनकी राजनीतिक व्यवस्था के इस पक्ष पर हमारे ध्यान न देने में संभवत: नंकलो के हत्याकांड का कारण प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि लगता है कि तीरत [तीरथ] सिंह उस अवसर पर संघ के सदस्यों की, जो अपनी स्वीकृति के बगैर उनके [तीरथ सिंह के] द्वारा की गयी संधि से नाराज थे, इच्छा की पूर्ति के एक अस्त्र मात्र थे।"[१]

जब भी कोई प्रश्न या विवाद, चाहे वह उत्तराधिकार का हो या अन्य, उठ खड़ा होता, उनकी परिषद में वह पेश होता, उस पर बहस होती। हर सदस्य को बोलने और वोट देने का अधिकार होता। डेविड स्काट का सहायक कैप्टेन ह्वाइट उनकी परिषद की एक ऐसी ही बैठक में उपस्थित था। उनकी व्यवस्थित, औचित्य और अनुशासनपूर्ण दो दिन की बहस और फिर निर्णय को देख कर उसने स्वीकार किया कि किसी यूरोपीय समाज में इससे उत्तम पद्धति उसने नहीं देखी।[२] खसिया स्वायत्त शासन की कला में कितने आगे थे, ह्वाइट की स्वीकारोक्ति इसका प्रमाण है।

उनके जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जनतंत्र की पावनता और प्रत्येक सांस में स्वतंत्रता की भावना थी। इसलिए जब ब्रिटिश साम्राजियों ने ऐसी जाति को पराधीन बनाने की तरफ कदम उठाये, तो उसका विद्रोही बन जाना, मरने-मारने को तैयार हो जाना बिल्कुल स्वाभाविक था। खसिया विद्रोह का मूल कारण यही था।

१८२४ में जब दक्षिण असम ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ आ गया, तो डेविड स्काट के मस्तिष्क में असम और सिलहट के बीच सीधी सड़क बनाने का विचार आया, क्योंकि

---

१. सेक्रेट प्रोसीडिंग्स, १८३३, ७ जनवरी, न० ८२; डा० लाहिड़ी, वही, पृ० ७४

२. सेक्रेट प्रोसीडिंग्स, १८२६, ८ मई, न० ११; डा० लाहिड़ी, वही, पृ० ७८

जयंतिया से होकर जानेवाली सड़क बर्मियों का कब्जा हो जाने के कारण काम में न आ रही थी। असम और सिलहट को खासी पहाड़ियों से होकर जोड़नेवाली सड़क का बड़ा भारी सैनिक महत्व था। इससे दूरी कम हो जाती थी, तीन महीने की यात्रा तीन सप्ताह की हो जाती थी। इस सामरिक आवश्यकता के अलावा स्काट के दिमाग में और भी बातें थीं। उसका ख्याल था कि इस अंचल में अंगरेजों का प्रभाव स्थापित हो जाने से सिलहट की सीमा पर अशान्ति पैदा करनेवाले खसिया सरदार डर जायेंगे, उन पर ब्रिटिश सरकार का आतंक छा जायगा। उसका यह भी ख्याल बताया जाता है कि इस सड़क के बन जाने से खसिया मैदान के बाजारों में जा सकेंगे और इस तरह खसिया अंचल की सम्पन्नता बढ़ जायगी।[1] स्पष्ट है कि इनमें पहले दो उद्देश्य ही मुख्य थे, तीसरा बिल्कुल गौड़ था।

यह सड़क दक्षिण असम के सामने बारदुआर से आरंभ होनवाली थी। ब्रिटिश सरकार ने इस अंचल की जमीन्दारी छत्तर सिंह को दे रखी थी। इसलिए उस के पास आवेदन पत्र भेज कर सड़क बनाने की इजाजत मांगी गयी। उसने फौरन इजाजत दे दी और वादा किया कि जरूरत की चीजों को देने की वह भरसक कोशिश करेगा। लेकिन पहाड़ी अंचल में छत्तर सिंह का कोई अधिकार न था, वहाँ तो हुकूमत तीरथ सिंह की चलती थी और तीरथ सिंह छत्तर सिंह के साथ-साथ अंगरेजों के भी विरोधी थे। पहाड़ी अंचल में सड़क बनाने वाले मजदूरों को भी मार डालने की धमकी दी जाती। इसी बीच छत्तर सिंह की मृत्यु हो गयी और सड़क निर्माण का काम बन्द हो गया।

छत्तर सिंह की जमीन्दारी के उत्तराधिकार को लेकर झमेला खड़ा हो गया। उसके लिए कितने ही लोग दावेदार थे। खसिया जातिके मुखियों की सभा नंकलो में बुलायी गयी। यह तीरथ सिंह के अंचल की राजधानी थी। स्काट भी इस सभा में गया। वह इस सभा में क्यों गया? डा० रेवती मोहन लाहिड़ी 'दि एनेक्सेशन आफ आसाम' (असम पर अधिकार) नामक पुस्तक में लिखते है कि आपसी मतभेद दूर करने में सहायता के लिए खुद खसिया लोगों ने उसे इस सभा में निमंत्रित किया था और इसके लिए वे सरकार के एक अप्रकाशित गुप्त दस्तावेज का हवाला देते हैं।[2] लेकिन स्काट ने क्या सहायता की, इसका उल्लेख वे नहीं करते। उल्टे वे लिखते हैं कि दो दिन की स्वस्थ और तर्कपूर्ण बहस के बाद उन लोगों ने एक मत से फैसला किया कि छत्तर सिंह के पाँच-वर्षीय भाई रज्जन सिंह को राजा नहीं बनाया जा सकता। रज्जन के बाद छत्तर सिंह के उत्तराधिकारी तीरथ सिंह होते हैं। इसलिए तीरथ सिंह को वहाँ का राजा चुना जाना चाहिए और उनकी मृत्यु के बाद रज्जन सिंह को राज मिलना चाहिए। वे यह भी लिखते हैं कि उनकी परिषद की बैठक देख कर स्काट ने मुक्त कंठ से स्वीकार किया कि सबसे ज्यादा सभ्य देशों में भी इतनी उत्तम संसदीय पद्वति नहीं देखी जाती।

१. सेक्रेट प्रोसीडिंग्स, १८२७, २ मार्च, न० २०; डा० लाहिड़ी, वही, पृ० ७५
२. सेक्रेट प्रोसीडिंग्स, १८२६, २६ जून, न० २; डा० लाहिड़ी, वही, पृ० ७५

लगता है कि स्काट खुद अंगरेजों के स्वार्थ के लिए इस बैठक में शामिल होने गया था। वह खसिया सरदारों से अपनी सेना के जाने के रास्ते के लिए इजाजत ले लना चाहता था। हो सकता है कि अंगरेज समर्थक कुछ खसिया सरदारों ने उसे इस बैठक में शामिल होने को निमंत्रित किया हो। बहरहाल स्काट ने अपना अनुरोध पेश किया कि राजा अपनी भूमि से होकर ब्रिटिश सेना जाने दे, किन्तु सरदारों ने इसकी स्वीकृति तुरन्त देने से इन्कार किया। उन्हें डर था कि ऐसा करने से पड़ोसी नाराज हो जायेंगे।

लेकिन इसके बाद तीरथ सिंह और अंगरेजों के बीच एक समझौता हुआ। अपने सम्बन्धियों और परिषद की बैठक में आये सरदारों की सम्मति से तीरथ सिंह ने कंपनी सरकार की प्रजा बनना और उसके संरक्षण में आना स्वीकार कर लिया। उन्होंने ब्रिटिश सेना को अपने राज्य से होकर जाने देने की स्वीकृति दी और उसके लिए रसद पानी का इन्तजाम करने का भी वादा किया। कंपनी सरकार की तरफ से स्काट ने विदेशी शत्रुओं से राजा तीरथ सिंह के राज्य की रक्षा करने का वादा किया। उसने यह भी वादा किया कि अगर किसी पहाड़ी राजा ने उनके राज्य पर बिना किसी उकसावे के आक्रमण किया, तो कंपनी सरकार तीरथ सिंह का हर तरह समर्थन करेगी। तीरथ सिंह ने स्काट से वादा करवाया कि उनके राज्य के आन्तरिक प्रशासन में ब्रिटिश सरकार किसी भी तरह का हस्तक्षेप न करेगी और खुद वादा किया कि कालियाबार के पड़ोस में कंपनी को कोई युद्ध करना पड़ा, तो वे अपने आदमी लेकर कंपनी सरकार की मदद करने जायेंगे।[1]

स्काट सड़क के निर्माण में राजा तीरथ सिंह का ज्यादा सक्रिय सहयोग चाहता था, लेकिन सरदारों के मस्तिष्क में १८२५ की घटना काम कर रही थी। उस वक्त सिलहट जिले में ब्रिटिश अफसरों ने बहुत से भिखारियों को पकड़ कर ब्रिटिश सेना में कुली का काम करने को वाध्य किया था। इसलिए मजदूर जुटाने का कोई लिखित समझौता कंपनी सरकार के साथ करने से उन्होंने इन्कार किया।[2]

फिर भी देखा गया कि सन्धि में सड़क बनाने में मदद वाली धारा जोड़ दी गयी; लेकिन इस सम्बन्ध में सरदारों की स्वीकृति नहीं ली गयी। इससे उनमें असंतोष बढ़ा और उसी का परिणाम नंकलो का हत्याकाण्ड हुआ।

राजा तीरथ सिंह के स्वाधीन राज्य की सीमा असम के मैदानी हिस्से तक जाती थी। सेमांग, मापलुंग, और चेरापुंजी के राजाओं के अंचल से बाकी सड़क जाती थी। चूंकि ये राजा अपने अंचल से होकर सड़क ले जाने की इजाजत पहले ही दे चुके थे, इसलिए तीरथ सिंह के साथ समझौते के बाद उसके निर्माण की सारी बाधाएँ दूर समझी गयीं। इस समझौते पर बड़े लाट ने अपनी मुहर लगायी और सम्मान प्रदर्शन के लिए राजा तीरथ सिंह को असमिया राज्य की पालकी भेंट की। यह उस वक्त बहुत बड़ा सम्मान माना जाता था।

१. सेक्रेट प्रोसीडिंग्स, १८२७, २ मार्च, न० २१ ; डा० कातिकी, वही, पृ० ७६
२. सेक्रेट प्रोसीडिंग्स, १८२७, २ मार्च, न० २० ; डा० कातिकी, वही, पृ० ७६

सड़क का बनना आरंभ हो गया। स्काट की योजना के अनुसार नंकलो में एक सैनीटोरियम बन गया जहाँ जाकर अंगरेज स्वास्थ्य लाभ करने लगे। अंगरेजों के और भी बँगले बने। किन्तु इस ऊपरी शान्ति के नीचे कौन सा ज्वालामुखी धधक रहा है, इसका अनुमान अंगरेज अधिकारी न लगा सके। उन्हें होश तब आया जब नंकलो में अंगरेज और कंपनी के चाकर बंगाली बाबू काट कर रख दिये गये।

छत्तर सिंह के राज्य को पाने के बाद ही तीरथ सिंह ने देखा कि उसकी आय नाकाफी है और कंपनी सरकार ने राजस्व इतना ज्यादा लगा दिया है कि उसका देना असंभव है। अहोम राज में उन्हें एक पाई भी नियमित वार्षिक राजस्व न देना पड़ता था। इसलिए कंपनी सरकार का राजस्व उन्हें भार मालूम होने लगा।

इसी समय अंगरेजों से उनके चिढ़ जाने के और भी कारण जमा हो गये। तीरथ सिंह और रानी के राजा बलराम सिंह के बीच झगड़ा चल पड़ा और उसने क्रमशः उग्र रूप धारण किया। तीरथ सिंह ने सन्धि की चौथी धारा के अन्तर्गत अंगरेजों से मदद मांगी, किन्तु स्काट ने यह मदद देने से इन्कार कर दिया। इसका कारण बताया गया कि रानी के राजा के राज्य में हत्याकांड और लूटपाट की क्षतिपूर्ति का निर्देश स्काट ने तीरथ सिंह को दिया था, किन्तु यह निर्देश पूरा नहीं किया गया। यानी यह सिद्ध किया गया कि लड़ाई तो खुद तीरथ सिंह उकसा रहे हैं, इसलिए कंपनी सरकार उनकी मदद नहीं कर सकती।

दिसम्बर १८२८ में एक घटना और घटी। राजा तीरथ सिंह ने असम की घाटी में रानी के राजा की जमीन पर आक्रमण के लिए सेना इकट्ठा की। लेकिन दक्षिण असम के भारप्राप्त कैप्टन ह्वाइट ने उसकी रक्षा के लिए अपने कुछ सिपाही भेज दिये। यह खुल कर तीरथ सिंह का विरोध और रानी के राजा का समर्थन था। स्वभावतः तीरथ सिंह ने इसे अपने साथ विश्वासघात समझा।

तीरथ सिंह की नाराजगी का एक कारण और भी था। उनके राज्य में अंगरेजों ने इमारतें बनवायी थीं। कंपनी सरकार के अधिकारी यहाँ अपने वैभव और अधिकार का बड़ा प्रदर्शन करने लगे। वे तीरथ सिंह को खसियों की ही नजर में गिराने की चेष्टा करने लगे। कंपनी के नौकर-चाकर खसियों पर रोआब गाँठने लगे। वे धमकाने लगे कि सड़क बन जाने पर उन पर टैक्स लादे जायेंगे। इन सबसे तीरथ सिंह का, सरदारों और आम खसियों का नाराज होना बिल्कुल स्वाभाविक था। उनके ही राज्य में उनकी इजाजत से आकर ये परदेशी उनके साथ अपमानजनक व्यवहार करें, यह खसियों के लिए बर्दास्त के बाहर की बात हो गयी। वे अंगरेजों को मार भगाने की योजना बनाने लगे।

मोलिम एक खसिया राज्य था। उसके राजा बार मानिक ने अन्य पहाड़ी राजाओं से सलाह की, अंगरेजों को मार भगाने की योजना बनायी तथा तीरथ सिंह और उनके सम्बन्धियों को इसमें शामिल होने को निमंत्रित किया। उनका लक्ष्य असम से अंगरेजों को भगा कर वहाँ पुराने राजवंश के किसी आदमी को राजा बनाना था। वे उम्मीद

करते थे कि मदद के बदले उन्हें इस राजा से कलंग नदी तक का अंचल मिल जायगा। वे इस तरह अपनी स्वाधीनता की रक्षा कर सकेंगे और अपना राज्य भी बढ़ा सकेंगे।

मार्च १८२९ के अन्त में चेरापुंजी जाते समय स्काट नंकलो पहुँचा तो उसे इस खतरे का आभास मिल गया। उसे पता चल गया कि अंगरेजों को दक्षिण असम से निकाल बाहर करने के लिए बार मानिक ने आस पास के सभी पहाड़ी राजाओं के पास दूत भेजे हैं और युद्ध के लिए अपने सैनिक भेजने का अनुरोध किया है।[1] बार मानिक के ब्रिटिश विरोधी कार्यों की रिपोर्ट कंपनी सरकार के पास पहुँच चुकी थी। गवर्नर जनरल ने उनके खिलाफ कड़ी कार्रवाई का आदेश स्काट को दिया था। इसलिए वह तेजी से चेरापुंजी चला। उसकी योजना थी कि सिलहट की सेना लेकर वह बार मानिक को धर दबोचेगा और ऐसा करने से दूसरे पहाड़ी सरदार भी डरकर चुप हो जायेंगे। लेकिन उसके आघात करने के पहले ही विद्राहियों ने आघात किया।

४ अप्रेल १८२९ को नंकलो हत्याकाण्ड हुआ जिसे खसियों के एक जत्थे ने गारो लोगों के साथ मिल कर किया। उस वक्त नंकलो में तीन अंगरेजों-लेफ्टिनेन्ट बेडिंगफील्ड, लेफ्टिनेन्ट बर्लटन और मि० बोमैन की उपस्थिति का जिक्र मिलता है।[2] इनके अलावा कुछ हिन्दुस्तानी सिपाही, बंगाली बाबू और ठेकेदार भी वहाँ पर थे। लेफ्टिनेन्ट बेडिंगफील्ड को, अंगरेज इतिहासकारों के अनुसार, एक कान्फरेन्स के लिए बुलाया गया और ज्योंही वह पहुँचा, उसे मार दिया गया।[3] बर्लटन सन्देह-वश उस कान्फेरेन्स में नहीं गया था। उसने अपने चार सिपाहियों के साथ रात भर अपने बंगले की रक्षा की और सबेरे असम की तरफ भाग जाने की चेष्टा की। शाम तक वे भागते रहे, लेकिन विद्रोहियों ने उन्हे जा पकड़ा और मौत के घाट उतार दिया। सिर्फ एक सिपाही बच कर जा सका। नंकलो में जितने भी बंगाली मिले, मारे गये; लेकिन असमिया अमलाओं को छोड़ दिया गया।[4]

कैप्टन पेम्बर्टन के अनुसार 'नन्कलो के हत्याकाण्ड' का फौरी कारण एक बंगाली चपरासी की बातें थीं। खसियों के साथ उसका झगड़ा हो गया तो उसने धमकाया कि स्काट इसका पाई-पाई बदला चुकायेगा। खसियों पर वही टैक्स लगाया जायगा, जो समतल भूमि के लोगों पर लगाया जाता है। कंपनी के नौकरों-चाकरों के उदण्ड व्यवहार से असंतुष्ट खसिया इससे भड़क उठे।[5] इसके कारण पर प्रकाश डालते हुए विल्सन ने लिखा :

"यूरोपियों की उपस्थिति और पहाड़ियों से होकर उनका गमनागमन सभी वर्गों को एकदम नापसन्द था। खसिया लोगों के साथ देशी छोटे अफसरों की जबर्दस्ती

१. सेक्रेट प्रोसीडिंग्स, १८२८, ५ सितम्बर, नं० १२ ; डा० काहिकी, पूर्वोक्त, पृ० ७८
२. विल्सन, मिल्स हिस्ट्री आफ इंडिया, खण्ड ३, पृ० ३२१
३. विल्सन, उपरोक्त, पृ० ३२१ ; आसाम डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, खासी, जयन्तिया एण्ड गारो हिल्स. पृ० ४३
४. डा० काहिकी, उपरोक्त, पृ० ७८
५. विल्सन, वही, पृ० ३२२

और उदण्डता ने खसियों की, जिन्हें वे सड़कों और छावनियाँ बनाने में मजदूरी करने को बाध्य करते, इस भावना को बढ़ा दिया।"[1]

नन्कलो के सरकारी बंगले को उसके सारे माल असबाब समेत खसियों ने जला कर खाक कर दिया; जिन्हें पकड़ कर सड़क बनाने के काम में लगाया गया था, उन्हें मुक्त कर दिया। इसके बाद वे स्काट की तलाश में चेरापुंजी की तरफ चले। इस तरह यह विद्रोह आरंभ हुआ। यह सारे खसिया अंचल में विद्रोह का झण्डा बुलन्द करने का सिगनल था।

इस विद्रोह के प्रधान नेता तीरथ सिंह, बार मानिक और मोसिंग के मुकुन्द सिंह थे। इन्हीं मुकुन्द सिंह के पूर्वज आबू सिंह थे जिनका आक्रमण १७९० में खसिया युद्ध का तात्कालिक कारण बना था। उस युद्ध के परिणामस्वरूप खसियों को सिलहट के मैदान से हट आना पड़ा था। मुकुन्द सिंह की आँख इस मैदान पर गड़ी हुई थी।

विद्रोहियों ने बड़ी चतुराई के साथ अपनी भावी योजना बनायी। तीरथ सिंह पर मामलू पर अधिकार करने और मोसिंग के मुकुन्द सिंह की सहायता से अंगरेजों के पास सिलहट से आनेवाली रसद बन्द कर देने का जिम्मा दिया गया। बार मानिक और मान कुमार को असम के दर्रों की रक्षा का भार सौंपा गया। विद्रोहियों को उम्मीद थी कि इस तरह रसद का रास्ता बन्द कर कर चरापुंजी के ब्रिटिशपरस्त लोगों को झुकाया और अन्त में स्काट को पकड़ा जा सकेगा।[2]

अनुमान लगाया गया था कि पहाड़ी सरदारों की सेना १०,००० होगी। जितने भी पुरुष थे, उनके हाथ में तीर-धनुष थे, ढाल-तलवार थी। उन्होंने सबसे पहले स्काट द्वारा बनायी गयी सड़क नष्ट की। उसके पुल उड़ा दिये, पेड़ काट कर यत्र तत्र गिरा दिये और जगह-जगह नाकेबन्दी की, ताकि दुश्मन इस सड़क का इस्तेमाल कर आगे न बढ़ सके।

विद्रोही नेताओं ने सिर्फ खसिया जाति की शक्ति पर ही निर्भर न कर अन्य मित्र भी इकट्ठा करने की चेष्टा की। प्राप्त दस्तावेज बताते हैं कि तीरथ सिंह ने अंगरेजों को मार भगाने की व्यापक प्रस्तुति की थी। जिस सजगता और राजनीतिक जागरूकता का परिचय उन्होंने दिया, उन जैसे शासक से आशा भी न की जा सकती थी। नन्कलो के कैदियों में जो सबसे बुद्धिमान थे, उन्हें चुनकर उन्होंने गारो सैनिकों की संरक्षता में राजा चन्द्रकान्त, भूटियों[3] और सिंगफो लोगों के पास भेजा। उनके पास उचित उपहार भेज कर उन्होंने उनका आह्वान अंगरेजों के जुएँ को उतार फेंकने के लिए किया।[4] उन्होंने चन्द्रकान्त के पास विशेष संदेश भेजा और लिखा कि अंगरेज पहाड़ियों से मार भगाये गये हैं, आप आगे बढ़िए और हमारी सहायता कीजिए।[5] उन्होंने गुप्त रूप से गारो का एक अन्य दस्ता गौहाटी भेजा यह पता लगाने के लिए कि वहाँ अंगरेजों की सेना कितनी है।

१. विल्सन, वही, पृ० ३२२ २. डा० लाहिड़ी, पूर्वोक्त, पृ० ८०

३. उस वक्त भूटियों के साथ अंगरेजों की मुठभेड़ चल रही थी

४. सेक्रेट प्रोसीडिंग्स, १८२९, ८ मई, न० ९-१० ; डा० लाहिड़ी, उपरोक्त, पृ० ८१

५. सेक्रेट प्रोसीडिंग्स, १८२९, ८ मई, न० १० ; डा० लाहिड़ी, वही, पृ० ८१

उनका गुप्तचर विभाग विस्तार के साथ जानकारी प्राप्त कर रहा था जिससे संदेह किया जाता था कि कुछ बंगाली मुहर्रिर और असमिया तीरथ सिंह के गुप्तचरों की सहायता कर रहे थे।[1]

यह विद्रोह सिर्फ खसियों तक ही सीमित न रहा। यह पच्छिम की तरफ भी फैला और गारो भी मैदान में कूद पड़े। ग्वालपाड़ा जिले पर खतरा आ गया और मजिस्ट्रेट ने कैप्टन ह्वाइट के पास फौरन मदद भेजने को लिखा।[2]

असम में आम जनता और सामन्तों के अन्दर बड़ा असंतोष काम कर रहा था। अगर इस विद्रोह में अंगरेजों की कहीं बड़ी हार होती तो सारे प्रान्त में विद्रोह का ज्वालामुखी फट पड़ता और ब्रिटिश हुकूमत को, अगर हमेशा के लिए नहीं तो काफी समय के लिए, उड़ा देता। तीरथ सिंह की योजना एक व्यावहारिक व्यक्ति की योजना थी, कल्पनालोक में विचरण करनेवालों की नहीं। अंगरेजों को सर्वनाश से बचाने का श्रेय कर्नल लिस्टर के अधीन सिलहट लाइट इन्फैन्ट्री को दिया जाना चाहिए जो अपूर्व वीरता और सामयिक चतुराई दिखा कर खसिया विद्रोह की पहली लहर को रोकने में समर्थ हुई।

ज्योंही नन्कलो हत्याकाण्ड और खसिया विद्रोह के समाचार असम के मैदानी हिस्से में पहुँचे, लोगों ने अंगरजों को राजस्व देना बन्द कर दिया और जो राजस्व वसूल करने गये उन्हें मार कर भगा दिया। कैप्टेन ह्वाइट ने जो विवरण दिया उसमें बताया कि रैय्यत विद्रोह में शामिल हो गयी थी और राजनीतिक अशान्ति के कारण १८३०-३१ में राजस्व संग्रह नहीं किया जा सका।[3] जो कुली कंपनी सेना के लिए रसद ले जा रहे थे, उनको मारा पीटा गया। कंपनी की जायदाद लूटी जाने लगी। एक राजा ने तो कंपनी सरकार को राजस्व देने से बिल्कुल इन्कार कर दिया।[4]

ऐसी हालत में अफवाह फैली कि गारो बड़ी संख्या में पहाड़ियों से उतर कर गौहाटी पर, जो उस वक्त असम की राजधानी थी, आक्रमण करने आ रहे हैं। सिर्फ नागरिकों में ही नहीं, सरकारी अधिकारियों में भी इतना आतंक फैल गया कि उन्होंने नावों में आश्रय लिया और गारो सेना को देखते ही भाग जाने को तैयार हो गये। असम के सामन्त सरदारों में असंतोष इतना फैला हुआ था कि कंपनी के सहायक एजेन्ट ह्वाइट को दो प्रभावशाली असमिया न मिल रहे थे, जिनकी विश्वासपरायणता पर वह निर्भर कर सकता। चूंकि सामन्त सरदारों के पास हथियार न थे, इसलिए विद्रोह में उनके सक्रिय हिस्सा लेने की आशा न थी, लेकिन फिर भी अंगरेजों को भय था कि वे कंपनी सरकार के सिपाहियों को फोड़ सकते हैं और विद्रोहियों को सेना सम्बन्धी मूल्यवान समाचार दे सकते हैं।[5] इसलिए इसे रोकने के लिए अंगरेज अधिकारियों ने फौरन कदम उठाये।

१. सेक्रेट प्रोसीडिंग्स, १८२९, ८ मई, न० ९ ; डा० लाहिरी, उपरोक्त, पृ० ८१
२. सेक्रेट प्रोसीडिंग्स, १८२९, ८ मई, न० ११ ; डा० लाहिरी, उपरोक्त, पृ० ८१
३. पोलिटिकल प्रोसीडिंग्स, १८३२, २३ जुलाई, न० ७०-७७ ; डा० लाहिरी, उपरोक्त, पृ० ८२
४. सेक्रेट प्रोसीडिंग्स, १८२९, ८ मई. नं० ११ ; डा० लाहिरी, पूर्वोक्त, पृ० ८२
५. सेक्रेट प्रोसीडिंग्स, १८२९, १ मई, नं० ४२ ; डा० लाहिरी, वही, पृ० ८३

अंगरेजों के लिए इससे भी परेशानी की बात असम स्थित हिन्दुस्तानी सिपाहियों का रुख था। उनमें भी इतना असंतोष था कि ह्वाइट उनका विश्वास करना न चाहता था। उन्हें संतुष्ट करने के लिए उसने कंपनी सरकार को लिख भेजा कि उनका कम से कम आधा भत्ता बढ़ा दिया जाना चाहिए। इसी समय अंगरेजों का भूटान के साथ झगड़ा चल रहा था। असम की बिगड़ती हालत देख कर ह्वाइट ने अनुरोध किया कि भूटानियों के साथ विवाद मैत्रीपूर्ण समझौता कर जल्दी मिटा लिया जाय।

नन्कलो की दुर्घटना का समाचार जैसे ही गौहाटी पहुँचा, ह्वाइट रंगपुर लाइट इन्फैन्ट्री के लेफ्टिनेन्ट बेच को लेकर उस तरफ़ भागा। ८ अप्रेल को वह रामरी गाँव पहुँचा। ९ अप्रेल को रामरी गाँव से रवाना होकर उसने खसिया अंचल के पहले गाँव जिरार पर कब्जा किया। उसने इस गाँव को जला दिया और यहाँ बड़ी मात्रा में इकट्ठा चावल नष्ट कर दिया। लेकिन वह इस गाँव से नन्कलो की तरफ आगे न बढ़ सका, क्योंकि इसी वक्त गौहाटी में फैले आतंक का समाचार उसे मिला, और वहाँ उसकी उपस्थिति अत्यावश्यक हो गयी। वहाँ पहुँच कर उसने देखा कि लोगों में आतंक छाया हुआ है, उनमें अफवाह फैली हुई है कि खसिया मैदान मे घुस आये है और गौहाटी से सात मील दूर बेत्तुला में आ गये हैं। ह्वाइट के वापस आने और दरंग से ५४ वीं देशी पल्टन के आ जाने से गौहाटी के नागरिकों को राहत मिली। लेफ्टिनेन्ट वेच का दुर्गम चढ़ाई के कारण आगे बढ़ना असंभव समझा गया। इसलिए उसे पीछे हट कर कंपनी की भूमि में स्थित रामरी गाँव चले आने का आदेश दिया गया।[1]

राजधानी गौहाटी की हालत संभाल कर ह्वाइट ने खसियों पर एक साथ तीन तरफ से हमला करने की योजना बनायी—एक हमला सिलहट की तरफ से जयन्तिया होकर, और दो हमले असम की तरफ से सिंगमारी और गौहाटी को आधार बना कर[2]। गौहाटी और नन्कलो के बीच दूरी लगभग ५५ मील थी। गौहाटी से रामरी गाँव की दूरी १८ मील थी और मैदानी रास्ता होने के कारण किसी तरह की कठिनाई न थी। लेकिन कठिन रास्ता रामरी गाँव से नन्कलो का था, जिसकी दूरी प्राय: ३७ मील थी। कितनी ही पहाड़ियों, घाटियों, जंगलों और नदियों को पार करना पड़ता था। इसके विपरीत सिलहट की तरफ से रास्ता आसान था। सिलहट के पाण्डुआ से चेरापुंजी का एक दिन का रास्ता था और चेरापुंजी से नन्कलो ३० मील की दूरी पर था। इधर चढ़ाइयाँ भी कठिन न थीं। इसके अलावा असम की तरफ के रास्तों में और भी मुसीबत थी। ख़सियों ने सड़कों के पुल तोड़ दिये थे। दरख्त गिरा कर सड़कों की नाकेबन्दी कर दी थी। इसलिए इधर से हाथियों पर लाद कर रसद और लड़ाई का सामान ले जाना मुश्किल था। इसलिए ह्वाइट ने योजना बनायी कि जयन्तिया की तरफ से किया गया आक्रमण मुख्य होगा, गौहाटी और ग्वालपाड़ा की तरफ के आक्रमण सिर्फ खसियों का ध्यान मुख्य आक्रमण से हटाने के लिए होंगे।

---

१. फारेन प्रोसीडिंग्स, १८२९, २५ अप्रेल, नं० १० ; डा० लाहिड़ी. वही, पृ० ८३

२. सेक्रेट प्रोसीडिंग्स, १८२९, १ मई, नं० ४२ ; डा० लाहिड़ी, वही, पृ० ८३

तभी ह्वाइट को संवाद मिला कि तीरथ सिंह के आदेश से ७-८ हजार गारो असम को जाने वाले रास्तों की रक्षा कर रहे हैं। उन्हें हराने के लिए उसने सिपाहियों की पाँच कंपनियाँ और कई पहाड़ी तोपें, खन्दकी तोपें तथा राकेट लाने का फैसला किया। लेकिन गारो और खसियों के ग्वालपाड़ा पर टूट पड़ने और मैदान में आ पहुँचने का खतरा था, इसलिए ग्वालपाड़ा के अत्यावश्यक अनुरोध पर उसने अपनी सेना का एक हिस्सा वहाँ भेजा। इस तरह अपनी सेना कम हो जाने के कारण उसने असम की तरफ से खसिया पहाड़ियों पर चढ़ाई की कोशिश नहीं की।[1]

वह चढ़ाई तो जल्दी नहीं कर सका, लेकिन उसने खासी पहाड़ियों के चारों तरफ आर्थिक घेरा डाल दिया और उनके साथ व्यापार तथा आवागमन बन्द कर दिया। उसने राजनीतिक दृष्टि से एक महत्वपूर्ण कदम उठाया। असम के दो भूतपूर्व राजा चन्द्रकान्त और पुरन्दर सिंह क्रमशः कालियाबार और गौहाटी में रहते थे। उन्हें देख कर लोगों को पुरानी बातें याद आती थीं और सब असंतुष्ट और विद्रोही उनके झण्डे के नीचे इकट्ठा होने को प्रस्तुत जान पड़ते थे। इसलिए उसने इन दोनों को वहाँ से हटा कर दूर ले जाने की व्यवस्था की।[2]

लेकिन ठीक इसी समय सिलहट की तरफ से बढ़ने वाले कैप्टेन लिस्टर और उसकी सेना ने बड़े मौके की मदद स्काट को पहुँचायी। नन्कलो की घटना के दूसरे ही दिन तीरथ सिंह ने ४००० गारो योद्धाओं को स्काट और उसके साथियों को पकड़ने की गरज से चेरापुंजी की तरफ रवाना किया। उनके आक्रमण से स्काट अपने साथियों के साथ चेरापुंजी से भाग कर मौसमी जाने की तैयारी कर रहा था कि तभी लेफ्टिनेन्ट एगरटन और कैप्टेन लिस्टर अपनी सेना के साथ वहाँ जा पहुँचे। अगर ये ऐन मौके पर न पहुँच पाते तो स्काट और उनके साथियों की मृत्यु निश्चित थी। और स्काट मर जाता तो ब्रिटिश सम्मान को इतना धक्का लगता कि सारे असम में विद्रोहाग्नि प्रज्वलित हो उठती और ब्रिटिश राज के अवशेष कहीं खोजे भी न मिलते।

इसके बाद कैप्टेन लिस्टर अपनी सेना के साथ मामलू की तरफ आगे बढ़ा। चेरापुंजी से तीन मील पर स्थित यह स्थान बड़ा महत्वपूर्ण था। तीरथ सिंह अपने बहुत से साथियों के साथ यहाँ पर ठहरे थे। यकायक धावा बोल कर कंपनी सेना ने इस स्थान पर कब्जा कर लिया और घरों में आग लगा दी। तीरथ सिंह और उनके साथी पास के जंगल में चले गये।

अंगरेजों की इस सफलता का असर यह हुआ कि मुरांग के सरदार तीरथ सिंह का साथ छोड़ कर अंगरेजों से मिल गये। चेरापुंजी के राजा दीवान सिंह और खाइरिम के मानिक सिंह पहले ही से अंगरेजों का साथ दे रहे थे। राजा दीवान सिंह ने तीरथ सिंह से

१. सेक्रेट प्रोसीडिंग्स, १८२६. ८ मई, नं० ११ ; डा० लाहिरी, वही, पृ० ८४
२. सेक्रेट प्रोसीडिंग्स. १८२६, ८ मई, नं० ६ ; डा० लाहिरी, वही, पृ० ८४

स्काट को बचाने में मदद की थी और फिर मामलू पर कब्जा करने के लिए अंगरेजों के साथ अपने १०० आदमी भेजे थे।[1]

नन्कलो की घटना का समाचार जब कंपनी सरकार की राजधानी कलकत्ता पहुँचा तो सब छोटे-बड़े अंगरेज अधिकारी आगबबूला हो गये। गवर्नर जनरल ने स्काट को विद्रोहियों को कुचलने के लिए कठोर से कठोर कार्रवाई करने का हुक्म दिया। संधि के अनुसार तीरथ सिंह पर कोई भी मुकदमा चलाने का अधिकार अंगरेजों को न था। लेकिन गवर्नर जनरल ने हुक्म दिया कि अगर तीरथ सिंह पकड़े जायं तो उनके साथ युद्ध में पराजित शत्रु की तरह नहीं, बल्कि वह व्यवहार किया जाय जो मृत्यु दंड पाने योग्य, खून के प्यासे हत्यारे के साथ किया जाता है। अवश्य ही मोलिम के राजा बार मानिक के साथ व्यवहार स्काट की मरजी पर छोड़ दिया गया क्योंकि वह स्वाधीन राजा था और उसके साथ कंपनी सरकार की कोई भी संधि न थी।[2] यह हुक्म देते समय अंगरेजों ने विद्रोहियों की शक्ति कम कर आंकी थी। उन्होंने उस वक्त न सोचा था कि आखिर में 'इसी मृत्यु दंड के योग्य, खून के प्यासे हत्यारे' के साथ उन्हें समझौता करना पड़ेगा।

लिस्टर मामलू से तीरथ सिंह का पीछा करता हुआ आगे बढ़ा, लेकिन उन्हें पकड़ पाना टेढ़ी खीर साबित हुआ। रास्ते के खसिया गाँवों को जलाता हुआ वह नन्कलो पहुँचा। २ मई को उस पर कंपनी सेना का कब्जा हो गया। मई के दूसरे सप्ताह असम की तरफ से कैप्टेन ह्वाइट के नेतृत्व में ५४ वीं पल्टन का एक हिस्सा आ पहुँचा। इस तरह तीरथ सिंह के राज पर कब्जा कर मार्शल्ला जारी कर दिया गया। उन्हें पकड़ने के लिए १००० रु० के इनाम की घोषणा की गयी। असम हिल इन्फैन्ट्री का लेफ्टिनेन्ट वेच इस अंचल का प्रशासक बनाया गया।

यह सब करने के बाद १६ मई १८२९ को कैप्टेन लिस्टर सेना लेकर बार मानिक की राजधानी मोलिम की तरफ बढ़ा, लेकिन चिड़िया पहले ही उड़ गयी थी। बार मानिक के राज्य पर भी कब्जा किया गया और उनकी भी गिरफ्तारी के लिए १००० रु० के पुरस्कार की घोषणा की गयी।

लेकिन तीरथ सिंह बड़ी जीवट के आदमी थे। एक हार होती तो वे कमर कसकर फिर लोहा लेने को तैयार हो जाते। बार मानिक और वे बिजली की रफ्तार से एक जगह से दूसरी जगह पहुँचते, नयी सेना इकट्ठा करते और फिर यकायक अंगरेजों पर टूट पड़ते।[3] पर सितम्बर के मध्य में बार मानिक सिलहट लोकल कोर के एक दस्ते के हाथ पड़ गये। उन्हें हथकड़ी बेड़ी पहना कर मुकदमे के लिए गौहाटी भेज दिया गया। पराजित शत्रु का सम्मान भी साम्राजियों ने उन्हें न दिया। अवश्य ही बाद में उन्हें मुक्त कर दिया गया था और उनका राज्य उन्हें वापस कर दिया गया था, पर उनकी क्षमता कम कर दी

१. सेक्रेट प्रोसीडिंग्स, १८२९, २६ जून, नं० २; डा० लाहिड़ी, वही, पृ० ८५
२. सेक्रेट प्रोसीडिंग्स, १८२९, १५ मई, नं० ११; डा० लाहिड़ी, वही, पृ० ८६
३. सेक्रेट प्रोसीडिंग्स, १८२९, २ अक्टूबर, नं० २५; डा० लाहिड़ी, वही, पृ० ८६

गयी थी। तीरथ सिंह अब भी खसिया पहाड़ियों, घाटियों और जंगलों में अंगरेज साम्राजियों को चुनौती देते घूम रहे थे।

तीन-चार महीने बाद तीरथ सिंह के योग्य सहायक मुकुन्द सिंह ने अंगरेजों पर फिर आक्रमण आरंभ किया। इस वक्त एक और आश्चर्य देखा गया। जो पहाड़ी सरदार अंगरेजों के दोस्त माने जाते थे, वे विद्रोहियों के साथ जा मिले। खसिया पहाड़ियों के अंगरेज अधिकारी इस परिवर्तन को देख कर अवाक् रह गये।

अंगरेज साम्राजी उसी तरह खसिया गाँवों को लूटते-पाटते और जलाते रहे, लेकिन विद्रोह कम होने के लक्षण न दीख पड़े। इस बीच अंगरेजों ने जयन्तिया के राजा का हार्दिक समर्थन प्राप्त करने के लिए स्काट को आदेश दिया कि वह उसे अधिक भूमि का लालच दिखाये।[1] इस राजा ने खसिया विद्रोह का दमन करने के लिए अपनी सेना के एक सूबेदार के नेतृत्व में ५० सिपाही और २०० खसिया अंगरेजों के साथ भेजे।[2] किन्तु जयन्तिया राजा की मदद के बावजूद विद्रोह बढ़ता गया।

देशद्रोहियों को अपने देशवासियों के ही खिलाफ संग्राम और भी जोर से चलाने का प्रोत्साहन देने के लिए स्काट ने मई १८३० में खसिया अंचल की कुछ भूमि अपने मित्र सरदारों के बीच बाँटी।[3] इस तरह भारतीयों को भारतीयों के ही खिलाफ लड़ा कर अंगरेज साम्राजियों ने अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहा, खसियों को गुलामी का पट्टा पहनाना चाहा। लेकिन उनके ये सारे प्रयास असफल हुए। स्काट को खुलेआम स्वीकार करना पड़ा :

"अब तक अविजित जाति को उस जुएं के, जिसे उसने एक तरह से अपने ऊपर लाद लिया है, अनुकूल बनाने में साधारण से ज्यादा कठिनाइयों का अनुभव करना पड़ेगा।"[4]

इसी बीच पूर्व असम में अंगरेजों के खिलाफ सामन्त सरदारों का दूसरा विद्रोह आरंभ हो गया। प्राप्त रिपोर्ट बताती है कि तीरथ सिंह ने अपना कार्यक्षेत्र बदल दिया था। वे सिंगफो अंचल में चले गये थे और सामन्त-सरदारों के साथ मिल कर अंगरेजों के खिलाफ संग्राम चलाने लगे थे। पहाड़ी अंचल में अंगरेजों के खिलाफ संग्राम पुरजोर जारी रखने का भार उनके एक अन्य योग्य सहायक मानभोट पर आ पड़ा। मानभोट ने युद्ध की नयी शैली अपनायी। उन्होंने सब खसियों को गाँव छोड़कर जंगल में चले जाने का आदेश दिया, ताकि दुश्मन को किसी भी प्रकार रसद न मिल पाये। स्काट ने बड़े वादे कर खसियों को गाँवों में वापस लाने की कोशिश की, लेकिन सब बेकार। जो उसके वादों के चक्कर में पड़ कर आना भी चाहते थे, वे मानभोट के डर से न आये।[5]

१. सेक्रेट प्रोसीडिंग्स, १८२९. २३ अक्टूबर. नं० १५; डा० लाहिड़ी, वही, पृ० ८७
२. डा० लाहिड़ी, वही, पृ० ८७
३. पोलिटिकल प्रोसीडिंग्स, १८३०, ७ मई, नं० ४६; डा० लाहिड़ी, वही, पृ० ८७
४. पोलिटिकल प्रोसीडिंग्स, १८३०, १८ जून, नं० ५२; डा० लाहिड़ी, पृ० ८७
५. पोलिटिकल प्रोसीडिंग्स, १८३०. ३१ दिसम्बर, नं० २२. डा० लाहिड़ी, पृ० ८८

बल प्रयोग से काम निकलता न देख स्काट ने विद्रोही सरदारों में फूट डालने का रास्ता अपनाया। उसने ऐलान किया कि अगर बागी सरदार आत्मसमर्पण कर देंगे तो उन्हें माफ कर दिया जायगा। पहाड़ी सरदारों की परिषद ने स्काट के इस प्रस्ताव पर कई हफ्ते तक बहुत बहस की। प्रबल बहुमत ने उसकी शर्तें मानने से इन्कार कर दिया, लेकिन कुछ उन्हें मान कर शान्ति खरीदने को तैयार हो गये। प्रबल बहुमत के सरदारों ने जरा भी ढील न देकर, अपना आक्रमण और भी तेज किया।

जनवरी १८३१ के तीसरे सप्ताह में अंगरेजों की हालत बड़ी नाजुक हो गयी। अपने सरदारों के नेतृत्व में खसियों और गारो ने मिल कर बहुत बड़ी संख्या में आक्रमण किया और अंगरेजों के हाथ से दक्षिण असम का पच्छिमी हिस्सा छीन लेना चाहा। उन्होंने कई अफसरों को मौत के घाट उतारा, सरकारी आफिसों को नष्ट कर दिया और असम लाइट इन्फैन्ट्री के दस्ते को, जिसे उनसे लड़ने भेजा गया था, मार भगाया। इसके बाद वे असम के अन्दर घुसे। उनकी इस सफलता से दुआर के अंगरेजपरस्तों के मन में आतंक छा गया, लेकिन वहाँ की रैय्यत में खुशी छा गयी। बहुत से लोगों ने विद्रोहियों के दल में शामिल हो कर अंगरेजों पर हमला किया। तभी ग्वालपाड़ा से भेजी गयी सिहबन्दी कोर आ पहुँची। यह विद्रोहियों की अग्रगति रोकने और उन्हें पीछे हटाने में सफल हुई। विद्रोही पीछे हट कर बार दुआर की तरफ चले गये।

विद्रोहियों ने बार दुआर पर कब्जा कर लिया। यह सैनिक दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण था। यहाँ से वे मैदानी हिस्से पर किसी भी वक्त टूट पड़ सकते थे। यहाँ की रैय्यत ने विद्रोहियों का साथ दिया। उसने उन्हें राशन-पानी दिया और उनके साथ मिल कर अंगरेजों को निकाल बाहर करने का वादा किया।[1] विद्रोहियों की शक्ति देख कर सिहबन्दी का भारप्राप्त अधिकारी कैप्टन हालसैम उनसे लोहा लेने का साहस न कर सका। कुछ मदद आ जाने के बाद उसने घोषणा निकाल कर रैय्यत को जंगल से अपने गाँव वापस आने का अनुरोध किया और मदद के वादे किये। इसका कुछ परिणाम अंगरेजों के अनुकूल हुआ और कुछ समय बाद गारो बार दुआर से हट गये। लेकिन कैप्टेन हालसैम की सेना को आगे बढ़ कर खसिया विद्रोहियों से भिड़ने की हिम्मत न पड़ी।

और भी पच्छिम में असम दुआर की तरफ की गारो पहाड़ियों में एनसाइन ब्रोडी विद्रोही गारो सरदारों का दमन करने में व्यस्त था। उसे काफी सफलता मिली। कंपनी सरकार के कागजात के मुताबिक अपने ४२ अंगरेज सैनिकों के साथ तीन सप्ताह में उसने वह कर दिखाया जिसे सिपाहियों की कई कंपनियाँ तीन महीने में पूरा न कर पातीं।[2] लेकिन एनसाइन ब्रोडी शीघ्र ही अस्वस्थकर जलवायु का शिकार हो गया।

खसिया पहाड़ियों में मानभोट कुछ दिन और लड़ते रहे, लेकिन उनके साथी एक एक कर उनका साथ छोड़ते गये। कंपनी की सेना उनका पीछा कर रही थी। बड़ी मुश्किल में पड़ कर उन्होंने अक्टूबर १९३१ में लेफ्टिनेन्ट टाउनसेन्ड के हाथ आत्मसमर्पण

१. पोलिटिकल प्रोसीडिंग्स, १८३१, १८ फरवरी, नं० ३० ; डा० लाहिड़ी, वही, पृ० ८६
२. पोलिटिकल प्रोसीडिंग्स, १८३१, ३० मई, नं० ३४ ; डा० लाहिड़ी, वही, पृ० ८६

किया। टाउनसेन्ड ने उनके साथ अच्छा बर्ताव किया और उन्हें खसियों की एक छोटी सी टुकड़ी का सेनाध्यक्ष बना दिया।

किन्तु फिर भी तीरथ सिंह लड़ते रहे। वे कहीं न कहीं से नयी सेना और रसद पानी पा जाते। यहाँ तक कि अंगरेजों के मित्रों से भी उन्हें ये चीजें मिल जातीं। कोई भी खसिया पहाड़ियों से होकर सुरक्षित न जा सकता था। इसी बीच खसियों ने छापा-मार युद्ध कला का सहारा लिया। वे छिप कर कंपनी सेना के आने का इन्तजार किया करते और ज्योंही वह पास आती, उस पर यकायक टूट पड़ते। इस आक्रमण के बाद वे फिर गायब हो जाते।

इन भिड़न्तों में अंगरेज अधिकारियों ने मार्क किया कि खासियों के पास अच्छी बन्दूकें और लड़ाई का अच्छा सामान पहुँच रहा है। उन्हें पता लगा कि खसिया यह सामान सुसंग के राजा के कर्मचारियों के जरिए मैमनसिंह और ढाका से खरीद रहे हैं। उन्हें यह भी पता लगा कि तीरथ सिंह को खुद अंगरेजों का गढ़ समझे जानेवाले चेरापुंजी से मदद मिल रही है। इन सबसे यह स्पष्ट हो गया कि तीरथ सिंह आत्मसमर्पण करने वाले नहीं।

इस बीच स्काट की मृत्यु अगस्त १८३१ में हो गयी और उनका स्थान राबर्टसन ने संभाला। उसने इस युद्ध को बंद करने के लिए नयी नीति अपनानी चाही। उसने विनम्रता और मैत्रीपूर्ण कार्रवाइयों से खसियों को अपने पक्ष में मिलाना चाहा। उसे उम्मीद थी कि अगर खसियों को विश्वास हो गया कि अंगरेज सारे खसिया अंचल को गुलाम बनाना नहीं चाहते तो वे आत्मसमर्पण कर देंगे और अंगरेजों के हाथ खसिया पहाड़ियों का एक हिस्सा बना रहने देंगे। इसलिए उसने मि० टर्निक को मोसमी के भूतपूर्व राजा मुकुन्द सिंह के साथ समझौते की वार्ता चलाने का आदेश दिया। वार्तालाप चला, लेकिन फल न निकला। राबर्टसन जल्दी ही इस निष्कर्ष पर पहुँच गया कि जब तक तीरथ सिंह जिन्दा या मुक्त रहेंगे, यह विद्रोह न दबेगा। खसिया तीरथ सिंह का साथ देते रहेंगे। उसने देख लिया था कि जो गाँव और सरदार अंगरेजों के मित्र समझे जाते थे, वे भी तीरथ सिंह की सहायता कर रहे थे, धन और अन्न देकर उनकी मदद कर रहे थे।[1]

जब राबर्टसन ने देखा कि शान्तिपूर्ण फैसला उसके मन के अनुकूल न हो सकेगा तो उसने विद्रोह को कुचलने की पूरी तैयारी की। ग्वालपाड़ा में सिहबन्दी सेना को जल्दी बुलाया गया। नन्कलो में स्थित कैप्टन लिस्टर की शक्ति बढ़ाई गयी। मानों (बर्मी बन्दूक धारियों) की एक अतिरिक्त सेना और मनीपुरी घुड़सवारों का एक दस्ता पहाड़ी रास्तों की हिफाजत के लिए फौरन बुलाया गया। सैनिक महत्व के स्थानों पर 'पिल बाक्स' बनाये गये। इसके अलावा राबर्टसन ने आर्थिक घेरा भी मजबूत किया जिसे ह्वाइट ने आरम्भ किया था। उसने सब बाजार बन्द कर दिये और सब प्रमुख गाँवों

१. पोलिटिकल कान्सल्टेशन्स. १८३२, ६ जुलाई, नं० ८६; डा० लाहिड़ी, वही, पृ० ६२

पर कब्जा कर लिया ताकि विद्रोहियों के शिविर में रसद-पानी न पहुँच सके। इस तरह उसने विद्रोहियों को मार भगाने की योजना बनायी। यही नहीं, उसने खसिया पहाड़ियों को अंगरेजो का उपनिवेश बनाने की योजना भी तैयार की। बर्मा से भागे यूरोपीयों को वह यहाँ बसाना चाहता था।

इस तरह जब उसकी तैयारी प्राय: पूरी हो गयी थी, खिरम के राजा मानिक सिंह ने आकर राबर्टसन से कहा कि वे बीच में पड़ने और समझौता करा देने को तैयार हैं। उनके अनुरोध पर फौजी कार्रवाई बन्द रखी गयी और उन्हें वार्तालाप चलाने का पूरा अवसर दिया गया। मानिक सिंह विद्रोही सरदारों से मिले और फिर ब्रिटिश सरकार का प्रतिनिधि बन कर कैप्टन लिस्टर मानिक सिंह के साथ तीरथ सिंह और उनके साथियों से नन्करिन में मिलने गया जो मानिक सिंह के राज्य में था। तीरथ सिंह ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधियों से तभी मिलने को सहमत हुए जब वे निरस्त्र होकर आयें। फलत: लिस्टर और उनके साथियों को निरस्त्र होकर मिलने जाना पड़ा। २३ अगस्त १८३२ को यह मुलाकात हुई। तीरथ सिंह के साथ उनके मंत्री भी थे। कैप्टेन लिस्टर ने वार्तालाप आरम्भ किया। उसने बड़े आकर्षक वादे किये, 'भूल जाओ और माफ करो' की नीति की घोषणा की और वादा किया कि अगर युद्ध बन्द कर दिया जाय और भविष्य में अच्छे व्यवहार की गारंटी दी जाय तो अंगरेज तीरथ सिंह की जान बख्शने और उनके साथियों को माफ करने को तैयार हैं। लेकिन तीरथ सिंह को सिर्फ कोरे वादों से खरीदा न जा सकता था। उन्होंने सीधे मांग की कि उनके राज्य से जाने वाली सड़क की योजना बन्द कर दी जाय और उनका राज्य उन्हें वापस कर दिया जाय।[1]

चूंकि अंगरेजों के प्रतिनिधियों को यह वादा करने का अधिकार न था, इसलिए वे वापस आने लगे। लेकिन दूसरे दिन जब ये प्रतिनिधि अपने सदर दफ्तर लौटने वाले थे, तभी तीरथ सिंह का दूत आया और उसने एक बैठक का प्रस्ताव दिया। इस बैठक म तीरथ सिंह के दो मंत्री नान सिंह और जीत राय ने हिस्सा लिया। लिस्टर ने प्रस्ताव किया कि अगर खसिया तीरथ सिंह के नाबालिग भतीजे को अपना प्रधान बनाने को तैयार हों, तो उनकी बातों पर कंपनी सरकार विचार कर सकती है। तीरथ सिंह और उनके साथियों को इस प्रस्ताव पर विचार करने का अवसर देकर अंगरेज प्रतिनिधि अपने अधिकारियों से राय-मशविरा करने वापस आये।

मानिक सिंह की सहायता से २० सितम्बर १८३२ को दूसरा समझौता सम्मेलन हुआ। इस बार तीरथ सिंह को अलग रखा गया और छोटे खसिया सरदारों ने वार्तालाप में हिस्सा लिया। राबर्टसन ने निम्नलिखित शर्तें लिख कर लिस्टर को दीं :

(१) तीरथ सिंह को सौंप देना होगा, अंगरेज उनके जीवन की रक्षा का वादा करते हैं।

(२) उनका उत्तराधिकारी उनकी जाति की प्रथा और रिवाज के अनुसार संघीय राजाओं द्वारा चुना जा सकता है।

१. पोलिटिकल कांसल्टेशन्स, १८३२, २२ अक्टूबर, नं० ६० ; डा० लाहिड़ी, वही, पृ० ६३

(३) इस तरह चुन गये आदमी को ब्रिटिश सरकार मान लेगी और तीरथ सिंह को पहले जो भी पद और सुविधाएँ प्राप्त थीं, उसे मिलेंगी।

(४) ब्रिटिश सरकार को चेरापुंजी और असम के मैदान के बीच के सारे अंचल से होकर सड़क बनाने का अधिकार होगा।

(५) ब्रिटिश सरकार को पुल और विश्राम गृह बनाने की आजादी होगी।

इन प्रस्तावों को राबर्टसन ने बहुत विनम्र बताया। उसने कर्नल लिस्टर को यह भी कहा कि विद्रोही सरदारों को लालच देना कि असम के मैदान में जो भी अंचल उनके हाथ में पहले थे, उन्हें दे दिये जायेंगे।[1] उसने लिस्टर को आदेश दिया कि तीरथ सिंह को अलग रख कर छोटे सरदारों से मिलना।

कैप्टेन लिस्टर इन प्रस्तावों को लेकर २५ सितम्बर १८३२ को खसिया सरदारों से मिला। तीरथ सिंह तबियत खराब होने के कारण, इसमें हिस्सा न ले सके। इन प्रस्तावों पर विस्तार के साथ बात हुई। लेकिन अन्त में तीरथ सिंह को सौंपने के सवाल पर बात टूट गयी। खसिया सरदार उन्हें अंगरेजों के सामने उपस्थित करने को तैयार थे, लेकिन सौंपने को नहीं।

युद्ध विराम संधि समाप्त होने वाली थी कि फिर मानिक सिंह कंपनी सरकार के एजेन्ट राबर्टसन से मिले और युद्ध न आरंभ करने का अनुरोध किया। उनके अनुरोध पर राबर्टसन २१ अक्टूबर तक युद्ध रोक रखने को तैयार हुआ। चूँकि तीरथ सिंह के आत्मसमर्पण को लेकर बातचीत बार-बार टूट जाती थी, इसलिए राबर्टसन इस परिणाम पर पहुँचा कि एक व्यक्ति के प्रश्न को लेकर युद्ध जारी न रखना चाहिए। दूसरी बातों पर समझौता हो जाय तो इस धारा को छोड़ देना चाहिए। पर कंपनी सरकार के सर्वोच्च अधिकारियों को यह बात पसन्द न आयी।

इस बीच मानिक सिंह तीरथ सिंह के निकट सम्बन्धी जुदार सिंह को ले आये। वे अपने पक्ष के बड़े प्रभावशाली व्यक्ति थे। उन्होंने शान्ति-समझौता करा देने की जिम्मेदारी ली। युद्ध विराम की अवधि फिर दस दिन बढ़ा दी गयी। अंगरेजों ने जुदार सिंह को प्रलोभन देकर फोड़ने की कोशिश की। उन्होंने वादा किया कि अगर जुदार सिंह तीरथ सिंह से आत्मसमर्पण करवा देंगे, तो उन्हें मामलू तथा उस पर निर्भर करने वाली जमीन्दारियों का राज १,५०० रु० वार्षिक राजस्व पर दे दिया जायगा और कंपनी की सरकार उनकी रक्षा करेगी। लेकिन जुदार सिंह और उनके साथियों को ये शर्तें अपने नेता के साथ गद्दारी लगीं और इसलिए उन्होंने इन्हें स्वीकार करने से इन्कार कर दिया।

जिस तिथि के अन्दर अंगरेजों ने जवाब मांगा था, जुदार सिंह और उनके साथी उस दिन तक न आये। राबर्टसन ने कैप्टेन वेच को आक्रमण आरंभ करने का आदेश दिया। उसने खसिया पहाड़ियों के चारों तरफ आर्थिक घेरा और भी मजबूत किया।

---

१. पोलिटिकल कान्सल्टेशन्स, १८३२, २२ अक्टूबर, नं० ९० ; डा० लाहिड़ी, वही, पृ० ९४

इस बीच राजा मानिक सिंह ने तीरथ सिंह को समझा-बुझा कर आत्मसमर्पण करने को तैयार कर लिया। इसलिए ९ जनवरी १८३३ को तीरथ सिंह के एक मंत्री जीत राय कैप्टेन इंगलिस से मिले और अपने नेता के आत्मसमर्पण के सम्बन्ध में बात चलायी, बशर्ते कि उनके जीवन की रक्षा की जाय। कैप्टेन इंगलिस ने खसिया प्रथा के अनुसार फरसे के फलक से नमक खाकर सौगन्ध ली कि तीरथ सिंह के जीवन की रक्षा की जायगी। अन्य बातें तय हो जाने पर १३ जनवरी १८३३ को तीरथ सिंह ने अंगरेजों के हाथ आत्मसमर्पण किया। आत्मसमर्पण करते वक्त भी यह देशभक्त अपनी मातृभूमि को न भूला और अंगरेज अफसर से अपने राज्य के प्रशासन की अच्छी व्यवस्था का अनुरोध किया।

तीरथ सिंह गौहाटी ले जाये गये। राबर्टसन ने उन्हें निर्वासित कर बर्मा के तेनसरिम प्रान्त में भेज देने का हुक्म दिया, लेकिन बड़े लाट की मंत्रिपरिषद कलकत्ता कौंसिल ने इस हुक्म को बदल दिया और उन्हें ढाका में नजरबन्द करने का हुक्म दिया।

जब तीरथ सिंह ढाका जेल आये तो उनके पास एक कम्बल छोड़ कर अन्य वस्त्र न था। उन्हें ढाका जेल में बन्द कर दिया गया, लेकिन बाद में हुक्म आया कि उनके साथ साधारण कैदियों जैसा व्यवहार न किया जाय। तब उनके लिए एक मजबूत घर खोजा गया, उन्हें ६३ रु० मासिक भत्ता और दो सेवक रखने का हुक्म मिला। इस तरह खसियों के अन्तिम स्वाधीन राजा ने निर्वासन और नजरबन्दी की हालत में अपने अन्तिम दिन बिताये। १८४१ में उनका शरीरान्त हो गया। स्वभावतः उनके आत्मसमर्पण के बाद अन्य सरदारों ने भी आत्मसमर्पण कर दिया और विद्रोह शान्त हो गया।

इस प्रकार भारतीय इतिहास के एक गौरवमय अध्याय का पटाक्षेप हुआ। तीरथ सिंह सिर्फ खसियों के ही नहीं, सारे भारत के महान गौरव थे। जिस देश में ऐसे वीर पैदा हुए हों, उस देश के वासियों का अपने अतीत के इतिहास पर समुचित अभिमान करना अत्यन्त स्वाभाविक है।

अध्याय ४५

सिंगफो विद्रोह

(१८३०-३१)

सिंगफो एक पहाड़ी जाति है जो असम और बर्मा की सीमा के दोनों तरफ रहती है। १८२५ में अंगरेज सेनाध्यक्ष कैप्टेन न्यूफविल के हाथ सिंगफो पराजित हुए, पर मन से उन्होंने पराधीनता स्वीकार न की। वे अंगरेजों को मार भगाने के सुअवसर का इन्तजार करने लगे। यह अवसर उन्हें शीघ्र ही मिला।

रुनुआ गोहाईं एक असंतुष्ट खामती सरदार थे। आंग्ल-बर्मी युद्ध में वे अंगरेजों के लिए बड़ी मुसीबत बन गये थे। इसलिए जब अंगरेजों ने खामती सरदार सदिया के खवा गोहाईं के साथ समझौता किया तो सावधानी बरती कि रुनुआ गोहाईं को कोई भी पद न दिया जाय।

इस व्यवहार ने रुनुआ गोहाईं को और भी असन्तुष्ट कर दिया। वे असंतुष्ट सिंगफो से जा मिले और अंगरेजों को मार भगाने की योजना बनायीं। उस अंचल के सब सरदार इस योजना को बनाने में शामिल हुए। अपनी ताकत को नाकाफी मान कर सिंगफो लोगों ने सरहद पार बर्मा के अपनी जाति-बिरादरी वालों को इस कार्य में शामिल होने को बुलाया। पहाड़िया सिंगफो स्वभाव से ही युद्धप्रिय और लूट-पाट के अभ्यस्त थे। उन्होंने फौरन यह निमंत्रण स्वीकार कर लिया। वे अपने साहसी नेता वाकुन खुनजुन के नेतृत्व में उनकी मदद करने को तैयार हो गये। उन्होंने सदिया पर, जो उत्तर असम में अंगरेजों का केन्द्र था, टूट पड़ने की योजना बनायी।[1]

इसी इरादे से १८२९ में वाकुम खुनजुन लेफ्टिनेन्ट रदरफोर्ड से मिलने गये। उनका वास्तविक उद्देश्य सीमा पर अंगरेजों की शक्ति और साधन की थाह लेना था। इसी वक्त वे लुटौरा के 'गाम' (प्रधान) से मिले और सदिया तथा आसपास के अंचल पर आक्रमण की योजना को अन्तिम रूप दिया। इस तरह सिंगफो लोगों ने गुप्त रूप से तीन साल तक अपने 'महान अभियान' की तैयारी की। उन्होंने अंगरेजों के मुकाबिले के लिए सरहद की सभी उपजातियों को संघबद्ध किया था। उन्होंने गुप्त तौर पर खसिया विद्रोह और कुमार रूपचन्द के विद्रोह के नेताओं से सम्बन्ध स्थापित किया था। कहा जाता है कि असम के भूतपूर्व राजा चन्द्रकान्त का भी इसमें हाथ था।

अंगरेजों पर टूट पड़ने का बहुत ही उत्तम अवसर चुना गया। लुटौरा में युद्ध की पूरी तैयारी की गयी, किलेबन्दी की गयी, बड़ी दीवारें बनायी गयीं, ४०,००० मन चावल इकट्ठा किया गया और २०,००० हथकड़ियाँ तैयार की गयीं। उन्हें आशा

१. डा० काकिती, वही, पृ० १००

थी कि वे कम से कम १०,००० असमियों को पकड़ कर ले जायेंगे और उन्हें बेच कर मालामाल हो जायेंगे। दासों का व्यापार उनका पुराना पेशा था।

१८२९ के अन्त तक सारी तैयारी पूरी हो गयी। २,००० से ज्यादा पहाड़ी सिंगफो १८३० के आरम्भ में अपने निवास स्थान हुकांग घाटी (बर्मा) से रवाना हुए। बड़ दिहिंग नदी को पार कर बीसा जिले का चक्कर काटते हुए वे तेंगा नदी के किनारे अपने मित्र लुटौरा के गाम से आ मिले। उनकी संख्या बढ़ कर लगभग ३,००० हो गयी। इसी समय ५०० खामतियों की एक सेना रुनुआ गोहाई के नेतृत्व में उनसे मिलने आ रही थी। वे भालों, तलवारों और टोपीदार बन्दूकों से लैस थे।

इनकी गतिविधि के समाचार पाते ही सदर दफ्तर सदिया के अंगरेजों में हड़कंप मच गया। विद्रोहियों की संख्या और उद्देश्य के सम्बन्ध में उनके पास तरह-तरह की अफवाहें पहुँच रही थीं। १८२६ की संधि के अनुसार सिस-पट्कोई के सिंगफो सरदारों को हिदायत थी कि उस अंचल में विद्रोहियों का जो भी जमाव हो, वे उसकी खबर जल्दी सदिया स्थित अंगरेजों के पोलिटिकल एजेन्ट के पास भेजें। लेकिन इस अवसर पर इन सरदारों ने जो रिपोर्टें भेजीं, वे परस्पर विरोधी थीं। विद्रोहियों के प्रति उनकी हमदर्दी स्पष्ट थी।

सिंगफो संघ के तथाकथित प्रधान बीसा के राजा ने ईस्ट इंडिया कंपनी के पोलिटिकल एजेन्ट को सबसे पहले सूचना दी कि सदिया के खवा गोहाई और रुनुआ गोहाई के आमंत्रण पर सिंगफो आ रहे हैं। डफ्फा के गाम ने सूचना दी कि हुकांग की घाटी से कई हजार सिंगफो योद्धा बीसा तथा लुटौरा के गामों (मुखियों) के साथ आ मिले हैं। एक अन्य समाचार ने बताया कि बड़ सेनापति और सदिया खवा गोहाई समेत सरहद के सभी सरदार इसमें शामिल हैं। कैप्टेन न्यूफविल को एक क्षण के लिए भी इन दो सरदारों की वफादारी में सन्देह नहीं हुआ, क्योंकि ये दोनों उसके साथ युद्ध में शामिल हो चुके थे।

लेकिन मेजर व्हाइट इन दोनों सरदारों को निर्दोष न समझता था और उसके विचारों के समर्थक कैप्टेन पेम्बर्टन तथा जेन्किन्स थे, जिन्होंने सरहद की राजनीति का अच्छा अध्ययन किया था। बाद में सदिया के सेनाध्यक्ष ब्रूस ने बीसा के गाम (मुखिया) के खिलाफ रिपोर्ट भेजी। न्यूफविल ने उसे दर्रे की तरफ जाने वाली सड़क पर कब्जा कर लेने का आदेश दिया था, क्योंकि सिंगफो इसी सड़क से होकर जाने वाले थे। ब्रूस ने रिपोर्ट दी कि बीसा का मुखिया ऐसा न कर, अपने आदमियों को दूसरी जगह ले गया और जंगल में तब तक चुपचाप बैठा रहा जब तक सिंगफो उधर से चले नहीं गये। स्पष्ट हो गया कि बीसा का मुखिया उतना विश्वसनीय नहीं जितना न्यूफविल समझता था। वस्तुतः इस मुखिया का अंचल अंगरेजों और सिंगफो के अंचल के बीच में पड़ता था। इसलिए वह दोनों को प्रसन्न रखना चाहता था, हालांकि उसकी दिली हमदर्दी अपने जाति भाइयों के साथ थी।[1]

१. पोलिटिकल प्रोसीडिंग्स, १८६५, ११ फरवरी, नं० ६१ ; डा० लाहिड़ी, वही, पृ० १०२

कैप्टन न्यूफविल को परिस्थिति की गंभीरता का एहसास हुआ। सरहद के सब सरदारों का सम्मिलित मोर्चा बहुत खतरनाक था। उसने फौरन इस स्थिति का मुकाबिला करने की तैयारी की। सरहद की चौकियों में सैनिकों की संख्या बढ़ा दी और पूर्वांचल के सभी मित्र सरहदी सरदारों के नाम आदेश जारी किया कि वे अपनी-अपनी सेना अंगरेजों की मदद में भेजें। वह स्वयं युद्ध का संचालन करने गया। काफी सेना के साथ वह १४ फरवरी १८३० को सदिया पहुँचा। यहाँ बड़ सेनापति और सदिया खवा गोहाइं उससे आ मिले। सदिया से लुटौरा का रास्ता तीन दिन का था। यहीं विद्रोहियों के जमा होने की खबर थी। उसने तुरन्त लुटौरा पर चढ़ाई की। विद्रोहियों के नेता वाकुन खुनजुन के पास उसने दूत भेज कर उसे वापस बर्मा जाने को कहा। लुटौरा के सरदार को उसने आदेश भेजा कि वह किसी भी तरह विद्रोहियों का साथ न दे। इन धमकियों और आदेशों का कोई भी प्रभाव न पड़ा। दूत ने वापस आकर खबर दी कि सिंगफो एक या दो दिन में चढ़ाई करने वाले हैं।[1]

इस सूचना से अपनी मोर्चेबन्दी करने में न्यूफविल को मदद मिली। वह दस मील उत्तर चल कर ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे नवा दिहिंग नदी और ब्रह्मपुत्र के संगम के पास जा डटा। २६ फरवरी १८३० को उसे सूचना मिली कि सिंगफो नवा दिहिंग के बहाव के साथ बाँसों की डोंगियों में बैठ कर आ गये है और ब्रह्मपुत्र नदी के तट पर पैर जमाने की कोशिश कर रहे हैं। न्यूफविल २७ फरवरी को सबेरे आगे बढ़ा और लुट्टू गाँव में जमा विद्रोहियों पर टूट पड़ा। वह विद्रोहियो को ब्रह्मपुत्र के किनारे पैर जमाने देना न चाहता था। न्यूफविल ने सूर्यास्त के आधा घंटा बाद विद्रोहियों पर गोली बरसाना आरंभ किया। अंधकार में विद्रोही दुश्मन को न देख पा रहे थे। दुश्मन के आकस्मिक आक्रमण का जवाब देना उनके लिए मुश्किल हो गया। लड़ाई का बहुत सा सामान छोड़ कर उन्हें हट जाना पड़ा।

लुट्टू गाँव का सरदार अंगरेजों का दोस्त था। उसने अंगरेजों की हर तरह मदद की और अपने दूत भेज कर विद्रोहियों की गतिविधि का पता लगा कर अंगरेजों को सूचित कर दिया। बीसा पर विद्रोहियों के आक्रमण की आशंका देख न्यूफविल ने झटपट एक सेना उसके सरदार की रक्षा के लिए भेजी। सावधानी के तौर पर उसने संगम पर गन बोट तैनात कर दिया और मोआमारिआ मिलीशिया का एक हिस्सा वहाँ छोड़ दिया ताकि नवा दिहिंग से आने वाले सिंगफो को वहाँ रोका जा सके। चूंकि इस तरह उसकी सेना काफी कम हो गयी थी, इसलिए उसे लेकर लुटौरा पर चढ़ाई करना उसने उचित नहीं समझा। उसने मदद जल्दी भेजने का आदेश जोरहाट भेजा।[2]

इसी बीच उसे समाचार मिला कि विद्रोही लुटौरा में फिर इकट्ठा हुए हैं और किलेबन्दी तथा नाकेबन्दी कर रहे हैं। उसने विद्रोहियों का मुकाबिला करने के लिए बड़ी सेना इकट्ठा की और पूर्वांचल के सब सरदारों को ज्यादा से ज्यादा सेना लेकर मदद में आने को

---

१. सेक्रेट प्रोसीडिंग्स, १८३०, १६ अप्रैल, नं० ७; डा० लाहिड़ी, वही, पृ० १०२

२. सेक्रेट प्रोसीडिंग्स, १८३०, १६ अप्रैल, नं० ७; डा० लाहिड़ी, वही, पृ० १०३

कहा। बड़ी तैयारी के बाद उसने ११ मार्च को लुटौरा का सीधा रास्ता पकड़ा। उसने एक दस्ता चक्कर काट कर लुटौरा भेजा ताकि वह विद्रोहियों के पृष्ठभाग में पहुँच जाय और वहाँ से हमला करे।

ज्योंही पास पहुँच कर अंगरेजों ने गोली बरसाना आरंभ किया, सिंगफो पीछे हट गये और पहाड़ी पार कर बड़ खामती अंचल में चले गये। लुटौरा और उसकी किलेबन्दी को नष्ट कर कंपनी की सेना वापस जोरहाट चली गयी। सदिया की रक्षा के लिए एक बड़ा दस्ता तैनात कर दिया गया।

विद्रोही बिखर गये और विद्रोह समाप्त हो गया। असम से अंगरेजों को मार भगाने का यह अन्तिम संगठित विद्रोह था। विद्रोह असफल हुआ, पर सिंगफो का असंतोष पूर्ववत् बना रहा। वे किसी भी सुअवसर के आने पर अंगरेजों से टक्कर लेने को तैयार रहते। इसके बाद कई बार उन्होंने विद्रोह किया भी। उनका अन्तिम बड़ा विद्रोह १८४३ में हुकांग के बर्मी गवर्नर की सह से हुआ। यह बुरी तरह कुचल दिया गया।

अध्याय ४६

अका उपजाति के आक्रमण

(१८२९—८८)

अका उपजाति असम की तेंगा, दिजियेन और लोअर बिचोम नदी की घाटियों मे रहती है। असमिया भाषा में अका का अर्थ 'रंगा हुआ' होता है। ये डंक मारनेवाली मक्खियों और तीखी ठंडी हवा से अपने ओठों और गालों की रक्षा के लिए उन्हें काले लसदार पदार्थ से, जो देवदार जाति के एक वृक्ष से निकलता है, रंग लेते हैं; इसीलिए वे अका कहलाते हैं।[1]

अका अपने को ह्रुसो कहते हैं और नोटायुर तथा बायु नामक दो सरदारों का वंशज होने का दावा करते हैं। पुराने जमाने में ये दोनों सरदार भोरेली नदी के किनारे भालुकपुंग में पत्थर के किलों में रहते थे। इन किलों के अवशेष अब भी पाये जाते हैं।[2] अका उपजाति दस वर्गों में विभाजित है।

१८२९ में अंगरेजों से इनकी पहली टक्कर हुई। कोबातसुन अकाओं के सरदार तागी राजा ने अंगरेजों पर धावा बोला। कंपनी सरकार ने उनके खिलाफ सैनिक भेजे और उन्हें गिरफ्तार कर लिया। गौहाटी जेल में उन्हें चार साल तक बन्द रखा गया। जेल से निकलने के बाद ही फिर उन्होंने अंगरेजों पर हमले आरंभ किये। १८३५ में उन्होंने बालीपाड़ा की फौजी चौकी पर कब्जा कर लिया और इसके रक्षक सभी सैनिकों को मार दिया।[3] अंगरेजों ने उनका सर काटने वाले को पुरस्कार देने की घोषणा की, लेकिन उन पर चढ़ाई न की।

१८४१ में उन्होंने दो बार अंगरेजों की चौकियों पर हमला किया और अंगरेजों की प्रजा कहे जाने वाले कई लोगों को पकड़ कर पहाड़ियों में ले गये। इस घटना के बाद कंपनी सरकार ने हिचकते हुए उन पर चढ़ाई करने को सेना भेजने का हुक्म दिया। लेकिन जब इस चढ़ाई की तैयारियाँ हो रही थीं, तभी तागी राजा ने आकर आत्मसमर्पण कर दिया। उन्हें अंगरेजों के प्रति वफादारी की सौगन्ध लेने पर माफ किया गया और २४० रु० वार्षिक पेन्शन निश्चित की गयी। यह वार्षिक पेन्शन बढ़ा कर १८४८ में ५२० रुपया कर दी गयी।

१८८३ तक फिर उन्होंने अंगरेजों को कोई कष्ट नहीं दिया, लेकिन उस साल एक बड़ा काण्ड कर डाला। उस साल कलकत्ते में प्रदर्शनी थी और इसमें दिखाने के लिए सरहदी उपजातियों के खेती के औजारों और पैदावारों, पहनने के कपड़ों और गहनों तथा हथियारों के नमूनों की जरूरत थी।

---

१. आसाम डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, बालीपाड़ा फ्रन्टियर ट्रैक्ट गजेटियर, पृ० ४-५

२. वही, पृ० ५ ३. वही, पृ० ५

कंपनी सरकार ने बालीपाड़ा के मौजादार को १३ आदमियों के साथ इन चीजों को इकट्ठा करने भेजा। उसे यह भी आदेश दिया कि एक अका पुरुष और एक स्त्री पाने की चेष्टा करे, ताकि उनकी प्रतिमूर्त्ति (माडेल) तैयार करायी जा सके। यह मौजादार अका सरदार के पास गया और इन सब चीजों का अनुरोध इस प्रकार किया कि सरदार आगबबूला हो गया। उसने मौजादार और उसके नौकर को पकड़ कर बन्द कर दिया, लेकिन बाकी लोगों को चले जाने दिया गया। इसके साथ ही कुतसन अका सरदार मेधी ने बालीपाड़ा के पास के फारेस्ट आउट-पोस्ट पर हमला किया और एक रेंजर तथा एक क्लर्क को पकड़ ले गया।[१]

अका लोगों को दण्ड देने के लिए अंगरेजों ने दो पहाड़ी तोपों के साथ कुल ९६० अंगरेज और हिन्दुस्तानी सैनिक भेजे। १८८४ की सर्दियों में इस सेना ने अका पहाड़ियों में प्रवेश किया। अका लोगों ने इस सेना के १५० सैनिकों के अग्रिम दस्ते पर तेंगा नदी के किनारे हमला किया, २ को मार डाला और ७ को घायल कर दिया। यह दस्ता आगे न बढ़ सका। जब सेना का मुख्य भाग आया, तब कहीं वह नदी पार कर बढ़ सका।

अका पीछे हटें। कंपनी सेना ने कोवातसुन अकाओं के गाँव पर कब्जा कर लिया। वह जिस गाँव जाती, उसे ही खाली पाती। अका गाँव छोड़ कर जंगल चले गये और वहीं से अंगरेजों के खिलाफ लड़ते रहे। अंगरेज बड़ी मुश्किल से अकाओं के साथ सम्पर्क स्थापित कर सके। तब तक मौजादार मर चुका था। अकाओं ने वन विभाग के दोनों अधिकारियों को मुक्त कर दिया और बालीपाड़ा की चौकी से जो बन्दूकें, संगीनें और २ राइफलें ले आये थे, उन्हें वापस कर दिया। कंपनी सेना के चार सैनिक मारे गये और ७ घायल हुए, लेकिन अकाओं का कोई भी आदमी हताहत नही हुआ।[२]

कंपनी-सेना पहाड़ियों से हट आयी। इस वार उन्होंने अकाओं के गाँवों को न जलाने और जुर्माना न लगाने की बुद्धिमानी की। कंपनी सेना ने अपना घेरा १८८८ तक बनाये रखा। उस साल अकाओं से अंगरेजों का समझौता हो गया।

१. वही, पृ० ६ २. वही, पृ० ६

अध्याय ४७

वहाबी विद्रोह

(१८३०-६९)

"..हिन्दू हों चाहे मुसलमान—सभी धनवान या निहित स्वार्थ सम्पन्न वर्गों के लिए जिले में वहाबियों की उपस्थिति एक स्थायी भय का कारण है। .. .. जिन मस्जिदों के या रास्ते के करीब स्थित दरगाहों के पास एक आध दर्जन एकड़ जमीन की जायदाद है, उनमें से प्रत्येक का मुल्ला या पुजारी-पुरोहित पिछली आधी सदी से वहाबियों के खिलाफ चीखता-चिल्लाता आ रहा है।.. .. दूसरे स्थानों की तरह भारतवर्ष का भी भूस्वामी और मुल्ला-पुरोहित गुट किसी भी परिवर्तन से डरता है।.. ..चाहे राजनीतिक हो चाहे धार्मिक, किसी भी प्रकार का विरोध निहित स्वार्थवालों के लिए बहुत घातक है। और दोनों ही बातों में वहाबी प्रचलित व्यवस्था के घोरतर विरोधी थे।..वहाबी धर्म के विषय में फ्रांसीसी क्रान्ति के 'ऐनाबैपटिस्ट'..और राजनीति के मामले में 'कम्युनिस्ट' और लाल गणतंत्रवादियों के समान थे।"[१]

ये शब्द अंगरेज इतिहासकार डब्ल्यू. डब्ल्यू. हंटर के हैं और भारत के वहाबी आन्दोलन और विद्रोह पर काफी प्रकाश डालते हैं।

ये वहाबी कौन थे? इनका उद्देश्य क्या था? अरब के अब्दुल वहाब इस आन्दोलन के प्रवर्तक माने जाते हैं। उनका यह आन्दोलन इस्लाम में घुस आयी कुरीतियों के सुधार का आन्दोलन था। भारत में इस आन्दोलन के प्रवर्तक बरेली (उत्तर प्रदेश) के सय्यद अहमद थे। मक्का यात्रा के समय उनकी मुलाकात अब्दुल वहाब से हुई थी। प्रचलित इस्लाम धर्म के विरुद्ध विद्रोह की भावना लेकर वे भारत वापस आये और १८२०-२२ ई० में भारत के विभिन्न स्थानों में घूम-घूम कर वहाबी आदर्शों का प्रचार करते रहे। वहाबी आदर्शों का प्रधान प्रचार केन्द्र पटना में स्थापित हुआ। सय्यद अहमद १८३१ में सिखों के साथ युद्ध में मारे गये।

सय्यद अहमद के साथ ही बंगाल के दो मुसलमान तीतू मीर और दूदू मियाँ भी वहाबी आदर्शों की शिक्षा लेकर भारत वापस आये थे। इनमें से तीतू मीर ने बरासात के वहाबी विद्रोह का और दूदू मियाँ ने फरीदपुर के फराजी विद्रोह का नेतृत्व किया।

सय्यद अहमद ने अंगरेजों द्वारा अधिकृत भारत को दार-उल-रब (दुश्मन का मुल्क) कहा और अंगरेजों को भगा कर दार-उल-इस्लाम (धर्म राज्य) स्थापित करने की शपथ ली। इस तरह धर्म का जामा होने पर भी यह आन्दोलन भारत को अंगरेजों से मुक्त

---

१. डब्ल्यू, डब्ल्यू हंटर, दि इंडियन मुसलमान्स, १८७६ का लन्दन संस्करण, १०६, १०७, १०८-९

करने का आन्दोलन था। यह जमींदारों और निलहे साहबों के शोषण और उत्पीड़न को भी समाप्त करने का आन्दोलन था। सय्यद अहमद की प्रेरणा से जहाँ पंजाबमें मुसलमान किसानों ने सिख जमींदारों के खिलाफ विद्रोह किया था, वहीं पेशावरमें मुसलमानों ने ही अत्याचारी मुसलमान सामन्तों के खिलाफ विद्रोह का झंडा बुलन्द किया था।

खासकर बंगाल के वहाबी विद्रोहमें हिन्दू और मुस्लिम किसानोंको मिल कर अंगरेज शासकों, निलहे साहबों और हिन्दू-मुस्लिम जमींदारों के खिलाफ लड़ता देखा गया। इस सम्बन्ध में इतिहासकार हन्टर ने लिखा :

"१८३१ में कलकत्ते के आस पास के अंचलके व्यापक किसान विद्रोह में उन्होंने (किसानों ने) निष्पक्षता के साथ हिन्दू-मुसलमान सभी जमीन्दारोंके घरों को लूटा। दरअसल मुसलमान अमीरों की हालत तो बदतर थी।"[1]

अंगरेज शासकों, निलहे साहबों और हिन्दू जमीन्दारों के साथ ही साथ मुसलमान जमींदारों और अमीरों ने भी इस आन्दोलन को दबाने की भरसक कोशिश की। अंगरेज इतिहासकार डब्ल्यू. सी. स्मिथ ने लिखा :

"धार्मिक आन्दोलन होते हुए भी उच्च श्रेणी के मुसलमानों ने इसकी मुखालिफत की।"[2]

वहाबी आन्दोलन धार्मिक आन्दोलन के रूप में आरंभ हुआ, लेकिन क्रमशः उसका धार्मिक रूप विलुप्त हो गया और अंगरेज शासकों के विरुद्ध स्वाधीनता संग्राम तथा निलहे साहबों-जमींदारों-साहूकारों के खिलाफ वर्ग संघर्ष में बदल गया। बिहार में एनायत अली और विलायत अली के नेतृत्व में तथा बंगाल में तीतू मीर और दूदू मियाँ के नेतृत्व में हुए विद्रोह इसके प्रमाण हैं। इस विद्रोह के अर्थनीतिक पक्ष पर प्रकाश डालते हुए अंगरेज इतिहासकार विल्फ्रेड कैंटवेल स्मिथ ने लिखा :

"इस दृष्टि से वहाबी विद्रोह पूर्ण रूप से वर्ग-संघर्ष था। इससे धार्मिक प्रश्न धीरे-धीरे गायब हो गया। उद्योगों के विकाश के पहले के युग में जिस तरह प्रायः सब जगह वर्ग-संघर्ष ने धार्मिक नारे का रूप धारण किया था, उसी प्रकार इस वर्ग संग्राम में भी धार्मिक नारों का प्रयोग हुआ था। लेकिन यह नारा धार्मिक होते हुए भी साम्प्रदायिक न था।

"इसलिए वहाबी विद्रोह निम्न वर्ग के हिन्दुओं के विरुद्ध निम्न वर्गके मुसलमानों को भड़का कर खुले युद्ध में नहीं खींच लाया; अथवा वर्ग शत्रुओं (धनी मुसलमानों) को भी साम्प्रदायिक 'बन्धु' मान कर उनके साथ एकता करने के नामपर निम्न वर्ग के मुसलमानों को अर्थनीतिक संग्राम से हटा कर दूसरे रास्ते पर नहीं ले गया।"[3]

तीतू मीर का असली नाम मीर निशानअली था। १७७२ ई० में बंगाल के चौबीस परगना जिले के बादुड़िया थाने के हैदरपुर गाँव में उनका जन्म एक किसान के घर हुआ था।

---

१. पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १०६

२. विल्फ्रेड कैंटवेल स्मिथ, माडर्न इस्लाम इन इंडिया, दूसरा संस्करण, पृ० १६२

३. वही, पृ० १६२-६३

बचपन से ही खेती-किसानी के कामों में उन्हें लगना पड़ा। लाठी, तलवार, तीर आदि चलाने की शिक्षा भी उन्होने ली। उनकी शारीरिक शक्ति और चतुराई को देखकर नदिया के एक जमीन्दार ने उन्हें अपने यहाँ नौकर रख लिया। इस जमीन्दार की तरफ से दूसरे जमीन्दार के साथ लड़ने और मारपीट करने के अपराध में उन्हें सजा भी हुई। जेल से निकलने पर विरक्त होकर तीतू मीर ने जमीन्दार की नौकरी छोड़ दी और उन्तालीस साल की उम्र में मक्का गये। वहीं से वहाबी आदर्शों में शिक्षित होकर वे भारत वापस आये। इन्होंने सय्यद अहमद को अपना गुरू माना। १८२१ में सय्यद अहमद से तीतू मीर की दूसरी मुलाकात कलकत्ते में हुई।

तीतू मीर और उनके अनुयायियों ने मुसलमानों के अन्दर फैले अन्धविश्वासों और कुरीतियों को दूर करने के लिए प्रचार आरंभ किया : पीर-पैगम्बर मत मानो, मन्दिर-मस्जिद मत बनाओ, श्राद्ध (फातिहा) की जरूरत नहीं, कर्ज देकर सूद मत लो, इत्यादि।

तीतू मीर और उनके शागिर्दो के इस प्रचार से धनीमानी मुसलमान और मुल्ला आग बबूला हो गये। उन्होंने इस आन्दोलन का विरोध करना शुरू किया। लेकिन दूसरी तरफ मस्जिदों और जमीन्दारों-साहूकारों के शोषण तथा उत्पीड़न से पीड़ित गरीब मुसलमान तीतू मीर के मत में शामिल होने लगे। जल्दी ही नारिकेलिबेड़िया के आस पास दस-पन्द्रह कोस तक तीतू का असर फैल गया।

धनी-मानी मुसलमानों और मुल्लों के साथ हिन्दू जमीन्दारों ने भी वहाबी आन्दोलन को बड़ा खतरनाक समझा। उक्त अंचल के जमीन्दार कृष्णदेव राय ने क्रुद्ध होकर फरमान निकाला : मेरी जमींन्दारी में जो भी वहाबी मतावलम्बी हैं, उनमें से हरएक को अपनी दाढ़ी पर अढ़ाई रुपया टैक्स देना होगा। दूसरे जमीन्दारों ने भी दाढ़ी पर टैक्स लगा दिया। आज यह सुन कर हमें हँसी आ सकती है अथवा आश्चर्य हो सकता है, लेकिन यह कोई गप्प नहीं। इतिहासकार थार्नटन ने लिखा : जमीन्दारों ने जो जुर्माना लगाया था, उसे साधारणत: 'दाढ़ी टैक्स' कहा जाता।[1]

कृष्णदेव राय यह जुर्माना वसूल करने सर्वराजपुर गया। इस जुर्माने की बात सुनकर तीतू मीर ने आदेश दिया : जुर्माना मत दो। जमीन्दार के बुलाने पर भी उसकी कचहरी मत जाओ। कृष्णदेव राय ने किसानों को बुला लाने के लिए बरकन्दाज भेजे तो तीतू मीर के मतावलम्बियों ने उन्हें पकड़ लेने की कोशिश की। एक को पकड़ कर उन्होंने कैद कर लिया। दूसरों ने भाग कर खबर दी तो कृष्णदेव आग बबूला हो उठा। उसने विद्रोही प्रजा का दमन करने के लिए कदम उठाया। उसके तीन चार सौ लठैतों और बरकन्दाजों ने एक दिन सर्वराजपुर पर धावा बोल दिया। बहुत से घर लूट लिये। मस्जिद जला दी।

लूट और आगजनीका यह मामला बरासात के ज्वायंट मजिस्ट्रेट की अदालत गया, लेकिन गरीब किसानोंको न्याय नहीं मिला। बादुड़िया थाने के दारोगा ने जमीन्दार का

१. एडवर्ड थार्नटन, हिस्ट्री आफ इंडिया, खण्ड ५, १८४१ का लन्दन संस्करण, पृ० १८१

पक्ष लिया। अदालत ने जमीन्दार और उसके आदमियों को निर्दोष ठहराया और उल्टे कई मुसलमान किसानों से शान्ति के साथ रहने के लिए मुचलका लिया। इस घटना के बाद से तीतू और उनके अनुयायियों ने जमींदारों और अंगरेज सरकार के खिलाफ लड़ने का संकल्प किया।

६ नवम्बर १८३० को तीतू मीर ने लगभग तीन सौ अनुयायियों को लेकर जमीन्दार कृष्णदेव राय के निवास स्थान पूंड़ा गाँव पर आक्रमण किया और उसका घर घेर लिया। जमीन्दार के लोगों ने छत से ईंटें बरसायी। तीतू के आदमियों को वहाँ से हटना पड़ा। जमीन्दार ने सर्वराजपुर में मस्जिद जलवा दी थी। उसके बदले में जमीन्दार के गाँव में एक गाय को मार कर उसका खून मंदिर में फेंका गया। पुजारी ने रोकने की कोशिश की तो उसे जान से हाथ धोना पड़ा।

उस गाँव के बाजार को भी तीतू के लोगों ने लूट लिया। जो धनी मुसलमान वहाबी आन्दोलन का विरोध करते उनके घर भी लूटे गये।

पूंड़ा ग्राम पर आक्रमण के कई दिन बाद ही तीतू मीर ने घोषणा की : कंपनी का राज समाप्त हो गया है। यूरोपवासियों ने अन्यायपूर्वक मुसलमानों का राज हड़प लिया है। उत्तराधिकार के रूप में मुसलमान ही इस देश के राजा हैं।[1]

तीतू ने अपने को भारत के मुस्लिम राजा का प्रतिनिधि घोषित किया और जमीन्दारों से कर की मांग की। वहाबियों ने तीतू का समर्थन किया। जमीन्दारों और नील कोठी के साहबों ने मिल कर तीतू का मुकाबिला करने की तैयारी की। उस वक्त गोबरडांगा के जमीन्दार काली प्रसन्न मुखोपाध्याय थे। उनके मित्र कलकत्ते के प्रसिद्ध जमीन्दार लाटू बाबू थे। इन लाटू बाबू ने दो सौ हब्सी सिपाही काली प्रसन्न की मदद में भेजे। काली प्रसन्न के पास खुद लगभग चार सौ सिपाही, दो सौ लठैत और कई हाथी थे। इसलिए उन्होंने तीतू को कर देना अस्वीकार कर दिया।

मोल्लाहाटी की नील की कोठी के व्यवस्थापक डेवीस दो सौ लठैत और बल्लम-बर्छों तथा बन्दूकों से लैस सिपाही लेकर काली प्रसन्न की मदद के लिए तीतू मीर पर हमला किया। इस हमले की खबर पाकर तीतू के आदमी पहले ही से तैयार थे। डेवीस की सेना ज्योंही गाँव के अन्दर पहुँची, तीतू के लोगों ने चारों तरफ से उसे घेर लिया। संघर्ष में डेवीस की हार हुई, बहुत से आदमी मारे गये। डेवीस किसी तरह भाग निकला। जिस बजरे में बैठ कर वह आया था, उसे तीतू के लोगों ने तोड़-फोड़ दिया।

गोबरा-गोबिन्दपुर के जमीन्दार देवनाथ राय ने डेवीस को शरण देकर बचाया। इसके लिए तीतू ने प्राय: पाँच सौ लठैतों को लेकर गोबरा-गोबिन्दपुर पर हमला किया। देवनाथ ने भी अपने आदमियों को लेकर मुकाबिला किया। वह स्वयं घोड़े पर सवार होकर तलवार लेकर लड़ने आया, किन्तु उसकी पराजय हुई। वह स्वयं मारा गया। दोनों तरफ के बहुत से लोग मारे गये।

१. बिहारीलाल सरकार, तीतू मीर, पृ० ५८

इस लड़ाई के बाद तीतू मीर की ताकत काफी बढ़ गयी। लगभग एक हजार मुसलमान नौजवान लाठी, तलवार, बल्लम लेकर हमेशा लड़ने को तैयार रहते थे। अब उन्होंने गाँवों के अत्याचारी तालुकेदारों, महाजनों, नील कोठी के साहबों तथा वहाबी विरोधी धनी मुसलमानों को सबक सिखाने का फैसला किया। घोषणा की गयी कि जो तीतू को कर न देगा उसे दंड दिया जायगा। यह घोषणा सुनते ही बरासात अंचल के तालुकदार, महाजन और धनी मुसलमान भाग गये। तीतू ने यह भी आदेश दिया कि सभी किसान, चाहे वे मुसलमान हों या हिन्दू, जमीन्दारों को लगान देना बन्द कर दें। यह हुक्म मान कर अधिकांश किसानों ने लगान देना बन्द कर दिया।

उस समय नदिया और बारासात अंचल में निलहे साहबों की बहुत सी कोठियाँ थीं। उनकी बड़ी-बड़ी जमीन्दारियाँ भी थीं। इन जमीन्दारियों के किसानों ने भी लगान देना और नील की खेती करना बन्द कर दिया। ये कोठीवाले साहब भी भाग खड़े हुए। इन साहबों और जमीन्दारों ने मिलकर पहले बरासात और नदिया के मजिस्ट्रेट के पास और बाद में बंगाल के लाट के पास आवेदन-पत्र भेजा और विद्रोहियों के दमन के लिए नियमित सेना भेजन की प्रार्थना की।

बंगाल के लाट के हुक्म से सेना भेजी गयी। उसने जैसोर जिले के बागण्डी के 'निमक-पोक्तान' में छावनी डाली। १५ नवम्बर १८३० को जिला मजिस्ट्रेट अलेक्जेण्डर एक हवलदार, एक जमादार और बीस सिपाही लेकर बादुड़िया पहुँचा। वहाँ दारोगा और बकरन्दाज उससे आ मिले। इस तरह बन्दूकों से लैस एक सौ बीस आदमी लेकर अलेक्जेण्डर नारिकेलिबेड़िया गाँव की तरफ रवाना हुआ। तीतू को इस आक्रमण की खबर पहले ही मिल चुकी थी। इसलिए उनके भांजे गुलाम मासूम के नेतृत्व में पाँच सौ जवानों ने तलवार और बल्लमों से लैस होकर मजिस्ट्रेट का रास्ता आ रोका। मजिस्ट्रेट सदल बल ज्योंही मैदान में पहुँचा, विद्रोहियों ने चारों तरफ से घेर लिया। मजिस्ट्रेट ने पहले समझाने की कोशिश की और फिर डराने के लिए बन्दूकों से छूँछी आवाज करवायी। लेकिन विद्रोहियों ने चारों तरफ से आक्रमण शुरू कर दिया। ईंटो की वर्षा आरंभ हो गयी। उसके बाद तलवारों और भालों ने काम शुरू किया। सिपाहियों को बन्दूकें इस्तेमाल करने का मौका भी न मिल पाया। एक जमादार, दस सिपाही और तीन बरकन्दाज मारे गये। बहुत से सिपाही घायल हुए। अलेक्जेन्डर घोड़े पर सवार होकर भागा। घोड़ा दौड़ता-दौड़ता एक नाली में जा गिरा। साहब नर्दबे की गन्दगी से लथपथ हो गया। किसी तरह वह फिर बागण्डी के शिविर में जा पहुँचा।

इस युद्ध में बसीरहाट का बदनाम दारोगा राम राम चक्रवर्ती विद्रोहियों के हाथ पड़ गया। यह जमीन्दार कृष्णदेव राय का सम्बन्धी था और जमीन्दारों के साथ मिल कर वहाबियों को दबाने का षड़यंत्र किया करता था। विद्रोहियों ने इसकी हत्या कर बदला चुकाया।

मजिस्ट्रेट अलेक्जेण्डर की हार के बाद तीतू का प्रभाव बढ़ गया। आस पास के

गाँवों के प्रायः सात आठ हजार मुसलमान वहाबी बन गये। तीतू के अनुयायियों ने कितनी ही नील-कोठियाँ लूटीं। निलहे साहब कलकत्ता भाग गये।

इसके बाद वहाबियों के फैसले के अनुसार तीतू मीर ने अपने को स्वाधीन बादशाह घोषित किया। मैनुद्दीन उनका प्रधान मंत्री और गुलाम मासूम खाँ प्रधान सेनापति नियुक्त हुआ। आस पास के कितने ही गाँवों के हिन्दू-मुसलिम किसानों ने तीतू को अपना बादशाह मान लिया।

तीतू ने समझ लिया था कि मजिस्ट्रेट अलेक्जेण्डर की हार के बाद अंगरजों की बड़ी सेना हमला करने आयेगी। इसके मुकाबिले के लिए नारकेलबेड़िया में बाँस का किला बनाया गया। इस किले में रसद और युद्ध का साजो-सामान इकट्ठा किया गया।

अलेक्जण्डर की हार और तीतू मीर के बादशाह होने की घोषणा का समाचार पाकर उस वक्त के बड़े लाट बेंटिक ने वहाबियों का फौरन दमन करने का आदेश दिया। उसके हुक्म से नदिया के कलक्टर और जज कई हाथियों और बहुत से सिपाहियों को लेकर स्थल पथ और जल पथ दोनों से नारिकेलबेड़िया की तरफ चले। नदिया और गोबरडांगा के जमीन्दारों ने अंगरेजों की मदद में अपने सिपाही भेजे। यह सम्मिलित सेना वहाबियों की शक्ति ध्वंस करने चली।

इस आक्रमण की खबर पहले ही से पाकर तीतू मीर के सेनापति मासूम खाँ ने कुछ जवानों को लेकर बाघारिया नामक स्थान की एक खाली नील कोठी में अपना अड्डा जमाया और आक्रमणकारियों का इन्तजार करना शुरू किया। कलक्टर ने बाघारिया में मासूम खाँ की उपस्थिति की खबर पाकर नील कोठी पर आक्रमण का आदेश अपने सिपाहियों को दिया। मासूम खाँ के जवानों ने ईंटों और कच्चे बेलों की बरसा की। इस बरसा के सामने कलक्टर के सिपाहियों की गोली-बरसा बेकार सिद्ध हुई। कलक्टर को हार कर भागना पड़ा। इस विजय से तीतू का प्रभाव और भी बढ़ा।

इस बार अंगरेज शासकों ने नारिकेलबेड़िया पर आक्रमण के लिए एक कर्नल के नतृत्व में दो तोपें, एक सौ गोरे सैनिक, और तीन सौ देशी सैनिक भेजे। शाम को नारकेलबेड़िया पहुँच कर इस सेना ने गाँव को चारों तरफ से घेर लिया और सबेरा होने का इन्तजार करने लगे, किन्तु रात को ही विद्रोहियों ने बेल और ईंट बरसा कर दुश्मनों को पीछे हटने को बाध्य किया।

दूसरे दिन यानी १४ नवम्बर १८३१ को कर्नल के नेतृत्व में सरकारी सेना आगे बढ़ी। बाँस के किले के खास फाटक पर जाकर उसने गवर्नर जनरल का फरमान पढ़ सुनाया और विद्रोहियों को आत्मसमर्पण करने का आदेश दिया। दो बार आदेश देने के बाद उसने अपने सैनिकों को दुर्ग की तरफ बढ़ने का हुक्म दिया। विद्रोहियों ने दुर्ग के अन्दर से ईंट, बेल और तीर बरसाने शुरू किये। इस बरसा से अपने सैनिकों को घायल होता देख कर्नल ने तोपों को किले पर गोलाबारी का आदेश दिया। एक गोला तीतू मीर के पास जा गिरा। उससे सख्त घायल होकर थोड़ी देर में वे चल बसे। किला टूट गया। विद्रोही हार गये। आठ सौ विद्रोहियों को गिरफ्तार कर कर्नल

वापस गया। अलीपुर की अदालत में इनमें से साढ़े तीन सौ पर मामला चलाया गया। बहुत दिनोंतक मामला चलने के बाद १४० आदमियों को सजा दी गयी और सेनापति मासूम खाँ को प्राणदण्ड दिया गया। बाँस के किले के सामने मासूम खाँ को फाँसी दी गयी, ताकि फिर वहाबी सिर उठाने की हिम्मत न करें।

वहाबियों का यह विद्रोह देश के अन्य भागों में भी हुआ और १८७० तक कमोवेश चलता रहा। पश्चिमोत्तर में पेशावर के उत्तर और सिन्ध के पच्छिम में सितना नामक स्थान में वहाबियों ने आरम्भ से ही अपनी बस्ती बना रखी थी। फिरंगियों की हुकूमत से असंतुष्ट देश के विभिन्न हिस्सों के वहाबी यहाँ आकर बसे थे। वे यहाँ अपने को स्वतंत्र समझते थे और ब्रिटिश हुकूमत की कोई परवाह न करते थे। अंगरेज शासकों ने १८५३ में उनके खिलाफ एक पल्टन भेजी, लेकिन वह नाकाम होकर वापस आयी। १८५८ में फिर पल्टन भेजी गयी। इस बार वह कामयाब हुई। उसने वहाबियों को सितना से मार भगाया।

१८६१ में वहाबियों ने मल्का को अपना गढ़ बनाया और १८६३ में पंजाब में ब्रिटिश हुकूमत को खतरे में डाल दिया। ब्रिटिश शासकों ने सर नेविली चेम्बर लेन को ६,००० सेना के साथ उनका दमन करने भेजा। अम्बेला के दर्रे में १५,००० वहाबियों ने उसका रास्ता रोका। अंगरेजों की सेना मुश्किल में पड़ गयी। तीन सप्ताह तक वह आगे न बढ़ सकी। वहाबियों के लगातार हमलों से उसे अपनी रक्षा करना मुश्किल हो गया।[1]

राजधानी कलकत्ते में अंगरेज अधिकारी चिन्तित हो गये। कलकत्ता कौंसिल अपनी सेना को वापस बुलाने का विचार करने लगी। लेकिन तभी स्थानापन्न वाइसराय मद्रास का गवर्नर विलियम डेनीसन जल्दी कलकत्ता पहुँचा और प्रधान सेनापति सर ह्यू रोज की सलाह पर नेविली चेम्बर लेन को डटे रहने का आदेश दिया। उसकी मदद के लिए व्यवस्था की गयी। दिसम्बर १८६३ में वहाबी पराजित हुए और उनका गढ़ मल्का नष्ट कर दिया गया। बंगाल में १८६९ ई० में विद्रोह के शान्त होने पर वहाबी विद्रोह के नेताओं पर विभिन्न स्थानों में मामले चले। इन मामलों में विद्रोहियों को बहुत बड़ी सजाएँ दी गयीं और उनकी जायदाद जब्त की गयी।

इन सब मामलों में कलकत्ते के कोल्हूटोला के प्रसिद्ध व्यापारी अमीर खाँ पर चला मामला सबसे ज्यादा सनसनीखेज है। कलकत्ता हाईकोर्ट में इस मामले की सुनवाही के दौरान अमीर खाँ की पैरवी करने बम्बई हाइकोर्ट के मशहूर एडवोकेट आनेस्टी साहब आये थे। उन्होंने सवाल जवाब के जरिए दिखाया कि वहाबी विद्रोह कोई साम्प्रदायिक घटना नहीं। यह भारत से विदेशी शासन उखाड़ फेंकने और देश को स्वाधीन बनाने के लिए करोड़ों आदमियों का विद्रोह था। हाइकोर्ट में आनेस्टी साहब ने विद्रोह के सम्बन्ध में जिन राजनीतिक तथ्यों पर प्रकाश डाला, उनसे भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रथम युग में सैकड़ों लोगों को प्रेरणा मिली। उस युग के एक महान नेता विपिन चन्द्र पाल ने यह खुलेआम स्वीकार किया।[2]

---

१. पी० ई० राबर्ट्स, हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० ३६८
२. योगेन्द्र चन्द्र बागल, मुक्ति संधाने भारत, पृ० ६६

अध्याय ४८

मैसूर की रैय्यत का विद्रोह

(१८३०-३१)

मैसूर की रैय्यत ने १८३०-३१ में विद्रोह कर राजा और उसके रक्षक अंगरेज शासकों का सशस्त्र मुकाबिला किया। इस विद्रोह के कारण क्या थे? इस की गंभीरता को देखकर बड़े लाट के हुक्म से इसकी जाँच के लिए एक कमेटी बैठायी गयी थी। उसने जाँच के बाद अपनी रिपोर्ट में कहा कि

"राजा के कुशासन ने गंभीर और व्यापक असंतोष पैदा कर दिया था, राजस्व तेजी के साथ कम हो रहा था और राज्य के सब विभागों में कुप्रशासन का राज था।"[१]

लेकिन सिर्फ राजा के कुशासन को दोष देना काफी नहीं। खुद अंगरेज लेखक स्वीकार करते हैं कि कंपनी सरकार द्वारा देशी राजाओं पर लादी गयी सहायक संधियाँ प्रजा पर होने वाले अत्याचार और उत्पीड़न के मूल कारण थीं। आम तौर पर कंपनी सरकार इन संधियों के अन्तर्गत कंपनी की सेना रखने के लिए राजाओं को बाध्य करती। इस सेना के खर्च के लिए राजाओं पर इतनी रकम लादी जाती कि उसका देना असंभव होता। इस रकम की वसूली के लिए कंपनी का प्रतिनिधि अंगरेज रेजीडेन्ट दीवान पर दबाव डालता, दीवान जमींदारों से भारी रकम वसूल करने की चेष्टा करता और जमींदार किसानों से। इस तरह किसानों को आर्थिक दृष्टि से उधेड़ा जाता। इस शोषण से बचने का उपाय न देख किसान बागी हो जाते। ऐसे राजाओं की रैय्यत की मुसीबत खुद ईस्ट इंडिया कंपनी ने पैदा की, इस सच्चाई को स्वीकार करते हुए एक अंगरेज ने लिखा :

"इन देशी सरकारों द्वारा, जिनकी समर्थक कंपनी है, पैदा की गयी मुसीबत कंपनी द्वारा पैदा की गयी मुसीवत है, और ब्रिटिश नाम पर कलंक का टीका लगाती है।"[२]

१७९९ में बहादुर टीपू सुल्तान के मारे जाने पर अंगरेजों ने पुराने राजवंश के कृष्ण राजा वोदेयार नामक पाँच साल के बालक को मैसूर की राजगद्दी पर बैठाया (३० जून १७९९)। कर्नल आर्थर वेलस्ली को, जो बाद में ड्यूक आफ वेलिंगटन बने और नेपोलियन को पराजित करने का सेहरा जिनके सर पर बाँधा गया, इस राज्य के शासन का भार सौंपा गया। हैदर अली और टीपू सुल्तान के विश्वासी मंत्री पूर्णैया को दीवान नियुक्त किया गया। कर्नल (वाद के सर) बैरी क्लोज को रेजीडेन्ट वनाया गया।[३]

१. बेंजामिन लेविस राइस, मैसूर खण्ड १, पृ० ४२८

२. एल० स्टैनहोप, स्केच आफ द हिस्ट्री एण्ड इन्फ्लुएन्स आफ द प्रेस इन ब्रिटिश इंडिया (१८२३), पृ० १३४

३. इंपीरियल गजेटियर आफ इंडिया, मैसूर एण्ड कुर्ग, पृ० २५

पूर्णैया बड़े ही योग्य दीवान थे। उन्होंने मैसूर को बहुतही खुशहाल राज्य बना दिया। प्रजा भी खुशहाल और संतुष्ट थी। उस पर कर बहुत कम लगाया जाता था और वह भी खुशी खुशी समय पर इसे दे देती थी। इसलिए जब १८११ में पूर्णैया ने अवकाश ग्रहण किया तो मैसूर का खजाना भरा पूरा था। उसमें ७५ लाख स्वर्ण मुद्राएँ (पगोड़ा) थीं।

पूर्णैया के बाद लिंगराज दीवान बने लेकिन उनमें न तो वह योग्यता थी और न वह प्रभाव। राजा ने बालिग होने पर १७ साल की उम्र में अपना राज्य संभाला और अंगरेज रेजीडन्ट की देख रेख में राज काज करने लगा। खुद अंगरेज इस बात पर एकमत हैं कि आरंभ में इस राजा में योग्यता थी। उसने प्रशासन अच्छी तरह संभाला तथा प्रजा की भलाई करने की कोशिश की। उनका कहना है कि क्रमशः यह राजा प्रजा और प्रशासन की उपेक्षा करने लगा, अपने प्रिय पात्रों को संतुष्ट करने और ब्राह्मणों को प्रसन्न करने के लिए खुले हाथ खजाना लुटाने लगा। उनके अनुसार इस अपव्यय का परिणाम हुआ कि खजाना खाली हो गया और कर्ज चढ़ गया। ६ मार्च १८३२ को जो राजनीतिक पत्र फोर्ट सेन्ट जार्ज (मद्रास) भेजा गया उसमें कहा गया :

"उसने (राजा ने) बहुत ज्यादा इनाम मंजूर कर राज्य के साधनों का बड़ा हिस्सा कम कर दिया है और लगातार कम करता जा रहा है...। बीच के अधिकारियों, फौजदारों और आमिलदारों की आदत सरकारी खजाने में कम से कम जमा करने और रैय्यत से जितना भी ज्यादा संभव हो उतना वसूल करने की रही है। इसका परिणाम असंतोष हुआ....खासकर नगर और चीतल द्रुग की फौजदारियों में... बेदनूर राजाओं की अर्द्ध-पराजित भूमि में...। ८ जनवरी १८३० को मि० कसमाईजोर ने रिपोर्ट दी कि सेना पर खर्च की रकम काफी बाकी पड़ गयी है, और राजा ने स्वीकार किया है कि उनपर साहूकारों का कर्ज बढ़कर ६ लाख पगोड़ा (स्वर्णमुद्रा) से ज्यादा हो गया है।...इसी बीच सेना में भी असंतोष देखा गया है, हालाँकि हो सकता है कि उसने जनता की, जिसने बहुत से अत्याचार किये हैं, तकलीफ के प्रति हमदर्दी जाहिर न की हो...।"

अंगरेज अधिकारी यह कहते हैं कि राजा फिजूलखर्ची के कारण दिवालिया हो गया था, लेकिन वे यह स्वीकार नहीं करते कि सहायक संधि के अन्तर्गत तथा अन्य रूपों में जो रकम ईस्ट इंडिया कंपनी की सरकार राजा से वसूल करती थी, वह खुद बहुत बड़ी थी और उसने एक नहीं प्रायः सभी राजाओं को दिवालिया बना दिया था और इसी का बहाना बनाकर कंपनी सरकार ने हर जगह राजाओं का राज हड़पा था।

राजा दिवालिया हो गया, १८१४ तक उसका खजाना खाली हो गया, उस पर लाखों रुपयों का कर्ज चढ़ गया। ऐसी हालत में राज्य के पद नीलाम किये गये। योग्यता नहीं, धन उसका मापदण्ड रखा गया। जो सबसे ज्यादा धन देता उसे राज्य के पद दिये जाते। आमिलदारों के साथ सरकार के समझौते हुए जो 'शर्ती' कहे जाते हैं। इन शर्तनामों के मुताबिक आमिलदारों को सुनिश्चित राजस्व राज कोष में देना होता था।

प्रजा से राजस्व वसूल करने का ठेका इन आमिलदारों का था। कम वसूल करने पर भी उन्हें सुनिश्चित रकम राज कोष में देनी ही पड़ती। अतिरिक्त राजस्व इकट्ठा होने पर उसे भी राज कोष में जमा करने की व्यवस्था थी।

अवश्य ही इसके साथ ही इन ठेकेदारों से मुचलका लिया गया था कि वे प्रजा पर अत्याचार न करेंगे और न उस पर नये टैक्स लगायेंगे। लेकिन इस शर्त को एक दम ताक पर रख दिया गया। अत्याचारी फौजदारों और आमिलदारों ने एक का दो वसूल करना और इस वसूली के दौरान भयंकर से भयंकर अत्याचार करना आरम्भ किया। कारागार ठसाठस उन लोगों से भरगये जिन पर मुकदमे चलने वाले थे। लेकिन उनके मामले की सुनवाही कब होगी, कोई न जानता था। इन सबसे आम रैय्यत की हालत बिगड़ गयी, उसका असंतोष ज्वालामुखी का रूप धारण करने लगा।

हालत को इस तरह बिगड़ता देख सर टामस मुनरो, जो उस वक्त मद्रास प्रेसीडेन्सी के गवर्नर थे, खुद १८२५ में मैसूर दौड़े गये। उन्होंने राजा को डाट फटकार बतायी। वे तो संधि की चौथी धारा के अनुसार मैसूर राज्य की व्यवस्था राजा के हाथ से छीन कर कंपनी के हाथ में ले लेना चाहते थे, लेकिन तिक्तता बढ़ जाने के भय से यह न किया।[1] मुनरो ने दबाव डालकर राजा को कुछ सुधार के कदम उठाने को राजी किया। इन कदमों का सुफल भी हुआ, कर्ज कम हो गया, अनावश्यक व्यय पर अंकुश लग गया। लेकिन जुलाई १८२७ में मुनरो की मृत्यु ने सब गुड़ गोबर कर दिया। रैय्यत पर शोषण और अत्याचार पहले ही की तरह होने लगे। इन अत्याचारों से तंग आकर रैय्यत बागी हो गयी।

१८३० में नगर प्रान्त में असंतोष के ज्वालामुखी के फटने के लक्षण देखे गये। नगर मैसूर के चार प्रधान प्रान्तों में से एक था। इसका असली नाम बेदनूर था। हैदरअली ने इस पर विजय प्राप्त की तो इसका नाम हैदर नगर रख दिया। बाद में हैदर शब्द उड़ा दिया गया और सिर्फ नगर रह गया।[2]

इस प्रान्त का शासक फौजदार राम राव था। वह महाराष्ट्रीय ब्राह्मण था और राजा का विशेष प्रियपात्र था। वह प्रजा पर अमानुषिक अत्याचार करता और अपने आर्थिक लाभ के लिए अपने पद का दुरुपयोग करता। किसी की भी हत्या करा देना उसके लिए साधारण बात थी। राज्य के पदों को भरने में वह भाई-भतीजावाद बेरोक चलाता था। उसका एक प्रतिद्वन्द्वी वीरराज अरसू था। वह राम राव के प्रशासन के भ्रष्टाचार का कच्चा चिट्ठा जानता था। इन दोनों की प्रतिद्वन्द्विता का परिणाम हुआ कि अगर कभी कोई माफी प्रजा को बख्शी जाती, तो वह फौरन वापस ले ली जाती। इसने जनता के गुस्से को भड़का दिया।

फौजदार के अत्याचारों का सह सकना नामुमकिन हो गया तो रैय्यत ने जगह-जगह

---

१. आरबुथनाट, मेजर जनरल सर टामस मुनरो, खण्ड २, पृ० ७५

२. विल्क्स, मैसूर, खण्ड १, पृ० ४७ ; विल्सन, मिल्स हिस्ट्री आफ इंडिया, खण्ड ३, पृ० १६५

अपनी सभाएँ कीं।[1] वे हथियार लेकर इकट्ठा हुए और दूसरे प्रान्त के किसानों को अपना साथ देने का आह्वान किया। उनके आह्वान को सुन कर बहुत से किसानों ने उनका साथ दिया।[2] इन विद्रोहियों का नेतृत्व तेरूकेरी के रंगप्पा नायक ने किया।

इसी बीच नगर प्रान्त के राजा के पद का एक दावेदार खोज निकाला गया था। उसका असली नाम सदर मल्ल था। वह कुमसी के एक साधारण किसान का लड़का था। उसने चालबाजी से नगर के नायक की मुहर हथिया ली थी और दावा करता था कि वह नागर परिवार का वंशज है। चोरी के अपराध में वह १८१२ मे गिरफ्तार किया गया था। रिहा होने पर उसने एक पासपोर्ट प्राप्त कर लिया जिस पर जिला अदालत की मुहर थी और जिसमें उसका नाम बूदीबासवप्पा नागर खाविन्द दर्ज था। इसी को वह ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा प्राप्त सनद बताता? उसके चक्कर में पड़ कर लोगों ने विश्वास कर लिया कि वह नगर प्रान्त के राज्य का उत्तराधिकारी है और उसके उत्तराधिकार को ईस्ट इंडिया कंपनी ने भी मान लिया है। विद्रोह आरंभ होने पर यह बूदी बासवप्पा उसमें शामिल हो गया। उसने वादा किया कि विद्रोह सफल होने पर वह राजा बन कर रैय्यत का सारा बाकी राजस्व माफ कर देगा और उसकी भलाई के अनेकों काम करेगा। इन सब बातों से वह रैय्यत का बड़ा प्रिय पात्र बन गया। अप्रेल १८३० में कई पटेलों ने नियमत: उसे नगर का राजा मान लिया।[3]

फौजदार राम राव ने ७ दिसम्बर १८३० को अपने सिपाही होल-होन्नूर में जमा रैय्यत को तितर-बितर करने भेजा। कितने ही विद्रोही मारे गये। लेकिन अब सारे मैसूर में लोग बूदी बासवप्पा के उत्तराधिकार का समर्थन करने लगे। तेरूकेरी के पाड्यगार रंगप्पा नायक अपने सैनिक लेकर मैसूर राजा की सेना का मुकाबिला करने आये। उन्होंने काल द्रुग और कमान द्रुग नाम के किलों पर कब्जा कर लिया। इसी बीच विद्रोह की आग बंगलोर में भी फैल गयी।

मैसूर का राजा खुद १३ दिसम्बर १८३० को नगर आया। उसने एलान करवाया कि वह रैय्यत की शिकायतों की जाँच करने आया है और अगर वे सच्ची हुई तो उन्हे वह फौरन दूर कर देगा। इसलिए रैय्यत को आदेश दिया गया कि वह खुद आकर राजा को अपना दु:ख-दर्द सुनाये। राजा की इस जाँच पड़ताल का परिणाम क्या हुआ? यही कि कितने विद्रोहियों की कस कर पिटायी की गयी और कितनों को फांसी से लटका दिया गया। फलत: विद्रोह दबने के बजाय बढ़ गया।

जनवरी १८३१ में नये फौजदार अन्नप्पा ने विद्रोहियों के खिलाफ मोर्चा संभाला, किन्तु वह एक दम असफल रहा। तब अपने सेवकों की रक्षा के लिए अंगरेज महाप्रभु आ पहुँचे। फरवरी १८३१ में एक बड़ी सेना लेफ्टिनेन्ट राचफोर्ड के नेतृत्व में आयी। इसमें आठ सौ नियमित सेना के पैदल सैनिक, ६ सौ घुड़सवार, देशी बन्दूकों से लैस सात सौ

१. बेंजामिन लेविस राइस, वही, पृ० ४२६-७
२. विल्सन, वही, पृ० ३४६
३. बेंजामिन लेविस राइस, वही, पृ० ४२६-७

प्यादे और चार तोपें थीं। इस सेना ने आकर ३ मार्च १८३१ को कमान द्रुग (विल्सन के अनुसार कुमार द्रुग[1]) पर फिर कब्जा कर लिया।

इसके बाद राचफोर्ड शिमोगा पहुँचा और १२ मार्च १८३१ को हान्नाली पर कब्जा कर लिया। यहाँ उसने कितने ही विद्रोहियों को मृत्यु दण्ड दिया। इसके बाद उसकी सेना पश्चिम की तरफ चली और कुछ दिनों के लिए २६ मार्च को नगर पर तथा ६ अप्रैल को चन्द्रगुट्टी पर अधिकार कर लिया, विद्रोहियों को मार भगाया।[2] नगर प्रान्त में विद्रोहियों ने राजस्व वसूल करनेवाले उन ब्राह्मण अफसरों को भी फांसी दी थी जिन्होंने रैय्यत पर अत्याचार से अपने हाथ काले किये थे।[3]

लेकिन नगर और चन्द्रगुट्टी हाथ से निकल जाने पर भी विद्रोह जारी रहा। बूदी बासवप्पा, रंगप्पा और रंगप्पा के पुत्र तथा भतीजे हनुमप्पा तथा सुरजप्पा का साथ देने के लिए मराठा अंचल से हजारो घुड़सवार और प्यादे आ पहुँचे। अपने पाडयगारों के नेतृत्व मे १५०० कण्डचर प्यून बीदर से आये। वे सब मैसूर के राजा और उनके रक्षक अंगरेजों को उखाड़ फेंकने के लिए जमा हुए।

चूँकि विद्रोह तेजी से फैल रहा था, इसलिए अंगरेजों ने मैसूर में सहायक संधि के अन्तर्गत रखी गयी सारी सेना को विद्रोहियों का मुकाबिला करने भेजा। १५ वी और २४ वी देशी रेजीमेन्टे पहले ही भेजी जा चुकी थी। अब तीसरी कोर, अर्थात् ९ वीं सेना, ६२ वी शाही सेना की दो कंपनियाँ, ७ वे देशी रिसाले का एक स्क्वैड्रन और तोपों की एक ब्रिगेड मैसूर की सेना के साथ कर्नल एवान्स के सेनापतित्व में बंगलोर से भेजी गयी। पहले विद्रोहियों ने इस विशाल सेना का मुकाबिला बड़ी सफलता के साथ किया। फतेह-पेट की लड़ाई मे उन्होने फिरंगी सेना को हरा दिया।[4]

हार कर कर्नल एवान्स को शिमोगा आना पड़ा। वहाँ उसने एक डिवीजन सेना इकट्ठा की और फिर नगर पर चढ़ाई की। उसने अपने साथ रेजीडेन्ट और दीवान को भी लिया। उन्होंने घोषणा करायी कि वे किसानों की तकलीफे और शिकायतें सुनने को तैयार हैं। उन्हे फौरन दूर करने का वादा किया गया। बहुत से किसान अपना दुख-दर्द सुनाने आये। बहुत सा बकाया राजस्व माफ कर दिया गया और बहुत सी गल्तियाँ सुधारने की कोशिश की गयी। अन्त में १२ जून १८३१ को नगर पर फिरंगी सेना का कब्जा हो गया और विद्रोह की कमर टूट गयी, हालाँकि इसके बाद भी विद्रोही नेता कई महीने तक लड़ते रहे।

विद्रोह की व्यापकता को देख कर कंपनी सरकार ने इसकी जाँच के लिए एक कमेटी बैठायी। इसने जांच कर कहा कि राजा इस अशान्ति को कभी भी दबा नहीं सकता। फलतः बड़े लाट विलियम बेंटिंक ने राजा के हाथ से शासन-भार छीन लिया और इसका प्रशासन चलाने के लिए अंगरेजों का एक कमीशन नियुक्त किया जो मैसूर कमीशन के

१. विल्सन, वही, पृ० ३४७
२. विल्सन, वही, पृ० ३४७
१. बेंजामिन लेविस प्राइस, वही, पृ० ४२८
४. विल्सन, वही, पृ० ३४८

नाम से मशहूर है। अक्तूबर १८३१ में राजा ने चुपचाप मैसूर का प्रशासन ब्रिटिश कमिश्नरों के हाथ में सौंप दिया। राजा को राजस्व का पांचवां भाग पेंशन के रूप में दिया जाने लगा। वह अपनी जिन्दगी में फिर मैसूर का प्रशासन वापस न पा सका। सारा प्रशासन अंगरेजों के हाथ में प्रायः पचास साल तक बना रहा। राजा का गोद लिया लड़का चाम राजेन्द्र वोदेयार जब बालिग हुआ तब १८८१ में उसके हाथ प्रशासन सौंपा गया।

इस विद्रोह में रैय्यत की आंशिक जीत हुई। राजा और उसके संरक्षक अंगरेजों के खिलाफ लड़ कर रैय्यत बकाया राजस्व माफ कराने और सैकड़ों मामलों-मुकदमों को रद्द कराने में सफल हुई। वह टैक्स की छोटी मोटी ७६९ मदें भी रद्द कराने में कामयाब हुई।[१]

१. इंपीरियल गजेटियर आफ इंडिया, मैसूर एण्ड कुर्ग, पृ० २६

अध्याय ४६

विशाखापट्टनम में बगावत

(१८३०-३४)

पुराने विजगापट्टम और आज के विशाखापट्टनम जिले में १८३०-३४ में तीन मुख्य विद्रोह हुए—वीरभद्र राजे का विद्रोह, जगन्नाथ राजे का विद्रोह और पालकोण्डा का विद्रोह। अन्तिम नाम स्थान का नाम है जहाँ के विजयराम राजे ने १७९३ में अंगरेजों के खिलाफ हथियार उठाये थे।

वीरभद्र राजे का विद्रोह (१८३०-३१)

उस वक्त विजगापट्टम का जिला मद्रास प्रेसीडेन्सी में था। वीरभद्र के दादा काशीपुत्र राजे और उनके पिता राय भूपाल राजे के हाथ में रेली, सिंहवरपकोटा और अन्य स्थानों की जमीन्दारी थी। कंपनी सरकार उन्हें पेन्शन देना चाहती थी, लेकिन वह इतनी कम कि इसे दादा जी और पिता अपना अपमान समझते थे। इसलिए उन्होंने काफी हुंगामा मचाया। १८२७ में कंपनी ने यह जमीन्दारी अपने हाथ में ले ली। बाद में वह वीरभद्र को १०० रुपया महीना पेन्शन देने को तैयार हुई, किन्तु उन को भी इससे संतोष न हुआ।

वीरभद्र ने कंपनी से ३०० रुपए प्रति माह पेंशन की मांग की और इसी को बहाना बना कर विद्रोह कर दिया। विद्रोहियों का मुकाबिला करने के लिए कलक्टर गार्डिनर ने लगभग १, २०० सशस्त्र आदमी इकट्ठा किये। उसने नागनाह डोरा नामक एक प्रमुख सरदार से वीरभद्र को पकड़नें में मदद मांगी। नागनाह डोरा गोलगोंडा के दीवान रह चुके थे और अपने युग में अंगरेजों का मुकाबिला करने की चेष्टा करने वालों में प्रमुख स्थान रखते थे। १८०५ में उन पर मुकदमा चला था, लेकिन बरी कर दिये गये थे। १८०९ से १८११ तक वे कमोवेश खुल कर अंगरेजों का विरोध करते रहे। एक बार वे सचमुच पकड़े गये थे, लेकिन उन्होंने कहा कि वे नागनाह डोरा नहीं। अंगरेज उन्हें पहचानता न था, अतः उसने उन्हें छोड़ दिया। १८२१ में उन्होंने कुछ डाकुओं को पकड़ा था, इसलिए कंपनी सरकार ने उन्हें माफ कर दिया था। इसीलिए अंगरेज कलक्टर समझता था कि नागनाह डोरा कंपनी की मदद करेंगे, पर उसे क्या मालूम कि यह देशप्रेमी चुप ही चुप वीरभद्र का साथ दे रहा था? अवश्य ही बाद में एक कातिल ने उन्हें मार दिया था।[1]

वीरभद्र की गिरफ्तारी के लिए अगस्त १८३० में १,००० रुपए के इनाम की घोषणा

१. जी० ई० रसेल, डिस्टर्बेन्सेज इन विजगापट्टम जिला, पृ० ६; शशिभूषण चौधरी, पृ० १४६

की गयी। इससे काम सिद्ध होता न देख जल्दी ही पुरस्कार बढ़ा कर ५,००० रु० कर दिया गया। किन्तु इसका भी कोई फल न निकला, कोई भी गद्दारी करने आगे न आया।

१८३० के अन्त में देखा गया कि किसान हथियार लेकर विद्रोह के मैदान में जो उतरे तो अब भी लड़ते ही जा रहे थे। विद्रोह के कम होने के कोई भी लक्षण न दिखायी देते थे। ऐसी हालत में अंगरेज अधिकारियों ने मार्शल्ला की घोषणा की। काफी बड़ी सेना मैदान में उतार कर विद्रोहियों को दबाया गया। जनवरी १८३३ में वीरभद्र अंगरेजों की सेना के हाथ में पड़ गये। उन पर मुकदमा चलाया गया और कंपनी सरकार के खिलाफ विद्रोह के 'जुर्म' में मृत्यु का दंड दिया गया। बाद में यह आजीवन कारावास में बदल दिया गया।[१] बहुत से विद्रोही गिरफ्तार किये गये। इनमें से लगभग ३० को मृत्य दंड दिया गया[२] और बाकी को कड़ी सजा।

जगन्नाथ राजे का विद्रोह (१८३२-३४)

सत्यवरम और अनकपल्ली के जमीन्दार उप्पल प्याकाराव की मृत्यु हुई, तो कंपनी सरकार ने उनकी दो विधवाओं को पेन्शन दी, लेकिन गोद लिए गये लड़के को मान्यता देने से इन्कार किया। १८०२ में आम बन्दोबस्त के समय कंपनी सरकार ने इस जमीन्दारी को बेच दिया। बिकते-बिकते यह जमीन्दारी १८१० में सूर्य प्रकाश-राव नामक व्यक्ति के पास पहुँच गयी। यह बाहर का आदमी था और शीघ्र ही अपनी सख्ती के लिए लोगों में बदनाम हो गया।

जनवरी १८३२ में जगन्नाथ राजे ने प्याकाराव की उपाधि धारण की। वह उस गोद लिए लड़के का चचेरा भाई था जिसे अंगरेजों ने मान्यता न दी थी। उसने खासी बड़ी सेना इकट्ठी की और पुरानी जमीन्दारी पर कब्जा कर रियाया से कर वसूल करना आरंभ किया। सूर्य प्रकाश राव को भूमि कर देना बन्द कर दिया गया। रियाया उसके जुल्मों से आजिज आ गयी थी, इसीलिए उसने जगन्नाथ राजे के विद्रोह का साथ दिया।

विद्रोह ने क्रमशः उग्र रूप धारण किया। अंगरेज अधिकारियों ने ११ दिसम्बर १८३२ को मार्शल्ला लागू किया, लेकिन फिर भी यह विद्रोह १८३४ तक चलता रहा।[३] नागनाह डोरा का समर्थन इस विद्रोह को भी प्राप्त था। उनकी हत्या से विद्रोहियों का जोश कुछ ठण्डा पड़ा। जगन्नाथ राजे बाध्य होकर हैदराबाद चले गये।[४] अन्त में वे अंगरेजों के हाथ में पड़ गये। उन्हें फौजी अदालत ने मृत्यु का दंड दे दिया।[५]

---

१. जी० ई० रसेल, वही, पृ० १-४
२. विल्सन, वही, पृ० ३४१
३. शशिभूषण चौधरी, वही, पृ० १४७
४. विल्सन, वही, पृ० ३४१
५. जी. ई. रसेल, वही, पृ० ४२

पालकोंडा की बगावत (१८३१-३२)

पालकोण्डा के जमीन्दार विजय राम राजे अंगरेजों के खिलाफ १७९३ से १७९६ तक लड़ते रहे। उनके गिरफ्तार हो जाने पर जमीन्दारी उनके पुत्र सीताराम को सौंप दी गयी। लेकिन १७९८ में सीताराम की मृत्यु हो गयी और उनके भाई वेंकटपति राजे जमीन्दार बने। कंपनी सरकार ने उन्हें राजस्व (पेशकश) के रूप म प्रतिवर्ष ५१,००० रुपया देने का प्रस्ताव मानने को बाध्य किया।

लेकिन इसी बीच विजय राम राजे मुक्त होकर आ गये और उन्होंने फिर १८११ में विद्रोह करने की चेष्टा की। अंगरेजों ने इसका मुकाबिला करने के लिए मार्शल्ला की घोषणा की। ऐसी हालत में विजय राम राजे को पीछे हटना पड़ा। लेकिन वेंकटपति राजे इतना ज्यादा राजस्व कंपनी सरकार को देने के लिए रुपया कहाँ से लायें? उन्होंने थोड़ा बहुत इकट्ठा कर कंपनी सरकार को दिया, लेकिन साम्राजी क्षुधा इससे कहाँ शान्त होती? इसलिए उनकी जमीन्दारी छीन ली गयी।

अंगरेजों की इस ज्यादती को बर्दाश्त करना जमीन्दार और रियाया के लिए असंभव हो गया। इसलिए १६ फरवरी १८२८ को चारों तरफ आम विद्रोह फैल गया। रियासत के शक्तिशाली अफसर वेंकटरायडू ने अंगरेज परस्त दीवान पर आक्रमण कर उसे जहन्नुम रसीद किया। अंगरेजों के सरकारी पत्राचार दिखाते हैं कि जमीन्दार का भी इस विद्रोह में हाथ था, किन्तु उसकी मृत्यु अक्तूबर १८२८ में हो गयी। इसी बीच सरकारी राजस्व बाकी पड़ता गया और १८२९ तक ४५०९५ रु० १३ आना १० पाई हो गया। चूंकि जमीन्दार के पुत्र नाबालिग थे, जमीन्दारी कोर्ट आफ वार्ड्स में चली गयी। इससे फरवरी १८३१ में बहुत बड़ा विद्रोह आरंभ हो गया।

पहाड़ियों के जत्थे चारों तरफ हमले कर अंगरेज अधिकारियों की नाक में दम करने लगे। उनके हमले खास पालकोंडा नगर के पड़ोस में होने लगे। अप्रैल १८३२ तक विद्रोह की बड़ी भयंकर लपटें चारों तरफ उठने लगी। यहाँ तक कि विद्रोहियों ने अंगरेजों के फौजी दस्तों पर हमले किये। हालत अंगरेज अधिकारियों के काबू के बाहर हो गयी: इसलिए मार्शल्ला लागू किया गया।

अब कंपनी की फौज ने आकर चारों तरफ अत्याचार आरंभ किया। स्वर्गीय राजा की पत्नियों, उसके पुत्र तथा राज परिवार के अन्य लोगों तथा सैकड़ों विद्रोहियों को गिरफ्तार कर जेल में बन्द कर दिया गया। उन पर ऐसी अदालत में मामला चलाया गया जिसमें सभी यूरोपीय अफसर थे। किसी को मृत्यु दंड दिया गया और किसी को कठोर कारावास। कुछ को राजबन्दी बना कर आजीवन कारारुद्ध कर दिया गया। जमीन्दार के परिवार के सभी लोगों को ले जाकर वेलोर जेल में बन्द कर दिया गया। इसके बाद एक घोषणा जारी कर पालकोंडा की जमीन्दारी हमेशा के लिए ब्रिटिश राज्य में मिला ली गयी।

अध्याय ५०

कोल विद्रोह

(१८३१-३२)

छोटा नागपुर में १८३१-३२ में जिस विद्रोह से अत्याचारी जमीन्दार थर थर काँपते थे और जिसने अंगरेज शासकों को चिन्ता में डाल दिया था, उस विद्रोह को साधारणतः कोल विद्रोह कहते हैं। दरअस्ल यह मुण्डों का विद्रोह था जिसमें हो उनके दक्षिण हाथ बन कर शामिल हुए थे।

इस विद्रोह के कारण क्या थे? दरअस्ल भूमि सम्बन्धी असंतोष ही इसका मूल कारण था। हो और मुण्डों के बीच पुरानी ग्राम्य समाज-व्यवस्था चली आ रही थी। सात से लेकर बारह तक गाँवों को मिलाकर एक 'पीर' होता था। इसका प्रधान या नेता 'मानकी' कहलाता था। वह इन गाँवों के लगान के लिए सरकार या जमीन्दार के प्रति जिम्मेदार होता था। वह गाँवों के मुखियों के कामों की निगरानी करता था। ये मुखिया 'मुण्डा' कहलाते थे। ये मुण्डे पुलिस का भी काम करते और अपने अपने गाँवों का प्रतिनिधित्व करते थे।[1]

कृषि और शिकार कोलों की जीविका के मुख्य साधन थे। कंपनी सरकार ने इस अंचल की जमीन्दारी विभिन्न 'राजाओं' को दे रखी थी। कंपनी इनसे राजस्व वसूल करती और ये रैय्यत से। ऐसा करने में अक्सर रैय्यत पर अनाप-शनाप कर लगाये जाते। कभी कभी उनकी जमीन छीन कर नये आदमियों को दे दी जाती जो मालदार थे और बंगाल या बिहार के थे तथा कोलों की भाषा में परदेशी थे। अपने ऊपर नये नये टैक्सों का बोझ लदते और अपने हाथ से जमीन निकल जाते देख कोलों का असंतोष बढ़ना स्वाभाविक था। इस सम्बन्ध में मिल ने लिखा :

"कई जमीन्दारियों के आन्तरिक शासन का भार उनके सामन्त सरदारों को सौंपा गया; लेकिन उन्हें प्रतिवर्ष थोड़ा सा कर देना होता था, अपने जिलों के अन्दर लूट मार और हत्या बन्द रखनी पड़ती थी तथा सभी ब्रिटिश राज्यों से भगे लोगों और अपराधियों को ब्रिटिश अधिकारियों के हाथ सौंप देना पड़ता था। प्रान्त के अन्य भागों में बंगाल सरकार के न्याय और राजस्व सम्बन्धी नियम लागू थे। इस हालत को सामन्त सरदार और जनता-दोनों ही कतई पसन्द न करते थे। सामन्त सरदार उन शर्तों से अपनी बेइज्जती समझते थे जो उन्हें न्यायालय और पुलिस के प्रति जिम्मेदार बनाती थीं। जो कर उन्हें देना पड़ता था, वह उनके सीमित साधनों पर बड़ा भारी बोझ था और उन्हें अपनी प्रजा पर ऐसे कर लगाने को, जिन्हें देने की उसे कभी भी आदत न थी, या परदेशियों को जमीन देने को बाध्य करता।

---

१. शशिभूषण चौधरी, वही, पृ० ६७

ब्रिटिश सरकार की मांगों को पूरा करने के लिए इन दोनों कामों को वे जरूरी बताते और अपनी कार्रवाइयों का सारा दोष उसी (ब्रिटिश सरकार) पर लादते। यह भी असंभव नहीं कि छोटे-छोटे देशी राजस्व और पुलिस अफसरों का बलपूर्वक वसूल करने का उदण्ड व्यवहार कोलों का असंतोष बढ़ाने में सहायक हुआ हो। उनका क्रोध और भय इन रिपोर्टों से, जिन्हें सामन्त सरदारों ने बड़ी मेहनत से फैलाया था, भड़क उठा था कि ब्रिटिश सरकार का इरादा उन्हें उन जमीनों से जिन्हें वे जोतते-बोते थे, निकाल बाहर करने का और नये आकर बसनेवालों को सौंप देने का है जिनके प्रति उनमें द्वेष और घृणा की भावना पहले से ही काम करती थी। इन तथा अन्य उत्तेजना फैलाने वाले कारणों से, जिनका सही रूप सुनिश्चित न किया जा सका और जिसे संभवतः खुद कोल भी न जानते थे, एक प्रायः सर्वव्यापी विद्रोह हुआ,.. .. ..।"[१]

कोलों में बहुत दिनों से असंतोष का एक प्रमाण १८२९ में संभलपुर की अशान्ति है। इस अशान्ति का मुख्य कारण खेती करने वालों और राजा के बीच झगड़ा था। रामगढ़ बटालियन के सेनाध्यक्ष ने बीच-बचाव कर कोलों को शान्त कर दिया, लेकिन १८३० के अन्त में फिर यह झगड़ा चल पड़ा। संभलपुर के कई मुण्डों ने यह शिकायत की कि मराठों से लड़ने में उनकी जो जमीन हाथ से निकल गयी थी उसे वापस करने का वादा स्थानीय सरकार ने पूरा नहीं किया।

इसके साथ जो रानी राज कर रही थी, उसके अधिकार को लेकर भी प्रश्न खड़ा हो गया और कितने ही उसके दावेदार बन गये। रानी ने अपने सम्बन्धियों के साथ पक्षपात दिखाया था और अपने पति के समय के राजकर्मचारियों को निकाल दिया था। इसलिए वह अपनी रियाया में ही अप्रिय हो गयी थी। रानी का चाचा प्रधान मंत्री था। वह आम पब्लिक से टैक्स इतनी कड़ाई से वसूल करता था कि लोग उसके नाम पर थूकते थे।

अन्त में असंतुष्ट रियाया ने हथियार उठाये। वे बड़ी संख्या में जमा हुए और राजधानी पर खतरा पैदा कर दिया। गनीमत हुई कि अंगरेज सरकार के प्रतिनिधि ने दखल दिया। वार्तालाप आरंभ हुआ और जमीनें पुराने मालिकों को अर्थात् कोलों को वापस दे दी गयीं। मंत्री को बरखास्त कर दिया गया। कंपनी अपनी सेना संभलपुर ले आयी और अन्त में रानी को पेंशन देकर हटा दिया गया। गत राजा का दूर का सम्बन्धी नारायण सिंह नया राजा बनाया गया।

इस तरह कोलों के बीच असंतोष तो बहुत दिनों से काम कर रहा था, लेकिन उसका फौरी कारण गैरआदिवासियों द्वारा जमीन के अलावा उनकी स्त्रियों को भी छीन लेना था। इस सम्बन्ध में ओ मैली ने बंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर में लिखा :

"१८३१ में 'हो' छोटानागपुर के मुण्डा विद्रोह में (जिसे साधारणतः कोल विद्रोह

---

१. विल्सन, मिल्स हिस्ट्री आफ इंडिया, खण्ड ३, पृ० ३३४-५

कहा जाता है) शामिल हुए। मुण्डों के अन्दर बहुत दिनों से असंतोष की आग सुलग रही थी जिसका कारण उनके मुखियों को दबाकर उनके गाँवों को विदेशी फारमरों को सौंप देने का ढंग था। इस विस्फोट का कारण वस्तुतः सिंहभूम के और उसके उत्तर के निवासी मुण्डों के साथ किया गया व्यवहार था।"[1]

यह व्यवहार क्या था ? छोटानागपुर के महाराजा के भाई हरनाथ साही ने अपनी जमींदारी के कुछ गाँवों की खेती की जमीन पुश्त दर पुश्त खेती करने वाले आदिवासियों से छीन कर अपने प्रिय पात्र कुछ मुसलमानों, सिखों आदि को सौंप दी। सिंहभूमि की सीमा के पास बारह गाँव सिंगराय नामक 'मानकी' के थे। ये उनसे छीन कर सिखों को दिये गये। 'मानकी' के सिर्फ गाँव ही नहीं छीने गये, उसकी दो बहनें भी छीन ली गयीं। सिखों ने उनके साथ बलात्कार किया। यही शिकायत मुसलमान फारमरों के भी खिलाफ थी। जफर अली नामक एक फारमर ने सिंहभूमि के बाँदगाँव के मुण्डा सुर्गा पर बड़ा अत्याचार किया। साथ ही उनकी पत्नी को उठा ले गया और उसकी इज्जत लूटी। परदेशियों के इन व्यवहारों ने आग में घी का काम कर दिया।

इस तरह अपमानित और उत्पीड़ित सिंगराय तथा सुर्गा ने बाँदगाँव तथा पास के राँची के जुड़े अंचल के सब मुण्डा लोगों की सभा बुलायी। सभा ने इन परदेशियों और उनके संरक्षकों को नेस्तनाबूद कर देने का फैसला किया। कुछ सप्ताह बाद ७०० आदमियों ने सुर्गा और सिंगराय के नेतृत्व में उन गाँवों पर हमला किया जो सिंगराय से छीन लिये गये थे। गाँव लूट लिये गये और जलाकर खाक कर दिये गये। दूसरे महीने में जफर अली के गाँव पर हमला किया गया जो सुर्गा की पत्नी को उठा ले गया था। सारा गाँव ध्वंस कर दिया गया और जफर अली, उसके दस आदमियों तथा उक्त अभागिन औरत को भी मार डाला गया।[2]

राँची और सिंहभूम जिलों के मुण्डे सब एक साथ विद्रोह के मैदान में कूद पड़े। सिंहभूम के हो इन विद्रोहियों के साथ आ मिले और विद्रोहियों में सबसे संगठित और लड़ाकू साबित हुए। यह विद्रोह जंगल की आग की तरह तेजी से सारे वर्तमान राँची जिले में और हजारीबाग, पलामू के टोरी परगने तथा मानभूम के पच्छिम हिस्से में फैल गया।[3]

विद्रोही गाँव गाँव जाते और जो भी गैर आदिवासी मिलते, उन्हें मौत के घाट उतारते, उनके घरों को लूट कर जला देते। अनुमान लगाया गया कि इस तरह ८०८ से १००० आदमी तक या तो मारे गये या घर में जल कर मर गये। इन हमलों के बाद विद्रोहियों ने उन जमींदारों पर भी हमले किये जो बड़ी बेरहमी से किसानों को चूसा करते थे।[4] कुछ जमीन्दारों ने भी अपने प्रतिद्वन्द्वियों के खिलाफ उनका इस्तेमाल किया।

कोलों का यह विद्रोह छोटानागपुर के जमीन्दारों के खिलाफ था। इसके शिकार

---

१. एल० एस० एस० ओ' मैली, बंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, सिंहभूमि, सरायकेला एण्ड खरसवान, पृ० ३५

२. उपरोक्त गजेटियर्स, पृ० ३६ ३. विल्सन, वहीं, पृ० ३३५ ४. उपरोक्त, पृ० ३३५

पहले वे गैरआदिवासी हुए जिन्होंने जमीन्दारों से सांठ गाँठ कर आदिवासियों की जमीन छीनी थी। इसके शिकार बड़े अत्याचारी जमीन्दार भी हुए।

जमीन्दारों और किसानों के बीच इस संग्राम में दखल देने का कोई भी अधिकार अंगरेजों को न था। जमीन्दारों के साथ उनकी कोई संधि भी न थी जिससे वे किसानों से उनकी रक्षा के लिए दौड़े आते। लेकिन फिर भी वे जमीन्दारों की मदद के लिए दौड़े आये इसलिए कि इसमें उनका विशुद्ध स्वार्थ था। उन्हें डर था कि जो किसान विद्रोह छोटानागपुर की जमीन्दारियों में शुरू हुआ है, वह ब्रिटिश राज्य में और नागपुर के राजा के राज में न फैल जाय।

> "यद्यपि ब्रिटिश सरकार एक दूसरे के खिलाफ या प्रजा के खिलाफ लड़ने वाले छोटा-नागपुर के जमीन्दारों की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य न समझती थी फिर भी उसकी विशुद्ध स्वार्थ नीति ने हस्तक्षेप करना जरूरी समझा, क्योंकि निर्भरशील सामन्त सरदारों की जमीन्दारियों में जो विद्रोह चल रहा था उसे उनकी सीमाओं के अन्दर ही सीमित रखना असंभव था। एक तरफ ब्रिटिश जिलों में और दूसरी तरफ नागपुर के राजा के जिलों में उसके फैल जाने का खतरा था।"[1]

सिंहभूम के राजा अचेतसिंह के विषय में कंपनी सरकार को सन्देह था कि वे कोलों को भड़का रहे हैं और अपने पड़ोसी खरसवान के राजा के विरुद्ध उन्हें खड़ा कर अपना उल्लू सीधा करना चाह रहे हैं। इससे कंपनी सरकार ने उन्हें सूचित किया कि अगर वे अपने राज्य की सीमा के अन्दर शान्ति बनाये रखने में नाकाम हुए और पड़ोस के जिलों पर हमला करवाने से बाज न आये, तो उनके राज्य की शासनव्यवस्था वह अपने हाथ में लेगी। इसके साथ ही बड़ी भारी सेना कोल विद्रोह का दमन करने भेजी गयी।

उस वक्त स्थानीय सेनाओं में सिर्फ रामगढ़ बटालियन नजदीक थी। वह हजारी-बाग की छावनी में थी। यह बटालियन तुरत रवाना की गयी। इसकी मदद के लिए फौरन बनारस, बैरकपुर और दानापुर से फौजें बुलायी गयीं। ५० वीं बंगाल पैदल सेना गोरखपुर से मार्च करते हुए कलकत्ता जा रही थी। उसे भी इसकी मदद के लिए भेजा गया। जमीन्दारों ने अपनी-अपनी सेना इस किसान विद्रोह को दबाने भेजी। इस तरह विथुरिया में कैप्टेन विलियमसन के नेतृत्व में काफी बड़ी सेना जमा की गयी। वह विद्रोहियों का दमन करने के लिए विभिन्न दिशाओं में चल पड़ी। इस सेना में पैदल और घुड़सवार थे, बन्दूकें और तोपें थीं, जबकि विद्रोहियों के पास सिर्फ धनुष-तीर थे, फरसे थे और किसी किसी के पास देशी बन्दूक।

विद्रोहियों ने इस ब्रिटिश सेना का मुकाबिला दो महीने तक किया। सेना कोलों के गाँव जाती, उन्हें घेर कर उनके नेताओं को गिरफ्तार करती और उनकी झोपड़ियों में आग लगा देती। कहीं कहीं तो कोल हजारों की तादाद में अंगरेजों की सेना का मुका-बिला करने आये, लेकिन वे गोली-गोलों की बौछार के सामने कैसे टिकते? उनके तीर

१. विल्सन, वही, पृ० ११६

कुछ सैनिकों को हताहत करने में सफल अवश्य हुए। अंगरेज इतिहासकारों के अनुसार कंपनी सेना के १६ आदमी मारे गये थे और ४४ आदमी घायल हुए। तीरों के घाव से मारा जाने वाला एन साइन मैकलायड भी था।[1]

मारे जाने वाले विद्रोहियों की संख्या बहुत बड़ी थी। इनमें विद्रोहियों के एक प्रमुख नेता बुद्धो भगत थे। उनके गाँव सिलागाँव को ५० वीं देशी पल्टन के एक दस्ते और तीसरे रिसाले की एक टुकड़ी ने जा घेरा। बुद्धो भगत गाँवों के कोलों को लेकर सेना से भिड़ गये। इस युद्ध में भगत, उनके बेटे और भतीजे तथा १५० अनुयायी मारे गये।[2]

इसी तरह आदिवासियों के गाँव घेरे गये, जलाये गये और उनके निवासियों को कत्ल किया गया। एक अंगरेज ने ही अनुमान लगा कर लिखा कि कोल विद्रोह को कुचलने में लगभग ५,००० वर्गमील भूमि बीरान कर दी गयी।[3] दो महीने के कठोर दमन के बाद यह विद्रोह शान्त किया जा सका। बहुत से कैद विद्रोहियों के 'अपराध' पर विचार करने के लिए एक स्पेशल कमीशन बैठाया गया जिसने हिंसावश बहुत से लोगों को मौत की सजा दी। बाद में बहुतों की सजा बदल दी गयी और बहुतों को माफ कर रिहा कर दिया गया।

विद्रोहियों के नेता सुर्गा और सिंगराय के भाई अन्त तक लड़ते रहे। उन्होंने मार्च १८३२ में आत्मसमर्पण किया। सिंहभूम के 'हो' भी अपना मोर्चा लगाये रहे। न तो वे जमीन्दारों को मानते थे और न एक पाई कर देते थे। अंगरेज जल्दी ही निष्कर्ष पर पहुँच गये कि 'हो' आदिवासियों को और लड़ाके कोलों को पोराहाट के जमीन्दार के मातहत नहीं किया जा सकता। उन्होंने उनकी पूरी ताकत नष्ट कर उन्हें सीधे अपने नियंत्रण में लाने का फैसला किया। नवम्बर १८३६ में उन्होंने 'हो' लोगों के विरुद्ध फौजी कार्रवाई शुरू की और फरवरी १८३७ तक कर्नल रिचार्ड ने उन्हें घुटने टेकने को बाध्य किया। इस बार कंपनी ने उन्हें पोराहाट के जमीन्दारों के हाथ में न देकर सीधे अपने हाथ में लिया। पोराहाट, सरायकेला और खरसवान के राजाओं के हाथ से २३ 'पीर' लेकर और उनमें मयूरभंज से लिये गये ४'पीर' जोड़ कर कोलों के अलग अंचल 'कोलहान' की स्थापना की और उसे एक अंगरेज अफसर के सिपुर्द किया जिसका सदर दफ्तर चायबासा बना। इसमें कुल ६२० गाँव थे जिनमें से दो तिहाई गाँव 'लड़ाका कोल' यानी 'हो' लोगों के थे।

कोलहान में भी अंगरेज शासकों ने राजस्व दूना तिगुना कर अपना नफा बढ़ाने की कोशिश की। १८३७ में इसके ६२२ गाँवों का राजस्व आठ आने प्रति हल की दर से ५, १०८ रुपया निर्धारित किया गया था। १८५५ में कंपनी सरकार ने प्रति हल पीछे दर दूनी कर दी और १७, ४४८ रु० का खरा राजस्व वसूल किया। इससे असंतोष बढ़ता गया जिसका परिणाम हुआ कि १८५७ में राष्ट्रीय महाविद्रोह के समय चायबासा के आस पास के हो आदिवासियों ने ब्रिटिश हुकूमत को उखाड़ फेंकने की भरपूर कोशिश की।

१. विल्सन, वही, पृ० ११७ २. उपरोक्त, पृ० ११७

३. शोर, नोट्स, खण्ड २, पृ० १७-१८; शशिभूषण चौधरी, वही, पृ० १००

अध्याय ५१

गंगा नारायण का हंगामा

(१८३२)

"लगता है कि इस समय वीरभूम में ऋणी और ऋणदाता के कानून के प्रयोग के खिलाफ असंतोष पूरे उभार पर था, ऋण के लिए पुश्तैनी जमीन के विक्रय पर खास कर इतराज किया जाता था और उसे आदिवासी भूमि प्रथा के बिल्कुल विरुद्ध माना जाता था। कर्ज और उसके परिणाम सिर्फ किसानों तक ही सीमित न थे, बल्कि हमें बताया जाता है कि प्राय: सभी जमीन्दार, गुजारा या अन्य अनुदान पाने वाले उनके परिवार के सदस्य, घटवाल सरदार और बड़े-बड़े बीच के जमीन मालिक आम तौर पर परेशानी की हालत में थे। आम तौर पर अदूरदर्शिता जैसे नियम बन गयी थी और इस समय बहुत सी जमीन कमोवेश स्थायी रूप से बाहर के साहूकारों के हाथ में पहुँच गयी थी। ज्येष्ठ सन्तान के उत्तराधिकार पाने का नियम बड़ी-बड़ी जमीन्दारियों को नाम मात्र के लिए अविभाज्य बनाये हुए था ; व्यावहारिकता में गुजारा देकर परिवारों के सदस्यों के खानपान की व्यवस्था करने की जरूरत जमीन्दार पर सदैव बढ़ता बोझ लादती थी और सदैव नगद आय के साधनों को कम करती रहती थी तथा उसे दिन पर दिन ज्यादा साहूकारों पर निर्भर बनाती थी। अतः इन सब लोगों के लिए गंगा नारायण का विद्रोह अपनी कुछ सम्पत्ति वापस पाने का सुअवसर मालूम हुआ। अपनी जमीन्दारी के विक्रय के बारे में पंचेत के जमीन्दार की सफल आपत्ति की याद अब भी बनी हुई थी, और आमतौर पर यह धारणा थी कि अगर विद्रोह सफल हुआ तो कमरतोड़ कर्ज आम तौर पर खत्म कर दिये जायेंगे।"[१]

गंगा नारायण के विद्रोह का दमन करने वाले डेन्ट ने इस विद्रोह के सम्बन्ध में जो रिपोर्ट कंपनी सरकार को दी, उपर्युक्त उद्धरण उसमें बताये गये विद्रोह के कारण का सार है। इसमें एक प्रधान कारण शामिल नहीं किया। वह यह कि कंपनी सरकार ने खुद इन जमीन्दारों पर इतना राजस्व लाद दिया था कि उसे चुका कर परिवार का भरण-पोषण किसानों तथा छोटे-बड़े जमीन्दारों के लिए मुश्किल हो रहा था। सभी बाहर के साहूकारों के कर्ज के बोझ से दबे थे। सभी इस हालत को समाप्त करना चाहते थे। इसीलिए गंगा नारायण का विद्रोह, जिसे अंगरेजों ने अक्सर 'हंगामा' कहा है, जोर पकड़ सका, जन समर्थन प्राप्त कर सका।

गंगा नारायण के इस विद्रोह की पृष्ठभूमि क्या है? मानभूम में बड़ा भूम है। १८वीं सदी में इसके राजा बेलाक नारायण[२] मरे तो उनके दो पुत्रों-रघुनाथ तथा लक्ष्मण

---

१. बंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, (मानभूम), पृ० ६४-५

२. उपरोक्त गजेटियर, पृ० ६२

सिंह में उत्तराधिकार का झगड़ा चल पड़ा। लक्ष्मण सिंह उम्र में रघुनाथ से छोटे थे, पर बड़ी रानी के पुत्र थे और इसलिए गद्दी के दावेदार थे। कंपनी सरकार ने रघुनाथ का पक्ष लिया, उसकी सेना ने लक्ष्मण सिंह को मार भगाया और बाद में पकड़ कर मेदनीपुर जेल में बन्द कर दिया जहाँ उनकी मृत्यु हुई। १७९८ में रघुनाथ की मृत्यु होने पर ठीक वैसा ही झगड़ा उनके दो पुत्रों-गंगा गोविन्द सिंह और माधव सिंह में चला। सदर दीवानी अदालत ने फैसला गंगा गोविन्द सिंह के पक्ष में दिया। माधव सिंह ने झगड़ा मिटा लिया और गंगा गोविन्द सिंह के दीवान बने।[1]

माधव सिंह की गिद्ध-दृष्टि गंगा नारायण की जागीर पर भी गयी जो लक्ष्मण हिंस के पुत्र थे। राजधानी बड़ाबाजार से निकाले जाने के बाद और गिरफ्तारी के पहले उन्हें गुजारे के लिए 'पाँच सरदारी' दी गयी थी। यह सबसे बड़ी 'घटवाली तरफ' अर्थात् पहाड़ियों के घाटों (रास्तों) के रक्षकों को दी जानेवाली जागीर थी। गंगा नारायण अपने पिता की इस जागीर का भोग कर रहे थे। माधव ने यह जागीर छीन ली।

दीवान के रूप में माधव बहुत ही बदनाम हो गया। उसने घाटों के रक्षकों पर अतिरिक्त कर लगा दिये। उसने सारे राज्य में घरों पर टैक्स लगा दिये जिसे 'घर टकी' कहते थे। इसके अलावा वह बड़ा भारी सूदखोर साहूकार भी था। वह बहुत ही ज्यादा व्याज लेता, वसूल करने में बड़ी सख्ती करता और राज्य में अपने प्रभाव तथा अदालत का इस्तेमाल अपने पक्ष में करता। उसके चंगुल में जो एक बार फँसता, फिर कभी न निकल पाता।

इन सब अत्याचारों का दण्ड भी उसे जल्द ही भोगना पड़ा। २ अप्रेल १८३२ को गंगा नारायण सिंह ने पाँच सरदारी और सत्रखानी के घटवालों की बड़ी सेना लेकर माधव पर आक्रमण किया। उसे वे बामनी के पास की पहाड़ी में उठा ले गये और वहाँ मौत के घाट उतार दिया। पहला वार गंगा नारायण ने किया और फिर सब घटवालों ने माधव को एक एक तीर मारा। इस तरह सब लोगों ने प्रमाण दिया कि वे सभी इस घृणित व्यक्ति को अपना दुश्मन मानते हैं।

इसके बाद घटवालों की बड़ी सेना लेकर वे सारी रियासत पर कब्जा करने और कर वसूल करने चले। १ मई १८३२ को उन्होंने बड़ा बाजार पर चढ़ाई की। कचहरी के मुंसिफ को माधव का पक्षपात करने के जुर्म में मृत्यु दंड दे दिया और बाजार लूट लिया। जमीन्दार गंगा गोबिन्द सिंह ने अपने महल पर आक्रमण का खतरा देख गंगा नारायण सिंह की सारी मांगें मान लीं। उसने उनके गुजारे (खोरपोश) के लिए 'तरफ पंच सरदारी' वापस दे दी।

दूसरे दिन गंगा नारायण ने फिर बड़ा बाजार पर चढ़ाई की, मुंसिफ की कचहरी, नमक के दारोगा की कचहरी और पुलिस का थाना जला दिया। १४ मई १८३२ को उन्होंने ३,००० चोआड़ों की सेना लेकर मजिस्ट्रेट रसेल के साथ के सैनिकों पर हमला किया। ४, ५ और ६ जून १८३२ को बामनी की तरफ जाने वाली कंपनी की सेना पर

---

१. उपरोक्त गजेटियर, पृ० ६२

हमला किया। इन हमलोंसे जमीन्दारों और कंपनी की सेना में इतना डर फैल गया कि सब के सब भाग कर बाँकुड़ा चले गये। गंगानारायण सिंह बड़ाभूम के एकक्षत्र राजा बन गये।

बरसात आ जाने और किसानों के कृषि कार्यों में व्यस्त रहने के कारण एक डेढ़ महीने शान्ति दीख पड़ी। ज्योंहीं अगस्त में धान रोपना समाप्त हो गया, गंगानारायण ने फिर अपने समर्थकों को इकट्ठा किया और अकरो, अम्बिका नगर, रायपुर, श्यामसुन्दर पुर और फूलकुसुम की रियासतों को लूट लिया। इन सब स्थानों के, सीलदह (मेदिनीपुर के पास) और कैलापाल के भूमिजों में से अधिकांश विद्रोह में शामिल हुए।

नवम्बर १८३२ के अन्त में रायपुर से ३४ वीं देशी पल्टन आयी। गंगा नारायण इस बीच बड़ाभूम में न थे। धलभूम में उन्होंने राजा को डोंगपाड़ा के घटवाल के स्थान पर अपने आदमी को नियुक्त करने को बाध्य किया। वे पहले धलभूम से होकर ढाडकर गये और बाद में बड़ी डीह। यहाँ से उन्होंने गोकुल नगर और पंचा पर चढ़ाई की। वे पंचेत के अंचल में भी घुस गये होते, लेकिन तभी ईस्ट इंडिया कंपनी की सेना और बरकन्दाज ब्रैडन और लेफ्टिनेन्ट ट्रिमर के नेतृत्व में आ पहुँचे। पुरुलिया से कुछ मील दक्षिण चाकुलतोर में गंगा नारायण ने उन पर हमला किया, लेकिन कंपनी की सेना इस हमले को रोकने में सफल रही।

ब्रैडन की सेना अब बड़ा बाजार पर कब्जा करने चली। बलरामपुर में एक थाना कायम किया गया और उत्तर की तरफ गंगा नारायण के हमलों का रास्ता बन्द कर दिया गया। नवम्बर में ही डेन्ट ने चाकुलतोर का भार संभाला। उसने गंगा नारायण और लगभग दस अन्य प्रमख नेताओं को छोड़ कर बाकी सब को माफ कर देने का एलान किया और हथियार रख देने को कहा, लेकिन इसे किसी ने स्वीकार न किया।

१६ नवम्बर १८३२ को डेन्ट ने एक साथ बांधडीह पर, जो गंगा नारायण का गढ़ था, और बारूडीह तथा भाओनी पर, जो अन्य विद्रोही नेताओं के गढ़ थे, हमला किया।[1] इन हमलों में उसे विद्रोहियों को हराने में सफलता मिली। दिसम्बर में डेन्ट ने बड़ी सेना इकट्ठा की और छोटे-छोटे दस्तों में बाँट कर पहाड़ी अंचल में हर तरफ भेजा ताकि गंगा नारायण की बची खुची सेना नष्ट की जा सके।

इसी बीच गंगा नारायण अपने अनुयायियों के साथ सिंहभूम चले गये। उन्होंने 'लड़का' कोलों (हो) को अपने साथ मिलाने की कोशिश की। उस वक्त हो लोगों के साथ खरसवान के ठाकुर का झगड़ा चल रहा था। हो गंगा नारायण का साथ देने को तैयार थे, पर उन्होंने वादा करने के पहले कहा कि गंगा नारायण पहले उनका पक्ष लेकर खरसवान के ठाकुर से लड़ें और नेतृत्व करने की अपनी शक्ति का प्रमाण दें।[2] ठाकुर के किले पर आक्रमण में गंगा नारायण मारे गये। ठाकुर ने उनका सर काट कर अंगरेज अधिकारी कैप्टेन विलिकेन्सन के पास भेज दिया। गंगा नारायण की मृत्यु के बाद यह विद्रोह जल्दी ही ठंडा पड़ गया।

---

१. उपरोक्त गजेटियर, पृ० ६४

२. बंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, सिंहभूम, सरायकेला एण्ड खरसवान, पृ० ३७

अध्याय ५२

कुर्गियों का मोर्चा

(१८३३-३४)

"राजा के आचरण ने उन्हें ब्रिटिश सरकार की मैत्री और संरक्षण के अयोग्य बना दिया है। वे अपनी प्रजा के प्रति उत्पीड़न और निर्दयता के अपराधी रहे हैं। उन्होंने ब्रिटिश सरकार के प्रति चुनौती तथा शत्रुता का रुख अपनाया है, उसके घोषित शत्रुओं का स्वागत किया है और उन्हें बढ़ावा दिया है। उन्होंने फोर्ट सेन्ट जार्ज (मद्रास) की सरकार और बड़े लाट के पास सर्वाधिक अपमान-जनक शब्दों से भरे पत्र लिखे हैं और कंपनी के एक पुराने तथा विश्वासी सेवक को, जिसे मैसूर के कमिश्नर ने मैत्रीपूर्ण समझौते का वर्तालाप आरंभ करने को भेजा था, पकड़ कर रखा है। इन सब अपराधों के लिए वीर राजेन्द्र को अब कुर्ग का राजा नहीं माना जा सकता। उन पर एक सेना चढ़ाई करने वाली है जो सभी शान्ति प्रिय लोगों के जान-माल की रक्षा करेगी। ऐसी सरकार की स्थापना की जायगी जो अवाम को खुशहाल बनाने के लिए सबसे उपयुक्त समझी जायगी।"[1]

कुर्ग पर आक्रमण आरंभ करने के पहले अंगरेज शासकों ने यह घोषणा १ अप्रेल १८३४ को निकाली थी। यह घोषणा राजा को अत्याचारी और क्रूर बताने के साथ यह स्वीकार करती है कि वह ब्रिटिश शासकों का विरोधी था, उनको शत्रु समझता था और जो अंगरेजों से लड़ते थे, उनसे दोस्ती करता था, उन्हें आश्रय देता था। वह छोटे, बड़े लाट को भी कड़वी बातें सुनाने से बाज न आता था। अंगरेज शासकों ने मुख्यतः इसी कारण कुर्ग पर हमला किया और राजा को हटा कर कुर्ग को ब्रिटिश राज का अंग बना लिया। लेकिन वे यह कुर्गवासियों के विरोध के बिना नहीं कर सके। कंपनी सरकार की सेना को काफी लोहे के चने चबाने पड़े।

वीर राजा १८२० में अपने पिता लिंग राजा की मृत्यु के बाद बीस साल की आयु में कुर्ग के राजा बने। अंगरेज इतिहासकार लिखते हैं कि वे बड़े ही कठोर, क्रूर, रक्त पिपासु और विलासी थे। उनके सर पर जब पागलपन सवार होता था, तब सिर्फ राज्य के अधिकारियों को ही नहीं, उनके घनिष्ठ सम्बन्धियों और राजमहल में रहने वालों को भी बिना वजह मौत के घाट उतार दिया जाता था। पर वे एक भी उदाहरण पेश नहीं करते जहां राजा के इन अत्याचारों के कारण प्रजा ने विद्रोह किया हो। मैसूर के राजा ने जब अत्याचार किया था तो प्रजा हथियार लेकर उसके और उसके संरक्षक अंगरेज शासकों के खिलाफ उठ खड़ी हुई थी। अंगरेज शासक अत्याचारी राजा का पक्ष लेकर विद्रोह

१. विल्सन, वही, पृ० ३५१-२

को दबाने गये थे। लेकिन कुर्ग में उल्टी बात देखी जाती है। अंगरेज जिस 'अत्याचारी' राजा को गद्दी से उतार कर राज्य हड़पने जाते हैं, कुर्गवासी उसी राजा का पक्ष लेते हैं और अंगरेज सेना का मुकाबिला करते हैं। खुद अंगरेज इतिहासकारों को स्वीकार करना पड़ता है कि

"अपनी प्रजा में राजा को जितना अप्रिय दिखाया गया था, उससे वह कम अप्रिय था।"[१]

राजा अत्याचारी था, क्रूर था, लेकिन किसके प्रति? अंगरेज इतिहासकार यही बताते हैं कि वह जिस किसी भी राज्य अधिकारी और सगे-सम्बन्धी को मरवा देता था या खुद मार डालता था। किन्तु मिल, विल्सन, थार्नटन जैसे अंगरेज इतिहासकार प्रजा पर उसके अत्याचार की कोई भी बात नहीं कहते। इंपीरियल गजेटियर आफ इंडिया में भी उसके साधारण प्रजा पर अत्याचार की कोई बात नहीं कही जाती। इससे क्या सिद्ध होता है? यही कि वह जिन राज्य अधिकारियों या सम्बन्धियों को अपने विरुद्ध जाते देखता था, जिन्हें अपनी इच्छा की पूर्ति में बाधक समझता, उनके प्रति वह क्रूरता का बर्ताव करता। कुर्ग राज्य का इतिहास बताता है कि राजा के खिलाफ षड़यंत्र चलना बिल्कुल स्वाभाविक था।

उसका सबसे बड़ा अपराध यह न था कि वह क्रूर, रक्तपिपासु और दुराचारी था। अगर वह अंगरेजों के प्रति वफादार होता तो ये सब अपराध क्षम्य थे। उसका सबसे बड़ा अपराध यह था कि वह अंगरेज विरोधी था, उसने अंगरेजों को मार भगाने की योजना में मैसूर के राजा को भी मिलाने की कोशिश की थी। जिनलोगों ने मैसूर विद्रोह में अंगरेजों के खिलाफ लड़ाई की थी, उसने उन्हें अपने यहाँ आश्रय दिया था। यही नहीं, उसने देशी पल्टनों को अंगरेजों के खिलाफ भड़काने और बंगलोर के किले पर अधिकार करने की कोशिश की थी। अंगरेज इतिहासकार मिल इसे स्वीकार करते हैं। वे लिखते हैं:

> "इस बात का भी सन्देह करने का कारण था कि राजा ने मैसूर के राजा के साथ गुप्त पत्रव्यवहार कर उसे ब्रिटिश सरकार का मुकाबिला करने के लिए भड़काने की कोशिश की थी और अपने दूत भेज कर बंगलोर की देशी सेना को विद्रोही बनाने की चेष्टा की थी। इसीका परिणाम था कि कुछ जाँबाजों और असंतुष्ट व्यक्तियों ने बंगलोर के किले पर कब्जा करने, अपने यूरोपीय अफसरों को मार डालने तथा कंपनी की सरकार समाप्त कर देने का षड़यंत्र किया था। अपने मालिकों के प्रति वफादार कुछ सिपाहियों ने यह षड़यंत्र अधिकारियों को बता दिया और अपराधियों को अपने अपराध का उचित दण्ड भोगना पड़ा।"[२]

मिलने उपरोक्त बातें १८ दिसम्बर १८३२ के मद्रास के प्रधान सेनापति के आम फरमान के आधार पर लिखीं।

---

१. होरेस हेमैन विल्सन, वही, पृ० ३५८

२. विल्सन, मिल्स हिस्ट्री आफ इंडिया, खण्ड ३, पृ० ३५१

अंगरेजों के साथ विरोध के कारण ही इस राजा ने कड़ा हुक्म जारी किया था कि कि उसके राज्य का कोई भी व्यक्ति उसके हुक्म के बिना ब्रिटिश राज्य या मैसूर के साथ सम्बन्ध न रखे, न तो वहाँ जाय और न किसी को वहाँ से अपने यहाँ आने दे। जो भी उसके हुक्म के बिना ऐसा करेगा, उसे मृत्य दण्ड दिया जायगा। पर हाँ, उन परदेशियों के भी सीमा पार आने-जाने में कोई रुकावट न थी जो ब्रिटिश सरकार के विरोधी थे।

"उसने अंगरेजों के खिलाफ बहुत दिनों से बहुत ही बड़ी कटुता पाल पोस रखी थी और ब्रिटिश भूमि या मैसूर के साथ सारे सम्बन्ध और आवागमन पर कड़ाई से रोक लगा दी थी। किसी को भी कुर्ग छोड़ कर जाने की इजाजत न थी, जो जाने की कोशिश करता उसे मत्य दण्ड दिया जाता। और किसी भी परदेशी को सीमा पार करने की इजाजत न थी सिर्फ उनलोगों को छोड़ कर जो नगर के विद्रोही पाड़घगारों की तरह ब्रिटिश सरकार के विरोधियों में अपना नाम लिखा चुके थे।"[1]

ऐसी हालत में उसकी बहन देवम्मा और बहनोई चेन्ना बासव कुर्ग से भाग कर मैसूर गये और वहाँ के ब्रिटिश रेजीडेन्स कस्समेजर से अपनी रक्षा की प्रार्थना की। राजा इन दोनों को प्राण दण्ड देना चाहता था। अंगरेज इतिहासकार थार्नटन लिखता है कि राजा अपनी बहन के साथ ही दुराचार करना चाहता था। विरोध करने पर वह पति समेत उसे मृत्यु दण्ड देने की धमकी दे चुका था।[2] अवश्य ही मिल[3] और इंपीरियल गजेटियर[4] उनके पलायन के कारण के बारे में चुप है। थार्नटन के उपरोक्त कथन में कितनी सच्चाई है, यह बात अंगरेज शासकों की ईमानदारी जाने।

ब्रिटिश सरकार ने उन दोनों को संरक्षण दिया। उन्हें तो कुर्ग हड़पने का एक हथियार मिला। राजा ने मांग की कि वे दोनों उसके हाथ सौप दिये जायँ, लेकिन कंपनी सरकार ने ऐसा करने से इन्कार किया। राजा ने यह हालत पहल से ही ताड़ ली थी और इसलिए अपनी सेना की शक्ति बढ़ाने की भी इसी बीच चेष्टा की थी। यह बात भी कंपनी सरकार की आँखों में काँटे की तरह खटकती थी।

सारी हालत से परिचित होने के लिए कस्समेजर को कुर्ग की राजधानी मधुकैरा (मरकरा) भेजा गया। राजा ने साफ कहा कि उसके राज्य में किसी भी प्रकार का असंतोष नहीं, इसलिए उसे दूर करने के लिए कोई कदम उठाने का सवाल ही नहीं उठता। अपनी सेना बढ़ाने के बारे में उसने साफ कहा कि वह ब्रिटिश राज्य पर कोई आक्रमण करना नहीं चाहता। लेकिन उसे भय है कि खुद ब्रिटिश सरकार उस पर आक्रमण करने जा रही है। इसलिए अपनी रक्षा के लिए उसने अपनी सेना की शक्ति बढ़ाई है।

कस्समेजर फोर्ट सेन्ट जार्ज (मद्रास) के गर्वनर का पत्र राजा के पास ले जाने वाला

---

१. विल्सन, वही, पृ० ३५०

२. एडवर्ड थार्नटन, हिस्ट्री आफ द ब्रिटिश एम्पायर इन इंडिया, खण्ड ५, पृ० २०४

३. विल्सन, वही, पृ० ३५०

४. इंपीरियल गजेटियर आफ इंडिया, मैसूर एण्ड कुर्ग, पृ० २८७

था, लेकिन यह पत्र समय पर न पहुँच सका। कस्समेजर के वापस आने पर यह पत्र अन्य व्यक्ति ने राजा के पास पहुँचाया। राजा ने इस पत्र का उत्तर दिया और उसमें कस्समेजर के व्यवहार की शिकायत की। राजा ने गवर्नर से मांग की कि चेन्न वासव उसके हाथ सौंपा जाय। इस बात की लिखा पढ़ी में गवर्नर ने उल्टे मांग की कि मैसूर के एक विद्रोही पाड़्घगार (किलेदार) को राजा अंगरेजों के हाथ सौंपे। राजा ने इस किलेदार के कुर्ग में आश्रय लेने की बात से इन्कार किया और इतिहासकार थार्नटन स्वीकार करता है कि उक्त किलेदार कुर्ग कभी गया ही नहीं।[1] राजा ने क्रुद्ध होकर ब्रिटिश सरकार के विचित्र व्यवहार की तरफ संकेत किया कि जो व्यक्ति उसके राज्य में नहीं उसे सौंपने की ब्रिटिश सरकार मांग करती है, लेकिन कुर्ग के जो भगोड़े ब्रिटिश राज्य में मौजूद हैं, उन्हें राजा को सौंपने से इन्कार करती है।

सितम्बर १८३३ में कस्समेजर ने लिखा कि राजा के साथ पत्र व्यवहार फौरन बन्द किया जाना चाहिये और उसके खिलाफ कड़ी कार्रवाई की जानी चाहिये। यह लिख कर उसने मैसूर के रेजीडेन्ट के पद से अवकाश ग्रहण किया और उसका पद उसी के सुझाव के अनुसार ग्राअम ने संभाला। ग्राअम राजा को समझाने गया कि उसे इस तरह के पत्र ब्रिटिश अधिकारियों को नही लिखना चाहिए और कस्समेजर की शिकायत नहीं करनी चाहिए। राजा ने बीमारी के बहाने, थार्नटन के कथनानुसार, उससे मिलने से इन्कार कर दिया और इच्छा जाहिर कि उसके अच्छा हो जाने पर बेहतर हो ग्राअम अपने साथ कस्समेजर को ले आयें। ग्राअम वापस बंगलौर आया।

अंगरेज इतिहासकारों के अनुसार अब ग्राअम ने राजा को समझाने-बुझाने के लिए दो आदमी भेजे। इनमें एक था तेलीचेरी का पारसी व्यापारी देव शाह और दूसरा था मालाबार के प्रधान कलक्टर के मातहत काम करने वाला हैमजेरी मेरिअन। वे ग्राअम के प्रतिनिधि के रूप में कुर्ग गये। राजा ने दोनों को गिरफ्तार कर लिया। अंगरेजों शासकों ने उसे धमकाया। उसने कुछ दिन बाद देव शाह को छोड़ दिया, किन्तु हेमजेरी मेरिअन को रोक रखा। उसने कहा कि मेरिअन के खिलाफ षड़यंत्र के आरोप हैं और इसका सम्बन्ध उन लोगों से भी है जो कुर्ग से भाग कर अंगरेजों के संरक्षण में रह रहे हैं। इन आरोपों की जाँच समाप्त हो जाने पर मेरिअन को जाने दिया जायगा।

अब अंगरेज अधिकारियों ने कड़ा कदम उठाया। उन्होंने एक निर्धारित तिथि के अन्दर मेरिअन को रिहा करने की मांग की। बड़े लाट ने खुद राजा को पत्र लिख कर मेरिअन की रिहाई की मांग की और अपने से मिलने के लिए बंगलौर बुलाया। राजा ने इनका कोई उत्तर न दिया। १ अप्रेल १८३४ को अंगरेज अधिकारियों ने वह घोषणा जारी की जिसका उल्लेख अध्याय के आरम्भ में किया जा चुका है। बंगलौर से बड़े लाट ने खुद चार डिवीजन सेना को कुर्ग पर चारों तरफ से चढ़ाई कर देने की आज्ञा दी।

१. थार्नटन, वही, पृ० २०६

यह विशाल सेना २ अप्रैल १८३४ को कुर्ग की तरफ चल पड़ी। उसके साथ लेफ्टिनेन्ट फ्रेजर गया जिसने अब ग्राअम से कार्यभार संभाला था।

पूर्व से जो सेना चली उसका सेनापति कर्नल लिण्डसे था। उसके साथ कंपनी सरकार की ३९ वीं, ३६ वीं और ४८ वीं देशी पल्टन, यूरोपीय तोपखाना (आठ तोपें) और ३२ वां सफरमैना और सुरंगबाज था। इसी डिवीजन के साथ लेफ्टिनेन्ट कर्नल स्टेवार्ट ३९ वीं पल्टन के एक अंश, चौथी और ३५ वीं देशी पल्टन का नेतृत्व कर रहा था। पश्चिम से आक्रमण करने वाली सेना का सेनापति कर्नल फालिस था और उसके साथ ४८ वीं और २० वीं देशी पल्टन, चार तोपों का देशी तोपखाना और सफरमैना तथा सुरंगबाज थे। उत्तर से आक्रमण करने वाली सेना का सेनापति कर्नल वाफ था जिसके साथ ५६ वीं, ९ वीं और ३१ वीं देशी पल्टनें, राइफलधारियों की एक कम्पनी, तोपें, सफरमैना और सुरंगबाज थे। उसकी सहायता के लिए बंगलौर से एक डिवीजन सेना लेफ्टिनेन्ट कर्नल जैकसन के मातहत भेजी गयी जिसमें ४८ वीं पल्टन के दस्ते और ४० वीं देशी पल्टन थी। चौथी सेना वाइनाड रैंजरों की थी जिसके सेनापति कैप्टेन मिचिन थे। यह भी पच्छिम से हमला करने चली।

कुर्ग पर इस आक्रमण के प्रधान सेनापति कर्नल लिंडसे थे। पूर्व से बढ़ने वाली सेना ने २ अप्रैल १८३४ को कावेरी पार की। विद्रोहियों ने इस सेना को रोकना चाहा, पर रोक न सके। ५ अप्रैल को उसने विद्रोहियों को हरा कर आरगी घाट पार किया और ६ अप्रैल को सुबह कुर्ग की राजधानी मधुकैरा (मरकरा) में घुस गयी। राजा को राजधानी छोड़ कर हट जाना पड़ा।

पूर्व से आक्रमण करनेवाली स्टेवार्ट की सेना १ अप्रैल को पेरियापट्टम से चली। विद्रोहियों को हरा कर उसने २ अप्रैल को कावेरी पार की। ३ अप्रैल को वह रास्ते में कड़ा मुकाबिला कर आगे बढ़ी। ५ अप्रैल को वह राजेन्द्र पेट पहुँची। रास्ते में कुर्गियों ने जंगल में छिप कर दोनों तरफ से आक्रमण कर रोकने की असफल चेष्टा की। ६ अप्रैल को वह भी राजधानी पहुँच गयी और लिंडसे की सेना से मिल गयी।

पच्छिम से कर्नल फालिस अपनी सेना लेकर ३० मार्च को कन्नानोर से चला और २ अप्रैल को एक छोटी सी नदी के किनारे आ पहूँचा। विद्रोहियों को नदी पार भगाने में उसे कुछ नुकसान उठाना पड़ा। ४८ वीं पल्टन का लेफ्टिनेन्ट एर्सकिन मारा गया। ३ अप्रैल को उसे विद्रोहियों के बहुत सख्त मुकाबिले का सामना करना पड़ा। जंगल से होकर तंग सड़क जाती थी। विद्रोहियों ने यहीं अपनी मोर्चेबन्दी की थी। पेड़ काट काट कर उन्होंने रास्ता रोक दिया था। यहाँ एक एक फुट सड़क के लिए फिरंगी सेना को विद्रोहियों से लड़ना पड़ा। रात को इस सेना को हुगल घाट की तलहटी में खुले आकाश के नीचे पड़ाव डालना पड़ा। बड़ी मेहनत के बाद ४ अप्रेल को वह हुगल-घाट पार कर सकी। ५ अप्रेल को वह वीर राजेन्द्र पेट पहुँची और कर्नल स्टेवार्ट की सेना से जा मिली। ७ अप्रेल को उसने राजधानी से आठ मील दूरी पर मात्रमूडी में पड़ाव डाला। राजधानी पर कब्जा किये लिंडसे पहले ही से बैठा था।

सबसे ज्यादा नुकसान उत्तर से आक्रमण करने वाली कर्नल वाफ की सेना को उठाना पड़ा। १ अप्रेल को उसने कुर्ग में प्रवेश किया। आरंभ से ही कुर्ग वालों ने उसे नाकों चने चबवाना शुरू किया। उसका रास्ता झाड़ियों से जाता था। इन झाड़ियों में छिप कर विद्रोहियों ने फिरंगी सेना पर कदम कदम पर हमले किये। बड़ी मुश्किल से वाफ २ अप्रेल को रबाता पहुँचा। किसी तरह पेट के बल रेंग कर उसके आदमी एक पहाड़ी की चोटी पर पहुँचे और ऐसा करने में उन्हें काफी नुकसान उठाना पड़ा। कुर्गियों के सेनापति यहाँ कोंगल नायक थे। वे मैसूर के तेरूकेरी के एक विद्रोही पाड्यगार (किलेदार) थे। उनके सेनापतित्व में कुर्गी डट कर लड़ रहे थे।

इस मोर्चे पर कुर्गियों ने फिरंगी सेना को मार भगाना शुरू किया। फिरंगी सेना पीछे हटते हटते बक दर्रे के पास पहुँची। दूसरे दिन वह आगे बढ़ी, चक्करदार रास्ता अपनाकर वह धीरे-धीरे पहाड़ी पर चढ़ने लगी। धीरे-धीरे वह दर्रे की किलबन्दी के पास पहुँची। नीचे के ढाल से लेकर ऊपर चोटी तक यह किलेबन्दी चली गयी थी। यह पेड़ों के कारण छिपी थी। ऊपर की खास किलेबन्दी के सामने खाली जगह थी। इस खाली जगह में ज्योंही दुश्मन पहुँचता विद्रोही अगल-बगल और सामने से गोली बरसा कर भून डालते।

इसलिए इससे बचने के लिए वाफ ने सेना के आगे के हिस्से को दो भागों में बाँटा और उसे दाँये तथा बाँये से होकर आगे बढने और मोर्चेबन्दी पर पीछे से हमला करने को कहा। दोनों हिस्से आगे बढ़े लेकिन जंगल मे घूम फिर कर एक ही जगह सामने आ पहुँचे। इतिहासकार संदेह करते है कि पथ प्रदर्शकों ने जान बूझ कर उन्हें गलत रास्ता बताया था। वे अब किलेबन्दी की तरफ आगे बढ़े। पहले उन्हे आगे बढ़ने दिया गया। ज्योंही वे किलेबन्दी के पास पहुँचे, त्योंही गोलियों की बाढ आयी। फिरंगी सेना के सामने के हिस्से के सैनिक वहीं बिछ गये। उसके कुछ दस्तों ने आगे बढ़ने की बड़ी कोशिश की लेकिन हर बार उन्हें बड़ा नुकसान उठाना पड़ा। आखिर में वे पीछे हटने लगे।

उनकी मदद के लिए और फिरंगी सेना आयी और खुद रेजीमेन्ट का कमांडिंग अफसर कर्नल मिल उसके साथ आया। इस बार फिरंगी सेना ने तेज धावा बोल कर खास किलेबन्दी पर कब्जा करने को कोशिश की। लेकिन जो भी आक्रमणकारी आगे बढ़ा, वह या तो मारा गया या घायल होकर वहीं गिर पड़ा। इस चेष्टा में फिरंगी सेना के बहुत से सैनिक और अफसर मारे गये। बड़ा भारी नुकसान उठा कर फिरंगी सेना पीछे हटने लगी। अब कुर्गियों ने किलेबन्दी से निकलकर दुश्मन की सेना का पीछा किया और उसे मूली की तरह काट कर बिछा दिया।

इस लड़ाई में ५५ वीं पल्टन का कर्नल मिल, ९ वीं पल्टन का एनसाइन रावर्टसन, ३१ वीं पल्टन का एनसाइन बेबिंगटन और ३६ अन्य अफसर तथा सैनिक मारे गये तथा छः अफसर और १२० सैनिक घायल हुए। इस हार से कर्नल वाफ बाकी सेना लेकर

रवाता लौट आया। यहाँ वह तब तक पड़ाव डाले रहा, जब तक दूसरी सेनाओं ने राजधानी पहुँचने का उसका रास्ता साफ नहीं कर दिया।

पश्चिम से आक्रमण करने के लिए भेजी गयी सहायक सेना २९ मार्च को रवाना हुई और दूसरे दिन कोमली में पड़ाव डाला। बेलारीपेट जाने वाली सड़क पर बढ़ते हुए वह ३ अप्रेल को विद्रोहियों की मजबूत मोर्चेबन्दी के सामने आ पहुँची। सैनिकों का एक दस्ता गश्त लगाने और आस पास की जानकारी हासिल करने के लिए भेजा गया। यह दस्ता जब जानकारी हासिल कर वापस आ रहा था तो विद्रोही कुर्गी घने जंगल में उस पर दोनों तरफ से टूट पड़े। कुर्गियों की गोलियों की बौछार के सामने इस दस्ते का टिकना असंभव हो गया। वे जवाबी हमला भी नहीं कर सकते थे, क्योंकि कुर्गी अगल बगल छिपे थे।

इस दस्ते की मदद के लिए फिरंगी सेनापति ने फौज का एक और दस्ता भेजा। लेकिन वह भी पिट कर और कितनों को खो कर वापस आया। झाड़ियों और जंगलों में कुर्गियों के हमले से फिरंगी सेना पस्तहिम्मत हो गयी। इसका नतीजा हुआ कि कितने ही सिपाही और सारे नौकर-चाकर सेना छोड़ कर भाग गये।[1] सेना का माल असबाब ढोना मुश्किल हो गया। इसलिए फिरंगी सेनापति ने पीछे हट कर पदमपल्ली पहुँचने का फैसला किया जहाँ रसद मिलने की उम्मीद थी।

५ अप्रैल को फिर पूरी तैयारी के साथ फिरंगी सेना आगे बढ़ी। कर्नल जैकसन ने फिर वहीं पड़ाव डाला जहाँ कोमली से आगे बढ़ कर २ अप्रेल को डाला था। लेकिन विद्रोही कुर्गियों ने बार-बार हमले कर उसे बड़ा नुकसान पहुँचाया और भाग कर कोमली जाने को मजबूर किया। फिर इस दिशा से कुर्ग में प्रवेश करने की चेष्टा न की गयी।

वाइनाड की तरफ से कैप्टेन मिंचिन का आक्रमण भी बुरी तरह असफल रहा। उल्टे कुर्गियों के हमले के सामने उसे भागना पड़ा और अपने मुख्य गढ़ मननटोडी में शरण लेनी पड़ी। विद्रोही कुर्गियों ने उसे वहाँ भी जा घेरा।

कुर्गियों ने फिरंगी सेना का मुकाबिला करने में जो बहादुरी दिखाई, उसका लोहा अंगरेज भी मानते हैं। इतिहासकार मिल इस सम्बन्ध में लिखते हैं :

"कुर्ग के निवासियों ने एक ऐसी सेना का, जिससे उसकी संख्या और अनुशासन को देख कर संभवतः आशा की गयी थी कि वह जाते ही मुट्ठी भर अनुशासनहीन और अपर्याप्त अस्त्रों से सुसज्जित बर्बर लोगों को फूंक कर उड़ा देगी, मुकाबिला जिस जोशो-खरोश के साथ किया और जिस सफलता के साथ उन्होंने इतने डिवीजनों के आक्रमणों को परास्त किया, वह उनकी जाति के लिए अत्यंत प्रशंसा की बात है। इससे यह सन्देह हो सकता है कि राजा अपनी प्रजा में उससे कम अप्रिय था जितना अप्रिय उसे दिखाया गया था। अगर उसने (राजा ने) भी इसी तरह का साहस दिखाया होता या अपने देश की प्राकृतिक सुरक्षा पंक्तियों से लाभ उठाने

१ विल्सन, वही, पृ० ३५७

> की जरा भी सामरिक योग्यता दिखायी होती तो युद्ध ज्यादा भयंकर होता। पूर्व और पश्चिम सीमाओं पर खड़ी पहाड़ियाँ उतनी ही अगम्य साबित होतीं जितनी उत्तर की। कुर्ग के पहाड़-पहाड़ियों की रक्षा इतने दिन तक की जा सकती थी कि आने वाली ऋतु की अस्वस्थता (फिरंगी) सेना को मैदान छोड़ जाने को बाध्य कर देती और तब राजा को ज्यादा अनुकूल शर्तें पाने का अवसर मिलता।"[1]

कुर्गवासी लड़ रहे थे और ऐसी बहादुरी से कि आधुनिक अस्त्रों से सुसज्जित और सुशिक्षित अनुशासित फिरंगी सेना को पराजित होकर भागना पड़ रहा था। ऐसे वीरों पर किसी भी देश के शासकों को अभिमान होना चाहिए। पर पतनोन्मुख सामन्त वर्ग का प्रतीक राजा कुर्गवासियों की वीरता का शतांश भी न दिखा सका। राजधानी के हाथ से निकल जाने से वह हताश हो गया। ११ अप्रेल १८३४ को ब्रिटिश पोलिटिकल एजेन्ट कर्नल फ्रेजर ने घोषणा की :

> "कुर्ग देश पर राजा वीर राजेन्द्र वादेयर का शासन और राज्य अब सुनिश्चित तौर पर और हमेशा के लिए समाप्त हो गया है।"[2]

१४ अप्रेल को राजा ने अंगरेजों के हाथ बिना शर्त आत्मसमर्पण कर दिया। फिरंगियों ने पहले उसे सपरिवार वेलोर और बाद में हमेशा के लिए बनारस भेज दिया।

७ मई १८३४ को एक घोषणा जारी कर अंगरेजों ने कुर्ग का राज्य हमेशा के लिए ब्रिटिश राज्य में शामिल कर लिया। इस तरह भारतीय इतिहास का एक गौरवमय पृष्ठ समाप्त हो गया।

१. विल्सन, वही, पृ० १५८
२. इम्पीरियल गजेटियर आफ इंडिया, मैसूर एण्ड कुर्ग, पृ० २८७

अध्याय ५३

गोंड़ विद्रोह

(१८३३)

चौथे अंगरेज-मराठा युद्ध (१८१७-१९) के आरंभ होते ही अंगरेजों ने संभलपुर पर फिर कब्जा किया। १८२६ की संधि के अनुसार यह अंगरेजों के राज्य का हिस्सा बन गया था। यहां के राजा जैत सिंह को मराठों ने पुत्र समेत कैद कर रखा था। अंगरेजों ने उसे १८१७ में छुड़ा कर फिर राजा बनाया, लेकिन १८१८ में वह मर गया।

एक साल तक खुद राज करने के बाद अंगरेजों ने जैत सिंह के पुत्र महाराज साई को १८२० में यहाँ का राजा बनाया। इस राजा के हाथ अब पुरानी शक्ति न रह गयी थी। उसके अधीन छोटे राजा स्वाधीन कर दिये गये थे।

किन्तु महाराजा साई भी ज्यादा दिन राज न कर सका। १८२७ में उसकी मृत्यु हो गयी और उसकी विधवा रानी मोहन कुमारी ने संभलपुर का राज संभाला। उसके राज संभालते ही सर्वत्र अशान्ति दीख पड़ने लगी। राज्य के अन्य दावेदार खड़े हो गये और वे राजा के पद की माग करने लगे। इनमें सुरेन्द्र साई मुख्य थे जो अपने को संभलपुर के चौथे राजा मधुकर साई का वंशज कहते थे।[1]

सुरेन्द्र साई के प्रबल समर्थक असंतुष्ट गोंड़ और बिंझाल जमीन्दार थे। इनके असन्तोष का कारण रानी का तथाकथित उच्चजाति के हिन्दुओं के प्रति पक्षपात था। इस पक्षपात के कारण जमीन गोड़ों के हाथ से निकली जा रही थी। विद्रोहियों ने संभलपुर के आस पास के गाँव लूटना शुरू कर दिया। उस समय लेफ्टिनेन्ट हिगेन्स रामगढ़ बटालियन का एक हिस्सा अपने साथ लिए संभलपुर के किले में उपस्थित था। उसने विद्रोहियों का मुकाबिला किया और उन्हें भगा दिया। लेकिन विद्रोह बढ़ता गया और हालत इतनी बदतर हो गयी कि उसे दबाने के लिए हजारीबाग से सेना मंगानी पड़ी।

हजारीबाग से आयी सेना का अध्यक्ष कैप्टेन विल्किन्सन था। उसने विद्रोहियों के साथ बड़ी सख्ती बरती। कितने ही विद्रोहियों को पकड़ कर फांसी से लटका दिया, लेकिन विद्रोह शान्त होने का नाम न लेता था।[2] अन्त में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि जब तक रानी रहेगी, विद्रोह शान्त न होगा। इसलिए उसने १८३३ में रानी को राजगद्दी से उतार दिया और नारायण सिंह को राजा बनाया। नारायण राजा बलियार सिंह के सबसे बड़े पुत्र विक्रम सिंह का वंशज था। उसकी माँ शूद्रा थी, इसलिए वह राज्य का अधिकारी न माना जाता था। उसकी हैसियत रानी के नौकर से ज्यादा न थी। कहा जाता है कि जब अंगरेजों ने उसे राजा बनाने का फैसला किया तो वह

---

१. बंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, संभलपुर, पृ० २६

२. वही, पृ० २७

खुद अवाक् रह गया। उसने हाथ जोड़ कर अंगरेजों से प्रार्थना की कि इतना खतरनाक पद उसे न दिया जाय।[1] यह सब जानते हुए अंगरेजों ने उसे संभलपुर का राजा बनाया, क्योंकि उन्हें तो सिर्फ अपने एक कठपुतले की जरूरत थी और रानी को कटक भेज दिया तथा वहीं रहने का हुक्म दिया।

नारायण का राजा बनाया जाना गोड़ों ने अपना अपमान समझा। इसलिए उसके राजा बनते ही उन्होंने विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह के नेता लखनपुर के गोंड़ जमीन्दार बलभद्र दाऊ थे। यह विद्रोह बहुत दिन तक चलता रहा। बाड़ पहाड़ नामक पहाड़ियों ने विद्रोहियों को आश्रय दिया। इन सुरक्षित स्थानों से वे अंगरेज सेना के खिलाफ बहुत दिन तक लड़ते रहे।

इन पहाड़ियों की सबसे ऊँची चोटी पर देबरीगढ़ नामक दुर्ग था। यह विद्रोहियों का सबसे प्रसिद्ध और मजबूत दुर्ग था। आखिर में अंगरेजों की सेना ने इसे जा घेरा। इस लड़ाई में बलभद्र दाऊ मारे गये। नेता की मृत्य के बाद यह विद्रोह शान्त हो गया, लेकिन इसी संभलपुर में आगे चल कर इससे भी भयंकर विद्रोह हुए जिनका विवरण हम अन्य अध्याय में पायेंगे।

१. वही, पृ० २७

अध्याय ५४

गुमसुर का संघर्ष

(१८३५–३७)

'गंजाम के संघर्ष' में हम बता आये हैं कि किस प्रकार गुमसुर के जमीन्दार श्रीकर भंज ने अन्य सामन्तों के साथ मिल कर अंगरेजों का मुकाबिला किया था। हम यह भी बता आये हैं कि किस प्रकार १८०८ में वे फिर तीर्थयात्रा पर चले गये थे।

अंगरेज अधिकारियों के अनुसार जमीन्दारी हाथ में आने के बाद श्रीकर भंज के पुत्र धनंजय ने बड़ा अत्याचार आरंभ किया। उसे लगा कि उसके परिवार की महिलाएँ ही उसे राज सिंहासन से हटाने का षडयंत्र कर रही हैं और इसलिए उसने विमाताओं समेत कितनों ही को मरवा दिया। इससे कंपनी सरकार की अदालत से उसके नाम गिरफ्तारी का वारंट जारी हुआ। इस वारंट की उसने कोई परवाह न की, इसलिए उसे बागी माना गया। लेफ्टिनेन्ट कर्नल फ्लेचर ने कर्नाटक यूरोपियन वेटेरन्स की एक टुकड़ी लेकर गंजाम से पचास मील दूर कोलाइडा नामक मजबूत किले पर कब्जा कर लिया।[1]

धनंजय ने २४ जून, १८१५ को आत्मसमर्पण किया। श्रीकर भंज फिर वापस गंजाम आये, लेकिन अंगरेज अधिकारियों ने उन्हें फरवरी १८१८ तक फौजी पहरे में नजरबन्द रखा। इतने पर भी अंगरेज अधिकारी गुमसुर की प्रजा से राजस्व अच्छी तरह वसूल न कर सके। हैरान होकर उन्होंने फिर श्रीकर भंज को यहाँ का जमीन्दार नियुक्त करना उचित समझा। लेकिन ऐसा करते वक्त उन्होंने उसका राजस्व ७५००० रु० प्रति वर्ष निश्चित किया। अवश्य ही यह अत्यधिक राजस्व था, लेकिन बाध्य होकर श्रीकर भंज को उसे स्वीकार कर लेना पड़ा। उन्होंने १८१९-३० तक जमींदारी का अच्छा बन्दोबस्त करने की चेष्टा की, किन्तु अंगरेजों का दिन पर दिन जमीन्दार पर चढ़ता बकाया राजस्व कहाँ से चुकाते? अन्त में उन्होंने पुत्र के लिए जमीन्दारी छोड़ दी और अवकाश ग्रहण किया।

धनंजय को गुमसुर का जमीन्दार अंगरेजों ने इस शर्त पर माना कि पहले का बकाया देना चुका दे। अगर वे न चुका सकेंगे तो जमीन्दारी अंगरेज अपने हाथ में ले लेंगे। यह जल्दी ही संकट का कारण बना। अंगरेजों ने जो भी जुर्माना और राजस्व रियासत पर लादा था, धनंजय ने उसे चुकाने की कोशिश की, पर रियासत की आय तो सीमित थी। फल हुआ कि देना बाकी रह गया। १४ अगस्त, १८३५ को कलक्टर स्टेवेंसन उनसे मिला और भुगतान की कोई सूरत निकालने की कोशिश हुई। सितम्बर १८३५ में उसी साल का देना ४०, ३३३ रु० ११ आना १ पाई बाकी रह गया और पिछले बकाया

१. आर्जे रसेल, वही, पृ० ७-८; शशिभूषण चौधरी, पृ० १५०

की वार्षिक किश्त का १०,७६७ रु० १३ आना ८ पाई यानी कुल ५१ हजार रु० से ज्यादा बाकी रह गया। अंगरेजों ने इसकी वसूली के लिए कड़ाई की। धनंजय ने २४ सितम्बर, १८३५ को ३५,००० रु० चुकाया और बाकी के लिए समय चाहा[1], लेकिन लालची और क्रूर साम्राजी अंगरेजों को यह स्वीकार न हुआ।

अंगरेजों की इस निर्दयता ने धनंजय को विद्रोही बनने को वाध्य किया। वे अपने दुर्ग कोलाइडा चले गये और वहाँ से अंगरेजों पर आक्रमण आरम्भ किया। कंपनी सरकार ने लेफ्टिनेन्ट-कर्नल हाजसन को सेना लेकर गुमसुर की जमीन्दारी पर कब्जा कर लेने का आदेश दिया। उसने ३ नवम्बर, १८३५ को गुमसुर पर और ९ नवम्बर, १८३५ को कोलाइडा पर अधिकार कर लिया। गलेरी में जमीन्दार के आदमियों ने अंगरेजों की आगे बढ़ती सेना पर हमला किया और जबर्दस्त मुकाबिला किया। अंगरेज अधिकारियों ने देखा कि हालत बदतर होती जा रही है, विद्रोह दबने का नाम नहीं लेता, तो उन्होंने १२ नवम्बर, १८३५ को मार्शल्ला की घोषणा कर दी। धनंजय को गिरफ्तार कराने के लिए ५,००० रु० के इनाम का ऐलान किया गया।[2]

हाजसन की रिपोर्ट बताती है कि विद्रोह चारों तरफ फैल गया था। सारी प्रजा जमीन्दार का पक्ष लेकर अंगरेजों के खिलाफ उठ खड़ी हुई थी। अंगरेजों की सेना जिधर भी जाती उधर ही विद्रोही गोलियों की बौछार कर उसे परेशान करते। परेशान होकर कलक्टर इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि धनंजय को फिर जमीन्दार बनाये बिना विद्रोह दबाया नहीं जा सकता। ७ दिसम्बर, १८३५ को जो पत्र उसने सरकार के चीफ सेक्रेटरी को लिखा, उसमें उसने साफ स्वीकार किया :

"सरकार का अधिकार इस जिले में सिर्फ वहीं माना जाता है, जहाँ सेना का असर है। पड़ोस के जमीन्दार, पहाड़ी राजा, सरदार, देश निवासी, जहाँ तक मैं समझ सकता हूँ, और कई बार मैं सन्देह करता हूँ कि खुद हमारे सरकारी नौकर, गुमसुर परिवार का पतन और सरकार की सत्ता की स्थापना नहीं चाहते।...रसद की प्रत्येक वस्तु हमें बहुत-बहुत दूर से लानी पड़ती रही है और अब भी ऐसा करने को बाध्य होना पड़ रहा है।...शत्रु छोटे-छोटे दलों में...उन गाँवों या व्यक्तियों पर बड़ा अत्याचार करते हैं जिनके बारे में हमारा मित्र होने का सन्देह किया जाता है ... यहाँ के सब लोगों का उद्देश्य है कि एक राजा होना चाहिए। अगर सरकार बल प्रयोग से अपनी सत्ता की स्थापना करना और उसे बनाये रखना नहीं चाहती तो मैं देखता हूँ कि एक राजा को राजगद्दी पर बैठाये बगैर शान्ति के वापस आने की कोई आशा नहीं।"[3]

उपरोक्त कथन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि अंगरेजों का राज इस रियासत में कहीं भी न था। उसे कोई भी पसन्द न करता था—यहाँ तक कि कंपनी के नौकर-चाकर

१. शशिभूषण चौधरी, वही, पृ० १५०
२. जार्ज रसेल, वही, पृ० १४; शशिभूषण चौधरी, वही, पृ० १५१
३. जार्ज रसेल, वही, पृ० १५-१६; शशिभूषण चौधरी, वही, पृ० १५१

भी पसन्द न करते थे। नागरिक अंगरेज सेना के साथ किसी तरह का सहयोग न करते थे, उसे कोई रसद-पानी न देते थे। यह गुमसुर की आम जनता का विद्रोह बन गया था। लेकिन दुर्भाग्य कि इस संघर्ष के दौरान ही धनंजय की मृत्यु ३१ दिसम्बर,१८३५ को हो गयी। किन्तु उनके साथियों और आम प्रजा ने अंगरेजों के खिलाफ संघर्ष जारी रखा उसे तेज किया।

इस हालत का मुकाबिला करने के लिए पूरी क्षमता देकर जार्ज रसेल को कमिश्नर बना कर भेजा गया। वह ११ जनवरी, १८३६ को गुमसुर पहुँचा और जनरल टेलर को अपनी सेना विभिन्न केन्द्रों में भेजने का आदेश दिया। विद्रोह ने इतना उग्ररूप धारण कर लिया था कि रसेल को बड़े पैमाने पर फौजी कार्रवाई करनी पड़ी। विद्रोहियों पर इस आक्रमण में तीन मेजर, दो कर्नल, ग्यारह कैप्टेन, एक लेफ्टिनेन्ट कर्नल, ग्यारह लेफ्टिनेन्ट और सेना के कितने ही उच्च अफसरों ने हिस्सा लिया। इससे इस विद्रोह की उग्रता का अन्दाज लगाया जा सकता है।

कठिन लड़ाई के बाद अंगरेज सेना सब दर्रों में घुसने और कोलाइडा तथा गुलेरी के दुर्गों पर कब्जा करने में कामयाब हुई। लेकिन तभी खोंड़ विद्रोहियों की मदद में आ पहुँचे। उन्होंने अंगरेजों की सेना की छोटी-मोटी टुकड़ियों को काट कर रख दिया और बड़ी टुकड़ियों पर भी आक्रमण किया। दरख्त काट कर उन्होंने आक्रमणकारी सेना का सड़क पर चलना नामुमकिन कर दिया। उन्होंने छापामार युद्ध की कला का सहारा लिया।

यह युद्ध फरवरी १८३७ तक चलता रहा। दूरा बिसाई समेत आठ बड़े नेताओं को गिरफ्तार करने में अंगरेजों को लोहे के चने चबाने पड़े। इन लोगों में से अधिकांश ने बोद जमीन्दारी में आश्रय ले रखा था। अंगरेजों ने उस पर आक्रमण किया, उस पर कब्जा कर लिया। इन नेताओं की गिरफ्तारी से विद्रोह समाप्त हो गया।

गुमसुर की जमीन्दारी जब्त कर ली गयी और उसे ब्रिटिश राज्य का अंग बना लिया गया। राजा के सम्बन्धियों को शान्ति की खातिर गुमसुर से हटा दिया गया और राज परिवार के लोगों को वेलोर भेज दिया गया। लेफ्टिनेन्ट-कर्नल हाजसन की अध्यक्षता में फौजी अदालत में कितनों ही पर मामला चलाया गया। कत्ल और राजद्रोह के अपराध में २७ आदमियों को मृत्युदंड दिया गया और कितने ही को सिर्फ गंजाम से नहीं, मद्रास प्रेसीडेन्सी से भी नहीं, सारे हिन्दुस्तान से निर्वासित कर समन्दर पार भेज दिया गया। गुमसुर में अंगरेजों की सेना की स्थायी छावनी बना दी गयी और इस नयी छावनी का नाम रसेलकोण्डा रख दिया गया।

अध्याय ५५

फराजी विद्रोह

(१८३८–४७)

फराजी शब्द का अर्थ है अल्लाह के आदेश को मान कर चलने वाला। फराजी बंगाल के फरीदपुर जिले में मुसलमानों का एक धार्मिक सम्प्रदाय था। वहाबी सम्प्रदाय से समानता रखते हुए भी वह उससे भिन्न था। फराजी वहाबी नाम का ही विरोध करते थे। इसके प्रवर्तक और प्रचारक फरीदपुर के शरियतुल्ला और उनके पुत्र मुहम्मद मोहसिन उर्फ दूदू मियाँ थे।

१८७२ में भारत की जनगणना के संचालक डा० जेम्स वाइज ने शरियतुल्ला की जीवनी लिखी थी। इससे ज्ञात होता है कि उनका जन्म फरीदपुर जिले के संभवत: बन्दरखोला परगने के एक गाँव में जुलाहा या ताँती के घर हुआ था। १८ वर्ष की उमर में वे मक्का गये और वहाबी मत की दीक्षा ली। बीस साल बाद १८२० में वे वापस आये। फरीदपुर वापस जाते समय वे डाकुओं के हाथ पड़ गये। बाध्य होकर वे भी उनके दल में शामिल हो गये। क्रमश: उन्होंने इन डाकुओं के विचार बदले और उन्हें अपना शिष्य बनाया।[१]

शरियतुल्ला अपने शिष्यों के साथ ढाका जिले के नयाबाड़ी अंचल में गये और गाँवों में घूम-घूम कर अपने धर्म का प्रचार करने लगे। गरीब मुसलमानों ने उनके धर्म का स्वागत किया, लेकिन जमीन्दारों और धनी मुसलमानों ने उनका धर्म अपने लिए खतरनाक समझ उन्हें ढाका जिले से चले जाने को मजबूर किया।

शरियतुल्ला ने प्रचालित मुस्लिम धर्म में जो सुधार करने चाहे, वे बहुत महत्वपूर्ण थे। उन्होंने इन सुधारों में मुसलमान किसानों और कारीगरों के स्वार्थों को प्रधानता दी और मुल्ला-मौलवियों के धार्मिक उत्पीड़न तथा जमीन्दारों के शोषण से उनकी रक्षा करने की चेष्टा की।

प्रचलित मुस्लिम धर्म में 'पीर' और 'मुरीद' शब्दों का प्रयोग होता है। शरियतुल्ला ने कहा कि ये दोनों शब्द प्रभु और भृत्य का सम्बन्ध सूचित करते हैं। अत: इनका प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। इनकी जगह 'उस्ताद' और 'शागिर्द' का प्रयोग होना चाहिए। उन्होंने जमीन्दारों और निलहे साहबों के शोषण के खिलाफ भी प्रचार किया।

शरियतुल्ला की मृत्यु के बाद उनके पुत्र महम्मद मोहसिन ने अपने पिता के आन्दोलन को आगे बढ़ाया। ये दूदू मियाँ के नाम से ही ज्यादा परिचित थे। इनका जन्म १८१९

---

१. डा० जेम्स वाइज, आर्टिकल आन शरियतुल्ला एण्ड द फेराजीज (जर्नल आफ द रायल एसियाटिक सोसाइटी आफ बेंगाल, पार्ट १, फार १८९४)

ई० में हुआ था। नौजवानी में ही वे मक्का गये। वापस आकर उन्होंने पिता के मतवाद के प्रचार में पूरी शक्ति लगायी। जमीन्दारों का शोषण और विदेशियों का शासन उखाड़ फेंकने के लिए उन्होंने एक योजना बनायी और इसे कार्यरूप में परिणत करने की तैयारी की।

वे फरीदपुर के गाँवों में घूम-घूम कर प्रचार करने लगे कि सभी मनुष्य समान हैं। अल्ला की बनायी इस जमीन पर कर लगाने का अधिकार किसी को नहीं। उनकी इन शिक्षाओं ने गरीब किसानों और कारीगरों को अपनी तरफ खींचा जो अंगरेज सरकार, निलहे साहबों और जमीन्दारों द्वारा लगाये गये दर्जनों करों के शिकार थे। वे शीघ्र ही दूदू मियाँ को अपना शिक्षक, बन्धु और पिता मानने लगे। दूदू मियाँ के नेतृत्व में उन्होंने जमीन्दारों और अंगरेज शासकों की उपेक्षा कर चलना शुरू किया। दूदू मियाँ के कार्यों के बारे में श्री शशिभूषण चौधरी ने अपनी पुस्तक 'भारत में नागरिक अशान्ति' में लिखा :

> "पीर (दूदू मियाँ) अपने अनुयायियों को एक ही साथ धार्मिक तथा राजनीतिक स्वाधीनता के ज्वलन्त प्रतीक दीख पड़े। वे उनकी धार्मिक समस्याओं का समाधान करते, जमीन के विरोधों का फैसला करते और न्यान्य करते। उन्होंने जो व्यवस्था स्थापित की उसके अन्तर्गत गाँव के फराजी मतावलम्बी वृद्ध किसान के मातहत अदालत बैठती। ये अदालतें बहुत जनप्रिय हुईं। अंगरेजों की अदालत में जो मामले ले जाने की हिम्मत करता, उसे कड़ी सजा दी जाती। अगर कोई किसान, हिन्दू जमीन्दार द्वारा लगाये गये 'पूजा कर' जैसे अन्यायपूर्ण करों की वसूली के चंगुल से बचने के लिए दूदू मियाँ से सहायता की प्रार्थना करता, तो दूदू मियाँ अपनी सारी ताकत लगा कर उसकी रक्षा करते, वे जमीन्दार पर मामला चलाने के लिए रुपया इकट्ठा कर देते और जरूरत होने पर जमीन्दारों के खिलाफ लठैतों का दल भी भेजते। इस तरह दूदू मियाँ थोड़े ही समय में हिन्दू जमीन्दारों और यूरोपीय जमीन्दारों (निलहे साहबों) के विरुद्ध प्रबल शक्ति के रूप में दीख पड़े।"[1]

उक्त अंचल के जमीन्दार हिन्दू और निलहे साहब थे। ये सिर्फ मुसलमान किसानों का ही नहीं, हिन्दू किसानों का भी शोषण करते थे। इसलिए जमीन्दारों और निलहे साहबों के विरुद्ध दूदू मियाँ के संग्राम में हिन्दू किसान भी शामिल हुए। यह संग्राम शीघ्र ही फरीदपुर, खुलना, चौबीस परगना आदि जिलों में फैल गया। दूदू मियाँ के नेतृत्व में कम से कम पचास हजार हिन्दू-मुसलमान किसान हाथों में लाठियाँ लिए हुए किसी भी समय जमीन्दारों और निलहे साहबों से लड़ने को तैयार रहते थे।

दूदू मियाँ ने पूर्व बंगाल को कई अंचलों में बाँट कर हर अंचल में अपना प्रतिनिधि 'खलीफा' नियुक्त किया। यह खलीफा अपने अंचल के फराजियों को संगठित करता, उनको अत्याचार और उत्पीड़न से बचाता और उनसे नियमित धन संग्रह करता। अपने अंचल की खबरें दूदू मियाँ के पास भेजता। जहाँ भी जमीन्दार फराजी किसानों पर

१. शशिभूषण चौधरी, सिविल डिस्टर्बेन्सेज इन इंडिया, १७६५-१८५७, प्रथम संस्करण, पृ० ११३

कर लगाता, वहाँ केन्द्रीय कोष से रुपया भेज कर अंगरेज शासकों की अदालत में जमीन्दार पर मुकदमा चलाया जाता। संभव होता तो लठैत भेज कर जमीन्दार और उसके आदमियों को दण्ड दिया जाता और उनकी सम्पत्ति ध्वंस कर दी जाती।[1]

किसानों को दूदू मियाँ के नेतृत्व में संगठित होता देख जमीन्दारों, निलहे साहबों और पोंगापंथी मुसलमान धनियों ने मिल कर फराजी आन्दोलन रोकने की चेष्टा आरंभ की। आपस में सलाह कर जमीन्दारों ने फराजी किसानों को सताना शुरू किया। इस सम्बन्ध में फरीदपुर जिला गजेटियर ने लिखा :

"जो किसान (प्रजा) जमीन्दारों की निषेधाज्ञा न मान कर फराजियों के दल में शामिल होते, उन्हें जमीन्दारों के हाथ सजा और यंत्रणा भोगनी पड़ती। यह अत्यन्त कष्टदायक होती, किन्तु शरीर पर यंत्रणा का कोई चिह्न न रहता।...कई किसानों की दाढ़ियाँ एक साथ बाँध दी जातीं और तब उनकी नाक में पीसा मिर्चा घुसेड़ दिया जाता। लेकिन अन्त में सब प्रकार की यंत्रणा-व्यवस्था व्यर्थ हुई, जमीन्दारों की सारी चेष्टा के बावजूद फराजी मत और किसान-जागरण तेजी के साथ फैलता रहा।"[2]

१८३८ के आरंभ में दूदू मियाँ और उनके साथियों ने किसानों और कारीगरों को संगठित कर जमीन्दारों, निलहे साहबों और पुरातनपंथी धनी मुसलमानों के सम्मिलित अत्याचार के विरुद्ध संग्राम की घोषणा की। दुश्मनों के लठैतों का मुकाबिला करने के लिए उन्होंने भी अपने लठैत तैयार किये। अन्याय से लगाये गये सब करों को बन्द करने का आदेश उन्होंने किसानों को दिया। दूदू मियाँ ने घोषणा की :

"भूमि अल्ला की देन है। इसलिए व्यक्तिगत उपयोग के लिए पीढ़ी दर पीढ़ी इसे अपने कब्जे में बनाये रखने और उस पर कर लगाने का अधिकार किसी को नहीं।"[3]

जमीन्दारों और निलहे साहबों को कर देने से बचने के लिए दूदू मियाँ ने किसानों को आदेश दिया कि वे जमीन्दारों की जमीनें छोड़ दें और सरकारी खास जमीन में अपनी बस्ती बसायें। किसानों ने जमीन्दारों को लगान देना और नील की खेती करना बन्द कर दिया। इससे आग बबूला होकर जमीन्दारों और निलहे साहबों ने किसानों पर तरह-तरह के अत्याचार किये। उनके लठैतों ने किसानों के घर लूटे, उनमें आग लगायी और कितनों को हताहत किया।

इन अत्याचारों से किसानों की रक्षा के लिए दूदू मियाँ ने किसान लठैतों को भी जमीन्दारों-निलहे साहबों के लठैतों का मुकाबिला करने का हुक्म दिया। जमीन्दारों और निलहे साहबों की कितनी ही कोठियाँ नष्ट कर दी गयीं, उनके कितने ही लठैतों को किसानों की लाठियों ने हमेशा के लिए सुला दिया और बेकाम कर दिया। अपने जी हुजूरों की यह दुर्दशा देख अंगरेज शासकों ने बहुत-सी पुलिस जमीन्दारों और निलहे साहबों

१. फरीदपुर डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, पृ० ४०
२. फरीदपुर डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, पृ० ४०
३. वही, पृ० ४१

की मदद में भेजी। १८३८ में पुलिस और जमीन्दारों के लठैतों के साथ किसानों के संघर्ष ने उग्र रूप धारण किया। इसका दमन करने के लिए फौज तलब की गयी।

किसानों को पस्तहिम्मत करने के लिए १८३८ के अन्त में अंगरेज शासकों ने दूदू मियाँ को लूट पाट के अभियोग में गिरफ्तार किया। किन्तु पुलिस प्रमाण और गवाह न जुटा सकी, इसलिए बाध्य होकर दूदू मियाँ को मुक्त कर दिया। १८४४ में फिर उन्हें गिरफ्तार किया गया, लेकिन फिर प्रमाण के अभाव से उन्हें रिहा कर दिया गया।

दूदू मियाँ को बार-बार गिरफ्तार करवाने वालों मे पाँचचर की नील-कोठी का बदनाम मैनेजर डनलप सबसे आगे था। उसके अत्याचारों से किसानों की नाक में दम आ गया था। इसलिए ५ दिसम्बर, १८४६ को करीब पाँच सौ सशस्त्र किसानों ने आक्रमण कर इस कोठी को ध्वंस कर दिया। इस निलहे साहब के सहयोगी पास के जमीन्दार के मकान पर भी किसानों ने आक्रमण किया और उसकी जायदाद नष्ट कर दी।

इस घटना के बाद एक बड़ी सरकारी सेना आयी। बड़े पैमाने पर गिरफ्तारियाँ, तलाशियाँ, मार-पीट शुरू हुईं। किसानों को तरह-तरह के शारीरिक कष्ट दिये गये। दूदू मियाँ को भी गिरफ्तार किया गया। १८४७ के जुलाई महीने में फरीदपुर दौरा अदालत में उन पर और उनके बासठ साथियों पर मुकदमा शुरू किया गया। बहुत दिनों तक मुकदमा चलने के बाद सभी अभियुक्तों को सजाएँ मिलीं, किन्तु उच्च न्याया-लय में अपील से सभी अभियुक्त बरी कर दिये गये।

१८५७ में दूदू मियाँ फिर गिरफ्तार किये गये। इस बार भी प्रमाण के अभाव में उन्हें रिहा कर दिया गया। इतने दिनों के लगातार संग्राम से दूदू मियाँ का स्वास्थ्य एकदम खराब हो गया। २४ सितम्बर, १८६० को पूर्व बंगाल के किसानों के इस प्यारे नेता का देहान्त हो गया। उनकी मृत्यु के बाद किसान-विद्रोहियों की शक्ति छिन्न-भिन्न हो गयी।

अध्याय ५६

खामती विद्रोह

(१८३९)

खामती जाति का आदि स्थान वर्मा में इरावदी की घाटी का बोरखामती अंचल है। वहाँ से चल कर वे आसाम आये और अहोम राजा की आज्ञा से पूर्वांचल में बस गये। उन्होंने सरहद की चौकी सदिया पर कब्जा कर लिया और उसके आस-पास अपना छोटा-सा राज्य स्थापित किया। उनके शासक ने जबर्दस्ती ही सदिया खवा गोहाईं की उपाधि धारण की जिसका अर्थ होता है सदिया का शासक।[1] असम के सर्वेक्षण में नियुक्त किये गये कैप्टेन जेनकिन्स ने खामती लोगों के बारे में लिखा :

"जोश, बुद्धि और नैतिक चरित्र में खामती असम में प्रथम जाति है।"[2]

मई १८२६ की संधि के अनुसार ईस्ट इंडिया कंपनी ने खामती लोगों को अपने शासक के ही अधीन बना रहने दिया। उन्हें दो सौ सैनिक रखने का अधिकार मिला जिनके अस्त्र-शस्त्र देने का वादा अंगरेजों ने किया। खामती लोगों को किसी भी प्रकार का कर अंगरेजों को देना न पड़ता था। सिर्फ बहुत बड़े अपराधों पर विचार करने का अधिकार खामती सरदारों के हाथों से लेकर सदिया स्थित कंपनी के राजनीतिक अधिकारी को दे दिया गया।[3]

१८३० में जब सिंगफो जाति ने असम के पूर्वी भाग में अंगरेजों पर हमला किया तो खामती अंगरेजों के मूल्यवान मित्र साबित हुए। सदिया खवा गोहाईं की मत्यु (१८३५) तक अंगरेजों और खामती लोगों का सम्बन्ध मित्रवत बना रहा। मृत गोहाईं का स्थान उनके पुत्र ने संभाला जो बड़े बुद्धिमान माने जाते थे। बौद्ध होते हुए भी हिन्दू धर्म का उन्हें अच्छा ज्ञान था। वे बंगला भी जानते थे। इन सब गुणों में भी अंगरेजों को एक बड़ा दोष दिखाई पड़ा। उन्होंने उन्हें षड़यंत्र कला में पटु बताया।[4]

कुछ जमीन को लेकर मुत्तुक जाति के सरदार के साथ नये खामती शासक का झगड़ा हो गया। कंपनी के सदिया स्थित राजनीतिक प्रतिनिधि कैप्टेन ह्वाइट ने दोनों सरदारों से इस झगड़े के मामले को अपने पास लाने को कहा। नये सदिया खवा गोहाईं ने इस आदेश को ठुकरा दिया और झगड़े की जमीन पर बलपूर्वक अधिकार कर लिया।

ह्वाइट ने इसे सदिया खवा गोहाईं की रियासत को हड़प लेने का अच्छा अवसर समझा। उसने इस मामले को उच्च अधिकारी कंपनी के एजेन्ट जेनकिन्स के पास भेजा

१. डा० लाहिड़ी, वही, पृ० ५

२. डा० लाहिड़ी, वही, पृ० ३७

३. आइचीसन, ट्रिटीज एण्ड सनद्स, खण्ड २, पृ० १३१-३२ ; डा० लाहिड़ी, वही, पृ० ३८

४. फारेन डिपार्टमेन्ट, १८३४, १८ अप्रैल, न० ५६ ; डा० लाहिड़ी, वही, पृ० २०८

और सिफारिश की कि खवा गोहाईं को मुअत्तल कर दिया जाय, अन्त में अपने पद से उन्हें हटा दिया जाय और सारे अंचल को अंगरेजों के प्रत्यक्ष अधिकार में ले लिया जाय।

खामती लोगों को पहले ही की तरह अपने सरदारों के अधीन रहने दिया गया, लेकिन, असमियों को, जिनकी संख्या दो तिहाई थी, कंपनी के हाथ मे ले लिया गया। राजस्व की वसूली और न्याय अंगरेज अफसर के हाथ सौंप दिया गया। सब पर टैक्स लगा दिया गया। इन सब बातों से खामती सरदार खवा गोहाईं, तओवा गोहाईं, रुनू गोहाईं और कैप्टेन गोहाईं बहुत असंतुष्ट हुए। सिंगफो सरदार दाफ्फा गाम के साथ अंगरेजों के संघर्ष के समय उनलोगों ने अपना असंतोष साफ जाहिर किया। उन्होंने सिंगफो सरदार को प्रोत्साहन दिया कि वह अंगरेजों के साथ कोई समझौता न करे।[1]

ज्यादा गड़बड़ी के भय से कंपनी सरकार के एजेण्ट जेनकिन्स ने खवा गोहाईं को हटा कर ऐसी जगह रखने का फैसला किया जहाँ दूसरे खामती सरदार उनसे सम्पर्क स्थापित न कर सकें।[2] खामती सरदारों में फूट डालने की गरज से अंगरेजों ने कैप्टेन गोहाईं को अपने गुप्तचर विभाग में नियुक्त करने का प्रयास किया, पर इस कार्य के अयोग्य समझ उसे छोड़ दिया।

हवा प्रतिकूल देख खामती सरदारों ने भी अंगरेजों के साथ मित्रता का रुख दिखाया। तओवा गोहाईं अंगरेजी सीखने लगे और हटाये गये खवा गोहाईं ने अपने लड़के को अंगरेजी स्कूल में भेजा। १८३५ के सिंगफो विद्रोह में उन्होंने अंगरेजों की मदद भी की। इससे अंगरेजों का सन्देह दूर हो गया। उन्होंने सरदारों को काफी उपहार दिये और खवा गोहाईं को सदिया वापस आकर अपनी बिरादरी के बीच रहने की इजाजत दी।

ऊपर से लगता था कि खामती सरदार सन्तुष्ट हैं, पर उनके अन्दर ही अन्दर असंतोष की ज्वाला धधक रही थी। इस असंतोष का आभास अंगरेजों को १८३५ के आरंभ में मिला। अप्रैल १८३७ में सदिया स्थित अंगरेज अफसरों ने भयंकर विद्रोह की आशंका जाहिर की। अफवाहें फैल रही थीं कि खामती सरदार बर्मियों और दाफ्फा के साथ अंगरेजों के खिलाफ पत्रव्यवहार कर रहे हैं। अंगरेजों ने सदिया में अपनी सैनिक शक्ति बढ़ायी। विद्रोह का जरा भी आभास पाते ही तओवा गोहाईं और खवा गोहाईं को वहाँ से दूर हटा ले जाने की योजना बनायी। ये अफवाहें कुछ दिन बाद समाप्त हो गयीं और अंगरेज भी निश्चिन्त हो गये।

१८३९ में खामती लोगों ने यकायक अंगरेजों पर उस वक्त आक्रमण किया जबकि उन्हें इसकी कोई भी आशंका न थी। २८ जनवरी, १८३९ को वे अपने सरदारों के नेतृत्व में अचानक सदिया पर टूट पड़े। अंगरेजों की पूरी रेजीमेन्ट को साफ कर दिया; मेजर ह्वाइट को मौत के घाट उतार दिया। बैरक, तोपें, बन्दूकें समेत अंगरेजों की सेना से सम्बन्धित सब कुछ जला कर खाक कर दिया। मेडिकल स्टोर नष्ट कर दिया।

---

१. फारेन डिपार्टमेन्ट, १८३८, १८ अप्रैल, नं० ५६ ; डा० लाहिरी, वही, पृ० २०१
२. मैकेंजी, नार्थ इस्टर्न फ्रान्टियर आफ बेंगाल, पृ० ५८ ; डा० लाहिरी, वही पृ० २०१

सारे आक्रमण का संचालन बहुत ही व्यवस्थित ढंग से किया गया। सदिया में रहने वाले असमिया सामंतों की इससे सहानुभूति थी।

सारा सदिया नगर खामती विद्रोहियों की मेहरबानी पर था। लेकिन उन्होंने लूट-पाट नहीं की, नागरिकों को किसी प्रकार का कष्ट नहीं दिया। अंगरेजी शासन के सारे चिह्न ध्वंस कर वे तेजी से वहाँ से हट गये।

कंपनी सरकार ने नयी सेना भेज कर फिर सदिया पर अधिकार किया और विद्रोहियों का पता लगाने के लिए विभिन्न दिशाओं में अपने दस्ते भेजे। अपनी सब चौकियों की सैनिक शक्ति बढ़ायी। कंपनी सरकार की सेना खामती लोगों के जिस गाँव में जाती, उसे ही सूना पाती। सभी खामती सपरिवार गाँव खाली कर मिसमी पहाड़ियों में चले गये थे। कंपनी सरकार की सेना ने इन खाली गाँवों को जला कर अपनी बहादुरी दिखायी। वह सदिया वापस आयी। एक भी खामती को गिरफ्तार न कर सकी।

कैप्टेन वेच सदिया का भारप्राप्त फौजी अधिकारी था। वह विद्रोहियों से बदला लेने पर तुला था। उसने उच्च अधिकारियों से मांग की कि सभी खामतियों को बागी करार दे दिया जाय और देखते ही गोली मार दी जाय। कंपनी सरकार ने यह कदम उठाने से उसे रोका।[1] उसने सिर्फ सरदारों की गिरफ्तारी के लिए पुरस्कार की घोषणा की सम्मित दी। इसके अनसार विद्रोही सरदारों को गिरफ्तार कराने के लिए बड़े-बड़े पुरस्कारों की घोषणा की गयी, पर कोई भी अपनी जाति, अपने देश के साथ विश्वास-घात करने को आगे नहीं आया।

लेकिन अन्त में विद्रोही सरदारों में फूट पड़ गयी। एक ने आत्मसमर्पण कर दिया। अंगरेजों ने बड़ी प्रसन्नता के साथ उसका स्वागत किया, लेकिन फिर भी विद्रोह न दबा। इस विद्रोह को दबाने में अंगरेजों को पाँच वर्ष लगे। कितनी ही बार अंगरेजों ने अपनी सेना मिसमी पहाड़ियों पर चढ़ाई करने भेजी। विद्रोहियों का एक जत्था पकड़ा जाता, तो दूसरा लड़ाई को चलाये जाता। उनके अन्तिम दस्ते ने १८४३ में आत्मसमर्पण किया। इसके बाद अंगरेजों ने उन्हें एक साथ रहने नहीं दिया। उन्हें इस तरह बिखेर कर बसाया कि वे फिर कभी राजनीतिक शक्ति के रूप में प्रकट न हो सकें।

---

१. लेटर टू कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स, नं० ४६, १८४०; डा० लाहिड़ी, वही, पृ० २१०

अध्याय ५७

सुरेन्द्र साई का विद्रोह

(१८३९-६२)

गोंड़ विद्रोह (१८३३) में हम बता आये हैं कि किस प्रकार अंगरेजों ने संभलपुर की गद्दी पर अपने कठपुतले नारायण सिंह को बैठाया था और किस तरह राजगद्दी के दावेदार सुरेन्द्र साई के समर्थन में गोंड़ों ने विद्रोह किया था। लेकिन उससे भी भयंकर विद्रोह १८३९ में सुरेन्द्र साई के नेतृत्व में हुआ। १८४० में सुरेन्द्र साई और उनके भाई उदवन्त साई ने अपने चाचा बलराम सिंह के साथ मिल कर रामपुर के जमींदार दरयाव सिंह के पुत्र और पिता को मार दिया। इस पर अंगरेजों को उन्हें दण्ड देने का अच्छा मौका मिला। वे गिरफ्तार किये गये, उन पर मुकदमा चला और आजीवन कारावास का दण्ड देकर उन्हें हजारीबाग जेल में बन्द कर दिया गया।[1]

नारायण सिंह १८४९ में निःसन्तान मरा। इसलिए कंपनी सरकार ने उसका राज्य हड़प लिया। राज्य पाते ही अंगरेजों ने तुरन्त एक तरफ से राजस्व सवा गना कर दिया। जिन पर पहले कोई भी टैक्स नहीं लगता था, उन माफी की जमीनों, धर्मादा जमीनों आदि पर उन्होंने राजस्व लगा दिया और सख्ती के साथ वसूला। इसकी प्रतिक्रिया बड़ी जबर्दस्त हुई।. ब्राह्मण एक साथ मिल कर अपील करने राँची गये, लेकिन कोई सुनवायी न हुई।[2]

१८५४ में जमीन का फिर बन्दोबस्त हुआ और इस बार फिर राजस्व एक चौथाई बढ़ा दिया गया। परिणाम हुआ कि इस रियासत से अंगरेजों की आमदनी बेहद बढ़ गयी। एक लेखक ने १८५४ में लिखा :

> "यह रियासत १८४९ के पहले केवल ८,८०० रु० राजस्व देती थी। अब प्रत्यक्ष राजस्व के रूप में ली गयी रकम ७४,००० रुपया है जिसमें से वसूली के खर्च और एक यूरोपीय अफसर समेत कर्मचारियों के वेतन आदि के रूप में सिर्फ २५,००० रुपये खर्च किये जाते हैं।"[3]

इसलिए जब १८५७ के राष्ट्रीय महाविद्रोह के दौरान सुरेन्द्र साई ने यहाँ की बगावत का नेतृत्व किया तो बहुत से जमीन्दारों ने भी उनका साथ दिया। कोलाबीरा या जयपुर के जमीन्दार इनमें सबसे ज्यादा प्रभावशाली थे। उनके विद्रोह में शामिल होने पर अनेक जमींदारों ने उनका अनुकरण किया। झारसूगुड़ा के गोबिन्द सिंह जैसे कुछ जमींदार ही विद्रोह में शामिल न हुए।

१. बंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, संभलपुर, पृ० २७

२. वही, पृ० ३०

३. वही, पृ० ३१

दानापुर में विद्रोह का समाचार पाते ही हजारीबाग में देशी पल्टन ने विद्रोह किया। उसने खजाने पर कब्जा किया, जेल को तोड़ कर कैदियों को मक्त कर दिया। इन मुक्त होने वालों में सुरेन्द्र साई और उनके भाई उदवन्त साई भी थे।[1] अपनी मक्ति के बाद दोनों भाई संभलपुर पहुँचे। सितम्बर १८५७ में वे १४०० या १६०० आदमी लेकर शहर के अन्दर घुसे और पुराने किले की चहारदीवारी के अन्दर डेरा डाला।[2] सुरक्षा का वादा पाकर सुरेन्द्र साई असिस्टेन्ट कमिश्नर कैप्टेन ली से मिले। उन्होंने कहा कि राज पाने की उनकी कोई इच्छा नहीं। वे चाहते सिर्फ यह हैं कि उनकी और उनके भाई की बाकी सजा माफ कर दी जाय। कैप्टेन ली ने इस सम्बन्ध में सरकार को लिखने का वादा किया और बदले में माँग की कि वे अपने साथियों को तितर-बितर कर दें और संभलपुर में ही रहें। सिर्फ उनके भाई उदवन्त को इजाजत दी गयी कि वे पास के गाँव खिन्दा में जाकर रहें।

सुरेन्द्र साई ने अंगरेजों की चाल ताड़ ली। पहले तो उन्होंने ली की सभी बातें मानने का दिखावा किया। भाई को खिन्दा भेज दिया और वहाँ आदमी जमा करने का आदेश दिया। ३१ अक्टूबर, १८५७ को वे खुद संभलपुर से सरक गये और खिन्दा में भाई से जा मिले।

अंगरेज अधिकारियों ने सितम्बर १८५७ में ही मद्रास सेना की दो कम्पनियाँ संभलपुर मगा ली थी। कैप्टेन नाकर के मातहत कटक से १० अक्टूबर को ४० वीं मद्रास देशी पल्टन की दो और कंपनियाँ संभलपुर आयीं। उन्हीं के साथ ओड़िसा पाइक कंपनी के ५० सिपाही भी आये। कुछ ही दिन बाद मद्रास आर्टिलरी का लेफ्टिनेन्ट हैडो कुछ तोपों और एक अन्य कंपनी के साथ संभलपुर आया। इस तरह काफी सेना इकट्ठा कर कैप्टेन नाकर ने खिन्दा और कोलाबीरा पर चढ़ाई की। उसने दोनों स्थानों पर कब्जा किया, लेकिन सुरेन्द्र साई और उनके भाई को न पकड़ सका।

विद्रोह ने अब उग्र रूप धारण किया। खास-खास जमीन्दार अंगरेजो को मार भगाने के लिए सेना इकट्ठा कर रहे थे। संभलपुर के आस-पास के सारे अंचल पर विद्रोहियों का कब्जा था। अंगरेजों के शिविर से सिर्फ ३-४ मील की दूरी पर विद्रोही डटे थे और हर रात को अंगरेजों के सन्तरियों पर गोली चलाते। मद्रास आर्मी का डा० मूर घायल सैनिकों के इलाज के लिए हैनसन के साथ संभलपुर भेजा गया था। लेकिन रास्ते में ही वह विद्रोहियों के हाथ मारा गया। उसका साथी किसी तरह भटकता हुआ कैप्टेन ली के पास पहुँचा। कैप्टेन ली ने पहले सेबुन्दी सैनिकों को विद्रोहियों पर हमला करने भेजा और फिर मद्रास सेना की बड़ी पल्टन लेकर उनकी सहायता के लिए चला। विद्रोहियों ने घने जंगल में उस पर हमला किया, उसके कई आदमियों को मार डाला, लेकिन वह खुद विद्रोहियों का कुछ भी न बिगाड़ सका।[3]

दिसम्बर के आरंभ में विद्रोहियों ने बम्बई की डाक का रास्ता काट दिया और दो

१. वही, पृ० ३१ २. वही, पृ० ३१ ३. वही, पृ० ३२

डाकखानों को जला दिया। चारों तरफ घूम-घूम कर वे अंगरेजों पर हमले करते। अब ओड़िसा के कमिश्नर कोबर्न ने ४०वीं मद्रास देशी पल्टन का बाकी हिस्सा मेजर बेट्स के नेतृत्व में संभलपुर भेज दिया। उसके साथ वे तोपें और तोपची भी भेजे जो उस वक्त कटक में थे।

इसी बीच लेफ्टिनेन्ट गवर्नर जनरल ने संभलपुर में काम के लिए सेबुन्दियों की कंपनियाँ बनाने का आदेश दिया। उसके अनुरोध पर मद्रास सरकार ने संभलपुर में अंगरेजों की ताकत बढ़ाने के कदम उठाये। कुछ समय के लिए संभलपुर को ओड़िसा डिवोजन के मातहत कर दिया गया। कोबर्न संभलपुर का अधिकार संभालने के लिए १९ दिसम्बर, १८५७ को मेजर विन्डम के मातहत ५वीं मद्रास पैदल सेना और मद्रास आर्टलरी के कैप्टेन एलिन के मातहत तोपखाना लेकर चला। वह संभलपुर २० जनवरी, १८५८ को पहुँचा।[१]

इसी बीच कैप्टेन वुड नागपुर का रिसाला लेकर संभलपुर पहुँच चुका था। ३० दिसम्बर को वह ७३ घुड़सवार और दो सौ पैदल सैनिक लेकर एक बगीचे में ठहरे विद्रोहियों पर यकायक टूट पड़ा। विद्रोही हार कर भागे, पर कैप्टेन वुड भी एक तीर से घायल हो गया। सुरेन्द्र साई फिर दुश्मन के हाथ से निकल गये, लेकिन उनके भाई छबीलो उर्फ छैलो साई मारे गये।[२]

जनवरी १८५८ के आरंभ में मेजर बेट्स संभलपुर पहुँचा और उसने सारे जिले की सेना की अध्यक्षता सभाली। वह तुरन्त झारघाटी दर्रे को मुक्त करने चला जिस पर उदवन्त का कब्जा था। उसने विद्रोहियों को पराजित किया, उनकी किलेबन्दी तोड़ दी और लड़ाई का सामान हस्तगत किया। इसके बाद उसने कोलाबीरा पर चढ़ाई की और वहाँ भी विद्रोहियों को पराजित किया। यहाँ के जमीन्दारों को फाँसी दे दी और जमीन्दारी जब्त कर ली।[३]

दूसरी तरफ कैप्टेन ली छोटी-सी सेना लेकर विद्रोह को दबाने गया था। लगभग १५०० विद्रोही एक पहाड़ी पर मोर्चा लगा कर डटे थे। घना जंगल और चट्टानों की नाकेबन्दी उनकी रक्षा कर रही थी। ली उन्हें पराजित करने में असफल रहा।

इसके कुछ ही दिन बाद नागपुर जाने वाली सड़क पर स्थित सिंघोरा दर्रे पर कैप्टेन शेक्शपियर ने फिर से कब्जा किया। इसके पहले इस दर्रे पर कब्जा करने के लिए कैप्टेन वुड और कैप्टेन वुडब्रिज भेजे गये थे, लेकिन पहाड़सिरगिरा में विद्रोहियों ने १२ फरवरी को वुडब्रिज को गोली मार दी। उसके मारे जाते ही सब भाग खड़े हुए। दो दिन बाद एनासाइन वारलो ने इस चौकी पर हमला किया और विद्रोहियों को भगा कर कैप्टेन वुडब्रिज का शव पाने में समर्थ हुआ। विद्रोहियों ने दो पहाड़ियों के बीच जंगल से ढकी घाटी में मोर्चेबन्दी कर रखी थी। इस घाटी के पार उन्होंने ७ फुट ऊँची और ३० फुट लम्बी दीवार बना रखी थी। पहाड़ी पर चढ़ाई के आधे रास्ते में उन्होंने इसी तरह की एक

१. वही, पृ० ११   २. वही, पृ० ११   ३. वही, पृ० ११

किलेबन्दी और कर रखी थी। दर्रे के ऊपरी भाग में तीसरी किलेबन्दी थी। सामने काफी दूर तक विद्रोहियों ने जंगल साफ कर लिया था ताकि चढ़ाई करने वाली सेना साफ दीख पड़े और छिपने का उसे स्थान न मिले। एनसाइन बारलो ने चाल चली। उसने दो टुकड़ियों को दायीं और बायीं तरफ हमला करने भेजा। एक टुकड़ी सामने से हमला करने को सुरक्षित रखा। उसकी योजना थी कि ज्योंही विद्रोही दायीं और बायीं टुकड़ियों से युद्ध करना शुरू कर दगे, वह सामने से हमला बोल कर उन्हें परास्त कर देगा। विद्रोहियों ने अपने को घिरा देख वहाँ से हट जाना ही उचित समझा।

अन्य अंचलों में भी कंपनी सेना ने विद्रोहियों पर हमले किये, लेकिन सब जगह पहाड़ियाँ और जंगल विद्रोहियों की मदद करते थे। ५ वीं देशी पल्टन के कैप्टन निकोल्स ने उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की, बार पहाड़ की पहाड़ियाँ विद्रोहियों का गढ़ थीं। वह यहाँ से विद्रोहियों को निकाल बाहर करने में सफल हुआ।[१]

फरवरी १८५८ में विद्रोह बहुत कुछ दब गया। कलकत्ता और कटक के बीच सड़क काट देने वाले बहुत से विद्रोही पकड़े गये। लेकिन फिर भी सुरेन्द्र साई अंगरेजों के हाथ न आये। अंगरेजों की सेना चार साल तक सब तरफ उनकी तलाश करती रही, उनसे लड़ती और उनकी सेना को तितर-बितर करती रही, पर फिर भी वे लड़ते रहे। जो भी अंगरेजों की सहायता करता, वह सुरेन्द्र साई के हाथ मार जाता, उसके परिवार के लोग भी मारे जाते और मदद करने वाले गाँव में आग लगा दी जाती।

आखिर में शाही घोषणा की गयी कि यदि सुरेन्द्र साई आत्मसमर्पण करेंगे तो उन्हें माफ कर दिया जायगा। इस घोषणा का भी कोई असर न हुआ। १८६१ में मेजर इंपी ने ओड़िसा के कमिश्नर के मातहत संभलपुर का भार संभाला। उसने घोषणा की कि जो विद्रोही आत्मसमर्पण कर देंगे उन्हें माफ कर दिया जायगा और उनकी जमीन्दारी उन्हें वापस दे दी जायगी। सिर्फ सुरेन्द्र साई, उनके पुत्र भानु साई और भाई उदवन्त साई को माफ न किया जायगा। इससे घेस के हाथी सिंह और उनके भाई कुंजल सिंह, गोंड़ विद्रोह के नेता बलभद्र दाऊ के पुत्र कमल सिंह दाऊ और खगेश्वर दाऊ अब भी बड़ी बहादुरी से लड़ रहे थे। लेकिन जब सुरेन्द्र साई ने देखा कि बहुत से जमीन्दारों की जमीन्दारियाँ वापस कर दी गयी हैं, तो उन्होंने मई १८६२ में आत्मसमर्पण कर दिया। उनके सेनाध्यक्ष कुंजल सिंह, कमल सिंह आदि इसके बाद भी लड़ते रहे। इस तरह यह विद्रोह दब गया।

१. वही, पृ० १४

अध्याय ५८

कोलियों का मोर्चा

(१८३९-५०)

कोली कच्छ की सीमा से लेकर पच्छिमी घाट तक फैले हुए थे। वे वर्तमान महाराष्ट्र के थाना जिले में सह्याद्रि पर और उसके आस-पास के अंचल में विशेष कर बसे हुए थे। अंगरेज इतिहासकारों ने उन्हें डाकू और लुटेरा कहा है, पर तथ्य कुछ दूसरी ही बात कहते हैं।

प्राप्त तथ्य बताते हैं कि वे सैनिक का काम किया करते थे और सामन्त सरदारों के दुर्गों की रक्षा किया करते थे। इन दुर्गों को तोड़ दिये जाने के कारण ये बेकार हो गये और अंगरेजों के राज्य में इधर-उधर उपद्रव करने लगे। १८२३ में भड़ोच जिले में कोलियों के विद्रोह का हम जिक्र पाते हैं।[1] १८२४ में गुजरात के कोलियों ने जबर्दस्त विद्रोह किया (देखिए अध्याय ३९)। वे अंगरेजों के राज्य में मारकाट करते हुए बड़ौदा के पास जा पहुँचे थे। बम्बई की देशी पल्टन का एक दस्ता उनसे लड़ने भेजा गया था, लेकिन विद्रोहियों ने उसे मार भगाया। अंगरेज सेना ड्रेगून्स ने जाकर उन्हें पराजित किया था।

हम ऊपर जिक्र कर आये हैं कि किलों के तोड़े जाने से कोलियों में बड़ा असंतोष था। सतारा के रमोसी के सफल विद्रोह (१८२६-२९) से इन कोलियों को भी प्रेरणा मिली और १८२८ में उन्होंने भंगरिया के नेतृत्व में विद्रोह का झण्डा उठाया। रामजी भंगरिया कोली थे और कंपनी सरकार की पुलिस के अफसर थे। सरकार ने हुक्म देकर उन्हें मिलने वाला पचास रुपया बन्द कर दिया था। इसके प्रतिवाद में उन्होंने सरकारी नौकरी से इस्तीफा दे दिया था।[2] अब वे विद्रोहियों के नेता बन गये।

कैप्टेन मैकिन्तोष इस विद्रोह को दबाने के लिए नियुक्त किया गया। बड़ी सेना लेकर वह कोलियों का दमन करने गया। लेकिन उसके लिए कोलियों के प्रधान केन्द्रों का पता लगाना बड़ा कठिन सिद्ध हुआ। उसने अपनी सेना का एक हिस्सा कोंकन में मुस्तैद किया, और दूसरा सह्याद्रि में। बाकी सेना लेकर वह पहाड़ियों में घुसा।[2] कोलियों के गढ़ों को खोज-खोज कर वह विद्रोह दबाने में उस वक्त सफल हुआ।

लेकिन ये बहादुर कोली हार मानने वाले न थे। वे अंगरेजों के सरदर्द का कारण बने रहे। १८३९ में वे फिर सह्याद्रि के आस-पास के अंगरेजों के अधीन गाँवों पर टूट पड़े। अन्य पहाड़ी जातियों ने भी उनका साथ दिया। इस बार उनका नेतृत्व करने

---

१. इम्पीरियल गजेटियर आफ इंडिया, बाम्बे प्रेसीडेन्सी, खण्ड १, पृ० ३०७
२. शशिभूषण चौधरी, वही, पृ० १९७

वाले भाऊ सरे, चिमना जी यादव और नाना दरबारे थे। वे अंगरेजों को मार भगाना और इस अंचल में पेशवा का राज्य कायम करना चाहते थे। विद्रोहियों ने पेशवा के नाम पर राज-काज चलाना भी आरंभ कर दिया।[1]

अंगरेज अधिकारियों ने खतरे को भाँपा और फौरन इस विद्रोह को कुचलने के लिए कदम उठाये। विद्रोहियों ने घोड़े स्थित महलकरी खजाने पर हमला करने की योजना बनायी थी। लेकिन पूना का असिस्टेन्ट कलक्टर रोज ऐन मौके पर आ पहुँचा। १५० विद्रोहियों ने उस स्थान को सारी रात घेर रखा था। रोज ने उन पर हमला कर तितर-बितर कर दिया, कितने ही कोलियों को गिरफ्तार किया। ५४ कोलियों पर मुकदमा चला और कड़ी सजा दी गयी। दो नेताओं को, जिनमें एक रामचन्द्र गणेश गोरे और दूसरे एक कोली थे, फाँसी दे दी गयी।[2]

शीघ्र ही पूना के दक्षिण-पच्छिम हिस्से के कोलियों ने संगठित होकर रघु भंगरिया और बापू भंगरिया के नेतृत्व में हमला शुरू किया। वे साधारण ग्रामवासियों को न सताते थे। उनके आक्रमण के लक्ष्य गाँव के पटेल थे जो अंगरेजों के शासन के प्रतीक थे।[3] वे अंगरेजों के राज के इस चिह्न को खत्म कर देना चाहते थे। उनका दमन करने में कितने ही पुलिस वाले मारे गये।

कोलियों के विद्रोह की एक विशेषता यह थी कि जिले के एक हिस्से में ज्योंही उनका विद्रोह दबाया जाता दूसरे हिस्से में वे उठ खड़े होते। उनके इस विद्रोह का समर्थन जनता के कुछ प्रभावशाली हिस्से करते थे।[4] उनके विद्रोह की इस विशेषता के बारे में पूना डिस्ट्रिक्ट गजेटियर ने लिखा :

> "इन विद्रोहों की नयी विशेषता यह थी कि सरकारी खजाना लूटा जाता, पटेलों और स्थापित की गयी नयी अदालतों के कर्मचारियों की पिटाई की जाती, और सूदखोर लूट लिए जाते।"[5]

१८४५ में विद्रोह पुरन्दर और सतारा में फैल गया।[6] पुरन्दर में केमा गावली ने रमोसी विद्रोह के मशहूर नेता उमा जी नायक के पुत्रों की सहायता से काफी बड़ी अशान्ति पैदा की। विद्रोह को संगठित करने के व्यय के लिए उन्होंने जेजुरी स्थित खानदोबा के प्रसिद्ध मंदिर पर हमला किया और मूर्ति समेत सब कीमती वस्तुएँ उठा ले गये। उन्होंने मूर्ति बाद में वापस कर दी।[7] इस विद्रोह ने ऐसा गंभीर रूप धारण किया कि इसे दबाने के लिए सेना मंगानी पड़ी। मई १८४५ में जूनार में सेना तैनात की गयी और विद्रोहियों की गतिविधि रोकने के लिए नाना तथा मालसेज के दर्रों में फौजी चौकियाँ बैठा दी गयीं। १८४६ में कुछ विद्रोही पकड़े गये, लेकिन रघु भंगरिया पुलिस की आंख में धूल झोंक कर बच निकले। लोगों में उनका बड़ा प्रभाव था। २ जनवरी १८४८ को लेफ्टिनेन्ट गेल और पुलिस ने उन्हें धूर्तता से पकड़ लिया तथा फांसी

१. गजेटियर आफ बम्बे स्टेट, पूना डिस्ट्रिक्ट, पृ० ६३
२. वही, पृ० ६३ ३. वही, पृ० ६३ ४. वही, पृ० ६३
५. वही, पृ० ६३ ६. चौधरी, वही, पृ० १६८ ७. उपरोक्त गजेटियर, पृ० ६३

से लटका दिया। उमा जी के पुत्र तुकिया और मांकला १८५० में पकड़े गये। उनके पकड़े जाने के बाद विद्रोह शान्त हो गया।

१८५८ में एक कोली को नीचे की अदालत ने इसलिए मौत की सजा दी थी कि उसने नाना साहब के नाम पर एक घोषणा जारी की थी। अपील करने पर वह रिहा कर दिया गया था।[१] राष्ट्रीय महाविद्रोह के वक्त कोलियों में बड़ी अशान्ति के प्रमाण नहीं पाये जाते।

१८७३ में कोलियों ने फिर मोर्चा लगाया था। इस बार विद्रोहियों के नेता होनिया कोली थे।[२] उनके आक्रमण के लक्ष्य सूदखोर महाजन थे। दरअसल यह विद्रोह १८७५ के महाराष्ट्र के व्यापक हंगामों का ही एक अंग था।

---

१. वही, पृ० ६३ २. वही, पृ० ६३

अध्याय ५६

बुन्देला विद्रोह

(१८४२)

१८१८ में पेशवा (बाजीराव द्वितीय) को लार्ड हेस्टिंग्स ने पदच्युत किया तो मध्य-प्रदेश के सागर और दमोह के जिले अंगरेजों के हाथ में आ गये। उन्होंने १८३५ में अपने राज्य का 'उत्तर-पच्छिम प्रान्त' नामक प्रदेश स्थापित किया और इन दोनों जिलों को जोड़ दिया।

इन जिलों के हाथ में आने और नर्मदा की घाटी में अपनी स्थिति के मजबूत होने के बाद अंगरेजों ने इस अंचल का राजस्व बढ़ाने पर ध्यान दिया। १८३३-३४ में उन्होंने सागर और नर्मदा अंचल के राजस्व की जाँच के लिए मार्टिन बर्ड को नियुक्त किया। उसने सिफारिश की कि 'उदारतापूर्वक' बीस साल के लिए राजस्व निश्चित कर दिया जाय और असाधारण हालतों को छोड़ कर किसी का भी राजस्व कम न किया जाय। इसकी सिफारिशों के अनुसार कंपनी सरकार ने यहाँ के सभी लोगों पर राजस्व बैठा दिया। जिन लोगों ने कभी कोई राजस्व न दिया था और दिया भी था तो नाम मात्र को, उनको इस व्यवस्था का अनुचित लगना स्वाभाविक था। कंपनी के अत्याचारी और भ्रष्टाचारी अधिकारियों की मेहरबानी से इस असंतोष की आग में घी पड़ा। १८४२ में सागर और नर्मदा अंचल के सामन्त सरदारों ने इन सब कारणों से विद्रोह का झण्डा बुलन्द किया जो इतिहास में बुन्देला विद्रोह कहलाता है। इस विद्रोह के कारणों पर प्रकाश डालते हुए जबलपुर डिस्ट्रिक्ट गजेटियर के रचयिता ने लिखा :

> "१८३५ में उत्तर-पच्छिम प्रदेश के बनने पर सागर और नर्मदा अंचल उसमें मिला लिये गये और लेफ्टिनेन्ट-गवर्नर का एजेन्ट पदवीधारी अफसर उसके प्रशासन की देख-रेख के लिए जबलपुर में नियुक्त किया गया।
>
> "आरंभ में इस अंचल का प्रशासन सफल न हुआ। ब्रिटिश प्रशासकों ने यहाँ भी वही गलती दोहराई जो उन्होंने मद्रास और अन्य स्थानों में की थी। उन्होंने जमीन का मूल्यांकन बहुत बढ़ा-चढ़ा कर किया, असम्भव राजस्व की मांग की, लोगों को गरीब बना दिया और इस अंचल की उन्नति रोक दी। बाद में जब यह गलती पकड़ी गयी तो इसकी निन्दा कड़े शब्दों में की गयी।"[1]

बुन्देला विद्रोह का केन्द्र सागर का उत्तरी हिस्सा था। यह विद्रोह मार्च १८४२ में आरंभ हुआ। झीकम के पास मौजा चन्द्रपुर के बुन्देला जमीन्दार जवाहर सिंह और नरहुत के जमीन्दार मधुकर शाह थे। बकाया राजस्व के नाम पर दीवानी अदालत से

---

१. मध्य प्रदेश डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, जबलपुर, पृ० ६६

उनके खिलाफ डिग्री करा ली गयी। जब डिग्री की बात इनके पास पहुँची, तो वे बागी हो गये। उन्होंने पुलिस अफसरों को मार दिया और खिमलास, खुराई, नरिओली, धामोनी और बिनायक नामक नगरों को लूट लिया।[१]

उनके विद्रोह करते ही चारों तरफ विद्रोह मच गया। नरसिंह पुर के गोंड़ सरदार डेलन शाह ने विद्रोह कर देवरी और उसके आसपास के अंचल तथा नरसिंह पुर के चाँवरपाठ अंचल को लूट लिया।[२] यह विद्रोह प्रायः एक साल तक रहा।

नरहुत के मधुकर शाह और गणेशजू को बानपुर रियासत में गिरफ्तार किया गया। मधुकर शाह को फांसी दी गयी और गणेशजू को आजीवन निर्वासन।[३] मधुकर शाह इस अंचल की लोक कथाओं के नायक बन गये। जनश्रुतियों के अनुसार मधुकर शाह डिग्री के कारण विद्रोही न बने थे, बल्कि एक हेड कांस्टेबुल के अत्याचार के कारण। मधुकर शाह ने होली के त्योहार के दिन नाचने-गाने के लिए एक 'बरनी' (नर्तकी) ठीक की थी। पास के थाने का हेड कांस्टेबुल भी एक नर्तकी उस दिन के लिए चाहता था। उसे कोई नर्तकी न मिली, तो मधुकर शाह द्वारा तय की गयी नर्तकी को उनके घर से जबर्दस्ती पकड़ मंगाया। मधुकर शाह यह अपमान बर्दास्त न कर सके और विद्रोही बन गये। वे सीधे थाने गये और सब पुलिस वालों को मौत के घाट उतार दिया।[४]

इसके बाद उनके पीछे फौज पड़ी। जनश्रुति के अनुसार वे रात को अपनी बहन के घर में जाकर सोया करते थे। सेना के वहाँ पहुँचने पर उनकी बहन ने बता दिया कि वे कहाँ सो रहे हैं। वे सो रहे थे, लेकिन किसी की हिम्मत उनको गिरफ्तार करने की न हो रही थी। उनके चेहरे के तेज को देख कर सभी विमूढ़ होकर खड़े थे। अन्त में कई सैनिकों ने एक साथ जाकर उन्हें पकड़ा। फाँसी के बाद उनका शव सागर जेल के पीछे जलाया गया। उनकी स्मृति में वहाँ एक चौतरा बनाया गया। उसकी पूजा अब भी होती है और गोपाल गंज मुहल्ले के निवासी उसकी हिफाजत करते हैं।[५]

जबलपुर में विद्रोह की आग अप्रेल १८४२ के आरंभ में पहुँची। यहाँ के विद्रोह के नेता हीरापुर तालुके के राजा हिरदे शाह थे। उस वक्त यह तालुका जबलपुर जिले में शामिल था, अब नरसिंहपुर जिले में है। उन्होंने कई ठाकुरों को पत्र लिखा था और एक साथ अंगरेजों के खिलाफ उठ खड़े होने का अनुरोध किया था। कैप्टन ब्राउन के हाथ में इनमें से कुछ पत्र पड़ गये थे जिनसे उसे मालूम हो गया कि विद्रोह आरंभ होने का दिन दशहरे के उत्सव का दिन तय किया गया है। उसने इस उत्सव के दिन राजा हिरेद शाह और उनके बहुत से साथियों को अपने यहाँ निमंत्रित किया, किन्तु वे उसके यहाँ न गये।[६]

---

१. सी० पी० डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, सागर, पृ० २४

२. वही, पृ० २४

३. वही, पृ० २४

४. वही, पृ० २४

५. वही, पृ० २४-२५

६. हिस्ट्री आफ फ्रीडम मूवमेन्ट इन मध्य प्रदेश, पृ० ३५; मध्य प्रदेश डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स जबलपुर, पृ० १००

जबलपुर में विद्रोह के दूसरे नेता कटरा-बेलखेड़ा के ठाकुर हिन्दूपत थे। विद्रोह के आरंभ होते ही उन्होंने अपनी गढ़ी पर एक तोप लगायी, हथियार और गोला-बारूद इकट्ठा की और सेना खड़ी करनी शुरू की। अंगरेजों को ऐन मौके पर खबर मिल गयी और उन्हें १९ सितम्बर १८४२ को जबलपुर में प्रिंसिपल असिस्टेन्ट कमिश्नर के सामने आत्मसमर्पण करना पड़ा।

चूंकि अंगरेजों को राजा हिरदे शाह और उनके साथियों के विद्रोह का समाचार पहले ही मिल गया था, इसलिए उन्होंने उसे रोकने की तैयारी कर ली थी। दशहरे के दिन कैप्टेन ब्राउन के यहाँ आने से उनके इन्कार करने के बाद अंगरेजों ने उनके खिलाफ फौज भेजी। उनके विद्रोह के समाचार से सारे जबलपुर में सनसनी फैल गयी थी और अंगरेज अधिकारी चिन्तित हो गये थे।[1] राजा हिरदे शाह कई महीनों तक अंगरेजों के हाथ न आये। कर्नल एली उनका पीछा कर रहा था। राजा पाटन की तरफ बढ़ रहे थे। रास्ते मे शाह गढ़ के गद्दार राजा की मदद से कर्नल एली राजा हिरदे शाह को सपरिवार २९ दिसम्बर १८४२ को गिरफ्तार करने में समर्थ हुआ।[2]

उधर मधुकर शाह और इधर राजा हिरदे शाह की गिरफ्तारी के बाद विद्रोही पस्त-हिम्मत हो गये। उन्होंने आत्मसमर्पण कर दिया। इस तरह अप्रेल १८४३ तक सारा विद्रोह शान्त हो गया।

बुन्देला विद्रोह के परिणाम क्या हुए? इस विद्रोह से खेती को नुकसान पहुँचना बिल्कुल लाजिमी था। अंगरेजों को मार भगाने की चेष्टा में खेती की उपेक्षा हो गयी। कंपनी सरकार ने लोगों की सदिच्छा प्राप्त करने की गरज से लगान में १० प्रतिशत की छूट दी।

लेकिन सबसे ज्यादा प्रभाव प्रशासन पर पड़ा। गवर्नर जनरल लार्ड एलेनबरा ने सारी हालत पर गौर करने के बाद स्वीकार किया कि विद्रोह का मुख्य कारण जनता पर सरकार का अत्याचार था। इसलिए उन्होंने यहाँ के सब अंगरेज अफसरों का तबादला कर दिया और कर्नल स्लीमैन को यहाँ का प्रशासन चलाने के लिए भेजा। स्वयं गवर्नर जनरल की यह स्वीकारोक्ति इस विद्रोह की बहुत बड़ी विजय थी।

---

१. मध्य प्रदेश डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, जबलपुर, पृ० १००

२. वही, पृ० १००

अध्याय ६०

कोल्हापुर का गढ़करी विद्रोह

(१८४४)

पेशवा को अपने सामन्त सरदारों से विछिन्न करने की नीति के अंग के रूप में बम्बई प्रेसीडेन्सी के अंगरेज अधिकारी एलफिंस्टन ने कोल्हापुर के राजा के साथ १ अक्तूबर, १८१२ को सन्धि की और उसे अंगरेजों का संरक्षित राज्य बना लिया। लेकिन यहाँ के राजा शाह जी (१८२१-३७) का रवैया अंगरेजों को पसन्द न आया। शाह जी अपनी सेना बढ़ा रहे थे और कंपनी सरकार के खिलाफ योजना बना रहे थे। कित्तूर विद्रोह (१८२४) में, जिसमें पोलिटिकल एजेन्ट थाकरे और कुछ अन्य अंगरेज अफसर मारे गये थे, शाह जी के हाथ का सन्देह किया गया था। शीघ्र ही वे खुल कर अंगरेजों के खिलाफ आ गये। उन्होंने सबसे पहले उन सामन्त सरदारों को अपने कब्जे में करना शुरू किया, जो अंगरेजों के खैरख्वाह थे। इससे अंगरेजों ने सेना भेज कर शाह जी को कागल और सतारा के उन जिलों को वापस करने को वाध्य किया जिन पर उन्होंने कब्जा कर लिया था। २० दिसम्बर १८२५ के समझौते में उनसे वादा कराया गया कि वे ब्रिटिश सरकार के शत्रुओं को कभी भी अपने यहाँ शरण न देंगे।[1]

इस समझौते की पुष्टि बम्बई प्रेसीडेन्सी की कंपनी सरकार ने २४ जनवरी १८२६ को की, लेकिन साथ ही जोड़ दिया कि राजा को अपनी सेना कम करनी होगी।[2] राजा ने यह संधि जल्दी ही तोड़ डाली और अपनी सेना खुलेआम बढ़ायी। कंपनी सरकार ने फिर राजा को दबाया और उन पर अक्तूबर १८२७ में अन्य सन्धि लाद कर उन्हें अपनी सेना को सीमित करने तथा कोल्हापुर और पन्नलगढ़ के किलों में अंगरेज सेना रखने को वाध्य किया। राजा ने फिर इस संधि को फाड़ फेंका और अपनी सेना तथा शक्ति बढ़ानी शुरू की। उन्होंने २०,००० सेना और छिपा कर कितनी ही तोपें इकट्ठा कीं। वे उन्हें लेकर अपना राज्य बढ़ाने और दुश्मनों को पराजित करने के लिए चले, लेकिन हैजे के कारण पंढरपुर गाँव के पास २९ नम्बर १८२८ को उनकी मृत्यु हो गयी।[3]

शाह जी के दो पुत्र शिवाजी चतुर्थ और शंभू थे, जो क्रमश: बाबा साहब और चीमा साहब कहलाते थे। शिवाजी चतुर्थ गद्दी पर बैठाये गये, पर चूँकि वे नाबालिग थे इसलिए उनकी माँ, बुआ और चार कारभारियों को लेकर राज-काज चलाने के लिए रीजेन्सी बनायी गयी। शीघ्र ही बुआ के, जिन्हें दीवान साहब कहा जाता था, हाथ सारी सत्ता आ गयी। वे शाह जी की अंगरेज विरोधी नीति पर चलना चाहती थीं,

---

१. शशिभूषण चौधरी, वही, पृ० १६५

२. वही, पृ० १६५

३. महाराष्ट्र स्टेट गजेटियर्स, कोल्हापुर डिस्ट्रिक्ट, पृ० ८६

इसलिए अंगरेजों को पसन्द न आया। १८४३ में उन्होंने संधि की एक धारा का इस्तेमाल कर दाजी कृष्ण पंडित को राज-काज चलाने के लिए मंत्री नियुक्त किया। इसकी नियुक्ति के एक साल के अन्दर कोल्हापुर में जबर्दस्त विद्रोह आरंभ हो गया जो इतिहास में गड़करी विद्रोह के नाम से मशहूर है।

ये गड़करी राजा के पहाड़ी किलों के रक्षक सैनिक थे। अपनी सैनिक सेवाओं के लिए इन्हें राजा की तरफ से जमीन मिली थी जिसका कोई भी राजस्व उन्हें न देना पड़ता था। कैप्टेन ग्रान्ट डफ ने सतारा जिले की जमीन का बन्दोबस्त किया, तो माफी की सारी 'शेतसुन्दी' और 'घुड़कुर्री' जमीनें छीन लीं और उन पर राजस्व बैठा दिया। इन सैनिकों को उसने सूचित किया कि

> "तुम्हारी सेवाओं की अब जरूरत नहीं; और फलतः तुम्हें सेवा से मुक्त किया जाता है, लेकिन तुम्हारी जमीनें तुम्हारे पास रहने दी जायेंगी बशर्ते कि सरकार को राजस्व दो।"[1]

इस तरह इन सैनिकों की जमीनों पर राजस्व लगा कर कंपनी सरकार की आमदनी काफी बढ़ायी गयी। जो धन इन भारतीय सैनिकों के घर में रहता था, वह अब उनके घर से निकाल कर कंपनी सरकार के खजाने में पहुँच कर समन्दर पार विलायत पहुँचने लगा। कंपनी सरकार ने उनके साथ यही नहीं किया, उसने उनकी जमीनों पर अपने 'मामलातदार' बैठा दिये जो पास के सब-डिवीजनों के थे। यह इन सैनिकों का अधिकार हरण ही नहीं, अपमान भी था। इस अन्याय के खिलाफ इन सैनिकों ने जबर्दस्त विद्रोह आरंभ किया।

जुलाई १८४४ में यह विद्रोह सामानगढ़ और भूधरगढ़ के किलों से आरंभ हुआ। विद्रोहियों ने इन गढ़ों के फाटक बन्द कर दिये। अंगरेज शासकों ने यह विद्रोह दबाने के लिए सितम्बर के मध्य में एक सेना बेलगाँव से सामानगढ़ भेजी और कोल्हापुर स्थित अंगरेज सेना को भूधरगढ़ रवाना किया। बेलगाँव से आयी अंगरेज सेना ने धावा बोल कर सामानगढ़ पर कब्जा करने की कोशिश की, पर हार कर बेलगाँव से तोपें मंगवा भेजीं। कोल्हापुर से भूधरगढ़ पर चढ़ायी करनेवाली अंगरेज सेना बुरी तरह पिट गयी।[2]

विद्रोहियों की इस सफलता से सब जगह विद्रोह फैल गया। सिबान्दियों अर्थात् कोल्हापुर की स्थानीय सेना ने भी विद्रोह कर दिया, मंत्री दाजी पंडित को गिरफ्तार कर लिया और अंगरेजों द्वारा स्थापित सरकार समाप्त कर विकल्प सरकार स्थापित की।[3]

हालत की बढ़ती गंभीरता को देख कर अंगरेजों ने इसे दबाने की बड़ी व्यापक व्यवस्था की। ८ अक्तूबर, १८४४ को जनरल डेलामोट ने इस मोर्चे पर सारी कंपनी सेना की अध्यक्षता संभाली। तीन दिन बाद बेलगाँव से आयी चार सीजगनों को सामानगढ़ की चहारदीवारी के पास लगा दिया गया। इनकी मदद से किले की दीवार तोड़ी गयी और १३ अक्टूबर को अंगरेजों का कब्जा हो गया। कर्नल आउटराम इसी समय यहाँ ज्वायंट कमिश्नर बन कर आया। सामानगढ़ का पतन होते ही वह कुछ सेना लेकर

---

१. चौधरी, वही, पृ० १९९   २. उपरोक्त गजेटियर, पृ० ८७   ३. वही, पृ० ८७

कोल्हापुर की तरफ चला। लम्बे वार्तालाप के बाद वह दाजी पंडित को मक्त कराने में सफल हुआ। इसी मौके पर राज परिवार ने धोखा दिया। नौजवान राजा, उसकी बुआ और तथा कुछ सरदार अंगरेजों के शिविर में आ मिले। यह गद्दारी देख कर सिबान्दी विद्रोह के नेता बाबा जी अहीरेकर अपन पाँच सौ साथियों को लेकर कोल्हापुर से हट गये और भूधरगढ़ चले गये।[१]

काफी देर करके जनरल डेलामोट अपनी सेना लेकर भूधरगढ़ पहुँचा। वह जब एक फाटक पर इस किले के रक्षकों के आत्मसमर्पण का इन्तजार १० नवम्बर को कर रहा था तो दूसरे फाटक से बाबा जी सदल बल किले से बाहर निकल गये और पनहाला के किले में जाकर शरण ली। इसी के बाद ही विद्रोहियों ने कर्नल ओवान्स को गिरफ्तार कर लिया जो कमिश्नर का पद संभालने आया था और इसी किले में उसे कैद कर दिया। जनरल डेलामोट अपनी सारी सेना, कमिश्नर रीव्ज और कर्नल आउटराम को लेकर २५ नवम्बर को पनहाला पहुँचा।[२]

जनरल डेलामोट ने विद्रोहियों को कर्नल ओवान्स को छोड़ देने और आत्मसमर्पण करने को कहा। उन्होंने ओवान्स को छोड़ दिया, लेकिन आत्मसमर्पण करने से इन्कार कर दिया। इस पर डेलामोट ने किले पर आक्रमण शुरू किया। तोपों की मदद से वह १ दिसम्बर १८४४ को दीवार तोड़ने और किले पर कब्जा करने में समर्थ हुआ। विद्रोही इस किले से निकल कर पवनगढ़ में पहुँचे, लेकिन अंगरेजों की सेना उनका पीछा करते हुए उसी दिन वहाँ आ पहुँची। घमासान लड़ाई के बाद इस पर भी उसी दिन अंगरेजों का कब्जा हो गया। बाबा जी और कई अन्य नेता इस युद्ध में मारे गये और बहुत से विद्रोही कैद किये गये।[३]

पनहाला के पतन होते ही कर्नल वैलेस की अध्यक्षता में एक सेना राँगना किले पर कब्जा करने भेजी गयी। एक दो दिन अंगरेज सेना का मुकाविला करने के बाद विद्रोहियों ने इसे खाली कर दिया। इसी समय विशालगढ़ का भी पतन हो गया। इस तरह कोल्हापुर में विद्रोह दब गया। सब किले तोड़ दिये गये और एक ब्रिटिश अफसर कोल्हापुर का राजनीतिक सुपरिन्टेडेन्ट नियुक्त किया गया।[४]

१. वही, पृ० ८७ २. वही, पृ० ८७ ३. वही, पृ० ८८ ४. वही, पृ० ८८

अध्याय ६१

सावन्तवाड़ी में बगावत

(१८४४-५९)

उत्तर कोंकन के तट पर स्थित सावन्तबाड़ी बम्बई प्रेसीडेन्सी में एक छोटी-सी रियासत थी जिसका क्षेत्रफल ९२५ वर्गमील था। उत्तर और पच्छिम में ब्रिटिश अधिकृत रत्नागिरि का जिला, पूर्व में पच्छिमी घाट और दक्षिण मे पुर्तगालियों द्वारा अधिकृत गोवा था।[1]

उन्नीसवीं सदी के आरंभ में इस रियासत की राजसत्ता बड़ी दुर्बल थी। यहाँ के शक्तिशाली राजा खेम सावन्त की मृत्यु १८०३ में हुई। वे निस्सन्तान थे, इसलिए उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर दो साल तक झमेला चला। १८०५ में विधवा रानी लक्ष्मी बाई ने रामचन्द्र सावन्त उर्फ भाऊ साहब नामक एक बच्चे को गोद लिया। तीन साल बाद ही गला घोंट कर इस बच्चे को मार दिया गया। उसके स्थान पर अब फोंड़ सावन्त नामक एक नाबालिग बैठाया गया।[2] वह भी सिर्फ चार साल (१८०८-१२) तक गद्दी पर रह सका। उसकी मृत्यु के बाद उसका नाबालिग बेटा खेम सावन्त चतुर्थ उर्फ बापू साहब गद्दी पर बैठा। उसकी नाबालिग की हालत में उसकी माँ दुर्गा बाई राज्य का संचालन करती थीं।

रियासत की इस दुर्बलता का सबसे ज्यादा लाभ अंगरेजों ने उठाया। रियासत के जहाज अंगरेज सौदागरों के जहाज लूट लेते थे। जहाजों का यह लूटना उन्होंने खुद अंगरेजों से सीखा था। अंगरेजों ने न मालूम कितनी बार भारतीय और अरब व्यापारियों के जहाज लूटे थे। अत: जहाज लूटने के अपराधी सिर्फ सावन्तवाड़ी के ही जहाज न थे। अवश्य ही इनसे अंगरेज सौदागरों को काफी नुकसान पहुँच रहा था। अरब सागर में ये जहाज उनके लिए आतंक बन गये थे। इस सम्बन्ध में इंपीरियल गजेटियर आफ इंडिया ने लिखा :

> "अशान्ति के इन वर्षों में (सावन्तवाड़ी के) बन्दरगाहों में लुटेरे जहाजों का जमघट था। ब्रिटिश व्यापार को इतना बड़ा धक्का लगा कि १८१२ में फोंड़ सावन्त को एक संधि करने, वेनगुर्ला का बन्दरगाह अंगरेजों को सौंप देने तथा अपने सब युद्धपोतों को त्याग देने का वादा करने को वाध्य किया गया।"[3]

अंगरेजों ने सावन्तवाड़ी के सभी प्रमुख बन्दरगाहों पर कब्जा कर लिया और सभी युद्धपोत छीन लिये या ध्वंस कर दिये।

इसलिए दुर्गा बाई का अंगरेजों का कट्टर दुश्मन हो जाना स्वाभाविक था। उनकी

---

१. इंपीरियल गजेटियर आफ इंडिया, बाम्बे प्रेसीडेन्सी, खण्ड २, पृ० ४६४

२. वही, पृ० ४६६ ३. वही, पृ० ४६६

रियासत के हथियारबन्द लोग जाकर अंगरेजों के अधिकृत अंचल में गोलमाल करते हैं, यह आरोप लगा कर जनरल कीर के नेतृत्व में ईस्ट इंडिया कंपनी की सेना ने इस रियासत पर चढ़ाई की और यहाँ के सब किलों को आत्मसमर्पण करने को मजबूर किया।

दुर्गा बाई की मृत्यु के बाद अंगरेजों का मुकाबिला करने वाला इस रियासत में कोई राजनेता न रह गया। ब्रिटिश सरकार आखिर म १७ फरवरी, १८१९ में उसे अपने संरक्षण में लाने में सफल हुई।[1] रियासत को किसी भी अन्य रियासत से सम्बन्ध स्थापित करने की स्वाधीनता न रह गयी। अंगरेज सेना वहाँ आकर रहने लगी। एक ब्रिटिश अफसर पोलिटिकल एजेन्ट बन कर वहाँ रहने लगा। अब रियासत की आमदनी को क्रमशः अपने हाथ में लाना, राजा के अधिकारों को छीनना और अन्त में रियासत को गटक जाने की तैयारी करना, अंगरेजों का मुख्य लक्ष्य बना। १८३०, १८३२ और १८३६ में उन्होंने अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया और हर मौके पर उन्होंने अपनी शर्तें राजा पर लादीं। चुंगी से इस रियासत की जो भी आमदनी होती थी, वह अंगरेज अब ले लेते थे रियासत की रक्षा में नियुक्त ब्रिटिश सेना का खर्च पूरा करने के बहाने। १८३८ में उन्होंने राजा को अयोग्य करार देकर उसे राजगद्दी से उतार दिया और रियासत का प्रशासन अपने हाथ में ले लिया।[2]

इससे इस रियासत के आमलोगों और सरदारों में बड़ा असन्तोष फैला। कितने ही लोग रियासत छोड़ कर गोवा चले गये। उन्होंने वहाँ से वाड़ी के दुर्ग पर कब्जा करने की योजना बनायी। १८३९ म उन्होंने इस दुर्ग पर यकायक धावा बोल दिया और उस पर प्रायः कब्जा कर लिया।[3] १८४४ में जब कोल्हापुर में विद्रोह आरंभ हुआ, तो सावन्तवाड़ी में भी सब जगह विद्रोह फैल गया। अंगरेजों को रियासत से मार भगाने की भावना सर्वत्र दीख पड़ी।

वाड़ी के असन्तुष्ट लोगों और बेलगांव से ३५ मील उत्तर-पच्छिम स्थित मनोहर के किले के रक्षक सिपाहियों ने विद्रोह कर अंगरेजों के खिलाफ मोर्चा लगाया। मेजर बेनबो की अध्यक्षता में कंपनी की सेना ने विद्रोह को दबाने की कोशिश की, लेकिन पराजित हुई। इसके बाद लेफ्टिनेन्ट कर्नल आउटराम ११ वीं देशी पल्टन की चार कंपनियाँ लेकर आया और अखेरी दर्रे में विद्रोहियों को पराजित किया।

लेकिन विद्रोहियों की शक्ति बढ़ती गयी। फोंड़ सावन्त नामक प्रभावशाली सामन्त और उसके आठ बेटे विद्रोहियों से आ मिले तो उनकी ताकत और भी बढ़ गयी। रियासत के उत्तराधिकारी अन्ना साहब ने भी विद्रोहियों का साथ दिया। विद्रोहियों ने ईस्ट इंडिया कंपनी की देशी पल्टन की तरफ भी ध्यान दिया और उसे फोड़ने की चेष्टा की। इसके लिए उन्होंने दसवीं रेजीमेंन्ट के अफसरों के साथ वार्तालाप भी चलाया।[4] १८४५ तक सारी रियासत में विद्रोह फैल गया। यहाँ तक कि ब्रिटिश सेना की चौकियों के पास भी अंगरेज अपने को सुरक्षित न समझते थे।

---

१. शशिभूषण चौधरी, वही, पृ० १६६
२. वही, पृ० १७०
३. वही, पृ० १७०
४. चौधरी, वही, पृ० १७०

इस स्थिति का मुकाबिला करने के लिए ईस्ट इंडिया कंपनी की सरकार ने कठोर कार्रवाई की। उसने मार्शल्ला की घोषणा की और रियासत पर एक साथ तीन तरफ से हमला किया। लेकिन इतने पर भी विद्रोह दबता नजर न आया। विद्रोहियों के एक नामी नेता सुभान निकम थे। उन्होंने पच्छिम में मलवां में मोर्चा लगा रखा था। विद्रोह के दूसरे नेता दाजी लक्ष्मण ने उत्तर में और तीसरे नेता हर सावन्त दिगनेकर ने पूर्व में राम दर्रे में मोर्चा लगा रखा था। इनके जबर्दस्त मोर्चों को तोड़ कर आगे बढ़ना अंगरेजों के लिए मुश्किल हो रहा था।

विद्रोह जैसे-जैसे आगे बढ़ा, उसके नये नेता भी पैदा हो गये। उन्होंने अंगरेजों के अधिकृत वरद और पेन्दूर जिलों पर भी धावे किये और उनसे राजस्व वसूल किया। लेकिन क्रमशः विजय विद्रोहियों के हाथ से सरकने लगी। अंगरेजों की सेना धीरे-धीरे आगे बढ़ने और कब्जा करने लगी। रंगना के किले पर उसका कब्जा खास महत्वपूर्ण था। उधर कर्नल आउटराम ने मनोहर के किले पर कब्जा किया और विद्रोहियों को तितर-बितर कर दिया।[1] कितने ही विद्रोही गोवा चले गये।

वाड़ी रियासत पर अन्ना साहब का दावा अस्वीकार कर दिया गया और रियासत अंगरेजी राज्य में मिला ली गयी। लेकिन १८५० में कंपनी सरकार ने उनको और उनके परिवार को भत्ता देने का फैसला किया। फोंड़ सावन्त के छोटे लड़कों को वाड़ी वापस आने की इजाजत दी गयी, लेकिन उनके बड़े पुत्रों नाना, बाबा और हनुमत को इजाजत न दी गयी। उल्टे गोवा में उनकी गतिविधि पर कंपनी सरकार नजर रखती।

राष्ट्रीय महा विद्रोह के दौरान फरवरी १८५८ में फोंड़ सावन्त के तीनों पुत्रों ने सावन्तवाड़ी में विद्रोह का नेतृत्व किया। गोवा से चल कर वे विद्रोहियों की बड़ी सेना लेकर कनारा (कर्नाटक) पहुँचे। विद्रोहियों का स्पष्ट लक्ष्य अंगरेजों की सरकार को उखाड़ फेंकना था। उन्होंने सावन्तवाड़ी से लेकर कनारा (कर्नाटक) तक फैले जंगल में अपना मोर्चा लगाया। पुलिस चौकियाँ और चुंगी घर जला दिये गये। कनारा की सीमा पर दरशनी गुड्डा की पहाड़ी पर स्थित सुरक्षित स्थान को उन्होंने अपना अड्डा बनाया और यहाँ से छापामार युद्ध चलाया।

इनका मुकाबिला करने बम्बई सेना का कैप्टेन श्नीदर आया। उसने विद्रोहियों को पराजित कर गोवा में ढकेल दिया। बाद में नाना सावन्त ने गोवा के पुर्त्तगाली गवर्नर के हाथ अपने को सौंप दिया। लेकिन इतने ही से विद्रोहियों ने हार न मानी। अन्य विद्रोही नेता बस्तियन और तीन भाई राघोबा, चिन्तोवा तथा शान्ता फड़नवीस अंगरेजों से लड़ते रहे और कनारा (कर्नाटक) के जंगल में बने रहे। ५ जुलाई, १८५९ की लड़ाई में चिन्तोवा मारे गये, लेकिन जो बच गये थे, उन्होंने बड़ी बहादुरी के साथ, लेफ्टिनेन्ट भियर्तजेन और लेफ्टिनेन्ट ड्रेबर का मुकाबिला किया। दिसम्बर १८५९ तक वे लड़ते रहे।[2]

---

१. वही, पृ० १७१ २. वही, पृ० १७१

अध्याय ६२

नरसिंह रेड्डी का विद्रोह

(१८४६-४७)

वर्तमान आन्ध्र प्रदेश के कुर्नूल के अन्तिम नवाब गुलाम रसूल खाँ थे। अपने भाई की मृत्यु के बाद १८२३ में वे नवाब बने। वे अंगरेजों का राज पसन्द न करते थे। इसलिए उन्होंने अंगरेजों को मार भगाने के लिए गुप्त रूप से तैयारी की। अंगरेज विरोधियों के साथ उन्होंने सम्पर्क स्थापित किया और अपनी शक्ति बढ़ाने की चेष्टा की। लेकिन १८३८ में अंगरेजों को इसकी खबर लग गयी। १८३९ में इसलिए उन्हें तिरुचिनापल्ली भेज दिया गया, जहाँ बाद में, अंगरेज इतिहासकारों के अनुसार, इनके नौकर ने ही इन्हें मार दिया। उनके राज्य को अंगरेजों ने हड़प लिया। इस तरह कुर्नूल अंगरेजों के राज्य का अंग बन गया।[1]

कुर्नूल हथियाने के बाद अंगरेजों ने यहाँ के किले तोड़ दिये और किलेदारों को बरखास्त कर दिया। नरसिंह रेड्डी ऐसे ही एक बरखास्त किलेदार के वंशज थे। उन्होंने १८४६-४७ में अंगरेजों के खिलाफ विद्रोह का झण्डा उठाया।

बहुत से किलेदारों को पेन्शन मिलती थी। नरसिंह रेड्डी के पूर्वज भी ऐसी पेन्शन पाते थे। लेकिन जल्दी ही यह पेन्शन बन्द कर दी गयी। नरसिंह रेड्डी ने इस पेन्शन का दावा किया तो उन्हें टका-सा जवाब दे दिया गया। अंगरेजों के इस व्यवहार ने नरसिंह रेड्डी को विद्रोही और अंगरेजों का कट्टर दुश्मन बना दिया।[2]

अंगरेजों ने इनाम में दी गयी जमीनों को हड़पा और उन पर राजस्व बैठाया। उनके इसी तरह के व्यवहारों ने वहाँ की जनता को अंगरेज-विरोधी बना दिया। सभी इन परदेशियों से मुक्ति की कामना करने लगे। वे नरसिंह रेड्डी के नेतृत्व में कंपनी सरकार के खिलाफ उठ खड़े हुए। अंगरेजों को भगा कर वे अपने भाइयों का राज्य कायम करना चाहते थे।

नरसिंह रेड्डी ने इन असंतुष्ट आदमियों को इकट्ठा कर संगठित किया और कोयलकुन्तला के खजाने पर हमला किया। इस हमले में उनकी हार हुई। उन्होंने जंगल का रास्ता लिया। अपने अनुयायियों को जंगल में इकट्ठा किया और यहीं से अंगरेजों के खिलाफ लड़ाई जारी रखी। उनके अनुयायियों की संख्या का अनुमान ८०० से लेकर ५००० तक लगाया गया है[3]। वे तीन महीने तक बेलारी, कुर्नूल और कुड्डपा के जंगलों में अंगरेजों से लड़ते रहे।[4]

---

१. इंपीरियल गजेटियर आफ इंडिया, मद्रास, खण्ड १, पृ० ४०७

२. चौधरी, वही, पृ० १५२

३. गजेटियर आफ द कुड्डपा डिस्ट्रिक्ट, पृ० ५१ ४. वही, पृ०

गिद्दालूर में नरसिंह रेड्डी और उनके साथियों ने लेफ्टिनेन्ट वाटसन का मुकाबिला किया और कुमबम के तहसीलदार को मार दिया। इस तरह अंगरेजों को चुनौती देते हुए वे कई महीने विभिन्न जगहों का चक्कर काटते रहे। लेकिन आखिर में वे कोयल-कुन्तला तालुका के पेरूपोमाला में अंगरेजों के हाथ पड़ गये। दुश्मनों ने उन्हें १८४७ में फांसी दे दी।

उनके इस विद्रोह का एक अच्छा परिणाम निकला। एक स्पेशल कमिश्नर माफी, पेन्शन आदि के सवाल पर विचार करने के लिए नियुक्त किया गया। इस कमीशन की जांच-पड़ताल का परिणाम हुआ कि कितनों ही की माफी की जमीन (इनाम) वापस दे दी गयी।

अध्याय ६३

खोंड़ विद्रोह

(१८४६)

खोंड़ आदिवासियों का निवासस्थान ओड़िसा में ८०० वर्गमील क्षेत्रफल का खोंड़-माल अंचल है। इन आदिवासियों ने भी अंगरेज साम्राजियों के खिलाफ लड़ने में योग-दान किया और कई वर्ष तक दुश्मनों के लिए सरदर्द बने रहे। इतिहासकार बताते हैं कि उनके विद्रोह का मुख्य कारण खोंड़ों के अन्दर प्रचलित नर बलि बन्द करने का अंगरेजों का प्रयास था। यह एक कारण और प्रारम्भिक कारण अवश्य था, पर उनके ही द्वारा पेश किये गये तथ्यों से साबित हो जाता है कि मूल कारण खोंड़ों का स्वाधीनता प्रेम था। वे अंगरेजों की अधीनता स्वीकार करना न चाहते थे।

खोंड़ों के अन्दर प्रचलित नर बलि को 'मेरिया बलि' कहते थे और जिन मनुष्यों को बलि दी जाती थी वे मेरिया कहलाते थे। मेरिया खोंड़ या ब्राह्मण को छोड़ कर किसी भी जाति का, किसी भी लिंग या आयु का मनुष्य हो सकता था।[1] जैसे बलि के बकरे को खूब खिला-पिला कर मोटा किया जाता है, उसे पवित्र मान कर कोई उस पर आघात नहीं करता, उसी तरह बलि के लिए खरीदे गये मनुष्यों की अर्थात् मेरियों की बड़ी खातिर की जाती। सभी उनका आदर करते, किसी तरह का कष्ट न देते। उनके बाल बलि के पहले न काटे जाते। ख़रीद कर अपने यहाँ उन्हें कई वर्ष तक रखा भी जाता था, तुरन्त बलि देना आवश्यक न था। युवा होने पर मेरिया पुरुष को मेरिया स्त्री से ही शादी करने की इजाजत दे दी जाती थी और उनकी सन्तान भी मेरिया ही होती थी।

खोंड़ों का विश्वास था कि इस नर बलि से पृथ्वी अच्छी फसल देती है, वर्षा अच्छी होती है, फसल और अन्न में कीड़े नहीं लगते। यह उनका पृथ्वी की पूजा करने का ढंग था। बलि के दिन बलि स्थान पर मेरिया के चारों तरफ खोंड़ नाचते और पृथ्वी को सम्बोधित करते हुए कहते :

> "हे ईश्वर, यह बलि हम तुम्हें अर्पित कर रहे हैं, हमें अच्छी फसलें, ऋतुएँ और स्वास्थ्य दो।"[2]

सर और आंतों को छोड़ कर वे बलि के लिए निश्चित मेरिया के किसी भी अंग से मांस काट कर ले जाते और अपने सबसे प्रिय खेत में गाड़ देते। सर और आंतो को छोड़कर सारा अंग कट जाने के बाद उसके बाकी हिस्से को भेड़ के साथ चिता पर रख कर जला देते। राख को वे अपने खेतों में छिड़कते और बखारों में अन्न रखने के पहले उसमें इसे मिला देते। उनका विश्वास था कि ऐसा करने से फसल और अन्न कीड़ों से सुरक्षित

---

१. बंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, आंगुल, पृ० २५

२. वही, पृ० २३

रहेंगे। मेरिया के केश, पसीना, आंसू, थूक सभी पवित्र माने जाते। उनका विश्वास था कि मेरिया में दैवी शक्ति आ जाती है। पृथ्वी को अगर यह बलि न दी जाय तो वह नाराज हो जायगी, अन्न उत्पन्न न करेगी, तरह-तरह की बीमारियाँ फैल जायेंगी और लोग अकाल मृत्यु के मुख में चले जायेंगे।

खोंड़माल अंचल नाम के वास्ते बोद और दसपल्ला रियासतों के मातहत माना जाता था। ट्रिब्यूटरी महाल के सुपरिन्टेन्डेन्ट रिकेट्स ने १८३७ में रिपोर्ट दी थी कि खोंड़ लोगों पर उसका कोई नियंत्रण नहीं। उसने सुझाव दिया कि उनके अन्दर प्रचलित मेरिया बलि कैसे बन्द की जा सकती है। बोद और दसपल्ला के राजाओं के जरिए कुछ 'मेरिया' खोंड़ सरदारों के चंगुल से बचाये गये। १८४३ के अन्त में ८ वीं देशी पल्टन का लेफ्टिनेन्ट हिक्स खुर्दा और बालासोर पाइक कंपनियों का सेनाध्यक्ष और नर बलि दबाने के लिए रिकेट्स के उत्तराधिकारी मिल्स का सहायक नियुक्त किया गया।[1] वह चेष्टा करने पर भी खोंड़ सरदारों को न दबा सका। खोंड़ किसी को भी राजस्व न देते। वे न तो बोद और दसपल्ला के राजाओं को और न अंगरेजों को अपना स्वामी मानते थे।

जुलाई १८४५ में नर बलि और कन्या हत्या बन्द करने के नाम पर खोंड़ों के दमन के लिए मेरिया एजेन्सी की स्थापना की गयी और खोंड़ों के केन्द्र बोद को सीधे मेजर मैकफर्सन के जिम्मे सौपा गया। १८४५ के अंन्त में मैकफर्सन ने अपना नया कार्यभार संभाला। उसने सुना कि खोंड़माल में १०० लोगों की बलि देने के लिए तैयारी की जा रही है। यह सुन कर वह फरवरी १८४६ में बोद गया, सरदारों से मलाकात की और उन्हें सूचित किया कि कंपनी सरकार नरबलि बन्द करना चाहती है। उसकी बातों से प्रभावित होकर एक हफ्ते में १७० मेरिया उसके हाथ सौंप दिये गये। मैंक-फर्सन ने सोचा कि चलो इस मौसम का काम पूरा हो गया, खोंड़ों ने कंपनी का हुक्म शान्ति से मान लिया। अब दूसरे साल देखा जायगा। लेकिन तभी खोंड़ों के अन्दर एक सवाल खड़ा हो गया। उन्हें भी खबर मिली कि किस तरह अंगरेजों ने दूसरे आदि-वासियों की जमीनें छीनी थीं, उन पर टैक्स बैठाये थे और उन्हें कुली का काम करने को मजबूर किया था। इसलिए उन्होंने अपनी गुप्त सभाएँ कीं और फैसला किया कि वे नरबलि जरूर बन्द कर देंगे, लेकिन अंगरेजों को अपना स्वामी न बनने देंगे।

बीसीपाड़ा में मैकफर्सन के शिविर के सामने हजारों सशस्त्र खोंड़ इकट्ठा हुए। उन्होंने उससे मांग की कि मेरिया उनको वापस दे दिये जायँ। उन्होंने साफ सूचित किया कि वे इनकी बलि न देंगे, लेकिन कंपनी सरकार के हाथ इन मेरियों को सौंपने के माने कंपनी के अत्याचारों के सामने घुटने टेकना, अपने सब अधिकारों को तिलां-जलि देना है। मैकफर्सन ने स्थिति देखकर भांप लिया कि वह अपना हुक्म जबर्दस्ती लाद नहीं सकता। इसलिए उसने मेरियों को बोद के राजा के हाथ सौंपा और बोद

१. शशिभूषण चौधरी, वही, पृ० १११

की सीमा पार कर गुमसुर चला गया। बोद के खोंड़ों ने यहां उस पर दो बार आक्रमण किया और गुमसुर के खोड़ों को अंगरेजों के खिलाफ उठ खड़ा होने के लिए आमंत्रित किया।[1]

दिसम्बर १८४६ में गुमसुर और उसके आसपास के खोंड़ों ने चक्र बिसाई के नेतृत्व में विद्रोह किया। चक्र बिसाई निर्वासित सरदार के भतीजे थे। यह विद्रोह तीन साल तक जारी रहा। इसका वर्णन करते हुए इतिहासकार ट्राटर ने लिखा :

> "गाँव जला दिये गये, गढ़ों पर कब्जा कर लिया गया, सेना ने जंगलों को छान डाला, लेकिन पराजय से हतोत्साह न होकर, खोंड़ अपनी गहरी पहाड़ी मांदों में मोर्चा लगाये रहे।"[2]

ब्रिगेडियर जनरल डाइस विद्रोह का दमन करने भेजा गया था। उसने मेजर मैकफर्सन के प्रशासन के खिलाफ इतने बड़े आरोप लगाये कि उसे मुअत्तल कर दिया गया। मेरिया एजेन्सी का भार अब मैकफर्सन की जगह कर्नल कैम्पबेल ने संभाला जो बाद में मेजर जनरल सर जान कैम्पबेल कहलाया।[3] डाइस तीन साल की कठिन लड़ाई के बाद विद्रोह का दमन करने में सफल हुआ। निर्वासित सरदार साम बिसाई को वापस लाया गया, उन्हें फिर खोंड़ों का राजा बनाया गया। तब कहीं जाकर खोंड़ शान्त हुए। अवश्य ही इसके बाद भी चक्र बिसाई अंगरेजों से लड़ते रहे।[4]

१८५५ में फिर खोंड़ों ने गुमसुर में विद्रोह किया। इसके संगठक वही चक्र बिसाई थे। गंजाम के पोलिटिकल एजेन्ट लेफ्टिनेन्ट मैकडोनाल्ड ने इसे जल्दी ही दबा दिया। १५ फरवरी १८५५ की घोषणा के जरिए अंगरेजों ने खोंड़माल को ब्रिटिश राज्य में मिला लिया।[5]

---

१. बेंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, आंगुल, पृ० २६
२. लियोनेल ट्राटर, हिस्ट्री आफ इंडिया, खण्ड १, पृ० ७७-७९ ; १०२-५ ; चौधरी, वही, १११
३. उपरोक्त गजेटियर, पृ० २६
४. चौधरी, वही, पृ० ११२
५. उपरोक्त गजेटियर, पृ० ३२ ; चौधरी, वही, पृ० ११२

अध्याय ६४

गारो लोगों का मोर्चा

(१८४८-६६)

पहले पागलपन्थी विद्रोह में और फिर खसिया विद्रोह में हम बता आये हैं कि गारो पहाड़ियों के लोगों ने किस तरह अंगरेज साम्राजियों के खिलाफ युद्ध किया था। यहाँ हम उनके ब्रिटिश विरोधी संग्राम पर कुछ और प्रकाश डालते हैं।

अंगरेजों के राज के आरंभ में गारो पहाड़ियाँ असम के ग्वालपाड़ा जिले के अन्तर्गत थीं। गारो अक्सर पहाड़ियों से उतर कर तराई और मैदान में हमला किया करते थे। इन हमलों के कारण क्या थे? अंगरेज अधिकारियों ने पहले यह कहा कि गारो लोगों का पेशा ही सर काटना है। १८११ में मैमनसिंह के मैजिस्ट्रेट ने रिपोर्ट दी कि ये गारो सर काटने वाले लोग हैं और उनके इस रिवाज का रोमांचक वर्णन भी दिया।[1] लेकिन कुछ ज्यादा जानकारी प्राप्त करने के बाद उन्हीं अंगरेजों को स्वीकार करना पड़ा कि उनके आक्रमणों का कारण तराई के बड़े-बड़े जमीन्दारों के कर्मचारियों का अत्याचार है।[2] ये कर्मचारी इन पहाड़ियों पर तरह-तरह के टैक्स लगाते और जिस किसी बहाने उनसे ज्यादा से ज्यादा वसूल करना चाहते। गारो इसे कतई पसन्द न करते थे। साथ ही गारो लोगों में एक अन्धविश्वास यह भी काम करता था कि स्वर्ग में उनके सरदारों की आत्मा को नौकर-चाकरों की आवश्यकता होती है। दूसरे के सर काट कर उन पर चढ़ा देने से स्वर्ग में भी उन्हें वही नौकर-चाकर मिल जाते हैं। पहले प्रधान कारण के साथ दूसरे कारण ने मिलकर गारो लोगों को बड़ा कठोर बना दिया। उन्होंने जमीन्दारों और उनके रक्षक अंगरेजों पर बार-बार हमले किये और कितनों ही के सर काट ले गये।

जमीन्दारों के अत्याचार को गारो लोगों के आक्रमणों के लिए जिम्मेदार मान कर अंगरेज शासकों ने जमीन्दारों के शिकंजे को कुछ ढीला करने की कोशिश की, पर उनके अत्याचार कमोवेश चलते ही रहे। आसाम डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, ग्वालपाड़ा के रचयिता बी० सी० एलेन, सी० एस० ने लिखा:

> "राजस्व देने वाले गारो लोगों को बंगाली जमीन्दारों के नियंत्रण से मुक्त करने के लिए सरकार द्वारा कदम उठाये गये। आशा की जाती थी कि इससे हमला करने का अभ्यास खत्म हो जायगा। लेकिन सब अत्याचार बन्द करना बड़ा मुश्किल था और पहाड़ी अशान्त बने रहे।"[3]

---

१. सर एडवर्ड गेट, ए हिस्ट्री आफ आसाम, पृ० ३६८-६९

२. आसाम डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, ग्वालपाड़ा, पृ० २७

३. वही, पृ० २८

यह मानते हुए भी कि गारो लोगों को जमीन्दारों के अत्याचार से बाध्य होकर हमला करना पड़ रहा है, अंगरेज अधिकारियों ने इन जमीन्दारों के खिलाफ कड़ी कार्रवाई न कर गारो लोगों को कुचल देने का कदम उठाया।

गारो जमीन्दारों से ही नहीं, उनके रक्षक अंगरेजों से भी घृणा करते थे। वे इन अंगरेजों के अधीन रहना कतई पसन्द न करते थे। इस अधीनता के खिलाफ वे अपना गुस्सा आये-गये जाहिर किया करते थे। अंगरेजों के लिए दासाम्नी गारो लोगों से राजस्व वसूल करने की एक सरदार ने चेष्टा की, तो उन्होंने उसका सर काट कर रख दिया। उसके परिवार के सभी लोगों की भी यही दशा हुई। अपने वफादार सरदार का सर कटा देख अंगरेज शासकों ने इन दासाम्नी गारो को दण्ड देने के लिए १८४८ में गारो पहाड़ियों पर चढ़ाई की।

१८५२ में गारो लोगों ने ७ बार आक्रमण कर ४४ आदमियों को मौत के घाट उतारा। अंगरेजों ने अब गारो पहाड़ियों के चारों तरफ घेरा डाल दिया, ताकि कोई भी सामान गारो लोगों के पास न पहुँच सके। इस आर्थिक घेरे का असर कुछ जरूर हुआ, लेकिन इससे गारो लोगों ने हिम्मत नहीं हारी। १८५६ में फिर उन्होंने हमले पर हमला किया। मई १८५७ और अक्टूबर १८५९ के बीच उन्होंने ग्वालपाड़ा पर ९ हमले किये और २० आदमियों के सर काट ले गये। १८६१ में इसलिए फिर अंगरेजों ने इन पहाड़ियों पर चढ़ाई की।[1]

इस चढ़ाई का असर बमुश्किल कुछ वर्ष रहा। १८६६ में गारो लोगों ने बड़ा भयंकर आक्रमण मैमनसिंह जिले पर किया। उसे दमन करने में अंगरेज शासकों को काफी मेहनत करनी पड़ी। गारो लोगों को अंगरेजों के चंगुल में पूरी तरह रखने की गरज से १८६९ में गारो अंचल को एक अलग जिला बना दिया गया और तारू उसका सदर दफ्तर बनाया गया। इसके आस-पास के अंचल में कुछ शान्ति स्थापित हो गयी, लेकिन दूर के गाँव विद्रोही बने रहे। १८७१-७२ में गारो लोगों ने एक तरफ सर्वेक्षण करने वाले लोगों पर और दूसरी तरफ अंगरेजों की अधीनता स्वीकार करने वाले गारो गाँवों पर आक्रमण किया। अंगरेज शासकों ने १८७२-७३ में गारो लोगों को कुचलने का फैसला किया। बड़े-बड़े आक्रमणों के बाद ही वे गारो को अपने काबू में कर सके।

---

१. गेट, वही, पृ० २८

अध्याय ६५

अबोरों का मोर्चा

(१८४८-१९००)

अबोर शब्द उस उपजाति के लिए व्यवहृत होता रहा है जो उत्तर-पूर्वांचल में दिवांग नदी और सुबनसिरी नदी के बीच पहाड़ियों में रहती है।[१] असमिया भाषा में अबोर का अर्थ स्वाधीन होता है जबकि 'बोरी' का अर्थ पराधीनता है।[२] इस उपजाति की सबसे महत्वपूर्ण शाखा पंदम या बोर अबोर है, जो दिवांग नदी और दिहांग नदी के बीच रहती है। इस शाखा के अलावा पासी मेयांग अबोर, दोबा अबोर, मंताराम अबोर आदि अन्य शाखाएँ हैं।[३]

अंगरेज साम्राजियों के साथ अबोरों की पहली टक्कर १८४८ में हुई। दोबा अबोर नदी की रेत को धोकर सोना निकालने वाले कुछ काछाड़ियों को पकड़ लाये थे। उन्हें छुड़ाने के लिए कैप्टेन वेच उनके पहाड़ी अंचल में घुसा। अबोरों ने कैदी तो वापस कर दिये, लेकिन रात को वेच के शिविर पर हमला कर दिया। वेच बड़ी कठिन लड़ाई के बाद उन्हें पीछे हटाने में सफल हुआ। उस गाँव को जला कर खाक कर वह वापस आया।

प्रायः दस वर्ष तक फिर कोई संघर्ष न हुआ। १८५५ में कैप्टेन डालटन मेम्बो नामक अबोर गाँव हो आया। किन्तु १८५८ में फिर भिड़न्त हो गयी। डिब्रूगढ़ से सिर्फ ६ मील पर बिहिया गाँव था। इसके निवासी अबोरों को कर देते थे। लेकिन अब वे अंगरेजों की छत्रछाया में आ गये थे और कर देने से इन्कार कर रहे थे। इसी का दण्ड देने के लिए अबोरों ने उस वर्ष इस गाँव पर हमला किया।

अंगरेज शासकों को पता लगा कि यह हमला केबांग गांव के मेयांग अबोरों ने किया था। उनका पीछा करने के लिए अंगरेज शासकों की सेना भेजी गयी। यह सेना न तो अबोरों को पकड़ सकी और न केबांग ही पहुँच सकी। इसकी बड़ी दुर्गति हुई और बड़ी मुश्किल से वापस डिब्रूगढ़ पहुँच सकी।[४]

इसके बाद बड़ी सेना भेजी गयी, लेकिन उसकी भी वही हालत हुई। एक यूरोपीय अफसर, ३ देशी सिपाही और कितने ही कुलियों को खोकर केबांग पहुँचे बिना ही उसे वापस आना पड़ा। इस सेना का मुकाबिला करने का अबोरों ने एक अपना ढंग निकाला था। जब अंगरेज सरकार की सेना किसी अबोर गाँव पर कब्जा करती तो अबोर बड़े विनम्र बन जाते। सेना के अधिकारी समझते कि अब ये उनका कुछ न

---

१. आसाम डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, लखीमपुर, पृ० ५६

२. सर एडवर्ड गेट, ए हिस्ट्री आफ आसाम, पृ० ३७३-४

३. उपरोक्त गजेटियर, पृ० ५९-६०

४. वही, पृ० ६३

बिगाड़ेंगे। लेकिन ज्योंही सेना आगे बढ़ जाती, ये फौजी सामान ढोनेवाले कुलियों पर छापामार हमले करते और सेना के पास कोई भी सामान न पहुँचने देते।[१]

१८५९ में फिर अंगरेज शासकों ने उन पर चढ़ाई की। इस बार उनकी सेना में अफसर और सैनिक मिला कर कुल ३७४ आदमी थे, १२ पौण्ड गोला फेंकने वाली दो खन्द की तोपें और दो मोर्टर थे।[२] अबोरों के गाँव जलाती यह सेना आगे बढ़ी। लेकिन पासी अबोरों ने उनका डटकर मुकाबिला किया। उन्होंने दरख्तों को काट कर ग्यारह दुर्ग (स्टाकेड) बनाये थे। इनमें से सिर्फ दो पर ही अंगरेज पहले कब्जा कर सके। अन्त में पासियों ने हार मानी, लेकिन उन्हीं के जाति भाई मेयांग अबोर मोर्चा लगाये रहे। १८६२ में अंगरेजों की प्रबल शक्ति को देख कर अबोरों ने अंगरेजों के डेपुटी कमिश्नर के साथ समझौते किये। अंगरेजों ने उन्हें नमक, तंबाकू, रम (हल्की शराब), अफीम आदि देने का वादा कर उन्हें प्रसन्न करने की कोशिश की।[३]

लेकिन अंगरेजों के मालिक जैसे व्यवहार के प्रति वे बीच-बीच में प्रतिवाद करते रहे। १८६३ में मेम्बो अबोरों ने अंगरेजों के उपहार लेने से इन्कार कर दिया। उनका आरोप था कि अंगरेज डिपुटी कमिश्नर अपने को बहुत बड़ा आदमी समझता है। १८६५ में मेयांग अबोर उपहार लेने ही न आये। उनकी शिकायत थी कि सदिया में नमक की कीमत बढ़ा दी गयी है। दस साल बाद अंगरेजों ने इन पहाड़ियों के सर्वेक्षण के लिए एक दल भेजा, लेकिन अबोरों का असंतोष देख कर वह वापस आया।[४]

इसके बाद अंगरेजों ने अबोरों के साथ मित्रता बढ़ाने की कोशिश की। १८८४ के अन्त में सदिया स्थित असिस्टेन्ट पोलिटिकल अफसर नीडम कई गाँवों का दौरा कर अया। उसका मैत्रीपूर्ण स्वागत देख कर उन्होंने सीकू नदी पर झूलता पुल बनाने की तैयारी की। १८८६ के आरंभ में नीडम इस पुल का काम आरंभ कराने मेम्बो पहुँचा, लेकिन अबोरों का विरोध देख उसे यह काम बन्द रखना पड़ा।[५] अब अंगरेज अधिकारियों ने अबोरों को बिल्कुल कुचल देने की योजना बनायी।

१८८९ में अबोरों द्वारा चार मीरियों (अन्य सरहदी उपजाति) की हत्या की घटना को लेकर उन्होंने पासी मेयांग अबोरों के अंचल के चारों तरफ घेरा डाल दिया। कटह-हलगुड़ी, दीपीमुख, हिलोनीमुर और पोबामुख में पहरा बैठा दिया। इसका प्रभाव हुआ कि मीरियों की हत्या करने वाले अबोरों को माफी मांगनी पड़ी। इसके बाद घेरा उठा लिया गया।[६]

१८९१-९२ और १८९२-९३ में बोर अबोरों के सबसे बड़े गाँव दमरोह के अबोर अपना भत्ता लेने सदिया नहीं आये। यह उनके असंतोष का प्रमाण था। नवम्बर १८९३ में इस असंतोष ने खुले सशस्त्र युद्ध का रूप धारण किया। २७ नवम्बर को मिलिटरी पुलिस के तीन सिपाहियों को बोमजूर और केरिमपानी के बीच अबोरों ने मार

१. वही, पृ० ९२ २. वही, पृ० ९२ ३. वही, पृ० ९३
४. वही, पृ० ९३ ५. वही, पृ० ९४ ६. वही, पृ० ९५

दिया और उनकी राइफलें छीन ले गये। इसके बाद एक महीने के अन्दर ही केरिमपानी से ३ मील दक्षिण अबोरों ने गश्त लगाने वाले ७ सिपाहियों पर हमला किया, एक को मार दिया और एक को घायल कर दिया।[1] अवश्य ही सिपाही इस बार अपनी राइफलें बचाने में सफल हुए।

अंगरेजों ने १८९३ में सेना के १०० सैनिक और ४०० मिलिटरी पुलिस को लेकर चढ़ाई की। १५ जनवरी, १८९४ को उन्होंने बोमजूर पर बिना प्रतिरोध अधिकार कर लिया।[2] १०० आदमी इसकी रक्षा के लिए छोड़ कर वे २० जनवरी को १२ मील दूर दामबुक नामक बड़े शक्तिशाली गाँव की तरफ आगे बढ़े। अबोरों ने दुश्मनों का मुकाबिला आरंभ से ही किया। पेड़ों को काट कर बनायी गयी नाकेबन्दी (स्टाकेड) के जरिए उन्होंने दुश्मनों को आगे बढ़ने से रोक दिया। दुश्मनों की तोपों का इस नाकेबन्दी पर कोई असर ही न हो रहा था। यह नाकेबन्दी १८०० गज लम्बी थी।[3]

बड़ी मुश्किल से अंगरेज इस नाकेबन्दी पर कब्जा कर सके। दूसरे दिन उन्होंने दामबुक पर कब्जा कर लिया। अबोरों ने यह गाँव खाली कर दिया था। इसके बाद अंगरेजों ने सीपू और सिलक नामक गाँवों पर चढ़ाई की। अबोरों ने यहाँ भी नाकेबन्दी कर रखी थी।

अब अंगरेजों ने दमरोह और उसके आस-पास के गाँवों पर चढ़ाई की। माल-असबाब ढोने की कठिनाई के कारण उन्होंने ज्यादातर राशन बोरडाक गाँव में गीना और पाड़ के मुखियों के संरक्षण में छोड़ जाने का फैसला किया। बीमार और थके सैनिकों को भी कुछ नौकरों-चाकरों के साथ छोड़ दिया। बाकी सेना आगे बढ़ी। सिल्ली, दुक्कू होती हुई उसने आखिर में यमने नदी के किनारे खेमा गाड़ा। यहाँ अबोरों ने अंगरेजों पर हमला किया। लेफ्टिनेन्ट ईस्ट एक तीर से घायल हुआ, अवश्य ही उसके रक्षक ने तीन अबोरों को मार गिराया।[4]

२७ फरवरी को नीडम ने १०० आदमी यमने के शिविर की रक्षा के लिए छोड़कर बाकी सेना के साथ दमरोह पर चढ़ाई की। चेष्टा करने पर भी वह २ बजे तक दमरोह न पहुँच सका, वह रास्ता ही न पा सका। मजबूर होकर उसने लौट आने का फैसला किया। शाम को दुक्कू का मुखिया उसके पास आया। उसने कहा कि दमरोह वालों ने उसे संधि के लिए भेजा है। नीडम दूसरे दिन उसके प्रतिनिधिमंडल से मिलने को तैयार हो गया, लेकिन उस दिन कोई भी उससे मिलने न आया। इसी बीच उसे समचार मिला कि जिन गाँवों ने आत्मसमर्पण किया था, उन्होंने अब अंगरेजों का मुकाबिला करने का फैसला कर लिया है। नीडम के लिए यह बड़ी बुरी खबर थी। रसद कम पड़ जाने के डर से और बोरडाक में छोड़ आये गये सैनिकों की हिफाजत की चिन्ता से उसने वापस लौटने का फैसला किया।

१. वही, पृ० ६५
२. वही, पृ० ६६
३. वही, पृ० ६६
४. वही, पृ० ६७

४ मार्च, १८९४ को जब वह अपनी सेना के साथ वापस बोरडाक पहुँचा तो देखा कि सब सैनिक मारे जा चुके थे, शिविर जला कर खाक कर दिया गया था और राशन या तो गायब कर दिया गया था या नष्ट। सिर्फ एक सिपाही बच गया था। वह नदी पार कर दूसरे किनारे भाग गया था। उसकी जबानी नीडम को मालूम हुआ कि दो-तीन सौ अबोर कुली शिविर में राशन ले जाने का दिखावा कर आये। जब सिपाही और नौकर-चाकर गोदाम से माल निकाल रहे थे, अबोरों ने यकायक आक्रमण कर दिया और सब को मार डाला। इसमें एक सूबेदार, एक हवलदार, १४ सिपाही और १९ नौकर मारे गये। इसका बदला लेने की गरज से अंगरेजों ने कुमकू, पाड़ू और मेम्बो नामक गाँव एकदम नेस्तनाबूद कर दिये।[1] यह 'वीरता' दिखाने के बाद अंगरेजों की सेना १४ मार्च, १८९४ को वापस सदिया आ गयी।

अंगरेजों ने अब आर्थिक घेरे के जरिए इन पहाड़ियों को काबू में करने की कोशिश की। बोमजूर के निवासियों को हुक्म दिया गया कि वे अपने गाँव का पुनर्निर्माण पुरानी जगह नहीं कर सकते। अबोरों ने इस हुक्म की रत्ती भर भी परवाह न की। जिन घरों को अबोरों ने फिर से यहाँ बनाया, उन्हें गिरा देने का हुक्म अंगरेजों ने दिया। अबोरों ने इस हुक्म की भी कतई परवाह न की। तब अंगरेज सरकार के असिस्टेन्ट पोलिटिकल अफसर ने मार्च १८९५ में आक्रमण कर इन सब घरों को जला दिया। अंगरेज तो वापिस आये, लेकिन अबोरों ने फिर वहीं घर बनाये। ९ महीने के बाद जब नीडम बोमजूर गया तो वहाँ २३ नये घर पाये। उसने फिर इन घरों को जलाया।[2] इसके बाद ही अबोरों ने अपना गाँव जरा हट कर बसाया। १९०० तक आर्थिक घेरा डाले रख कर अबोरों को अंगरेज काबू में ला सके।

---

१. वही, पृ० ६८ २. वही, पृ० ६६

अध्याय ६६

लुशाइयों के आक्रमण

(१८४९-९२)

लुशाई शब्द का प्रयोग हम साधारणतः लुशाई पहाड़ियों के रहनेवालों के लिए करते हैं और समझते हैं कि यह पहाड़ियों की कोई खास जाति है। वास्तविकता यह है कि इन पहाड़ियों में कई जातियाँ रहती हैं। इनमें एक जाति है जिसके नाम का शुद्ध उच्चारण लुशेई या लुशे है। खुद लुशाई शब्द यहाँ की रहने वाली जातियों में प्रचलित नहीं है।[1]

इसी गलत उच्चारण के कारण कितनों ही ने इसका अनर्गल अर्थ भी किया। मेजर लेविन ने समझा कि यह शब्द 'लु' (सर) और 'शा' (काटना) से आया है और इसलिए लुशाई मानें 'सर काटने वाला' हुआ। इसी तरह का गलत अर्थ कर मि० सोपपिट ने कह डाला कि लुशाई और कूकी शब्द समानार्थक है। कैप्टेन शेक्सपियर ने सही उच्चारण अपना कर अर्थ किया 'लम्बा सर वाला' (लु=सर और शेई = लम्बा)।[2] इस शब्द को लेकर विवाद है और इसकी मीमांसा हम यहाँ न कर भाषाओं और जातियों के विशेषज्ञों पर छोड़ देते हैं।

लुशाइयों और अंगरेजों की पहली टक्कर हम १८४९ में पाते हैं। उस वर्ष लेलियेन वुंग के पुत्र मोरा या मुल्ला ने काछाड़ के एक थेडो कूकी गाँव पर आक्रमण किया जो अंगरेजों के अधिकार में था। यह गाँव काछाड़ से १० मील दक्षिण था। उन्होंने २९ आदमियों को मार दिया और ४२ को कैद कर ले गये।[3] लुशाइयों को दण्ड देने के लिए १८५० में अंगरेजों ने कर्नल लिस्टर के नेतृत्व में एक सेना लुशाई पहाड़ियों पर चढ़ाई करने भेजी। इसने जाकर मोरा गाँव को जला दिया और जल्दी से वापस काछाड़ चली आयी।[4] इसी समय अंगरेजों ने कूकियों की एक कंपनी खड़ी करने का कदम उठाया ताकि पहाड़ियों का दमन उन्हीं के जाति भाइयों के द्वारा किया जा सके।

१८४९ से लेकर १८७१ तक लुशाइयों ने बार-बार अंगरेजों की चौकियों और चायबगानों पर हमले किये। अंगरेज सौदागरों ने बार-बार चढ़ाई की और उन्हें मिलाने की भी कोशिश की, पर कोई विशेष फल न निकला। कंपनी सरकार उनके आक्रमण रोकने में असफल रही।

१८६९ में लुशाइयों ने लोहारबन्द के चायबगान को जला दिया और मनियार खाल

१. गजेटियर आफ नार्थ लुशाई हिल्स, पृ० ४

२. वही. पृ० ५

३. आसाम डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, काछाड, खण्ड १, पृ० ३६

४. गजेटियर आफ नार्थ लुशाई हिल्स, पृ० १

पर आक्रमण किया। कंपनी सरकार ने उन पर चढ़ाई करने के लिए सेना भेजी, लेकिन पहाड़ी भूमि और खराब मौसम के कारण उसे वापस आना पड़ा।[1] दिसम्बर १८६९ में डेपुटी कमिश्नर एडगर ने लुशाई पहाड़ियों का दौरा किया। आशा की जाने लगी कि अब ये पहाड़ी अंगरेजों के मित्र बन जायेंगे, पर शीघ्र ही इस आशा पर तुषारपात हो गया। एडगर के दौरे से वापस आने के बाद बारह महीने भी न बीते कि लुशाइयों का जबर्दस्त हमला हुआ।

जनवरी १८७१ में लुशाइयों ने काछाड़ जिले के हैलाकान्दी घाटी के दक्षिण में स्थित आइनाखाल नामक गाँव पर आक्रमण किया। यह काछाड़ियों का गाँव था। उनके इस आक्रमण में २५ आदमी मारे गये और ३७ आदमियों को वे पकड़ कर ले गये। अलेक्जेन्ड्रापुर चायबगान भी नष्ट कर दिया गया। इसका मालिक सेलर भाग निकला, लेकिन उसके साथ नाश्ता करने वाला पड़ोस का चायबगान मालिक विंचेस्टर मारा गया और उसकी छोटी-सी लड़की पकड़ ले जायी गयी। कुछ घंटे बाद ही पड़ोस के चायबगान कटलीचारा पर भी हमला हुआ। बंगला और मजदूरों तथा कर्मचारियों के निवास स्थान के रक्षक लुशाइयों को पीछे हटाने में कामयाब हुए, लेकिन फिर भी ५ कुली (मजदूर) मारे गये और कितने ही घायल हुए।[2]

दूसरे दिन फिर लुशाइयों ने इस बगान पर हमला किया। लेकिन इस दिन भी उन्हें पीछे हटना पड़ा। तीन दिन बाद मनियारखाल पर आक्रमण हुआ जो काछाड़ जिले की पूर्वी सीमा के पास सोनाई नदी के किनारे स्थित है। यहाँ के रक्षकों की मदद करने जिले का पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट सैनिक और पुलिस लेकर आ पहुँचा। यह सम्मिलित शक्ति दूसरे दिन लुशाइयों को पीछे हटाने में सफल हुई।

जबकि मनियारखाल पर आक्रमण चल रहा था, लुशाइयों के अन्य दल ने दर्मियाखाल और नन्दीग्राम के चायबगानों पर हमला किया। नन्दीग्राम चायबगान में ११ आदमी मारे गये और तीन आदमी पकड़ कर ले जाये गये। दूसरे दिन लुशाइयों के इस दल ने नन्दीग्राम के पास उस सेना और पुलिस के दल के पृष्ठभाग पर हमला किया जो मनियारखाल के रक्षकों की मदद में आया था। फौजी सामान से लदी गाड़ियाँ आठ सिपाहियों की वीरता से निकल भागीं। इन आठ में से छः वहीं मारे गये।

उस साल का अन्तिम आक्रमण उन्होंने फरवरी के अन्त में झालनाचर बगान पर किया। लुशाइयों को यहाँ भी पीछे हटना पड़ा, लेकिन ऐसा करने के पहले उन्होंने ४ आदमियों को मार दिया और तीन को घायल किया।[3]

नवम्बर १८७१ में कंपनी सरकार की दो सेनाएँ लुशाई अंचल में घुसीं, एक उत्तर में तिपाई की तरफ से और दूसरी दक्षिण में देमाग्रि की तरफ से।[4] ये दोनों चढ़ाइयाँ

---

१. वही, पृ० १; आसाम डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, काछाड़, पृ० ३६
२. आसाम डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, काछाड़, पृ० ३७
३. वही, पृ० ३७-३८
४. गजेटियर आफ नार्थ लुशाई हिल्स, पृ० २

बहुत ही सफल रहीं। काछाड़ जिले पर हमला करने वाले सब गाँवों के सरदारों ने कंपनी की सेना के सामने आत्मसमर्पण किया।

लेकिन १८८९ में फिर लुशाइयों ने विद्रोह किया। इस आक्रमण के नेता सुखपुई लाल के पुत्र लियेनपुंग थे और मूता के पुत्र निकामा तथा लुंगलियेना के गाँवों के लुशाई योद्धा उनकी मदद कर रहे थे। इस बार उनके आक्रमण के लक्ष्य चटगाँव पहाड़ी अंचल में स्थिति चेंगरी घाटी के गाँव थे।[1]

लुशाइयों को दण्ड देने के लिए अंगरेज सौदागरों ने १८८९-९० की सर्दियों में सेना भेजी। इस सेना ने लुंगलेह से चढ़ाई की। काछाड़ से मिलिटरी पुलिस भी लुशाइयों का दमन करने आयी। एक दूसरे से सम्पर्क बनाये रखकर दोनों ने आगे बढ़ना आरंभ किया। उन्होंने लियेनपुंग, निकामा और लुंगलियेना के गाँवों को नष्ट कर दिया और उत्तर लुशाई के गाँवों के बीच आइजल नामक स्थान में दुर्ग बनाया तथा उसकी रक्षा के लिए २०० मिलिटरी पुलिस तैनात की। धलेश्वरी नदी के किनारे चांगसिल में दूसरा दुर्ग बनाया गया। वह अंगरेजों के फौजी सामान का डिपो था और उसकी रक्षा के लिए ५०० मिलिटरी पुलिस तैनात की गयी।[2]

लुशाई पहाड़ियों पर अपना शिकंजा मजबूत करने के लिए अंगरेजों ने आइजल को अपना सदर दफ्तर बनाया और वहाँ एक पोलिटिकल अफसर तैनात किया। आसाम कमीशन का कैप्टेन एच. आर. ब्राउन इस पद पर नियुक्त किया गया।

लुशाई इस तरह अपनी स्वाधीनता से हाथ धोने को तैयार न थे। सितम्बर १८९० में सारे लुशाइयों ने विद्रोह का झण्डा बुलन्द किया। कैप्टेन ब्राउन काछाड़ जा रहा था। विद्रोहियों ने उसे चांगसिल के पास पकड़ा और इस तरह घायल कर दिया कि वह चांगसिल के किले के अन्दर पहुँचने के १५ मिनट बाद ही मर गया।[3] उन्होंने आइ-जल और चांगसिल के दुर्गों पर जबर्दस्ती हमले किये।

इन दोनों दुर्गों में घिरी कंपनी सेना की मदद के लिए काछाड़ से सेना जल्दी आ पहुँची। कंपनी सैनिक मिलकर दोनों दुर्गों की रक्षा करने में समर्थ हुए। कैप्टेन ब्राउन का पद मैककैब ने संभाला। १८९१ में कंपनी सेना-विद्रोह को दबाने में सफल हुई। विद्रोह में हिस्सा लेने वाले सब गाँव नष्ट कर दिये गये। विद्रोहियों के तीन नेताओं—खालकम, लियेनपुंग और थगुला को निर्वासित कर हजारीबाग में बन्द कर दिया गया।[4] बाकी सरदारों पर बड़ा भारी जुर्माना किया गया।

फरवरी १८९२ में फिर लुशाइयों ने विद्रोह किया। इस बार विद्रोह करने वाले सोनाई नदी के पूर्व में रहने वाले लुशाई थे।[5] उन्होंने लालबूड़ा गाँव में मैककैब पर आक्रमण किया जो उन्हें मजदूर सप्लाई करने का हुक्म मानने को बाध्य करने गया था।

---

१. वही, पृ० २ २. वही, पृ० २

३. आसाम डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, लुशाई हिल्स डिस्ट्रिक्ट, पृ० १४

४. वही, पृ० २-३ ५. वही, पृ० ३

मैककैब अपनी रक्षा करता रहा और जब उसकी मदद के लिए कंपनी के और सैनिक आ पहुँचे तो उसने आक्रमण आरंभ किया। वह विद्रोह को दबाने में सफल हुआ।

लेकिन अप्रेल १८९२ में लुशाइयों ने बरुणचर चायबगान पर हमला किया। बगान के घरों को जला दिया और ४२ आदमियों को मार दिया। यह कंपनी सेना की शक्ति को बाँटने और दूसरी तरफ लगाने की गरज से किया गया। जून १८९२ में विद्रोह पूर्ण रूप से कुचल दिया गया।

अध्याय ६७

नागाओं का मोर्चा

(१८४९-७८)

हम साधारणतः जिन्हें नागा कहते हैं, वे विभिन्न उपजातियों के लोग हैं। उनके अलग-अलग नाम और अलग-अलग भाषाएँ हैं। असम में मणिपुर की सीमा पर पहाड़ी अंचल इनका मुख्य निवास स्थान रहा है। अब तो भारत के अन्दर उनका स्वायत्त-शासित राज्य नागालैंड बन गया है।

असम के अहोम वंश के राजा भी नागा पहाड़ियों को अपने अधीन न कर सके थे।[1] आंग्ल-बर्मा युद्ध में विजय के बाद जब अंगरेजों ने असम में अपने पैर जमा लिए तो उनकी लुब्ध दृष्टि नागा अंचल पर लगी। उन्होंने नागाओं को टटोला, तो देखा कि इन को वश में करना आसान नहीं। पेम्बर्टन और जेनकिन्स इन पहाड़ियों से होकर मणिपुर से नौगाँव गये थे।[2] उन्होंने देख लिया कि नागाओं के विरोध के कारण यह रास्ता बड़ा खतरनाक है। इन पहाड़ी नागाओं से छेड़खानी न करना ही बेहतर है। उन्होंने यह भी देखा कि शिव सागर और लखीमपुर की सीमा पर रहनेवाले नागाओं को वश में करना आसान है। यहाँ के नागा मैदान के साथ व्यापार करते हैं। उनके मैदान में आने के रास्तों को बन्द करते ही वे काबू में आ जायेंगे।

खास कर अंगामी नागाओं को वश में करना अंगरेजों को बड़ा कठिन लगा। इस-लिए उन्होंने हिन्दुस्तानियों को हिन्दुस्तानियों के खिलाफ लड़ाने का रास्ता अपनाया। काछाड़ के तुलाराम सेनापति और खासकर मणिपुर के राजा गंभीर सिह को उन्होंने नागाओं के दमन के लिए आरंभ में इस्तेमाल किया। किन्तु यह नीति असफल रही।[3] और तब उन्होंने खुद अपनी सेना के बल से नागाओं को दबाने का रास्ता अख्तियार किया। इसीलिए देखा जाता है कि अंगरेजों ने १८३५ और १८५१ के बीच नागा पहाड़ियों पर दस बार चढ़ाई की।[4]

१८४९ में नागाओं ने विद्रोह का झंडा बुलन्द किया। दीमापुर के दक्षिण समगुतिंग की पुलिस चौकी के दारोगा भोमचन्द को खोनोमा और मेजुमा गाँव के नागाओं ने मार दिया।[5] नागाओं के इस विद्रोह को दबाने के लिए बड़ी तैयारी के बाद अंगरेजों ने १८५०-५१ में चढ़ाई की। उन्होंने नागाओं को कठोर से कठोर दण्ड देने की चेष्टा

---

१. सर एडवर्ड गेट, ए हिस्ट्री आफ आसाम, पृ० ३६६

२. वही, पृ० ३६६ ३. वही, पृ० ३६६ ४ वही, पृ० ३६६

५. शशिभूषण चौधरी, सिविल डिस्टर्बेन्सेज ड्यूरिंग ब्रिटिश रूल इन इंडिया (१७६५-१८५७) पृ० ११०

की। उनकी यह चेष्टा एक हद तक ही सफल रही। कठोर दमन के बावजूद नागाओं ने हार न मानी।

इस चढ़ाई के बाद अंगरेजों ने उनके आंतरिक झगड़ों में न पड़ने और व्यापार के लिए उन्हें प्रोत्साहित करने की नीति अपनायी। जब नागाओं से अनबन हो जाती तो वे आर्थिक घेरा डाल कर उन्हें झुकाने की चेष्टा करते। किन्तु जिस वर्ष उन्होंने यह नीति अपनायी, उसी वर्ष नागाओं ने अंगरेजों के अधिकृत अंचल पर २२ बार हमले किये और १७८ आदमियों को हताहत किया या उठा ले गये।[१] १८५४ में कंपनी सरकार ने असालू में एक अंगरेज अफसर नियुक्त किया और नागाओं का मुकाबिला करने के लिए कितनी ही चौकियाँ स्थापित कीं। लेकिन ये भी नागाओं का हमला रोकने में असफल रहीं।[२]

१८६६ में ब्रिटिश सरकार ने अंगामी नागाओं के अंचल पर अधिकार करने का फैसला किया। उन्होंने पास का कुछ अंचल और मिला कर इसे जिला बना दिया और समगुतिंग में इसका सदर दफ्तर रखा। किन्तु १८७८ में इसकी जगह कोहिमा को सदर दफ्तर के लिए चुना गया।

इस तरह पैर जमाने के बाद अंगरेजों ने नागा पहाड़ियों के और भी अन्दर घुसना आरंभ किया। १८७५ में उन्होंने लहोटा नागाओं का अंचल अंगरेजी राज्य में मिला लिया और वोखा में एक अंगरेज अफसर नियुक्त किया। उनका अपराध यह था कि उन्होंने सर्वेक्षण के लिए गये अंगरेजों के जत्थों पर हमला किया था। १८८९ में उन्होंने अवो नागाओं का अंचल हथियाया।

अलग जिला बनने के बाद अंगामी नागा कुछ वर्ष शान्त रहे। पर अक्तूबर १८७८ में वे फिर अंगरेजों के खिलाफ उठ खड़े हुए। यह पहले से ज्यादा बड़ा और संगठित विद्रोह था। अंगरेज पोलिटिकल अफसर डेमैन्ट जब खोनोमा गाँव में प्रवेश करने की कोशिश कर रहा था तो उसे गोली मार दी गयी और कुछ रक्षक मार डाले गये या घायल कर दिये गये। नागाओं के हाथ मारा जाने वाला यह इस अंचल का तीसरा अंगरेज अधिकारी था। कैप्टेन बटलर १८७६ में लहोटा नागाओं के साथ लड़ाई में मारा गया था और कारनेगी को १८७७ में उसके सन्तरी की गोली खा गयी। गेट ने लिखा है कि दुर्घटनावश सन्तरी ने उसे गोली मार दी थी।[३]

पोलिटिकल अफसर और उसके रक्षकों को मौत के घाट उतार कर अंगामी नागा सारे अंचल में एक साथ अंगरेज हुकूमत के खिलाफ उठ खड़े हुए। उन्होंने कोहिमा पर चढ़ाई की और उसे ११ दिन घेर रखा।[४] भोजन और पानी के अभाव से इसकी रक्षक अंगरेज सेना की हालत पतली हो गयी थी। जब अंगरेज सेना एकदम हताश हो रही थी, तभी कर्नल जान्स्टन, जो बाद में सर जेम्स जान्सटन बना, २००० सेना लेकर आ पहुँचा।

१. गेट, वही, पृ० ३६७
२. गेट, वही, पृ० ३६७
३. वही, पृ० ३६८
४. वही, पृ० ३६८

मनीपुर के राजा ने यह सेना उसे दी थी। इसकी मदद से वह घेरा तोड़ने में सफल हुआ।[1]

इसके बाद अंगरेज अधिकारियों ने नागा गाँवों पर हमला किया। जिन तेरह गाँवों ने विद्रोह में प्रमुख भाग लिया था, उन्हें ध्वंस कर दिया गया। जब अंगरेज नागा पहाड़ियों में नागा गाँवों को जला रहे थे, उन्हें ध्वंस कर रहे थे, नागा भी चुप न थे। १८८० में खोनोमा गाँव के नागाओं के एक जत्थे ने बालाधन नामक अंगरेजों के चाय-बगान पर हमला किया। यह बगान काछाड़ के उत्तर-पूर्व कोने में खोनोमा से ८० मील दूर स्थित था। नागा इतनी दूर चल कर अपने गाँवों के जलाये जाने का बदला ले सकते हैं, यह कल्पनातीत था। उन्होंने इस हमले में इस चायबगान के मैनेजर ब्लाइद और १६-१७ कुलियों को मार दिया।[2]

इस तरह नागा प्रायः दो साल और लड़ते रहे। आखिर म उन्हें झुकना पड़ा। उन्हें अंगरेजों को राजस्व देने और जब दरकार हो तब मजदूर देने को राजी होना पड़ा। अंगरेजों ने हर गाँव में ऐसा मुखिया नियुक्त करवाया जो उनकी मर्जी को पूरा करे।

१. गेट, वही, पृ० १६८
२. आसाम डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, काछाड़, खण्ड १, पृ० ३६

अध्याय ६८

सर्वेक्षण का हंगामा

(१८५२)

अंगरेजों के खिलाफ भारतीयों के अन्दर इतना असंतोष फैला हुआ था कि वह किसी भी वक्त फूट पड़ने को तैयार था। १८५२ में बम्बई प्रेसीडेन्सी में सर्वेक्षण का हंगामा इसका प्रमाण है।

१८४९ में रेवेन्यू कमिश्नर ने हुक्म जारी किया कि जमीन के मालिकों को अपनी जमीन में चौहद्दी के पत्थर लगाने होंगे। इसका सभी ने बड़ा विरोध किया। १८५२ में खानदेश जिले के सावड़ा और चोपड़ा में सर्वेक्षण करने के लिए डेविडसन कुछ लोगों को लेकर पहुँचा, तो उसके काम आरंभ करने के पहले ही वहाँ के किसानों ने बड़ा भारी प्रदर्शन किया।[1] प्रदर्शनकारियों ने कहा कि चौहद्दी के निशान के लिए न तो पत्थर मिलते हैं और न मजदूर। मतलब साफ था कि वे डेविडसन को जमीन की नाप-जोख करने देना न चाहते थे।

डेविडसन ने मदद के लिए उच्च अधिकारियों के पास समाचार भेजा। समाचार पाकर फौजी अफसर और अन्य अधिकारी उसकी मदद के लिए आये, लेकिन प्रदर्शन-कारियों की संख्या देख कर उन्होंने उस वक्त जमीन की नाप-जोख का काम बन्द रखना ही उचित समझा।[2]

कुछ दिनों के बाद डेविडसन ने सावड़ा से लगभग ५ मील दूर ताप्ती नदी के किनारे रनगाँव नामक छोटे से गाँव में अपना खेमा गाड़ा। अन्य सरकारी अधिकारियों और पुलिस आदि के आ जाने पर वह नाप-जोख का काम आरंभ करना चाहता था। लेकिन किसान और जमीन्दार सभी जानते थे कि इस सर्वेक्षण के माने हैं राजस्व की वृद्धि। विदेशी आकर उनकी जमीन की नाप-जोख करें और राजस्व बढ़ायें, यह उन्हें कतई पसन्द न था। इसलिए इस घटना को लेकर बड़ा हंगामा मच गया।

डेविडसन के खेमा गाड़ने का समाचार पाते ही सावड़ा के सैकड़ों किसान वहाँ आ पहुँचे, एक घंटे के अन्दर उन्होंने तम्बुओं को घेर लिया। तम्बुओं की रस्सियाँ पकड़ कर उन्होंने नारा बुलन्द किया कि सर्वेक्षण का काम बन्द करो। यूरोपीय अफसर डर के मारे दुम दबा कर भागे। मामलातदार और महलकरी ने भीड़ को शान्त करने की कोशिश की, तो पिट गये।

इस अशान्ति की खबर पाकर कलक्टर मैन्सफील्ड ने मेजर मोरिस और धरान गाँव की कंपनी की भील सेना से मदद मांगी। लेकिन लोगों ने कंपनी सरकार का बायकाट

१. शशिभूषण चौधरी, वही, पृ० १७१ २. वही, पृ० १७१

करने का रास्ता अपनाया। एरनडोल के लोगों ने सरकार और सेना को अपनी बैल-गाड़ियाँ देने से इन्कार कर दिया। मामलातदार ने जो दूत संदेश लेकर भेजे थे, वे रोक लिये गये। एक सूबेदार मेजर को एरनडोल में बन्द करके रखा गया।[1]

मेजर मोरिस देशी पल्टन की ११ वीं और १६ वीं रेजीमेन्टों और भील पल्टन की दो कंपनियों को लेकर एरनडोल के विद्रोहियों पर टूट पड़ा। शहर के फाटक तोड़ कर वह अन्दर घुसा, यहाँ के जमीन्दार, देशमुख, देश पाण्डे और पटेल को गिरफ्तार कर लिया।[2]

एरनडोल पर अंगरेजों ने कब्जा कर लिया, लेकिन सावड़ा और फैजपुर विद्रोह के गढ़ थे। वहाँ विद्रोहियों ने अंगरेज सरकार को खत्म कर विकल्प सरकार स्थापित की थी।[3] उन्होंने पंचायत कायम की थी, जो वहाँ का प्रशासन चलाती थी, राजस्व इकट्ठा करती थी और अपराधियों को दण्ड देती थी।

१५ दिसम्बर, १८५२ को मेजर मोरिस के साथ कैप्टेन विंगेट आ मिला। १६ दिसम्बर को वे सेना लेकर फैजपुर पहुँचे। भील सेना ने फैजपुर को यकायक इस प्रकार घेर लिया कि विद्रोही हत्बुद्धि हो गये। इसी समय फौज के अन्य हिस्से ने सावड़ा को जा घेरा। नेता पकड़ लिये गये। किसानों को घर वापस आने का आदेश दिया गया। सेना का मुकाबिला करना असंभव देख किसानों ने चुप रहना उचित समझा। सेना के जोर से अंगरेजों ने जमीन का सर्वेक्षण कर कई गुना राजस्व यहाँ के किसानों पर लाद दिया।

---

१. वही, पृ० १७२   २. वही, पृ० १७२   ३. वही, पृ० १७२

अध्याय ६६

संथाल विद्रोह

(१८५५-५६)

"संथाल विद्रोह के पीछे थी जमीन पर एकछत्र अधिकार की स्थापना की आकांक्षा और उसके साथ आ मिली थी संथालियों की स्वाधीनता की स्पृहा जिसके कारण उन्होंने नारा बुलन्द किया था : स्वयं अपने दलपति के अधीन स्वाधीन संथाल राज्य स्थापित करो।" (संथाल परगना गजेटियर, पृ० ४८)

उपरोक्त उद्धरण संथाल विद्रोह के एक पक्ष पर प्रकाश डालता है। अंगरेज लेखक ई० जे० मान ने अपनी पुस्तक 'संथालिया एण्ड द संथाल्स' (संथालिया और संथाल) में इस विद्रोह के दूसरे पक्ष पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार विद्रोह के कारण थे :

"प्रथमत:, इस उपजाति के साथ व्यवसाय करने में महाजनों का लोभ और लूटने की प्रवृत्ति ; द्वितीयत:, ऋण के लिए व्यक्तिगत और वंशगत दासता की बर्बर प्रथा से उत्पन्न क्रमश: बढ़ती दुर्दशा और दुर्गति ; तृतीयत:, पुलिस का असीम भ्रष्टाचार और अत्याचार और पुलिस द्वारा महाजनों के कुकर्मों में सहायता ; चतुर्थत:, न्यायालयों में संथालों के लिए न्याय पाना असंभव ; अंतिम, संथालों की फिजूलखर्ची .. .. ।" (पृ० १२७)

संथाल विद्रोह को 'संथाल हूल' भी कहते हैं। यह विद्रोह १८५५-५६ ई० में बिहार और बंगाल के संथाल अंचल में हुआ। उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि यह अंगरेज शासकों के खिलाफ और ब्रिटिश शासन के आधार-स्तंभ जमीन्दारों और साहूकारों के खिलाफ था। संथाल इन सब को समाप्त कर स्वाधीन और सुखी संथाल राज्य की स्थापना करना चाहते थे।

कुछ विद्वानों का मत है कि भागलपुर के आसपास गंगा की घाटी में अर्थात् चम्पा देश में एक दिन संथालों का एकछत्र राज था। वे स्वधीनता के साथ यहां जीवन यापन करते थे। क्रमश: उनके हाथ से यह राज्य निकल गया और उन्हें जंगलों को साफ कर अपनी अपनी बस्तियां बसानी पड़ीं। वन और पहाड़ियां उनके निवास स्थान बने।

कटक, धलभूम, मानभूम, बड़ाभूम, छोटानागपुर, पलामू, हजारीबाग, भागलपुर, गोड्डा, पाकुड़, पूर्णिया, मेदिनीपुर, बांकुड़ा, वीरभूम, मुर्शिदाबाद आदि संथालों के पुराने निवास स्थान हैं। भागलपुर का संथाल प्रधान अंचल दामिनिकोह (दामन-इ-कोह) कहलाता है। इन स्थानों में रह कर वे पुराने ढंग की खेती कर और जंगल में शिकार कर अपना जीवन बिताते थे।

१७९३ में इस्तमारी बन्दोबस्त से संथालों की पुश्त दर पुश्त की जमीनें उनके हाथ से जाती रहीं। नये जमीन्दार उनकी जमीनों के मालिक बन बैठे और उनसे अनाप-शनाप

लगान तथा कर वसूल करने लगे। इन जमीन्दारों से बचने के लिए शान्तिप्रिय संथाल जंगलों में चले जाते और समतल भूमि देखकर जंगल साफ कर खेती करते। लेकिन वहाँ भी उन्हें इन जोंकों से छुट्टी न मिलती। ज्योंही वे कोई जमीन खेती के लायक बनाते, कोई न कोई जमीन्दार सरकारी कागजात लिए पहुँच जाता और संथालों को लगान तथा कर देने को बाध्य करता।

इन नये जमीन्दारों से पहले इस अंचल में सूदखोर-साहूकारों और उठाईगीर महाजनों ने आकर अखाड़ा जमाया था। वे कुछ कर्ज देकर ५० से ५०० प्रतिशत ब्याज लेकर कर्जदार संथाल और उसके परिवार को अर्द्ध दास बना लेते। वे बेईमानी या जबर्दस्ती कर संथाल किसानों की सारी फसल गटक जाते। जमीन्दारों, साहूकारों और पुलिस के शोषण और अत्याचारों का वर्णन बहुत से अंगरेजों और भारतीयों ने किया है। उस वक्त कलकत्ते से अंगरेजी में प्रकाशित पत्र 'कलकत्ता रिव्यू' में इनके अत्याचारों के बारे में एक लेखक ने लिखा :

"जमीन्दार और, ज्यादा सही कहा जाय तो, गुमास्ते, माल देने वाले प्यून और महाजन आदि जमीन्दारी के कर्मचारी, पुलिस, तहसीलदार और अदालत के नौकरशाह तथा कर्मचारी सब एक साथ मिल कर संथालों का भयंकर शोषण करते, बलपूर्वक उनकी सम्पत्ति छीन लेते, संथालों को अपमानित किया जाता। मारपीट तथा दूसरे उत्पीड़नों का जाल फैल गया था। कर्ज का सूद पचास से लेकर पाँच सौ प्रतिशत तक वसूल किया जाता। बाजार-हाट में संथालों को ठगने के लिए गलत तराजू और नकली बाँट इस्तेमाल किये जाते। संथालों की जमीन की फसल नष्ट करने के लिए जमीन्दार और महाजन अपने मवेशी, गधे और घोड़े और यहाँ तक कि हाथी अनाज भरे खेतों में जबर्दस्ती घुसा देते। इस तरह के गैरकानूनी और अपराधपूर्ण कार्य साधारणत: रोज ब रोज के काम बन गये थे। यहाँ तक कि कोई भी व्यक्ति आकर संथालों से शान्ति बनाये रखने का 'मुचलका' लिखा ले जाता। कर्ज की शर्त के रूप में दासता का पट्टा लिखना उत्पीड़न का एक अन्य रूप था।"[१]

जमीन्दार और महाजन किस तरह संस्थालों को जर खरीद गुलाम बना रहे थे, इस पर प्रकाश डालते हुए इतिहासकार हन्टर ने लिखा :

"बहुत से संथालों के पास जमीन या फसल न होती कि जिसकी बिना पर वे कुछ कर्ज ले सकते। अगर इस वर्ग के किसी आदमी को अपने पिता के दाह-संस्कार के लिए कुछ पैसों की जरूरत होती तो उसे उसके लिए हिन्दू महाजन के पास जाना होता। चूंकि उसके पास अपने और अपने बाल-बच्चे का कायिक श्रम छोड़ कर रेहन के लिए कुछ न होता, वह लिख देने को बाध्य होता कि जब तक कर्ज भुगत न जायगा वह और उसका परिवार गुलाम रहेगा। चाँदी के चन्द टुकड़े उसके पिता के दाह संस्कार में जल्दी ही खत्म हो जाते, श्राद्ध का भोज होता और दूसरे ही दिन वह

१. कलकत्ता रिव्यू, १८५६, पृ० २४०

दुखी परिवार महाजन के निवास की तरफ चल पड़ता और गुलामी के लिए अपने को सौंप देता। मालिक कर्ज के भुगतान की न तो आशा करता था और न चाहता था। वह अपने गुलाम को सारे दिन इस तरह खटाता था कि उसे अपनी आजादी खरीदने के लिए एक भी पाई कमाने का अवकाश न मिलता था। वह एकमात्र कर्ज की विरासत अपने बच्चों के लिए छोड़ जाता। जो कर्ज पहले कुछ पैसे होता वह जल्दी ही ३३ प्रतिशत ब्याज की दर से बहुत से रुपए बन जाता। अगर गुलाम सारा समय देने से इन्कार करता तो मालिक उसका खाना बन्द कर देता। अगर वह किसी दूसरे के यहाँ काम करता तो मालिक उसके खिलाफ कानूनी कार्रवाई करता और जल्दी ही जेल का आतंक खूब बढ़ा-चढ़ा कर दिखा कर बेचारे को घुटने टेकने को बाध्य करता।"[1]

इसी समय हिन्दुस्तान में पहले पहल रेलवे-लाइन निकाली जा रही थी। रेलवे लाइन बनाने के काम में नियुक्त अंगरेज कर्मचारी संथालों की बकरे-बकरियाँ, मुर्गे-मुर्गियाँ आदि छीन कर खा जाते, संथाल औरतों को उठा ले जाते, उनके साथ बलात्कार करते और हत्या कर देते।

"रेलवे लाइन में जो अंगरेज कर्मचारी काम करते वे बिना कीमत दिये संथाल आदिवासियों से बलपूर्वक बकरा-बकरी, मुरगा-मुरगी आदि छीन लेते और अगर संथाल प्रतिवाद करते तो गोरे उन पर अत्याचार करते। दो संथाल स्त्रियों पर पाशविक अत्याचार और एक संथाल की हत्या की गयी थी।"[2]

संथालों के साथ इन अत्याचारों का कोई प्रतिकार न था। पुलिस, मजिस्ट्रेट सब के सब इन अत्याचारियों का ही साथ देते। इस हालत ने संथालों को विद्रोही बना दिया। १८११, १८२० और फिर१८३१ ई. में संथाल किसानों ने जमीन्दारों, साहूकारों और सरकारी अफसरों के जुल्म खत्म कने के लिए मोर्चे लगाये थे; इस बार उन्होंने बड़े पैमाने पर लड़ाई की तैयारी की।

जमीन्दारों और महाजनों के अन्याय-अत्याचार से तंग आकर कुछ संस्थालों ने वीर सिंह माझी नामक सरदार के नेतृत्व में एक दल बनाया। इस दल ने अत्याचारी जमीन्दारों-महाजनों को लूटना शुरू किया। अधिकारियों के आदेश और जमीन्दारों-महाजनों के अनुरोध से दीघी का दारोगा महेश लाल दत्त 'संथाल डकैतों' को गिरफ्तार करने उनकी बस्ती गया। इस बस्ती में गोको नायक एक धनी संथाल रहते थे। बहुत चेष्टा करने पर भी महाजन उनकी सम्पत्ति हथिया न सके थे। इस बार उन्होंने सुनहरा मौका देखा। उनकी राय-सलाह से दारोगा ने गोको संथाल को चोरी के अभियोग में गिरफ्तार कर बहुत बेइज्जत किया। प्रमाण के अभाव में गोको और उनके साथी मुक्त कर दिये गये, लेकिन इस घटना ने संथालों का असंतोष बढ़ा दिया। प्रायः उसी समय दारोगा

१. हंटर, पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १२३-२४
२. कलकत्ता रिव्यू, १८५६

महेश लाल दत्त ने सातकाठिया नामक गाँव में जाकर बहुत से संथालों को गिरफ्तार किया और जुल्म कबुलवाने के लिए कई संथाल सरदारों को चाबुक मारी। इसने संथालों की क्रोधाग्नि में घी का काम किया।

संथालों की एकता के प्रतीक साल वृक्ष की शाखा उनके गाँवों में घुमायी गयी और ३० जून, १८५५ की रात को उन्हें भगनाडीही गाँव में एकत्रित होने के लिए आमंत्रित किया गया। उस रात को चार सौ गाँवों का प्रतिनिधित्व करने वाले दस हजार से ज्यादा संथाल जमा हुए। यह गाँव संथाल विद्रोह के चार नेता सिद्धू, कानू, चाँद और भैरव का जन्म स्थान था। चारों भाई थे। सिद्धू और कानू ने इस सभा में भाषण दिये और संथालों पर होने वाले अत्याचारों का वर्णन किया। संथालों ने एक स्वर से शपथ ली कि वे अब जमीन्दारों, महाजनों, अंगरेज शासकों, पुलिस, मजिस्ट्रेट आदि का अन्याय और अत्याचार बर्दाश्त न करेंगे।

सभा के आदेश से सिद्धू, किरता, भादू और सुन्नो माझी ने अंगरेज सरकार, भागलपुर के कमिश्नर, कलक्टर और मजिस्ट्रेट, दीघी थाना और टिकड़ी थाना के दारोगा तथा कुछ जमीन्दारों के पास पत्र भेजे। यह इन सबको संथालों का अल्टीमेटम था। दारोगा और जमीन्दारों से पन्द्रह दिन के अन्दर उत्तर देने की मांग की गयी थी। इन पत्रों को भेजने के बाद संथाल नेताओं ने चारों तरफ घोषणा करा दी कि संथाल, बंगाली और पछाहीं महाजनों को निकाल बाहर करने और संथाल अंचल को दखल कर अपनी स्वाधीन शासन-व्यवस्था कायम करने को दृढ़ प्रतिज्ञ हैं। उन्होंने यह भी घोषणा करायी कि कुम्हारों, तेलियों, लोहारों, जुलाहों, चमारों और डोमों के खिलाफ कोई भी कारवाई न की जायगी, क्योंकि इनकी हमदर्दी संथालों के साथ है[1]।

विद्रोह के आरंभ के बारे में इतिहासकार हंटर ने लिखा कि ३० जून, १८५५ की सभा में ही कलकत्ता अभियान की घोषणा की गयी और सभा के बाद से ही यह अभियान आरंभ हो गया। इस अभियान में केवल नेताओं के अंगरक्षकों की सेना प्रायः तीस हजार थी। घर से लाया भोजन जब तक रहा, तब तक अभियान शान्तिपूर्ण चलता रहा। लेकिन जब खाद्य सामग्री समाप्त हो गयी तो दो ही रास्ते रह गये—लूट या जबर्दस्ती खाद्य सामग्री इकठ्ठा करना। नेताओं ने दूसरा रास्ता अपनाया, लेकिन साधारण संथालों ने पहला रास्ता बेहतर समझा।[2]

पँचखेतिया बाजार में मानिक चौधरी, गोरा चाँद सेन, सार्थक रक्षित, निमाई दत्त और हीरू दत्त नामक पाँच बदनाम बंगाली महाजन रहते थे। ये संथालों पर बड़ा अत्याचार करते थे। विद्रोही संथालों ने आकर इन पाँचों महाजनों की हत्या कर बदला चुकाया।

इसी समय महाजनों से घूस खाकर दीघी थाने का दारोगा महेश लाल दत्त विद्रोहियों

१. काली किंकर दत्त, द संथाल इन्स्योरेक्शन, १९४० का संस्करण, पृ० १६
२. डब्ल्यू० डब्ल्यू० हन्टर, हिस्ट्री आफ संथाल रेबेलियन आफ १८५५, पृ० ११३

के नेता सिद्धू, कानू आदि को गिरफ्तार करने पँचखेतिया बाजार आया। सिद्धू और कानू ने कहा: "अगर हमारे खिलाफ कोई अभियोग हो, तो हमें गिरफ्तार कर बांध लो।" दारोगा परिस्थिति को भाँप न सका। उसने सिद्धू और कानू को गिफ्तार कर लेने का हुक्म अपने सिपाहियों को दिया। उसकी बात समाप्त भी न हो पायी थी कि संथालों ने उसे और उसके सिपाहियों को पकड़ कर बांध दिया। वहीं संथालों की अदालत बैठी। अदालत के फैसले के अनुसार संथालों के प्रधान नेता सिद्धू ने अत्याचारी-भ्रष्टाचारी दारोगा महेश लाल दत्त की हत्या की। नौ पुलिसवालों को मौत के घाट उतारा गया।

इस तरह ७ जुलाई, १८५५ से संथाल-विद्रोह आरंभ हुआ। विद्रोही अंगरेजों, जमीन्दारों और महाजनों का राज उखाड़ फेंकने लगे। विद्रोह का वर्णन करते हुए तत्कालीन इतिहासकार हंटर ने लिखा:

"अन्त में जब विद्रोह का आघात आरंभ हुआ, उस वक्त इस अंचल में नियुक्त बारह सौ सनिकों को अस्सी मील में फैले विद्रोहांचल में कहीं खोजे भी न पाया गया। पन्द्रह दिन तक संथाल विद्रोही पच्छिम के जिलों में ध्वंस और अत्याचार चलाते रहे। ...जुलाई महीना समाप्त होने के पहले ही सैकड़ों गाँवों को जला कर खाक कर दिया गया, कई हजार गायें-भैंसें संथाल हाँक ले गये। हमारी सेना विभिन्न स्थानों में पराजित हुई और दो महिलाओं समेत कई अंगरेज कर्मचारी मारे गये। अंगरेजों के बहुत से केन्द्र और नील कोठियाँ लूट ली गयीं और जला दी गयीं। "....वीरभूम के सदर शहर सिउड़ी की हालत भयंकर हो उठी थी। एक उच्च पदाधिकारी दिन-रात अपने घोड़े को तैयार किये बैठा रहता था। जेलखाने को सुरक्षित किया गया था और खजाने की अधिकांश रकम एक कुएँ में छिपा कर रख दी गयी थी।"[1]

गोड्डा-महकमे के कुरछरिया थाने का दारोगा प्रताप नारायण था। विद्रोह दमन करने के लिए उसने विद्रोहियों में फूट पैदा करने की कोशिश की थी। एक दिन वापस थाना आते समय वह विद्रोहियों के हाथ पड़ गया। उसे जान से हाथ धोना पड़ा। 'खान साहब' कहलाने वाला एक अन्य दारोगा कानू के हाथ मारा गया। इसके बाद विद्रोहियों ने महाजनों के गढ़ बारहाइत पर धावा किया। बहुत से अत्याचारी महाजन मारे गये। बाकी घर-द्वार, धन-दौलत छोड़ कर भाग गये।

विद्रोहियों ने कई दलों में बँट कर कई दिशाओं में चढ़ाई की। उनके डर से डाकिया, चौकीदार और यहाँ तक कि छोटे-छोटे थानों के सिपाही और जमादार नौकरी छोड़ कर भाग गये। विद्रोहियों ने चारों तरफ घोषणा कर दी कि कंपनी का राज खत्म हो गया है और स्वाधीन संथाल राज्य स्थापित हो गया है।

गोड्डा अंचल में विद्रोही संथालों का नेतृत्व गोक्को कर रहे थे। उनके नेतृत्व में कई हजार संथालों ने इस अंचल के भगोड़े महाजनों को खोज-खोज कर मौत के घाट

१. हंटर, वही, पृ० ११४

उतारा। उन्होंने इस अंचल के बदनाम निलहे साहब जान फिज पैट्रिक की जमीन्दारी पर हमला किया। पाकुड़ जमीन्दारी के अम्बर परगने के पास पहुँचने पर गोक्को के दल के साथ सिंगराई संथाल आ मिले। लक्ष्मणपुर को लूट कर विद्रोहियों ने इस अंचल के महाजनों के प्रधान गढ़ लिटिपाड़ा पर आक्रमण आरंभ किया। वे यहाँ के सबसे ज्यादा बदनाम महाजन ईसरी भगत और तिलक को अत्याचारों और शोषण का दण्द देना चाहते थे। लेकिन पँचखेतिया बाजार के महाजनों की हत्या का समाचार पाकर यहाँ के महाजन धन-दौलत छोड़ कर भाग गये थे। विद्रोहियों ने उनकी दूकानें लूट कर और गुमास्तों की हत्या कर बदला लिया।

पास के जीतपुर गाँव के महाजन एक बड़े वृक्ष के कोटर में छिप गये थे। गरीब गाँव वालों ने उन्हें खोज निकाला और विद्रोहियों के हवाले किया। विद्रोहियों ने इन महाजनों को भी मौत के घाट उतारा। उन्होंने हिरनपुर बाजार को भी लूटा और महाजनों की हत्या की। यहाँ विद्रोह के एक प्रधान नेता त्रिभुवन संथाल अपनी सेना के साथ गोक्को से आ मिले। यह सम्मिलित सेना सामन्ती शोषण-उत्पीड़न के प्रधान केन्द्र पाकुड़ के राजमहल की तरफ बढ़ चली।

पाकुड़ जमीन्दारी की सीमा पर विद्रोहियों के पहुँचने पर बहुत से लोहार, कुम्हार, चमार, डोम आदि उनके साथ आ मिले। अपने ऊपर होने वाले जमीन्दारों-महाजनों के जुल्मों का बदला लेन का अवसर उन्हें भी मिला। पाकुड़ के सभी महाजनों और धनी व्यक्तियों न पाकुड़ जमीन्दारी के अम्बर परगने के दीवान जगबन्धु राय से आश्रय की प्रार्थना की, लेकिन उसने सब को भाग कर जान बचाने की सलाह दी। सिद्धू और कानू के नेतृत्व में विद्रोहियों ने पाकुड़ को तीन दिन घेर कर रखा। चौथे दिन १२ जुलाई, १८५५ को सिद्धू, कानू, चाँद और भैरव ने राजमहल में प्रवेश किया। जमीन्दार और उसके सभी आदमी पहले ही भाग गये थे। राजमहल लूटा गया और महाजनों को खोज-खोज कर मृत्यु दंड दिया गया।

इसी पाकुड़ में विद्रोहियों ने एक कुटी में भूखी-प्यासी दो बुढ़ियों को पाया। विद्रोहियों ने उनके साथ सम्मानपूर्ण व्यवहार किया। उन्हें अन्न-वस्त्र, रुपया-पैसा दिया।[1]

पाकुड़ से विद्रोहियों के चले जाने पर यहाँ का सबसे मालदार महाजन दीनदयाल राय सदल-बल वापस आया। वह अपना धन जमीन में गाड़ गया था। उसे सुरक्षित पाकर उसके आनन्द की सीमा न रही। उसने बड़े घमण्ड के साथ घोषणा की कि अब मैं ही पाकुड़ का जमीन्दार हूँ। उसके आदमी संथाल बस्तियों में जाकर मर्दों की अनुपस्थिति में उनके बाल-बच्चों को तरह-तरह से सताने लगे। आखिरकार एक दिन विद्रोही दीनदयाल को दण्ड देने आ पहुँचे। उस वक्त वह राजमहल के पास के सरोवर में अपने भाई और बहन के साथ स्नान करने गया था। बहन-भाई तो भाग गये, किन्तु दीनदयाल पकड़ा गया। संथालों के कुत्तों ने उसे नोचा और उसके एक भूतपूर्व संथाल

१. काली किंकर दत्त, वही, पृ० ३३

भृत्य जगन्नाथ ने अपने फरसे के एक-एक आघात से एक-एक अंग काटा। उंगली काटते वक्त जगन्नाथ चिल्ला कर बोला : "इन उँगलियों से तुम अपने शोषण का धन गिनते थे।" हाथ काटते वक्त उसने कहा : "इन हाथों से तुम भूखे गरीबों का अन्न छीनते थे।"[१] आखिर में दीनदयाल का सर काट कर जगन्नाथ ने उसे अमानुषिक शोषण और उत्पीड़न का दंड दिया।

पाकुड़ से विद्रोही मुर्शिदाबाद की तरफ बढ़े। रास्ते में कालिकापुर, बल्लभपुर, नबी नगर आदि पाँच गाँव के महाजनों और मालदारों को लूटा और उनके घरों में आग लगायी। महेशपुर के राज प्रासाद को लूटा। १५ जुलाई, १८५५ को सिद्धू, कानू और भैरव के नेतृत्व में प्रायः चार हजार विद्रोही संथालों ने अंगरेज शासकों की बड़ी सेना के साथ युद्ध किया। इस युद्ध में ये तीनों नेता घायल हुए और लगभग दो सौ संथाल मारे गये।

दूसरी तरफ त्रिभुवन संथाल और मानसिंह माझी के नेतृत्व में लगभग पाँच हजार संथालों ने दुमका के पास की नील कोठी पर आक्रमण किया और शैतानों के इस गढ़ को ढाह दिया। जगह-जगह निलहे साहब मारे गये। एक जगह विद्रोहियों ने प्रतिशोध की भावना से पागल होकर दो अंगरेज महिलाओं की हत्या कर दी। सिद्धू और कानू ने महिलाओं के हत्यारे को दंड दिया।[२]

भागलपुर की तरफ विद्रोहियों के आने की खबर पाकर यहाँ के कमिश्नर ने इस अंचल के भारप्राप्त सामरिक अधिनायक मेजर बरोज को अपनी सेना के साथ राजमहल जाकर विद्रोहियों को रोकने का हुक्म दिया। उत्तर में मेजर बरोज ने कमिश्नर को सूचित किया :

> "हमें खबर मिली है कि विद्रोही छोटे-छोटे दलों में बाँट कर चलते हैं, लेकिन मादल (ढोल) की आवाज सुनते ही दस-दस हजार के दलों में संथाल लूट मार के लिए इकट्ठा हो जाते हैं। मेरे अधीन सेना इतनी छोटी है कि अगर उसे और भी दस्तों में बाँट दिया जाय तो उसमें युद्ध करने की क्षमता न रहेगी।"[३]

मेजर बरोज के अनुरोध पर चारों तरफ से बड़ी सेना इकट्ठा की गयी। दानापुर की छावनी से कई हजार सैनिक भेजे गये। छोटानागपुर, सिंहभूम, हजारीबाग और मुंगेर के मजिस्ट्रेटों ने भी हथियारबन्द सिपाही और बहुत से हाथी भेजे।

इस तरह बड़ी सेना और बहुत से हाथी लेकर मेजर बरोज भागलपुर की तरफ तेजी से बढ़ने वाले विद्रोहियों का मुकाबिला करने चला। १६ जुलाई, १८५५ को भागलपुर जिले के पियालापुर के पास पीरपैंती के मैदान में दोनों दलों के बीच प्रायः पाँच घंटे तक युद्ध हुआ। मेजर बरोज की सेना पराजित होकर भाग खड़ी हुई। एक अंगरेज अफसर, कई देशी अफसर और पचीस सिपाही मारे गये।

१. काली किंकर दत्त, पूर्वोक्त, पृ० ३४
२. दिगम्बर चक्रवर्ती, हिस्ट्री आफ द संथाल हूल आफ १८५५ ; काली किंकर दत्त, पूर्वोक्त, पृ० ३७
३. काली किंकर दत्त, पूर्वोक्त, पृ० २१

मेजर बरोज की हार से भागलपुर सदर, कहलगाँव और राजमहल खतरे में पड़ गये। भागलपुर के कमिश्नर ने बड़े लाट डलहौसी के पास पत्र लिख कर मार्शल्ला जारी करने और संथाल अंचल फौज के हाथ सौंपने का अनुरोध किया। उसने विद्रोहियों की गिरफ्तारी के लिए पुरस्कार घोषित किये। प्रधान नेता को गिरफ्तार कराने के लिए दस हजार रुपए, उप नेता के लिए पाँच हजार और स्थानीय नेता के लिए एक हजार रुपए। साथ ही सशस्त्र विद्रोही को देखते हुए गोली मार देने का हुक्म दिया।

इस विद्रोह का दमन करने के लिए अंग्रेज शासकों ने चारों तरफ से लगभग पन्द्रह हजार सुशिक्षित सेना इकट्ठा की। तोपें और सैकड़ों हाथी लाये गये। अन्दाज लगाया गया कि विद्रोही संथालों की सेना तीस से लेकर पचास हजार तक होगी। उनके पास वही पुराने हथियार फरसा, तलवार और तीर-धनुष थे। दूसरी तरफ अंगरेजों की सेना तोपों और बन्दूकों से लैस थी।

अंगरेज शासकों की सेना संथाल गाँवों को जलाती और संथालों को कत्ल करती आगे बढ़ी। तोपों-बन्दूकों से लैस शासकों की सेना का मुकाबिला सम्मुख युद्ध में असंभव देख संथालों ने छापामार युद्ध का सहारा लिया। वे गहन जंगलों में चले गये। मौका देख कर वे शासकों की सेना पर टूट पड़ते और फिर गायब हो जाते।

बारहाइत विद्रोही नेताओं का सदर दफ्तर था। यहीं से वे सारे विद्रोह का संचालन करते थे। अंगरेज शासकों की विशाल सेना ने इस पर हमला किया। उस वक्त चाँद और कानू के नेतृत्व में विद्रोहियों की एक सेना बारहाइत में थी। उन्होंने बड़ी बहादुरी से कंपनी की सेना का मुकाबिला किया। लेकिन तोपों और बन्दूकों की मार के सामने उन्हें भागना पड़ा। अंगरेजों की सेना ने आस-पास के संथाल गाँवों को जला कर खाक कर दिया।

विद्रोही संथालों ने वीरभूम जिले के प्रायः आधे हिस्से पर अधिकार कर लिया था। २१ जुलाई, १८५५ को पुलिस, जमीन्दारों और महाजनों की सम्मिलित सेना को विद्रोहियों ने पराजित किया। २३ जुलाई को विद्रोहियों ने गुणपुर गाँव ध्वंस किया। लेफ्टिनेन्ट टोल मेइन ने विद्रोहियों पर हमला किया तो उसे लेने के देने पड़ गये। उसकी सेना पराजित हुई और वह खुद कई सिपाहियों के साथ मारा गया। अगस्त १८५५ में बहुत बड़ी सरकारी सेना ने आक्रमण आरंभ किया तो विद्रोही वीरभूम छोड़ कर चले गये।

कंपनी की सरकार की तरफ से घोषणा की गयी कि अगर संथाल आत्मसर्पण कर दें तो नेताओं को छोड़ कर सभी को माफ कर दिया जायगा। शान्ति-स्थापना के बाद संथालों की शिकायत पर विचार किया जायगा। जो आत्मसमर्पण न करेंगे, उन्हें कठोर दण्ड दिया जायगा। इस धमकी के बावजूद किसी संथाल ने आत्मसमर्पण नहीं किया। विद्रोही लड़ते-लड़ते मर जाना जानते थे, किन्तु आत्मसमर्पण नहीं। १० नवम्बर, १८५५ को ब्रिटिश शासकों ने बंगाल और बिहार के संथाल अंचलों को सेना के हाथ सौंप दिया। घोषणा की गयी कि जिस संथाल के हाथ में हथियार देखा जायगा, उसी को अंगरेज सरकार का दुश्मन माना जायगा उस पर सामरिक अदालत में मामला चलेगा और मृत्यु-दंड दिया जायगा।

इसके बाद ब्रिटिश शासकों की सेना का नंगा नाच शुरू हुआ। हजारों संथाल जवान, बूढ़े, औरतें, बच्चे मारे गये। संथालों की बस्तियां उजाड़ दी गयीं। इस प्रचण्ड आक्रमण के सामने विद्रोहियों को पीछे हटना पड़ा। फरवरी १८५६ में सिद्‌धू अंगरेज सेना के हाथ में पड़ गये। उन्हें उसी वक्त गोली मार दी गयी। इस तरह संथाल-विद्रोह के सब से बड़े नेता का अंत हुआ।

चाँद और भैरव भागलपुर के पास भयंकर युद्ध में मारे गये। फरवरी के तीसरे सप्ताह कानू वीरभूम जिले में पुलिस के हाथ पड़ गये। उन्हें भी उसी वक्त गोली मार दी गयी। इसी तरह संथाल-विद्रोह के दूसरे नेता भी लड़ते-लड़ते मारे गये, किसी भी संथाल ने आत्मसमर्पण नहीं किया। एक अंगरेज सेनापति ने इस युद्ध का वर्णन करते हुए लिखा :

> "हमलोगों ने जो कुछ किया, वह युद्ध न था। आत्मसमर्पण किसे कहते हैं, संथाल न जानते थे। जब तक उनकी युद्ध की मादल (ढोल) बजती, तब तब वे खड़े रह कर युद्ध करते और गोली खाकर प्राण देते। उनके तीरों की चोटों से हमारे भी बहुत से सैनिक मारे जाते। इसलिए जब तक वे खड़े रहते, हमें उनके ऊपर गोली चलानी ही पड़ती। ढोल की आवाज बन्द होते ही वे कुछ पीछे हट कर हमारा इन्तजार करते। हम उनके पास पहुँच कर फिर गोली बरसाते।
>
> "हमारी सेना में कोई भी ऐसा सैनिक न था जिसे संथालों से यद्ध करने में शर्म न आयी हो। प्राय: सभी गिरफ्तार संथाल गोली से क्षत-विक्षत थे।. . .संथालों ने विषाक्त तीरों का उपयोग किया है—यह अभियोग सोलहो आने झूठा है।"[1]

अन्य एक अंगरेज सेनापति ने कहा : "हमने जो कुछ किया, वह युद्ध न था, जनहत्या थी।" इस सेनापति ने एक अनुभव बताया। हुक्म था कि जंगल में जहाँ भी धुवाँ उठते देखो, उसी वक्त वहाँ पहुँच जाओ और घेर लो। एक मजिस्ट्रेट हमेशा सेना के साथ जाता। इसी तरह एक गाँव घेरा गया। मजिस्ट्रेट ने आत्मसमर्पण का आदेश दिया, लेकिन इसके उत्तर में एक घर के दरवाजे की फाँक से तीरों की वर्षा हुई। सेनापति के हुक्म से सैनिकों ने उस घर की दीवाल में एक बड़ा-सा छेद किया। सेनापति ने घर के अन्दर के संथालों को आत्मसमर्पण का आदेश दियाा और धमकाया कि वैसा न करने से घर के अन्दर गोलियाँ बरसेंगी। संस्थालों ने इसका जवाब भी तीरों से दिया। सैनिकों ने गोलियाँ चलायीं। आखिर में भीतर से तीरों का आना बन्द हो गया, तो सैनिकों को घर के अन्दर घुसने का आदेश हुआ। चारों तरफ लाशें बिखरी हुई थीं। सिर्फ एक बूढ़ा संथाल खून से लथपथ खड़ा था। एक सिपाही ने ज्योंही उसे हथियार रख देने को कहा, उसने अपने फरसे से उसका सर काट दिया।

इस तरह सेना ने कठोरता के साथ संथाल-विद्रोह का दमन किया। अदालत में २५१ आदमियों पर मामला चलाया गया। इनमें १९१ संथाल थे और बाकी डोम,

१. हंटर, पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३१६

धांगड़, ग्वाला, भूइयाँ आदि। इनमें ४६ अभियुक्त नौ-दस साल के बालक थे। बालकों को बेंत लगाने की सजा दी गयी और बाकी को सात से लेकर चौदह साल तक की कड़ी सजा।

इस विद्रोह के बाद संथाल परगना नामक जिला अलग बना और संथाल अंचल के अन्दर यूरोपीय मिशनरियों को छोड़ कर दूसरों का प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया। इन पादरियों का मुख्य काम संथालों को अंगरेज शासनपरस्त बनाना था। लेकिन इसके बावजूद फिर १८७१ और १८८०-८१ में संथालों ने विद्रोह का झण्डा बुलन्द किया था। फिर तोपों और बन्दूकों से लैस अंगरेज शासकों की सेना ने उसे दबा दिया।

आज के किसान-आन्दोलन की तरह लगभग सवा सौ साल पहले संथाल किसानों के पास राजनीतिक चेतना न थी, लेकिन तब भी उन्होंने अपने दुश्मनों और दोस्तों को पहचानने में गलती न की थी। उन्होंने ब्रिटिश हुकूमत, जमीन्दारों और सूदखोर साहूकारों को अपना दुश्मन और समाज के शोषित और उत्पीड़ित वर्गों को अपना दोस्त माना था। उस वक्त उनकी इस चेतना की प्रशंसा की जानी चाहिए।

अध्याय ७०

सशस्त्र राष्ट्रीय महाविद्रोह-कारण और प्रस्तुति

(१८५७-५९)

"पहली ही नजर में यह साफ जाहिर हो जाता है कि भारतीय जनता की फर्मानबर्दारी का आधार देशी सेना की स्वामिभक्ति है। देशीसेना की सृष्टि कर ब्रिटिश शासन ने साथ ही साथ प्रतिरोध का ऐसा प्रथम साधारण केन्द्र संगठित कर दिया जैसा भारतीय जनता के हाथ में कभी भी न था।....इसके पहले भी भारतीय सेना में बगावतें हुई हैं, लेकिन वर्तमान विद्रोह लाक्षणिक और सांघातिक विशेषताओं के कारण उनसे भिन्न है। यह पहली मर्तबा है कि देशी फौजों ने अपने यूरोपीय अफसरों को मार डाला है, कि मुसलमान और हिन्दू, परस्पर घृणा को छोड़कर अपने एक ही मालिकों के खिलाफ एक हो गये हैं, कि 'हिन्दुओं से आरंभ होने वाली अशान्ति की परिणति दिल्ली के राजसिंहासन पर एक मुसलमान सम्राट का आरोहण हुआ है', कि बगावत सिर्फ कुछ स्थानों तक ही सीमित नहीं है; और अन्तिम यह कि आंग्ल भारतीय सेना का विद्रोह उस वक्त हुआ है जबकि अंगरेजों के प्रभुत्व के खिलाफ महान एशियाई राष्ट्र आम असंतोष प्रकट कर रहे हैं, बंगाल सेना के विद्रोह का गहरा सम्बन्ध फारस और चीन के युद्धों से है।" (कार्ल मार्क्स, न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून में १५ जुलाई, १८५७ को प्रकाशित 'भारतीय सेना में विद्रोह' शीर्षक लेख में)[१]

"शीघ्र ही दूसरे तथ्य प्रकाशित होंगे जो खुद जानबुल को भी विश्वास दिला देंगे कि जिसे वह फौजी बगावत समझ रहा है, वह सचमुच राष्ट्रीय विद्रोह है।" (कार्ल मार्क्स, उपरोक्त पत्र में १४ अगस्त, १८५७ को प्रकाशित 'भारत से समाचार' शीर्षक लेख में)[२]

"हिन्दुस्तान के विद्रोह के बारे में सारे यूरोप में सिर्फ एक ही राय होनी चाहिए। विश्व के इतिहास में जितने भी विद्रोहों की चेष्टा की गयी है, यह एक सबसे ज्यादा न्यायपूर्ण, भद्र और आवश्यक विद्रोह है।" (अर्नेस्ट जोन्स, ५ सितंबर, १८५७ को 'पीपुल्स पेपर' में प्रकाशित 'भारतीय संघर्ष' शीर्षक लेख में)[३]

उपरोक्त उद्धरण १८५७ ई० के महाविद्रोह के चरित्र, व्यापकता, औचित्य आदि पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। ब्रिटिश शासकों और उनके चाटुकारों ने उसे सिपाही

१. द फर्स्ट इंडियन वार आफ इंडिपेन्डेंस, १८५७-१८५९, विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, मास्को, पृ० ४१-४२

२. पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ५६

३. द रिवोल्ट आफ हिन्दुस्तान, ईस्टर्न इंडिया कंपनी, कलकत्ता, पृ० ५१

विद्रोह कहने की कोशिश की। कितने ही भारतीय इतिहासकार भी इनके विचारों से प्रभावित होते रहे और इसे कुछ सरफिरे सिपाहियों का विद्रोह कह कर निन्दा करते रहे। लेकिन इस महाविद्रोह के दिनों ही ब्रिटिश साम्राजियों के केन्द्र लन्दन में बैठे हुए वैज्ञानिक समाजवाद के प्रवर्तक कार्ल मार्क्स ने इसे भारत का राष्ट्रीय विद्रोह कह कर स्वागत किया था। मार्क्स और एंगेल्स इस राष्ट्रीय महाविद्रोह की गतिविधि पर सतर्क दृष्टि रखते थे और उसके बारे में अनेकों लेख न्यूयार्क के डेली ट्रिब्यून में लिखे थे। मार्क्स ने इसे ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने के लिए भारतीय जनता की क्रान्ति तक कहा था। १५ सितंबर, १८५७ को 'न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून' में प्रकाशित 'भारत में विद्रोह' शीर्षक लेख में उन्होंने लिखा :

"इन घटनाओं की परीक्षा हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचने को बाध्य करती है कि बंगाल (अर्थात् बंगाल प्रेसीडेन्सी—ले०) के उत्तर-पच्छिम प्रदेशों में ब्रिटिश फौज क्रमश: क्रान्ति के समुद्र के बीच टापूनुमा चट्टानों पर बनी चौकियों की स्थिति में पहुँच रही है।"[1]

२७ जुलाई, १८५७ को ब्रिटिश संसद 'हाउस आफ कामन्स' में तीन घंटे के भाषण में डिजरेली ने विभिन्न तथ्य पेश करते हुए कहा था कि इसे सिर्फ सिपाही विद्रोह कहना गलत है। यह राष्ट्रीय विद्रोह है जिसमें सिपाही तो सिर्फ हथियार हैं। ब्रिटेन में चार्टिस्ट आन्दोलन के नेता अर्नेस्ट जोन्स ने इसे एक सबसे न्यायपूर्ण और आवश्यक विद्रोह कह कर स्वागत किया था और अपने देशवासियों से इसका समर्थन करने की अपील की थी।

इतिहासकार जस्टिन मैकार्थी ने इस महाविद्रोह के बारे में लिखा :

"सचाई यह थी कि भारतीय प्रायद्वीप के उत्तरी और उत्तरी-पश्चिमी प्रदेशों के अधिकांश हिस्से में अंगरेज सत्ता के विरुद्ध भारतवासियों ने विद्रोह किया था। सिर्फ सिपाहियों ने ही विद्रोह नहीं किया था,—यह किसी भी तरह सिर्फ सिपाही विद्रोह न था। यह भारत पर अधिकार करनेवाले अंगरेजों के खिलाफ राष्ट्रीय घृणा, धार्मिक उग्रता और सिपाहियों की शिकायत का संयुक्त रूप था.....। देशी राजा-नवाब और देशी सिपाही इसमें शामिल हुए थे। मुसलमानों और हिन्दुओं ने अपनी पुरानी धार्मिक घृणा को भूल कर ईसाइयों के खिलाफ हाथ मिलाया था। घृणा और आतंक उस महान विद्रोही आन्दोलन के प्रेरक थे। चर्बी लगे कारतूस के बारे में झगड़ा अवसरवश सारी बारूद में आ गिरी चिनगारी के समान था। अगर इस चिनगारी ने आग न लगायी होती तो किसी दूसरे ने यह काम कर दिया होता। .. ..मेरठ के सिपाहियों ने एक क्षण में एक नेता, एक झण्डा और एक उद्देश्य प्राप्त कर लिया और बगावत ने क्रान्तिकारी युद्ध का रूप धारण कर लिया। ......जब वे बिना बाधा सुबह की रोशनी में चमकते

१. द फर्स्ट इंडियन वार आफ इंडिपेन्डेन्स, १८५७-१८५९, पृ० ८८

> जमुना के किनारे पहुँचे ; .. ..उन्होंने अनजाने ही इतिहास का एक संकट-जनक क्षण हस्तगत कर लिया और सिपाही विद्रोह को राष्ट्रीय और धार्मिक युद्ध में बदल दिया।"[1]

इस इतिहासकार के कथनानुसार भी १८५७ के महाविद्रोह ने 'क्रान्तिकारी युद्ध' और 'राष्ट्रीय युद्ध' का रूप धारण किया था।

दरअसल यह विद्रोह भारत का पहला सशस्त्र राष्ट्रीय महाविद्रोह था, यह भारत की स्वाधीनता के लिए पहला राष्ट्रीय संग्राम था। कवयित्री सुभद्रा कुमारी चौहान की इन पंक्तियों में सत्यता थी :

> चमक उठी सन सत्तावन में वह तलवार पुरानी थी,
> दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी।

इस विद्रोह में सिपाही, किसान, तालुकदार-जमीन्दार, राजा-रानी, नवाब-बेगम, कारीगर, सेठ-साहूकार, हिन्दू-मसलमान आदि विभिन्न वर्गों और धर्मों के लोग संग्राम के मदान में उतरे थे। सब का प्रधान उद्देश्य भारत से फिरंगियों को मार भगाना था, उनके चंगुल से देश को मुक्त करना था। इस विद्रोह की प्रधान शक्ति अंगरेजों की सेना के देशी सिपाही और किसान थे। सिपाही इन्हीं किसानों की सन्तान थे, वे खुद भी किसान थे। राजा-महाराजा इस विद्रोह के नेता थे और यही इस विद्रोह की सबसे बड़ी कमजोरी थी।

वे कौन कारण थे जिन्होंने इस देश के विभिन्न वर्गों को फिरंगियों को भगाने के संग्राम के मैदान में उतार दिया था? इसका प्रधान कारण फिरंगियों की लूट और धन बटोर कर हिन्दुस्तान से ब्रिटेन ले जाने की लालसा थी। उनकी लूट का जिक्र हम पहले कर आये हैं। कुछ अन्य उदाहरण लीजिए।

अंगरेज पूँजीपति देश के जिस हिस्से को दखल करते, उसके किसानों और कारीगरों को बेतरह लूटते। कच्चा और तैयार माल सस्ते से सस्ते दाम में लेते और जमीन का लगान बढ़ा देते। १८०२ में उन्होंने अवध के नवाब से इलाहाबाद और कुछ अन्य जिले ले लिए। नवाब के राज में इनका लगान १,३५,२३,४७० रु० था। इसमें से काफी हिस्से की छूट किसानों को दे दी जाती थी। फिरंगियों ने इन जिलों को अपने हाथ में लेकर तीन साल के अन्दर इनका लगान १,६८,२३,०६० रु० कर दिया यानी तीन साल के अन्दर ३३ लाख रुपया बढ़ा दिया। मद्रास में ये फिरंगी कृषि से होने वाली आधी आमदनी लगान के तौर पर ले लेते। १८१७ में जब उन्होंने महाराष्ट्र हथियाया तो वहाँ का लगान ८० लाख रुपया था ; कुछ साल के अन्दर ही उन्होंने इसे बढ़ा कर १५० लाख रुपया कर दिया।[2]

---

१. जस्टिन मैकार्थी, ए हिस्ट्री आफ अवर ओन टाइम्स, खण्ड २, १९०५ का लंदन संस्करण, पृ० ६१-७३

२. सखाराम गणेश देउस्कर, देशेर कथा, साहित्यलोक, कलकत्ता, पृ० ५७

राजाओं और नवाबों ने बहुतों को युद्ध क्षेत्र में अथवा अन्य सेवाओं के लिए प्रसन्न होकर जागीर और माफी दे रखी थी। इस तरह बहुत से लोग कम या ज्यादा जमीन का उपभोग करते थे जिसके लिए उन्हें किसी प्रकार का लगान या कर न देना पड़ता था। लेकिन अंगरेज शासकों ने क्या किया ? कंपनी का मुनाफा बढ़ाने के लिए बेंटिक ने जागीरें छीन लीं, माफी समाप्त कर दी और उन पर लगान बैठा दिया।

लगान वसूल करने में बड़ी सख्ती बरती जाती थी। सूखा पड़े, चाहे बाढ़ आये, फिरंगी राज में उसकी कोई सुनवाई न होती थी। किसानों को गर्मी में धूप में खड़ा रखा जाता था या उल्टा टांग दिया जाता, उनका घर-द्वार कुड़क कर लिया जाता। इस मारपीट और अत्याचार से औरतों को भी छोड़ा न जाता, उनके स्तनों पर बिच्छू तक रख दिये जाते।

१८४८ में ईस्ट इंडिया कंपनी की आर्थिक हालत बदतर हो गयी। कंपनी की आय बढ़ाना जरूरी हो गया। इसके लिए क्या करना जरूरी समझा गया ? उस वक्त के गवर्नर-जनरल लार्ड डलहौसी और उनकी कौंसिल की बैठक हुई। उसकी कार्यवाही की रिपोर्ट बताती है कि उसने बिना लाग-लपेट फैसला किया कि कंपनी की आमदनी बढ़ाने का एकमात्र उपाय है कि देशी राजाओं-नवाबों के हाथ से राज छीन कर ब्रिटिश राज्य को बढ़ाया जाय। इस फैसले के अनुसार ज्योंही अप्रेल १८४८ में सतारा के महाराजा अप्पा साहब की मृत्यु हुई, डलहौसी ने उनका राज्य हड़प लिया। उनके दत्तक पुत्र को उनका उत्तराधिकारी न माना गया, हालाँकि ये फिरंगी शासक पहले वादा कर चुके थे कि हिन्दू शास्त्र के अनुसार गोद लिया गया पुत्र उत्तराधिकारी माना जायगा और खुद अप्पा साहब से लिखित वादा किया था कि उनके पुत्र और उत्तराधिकारी सतारा राज्य का उपभोग सदैव करते रहेंगे।

इसी तरह १८४८-५४ में फिरंगी शासकों ने दर्जनों स्वाधीन राजाओं-नवाबों के राज्य छीन लिये और उन्हें अपने राज्य का अंग बना लिया। १८५३ में झांसी के राजा गंगाधर राव की मृत्यु हुई। फिरंगियों ने रानी लक्ष्मी बाई द्वारा गोद लिए गये पुत्र दामोदर राव को उत्तराधिकारी मानने से इन्कार कर दिया। झांसी को उन्होंने ब्रिटिश राज्य का अंग बना लिया। १८५४ में बरार के राजा राघोजी भोंसले नि:सन्तान मरे। डलहौसी ने तुरन्त सेना भेज कर यह स्वतंत्र राज्य हथिया लिया। इस राज्य की जनसंख्या ४६।। लाख थी और क्षेत्रफल ७६,८३२ वर्गमील। जब रानियां शोक में डूबीं थीं, अंगरेज सेना नागपुर स्थित राजमहल में घुसी। राजा के हाथी-घोड़े बाजार ले जाकर बेच दिये गये, हाथी सौ-सौ रुपये में और घोड़े दस-दस रुपये में। खुद राजा की सवारी के घोड़ों की जोड़ी सिर्फ पाँच रुपये में बेंची गयी। रानियों के शरीर से भी गहने उतरवाये गये और नीलाम कर दिये गये[1], सारा खजाना फिरंगी उठा ले गये।

फरवरी १८५६ में अवध का राज्य हड़प लिया गया। इसे हड़पने में जो नीचता

१. विनायक दामोदर सावरकर, दि इंडियन वार आफ इंडिपेन्डेन्स, १९४७ का भारतीय संस्करण, पृ० २३

बरती गयी, वह बेजोड़ है। १७६४ में कंपनी और अवध के नवाब के बीच पहले पहल सम्बन्ध स्थापित हुआ। नवाब को अपने यहाँ अंगरेज सेना रखने और उसके बदले में ईस्ट इंडिया कंपनी को १६ लाख रुपये प्रतिवर्ष देने को बाध्य किया गया। १७६५ में यह रकम बढ़ा कर ३० लाख और १७९८ में बढ़ा कर ७६ लाख प्रति वर्ष कर दी गयी। लेकिन सर जान शोर के साथ हुई १७९८ की संधि में नवाब से वादा करवाया गया कि वह प्रजा पर टैक्स कम करेगा। बेईमान फिरंगी अधिकारी जानते थे कि ७६ लाख रुपया कंपनी को देने के लिए नवाब को टैक्स बढ़ाना ही पड़ेगा और अगर टैक्स न बढ़ेगा तो नवाब यह रकम दे न सकेगा। सन्धि में ये परस्पर विरोधी बातें जान-बूझ कर रखी गयीं ताकि संधि तोड़ने का बहाना बना कर अवध का राज्य हड़पा जा सके।

१८०१ में फिर फिरंगियों ने नवाब को नयी संधि करने को बाध्य किया। यह लार्ड वेलेस्ली और उनकी सहायक संधियों का जमाना था। पिछली संधि तोड़ने के अपराध में अवध के नवाब से गोरखपुर, रुहेलखण्ड और दोआब का कुछ हिस्सा छीन लिया गया, जिसकी वार्षिक आय करीब दो करोड़ रुपये थी। ईस्ट इंडिया कंपनी ने इसके बदले दफा ३ में वादा किया कि वह नवाब की बाकी भूमि की रक्षा सभी देशी-विदेशी शत्रुओं से करेगी। दफा ६ में कंपनी ने गारंटी दी कि यह बाकी भूमि हमेशा के लिए नवाब और उसके उत्तराधिकारियों की बनी रहेगी। लेकिन इसी दफा ६ में यह घुसाया गया कि नवाब प्रशासन की ऐसी व्यवस्था कायम करेगा जिससे प्रजा की सम्पन्नता बढ़े और जान-माल की रक्षा हो। वेलेस्ली ने नवाब से रुहेलखण्ड, गोरखपुर और दोआब जिस तरह छीने उसे ब्रिटेन की संसद में दिन-दहाड़े डकैती कहा गया था और अगर उसके परिवार का राजनीतिक प्रभाव काफी न होता, तो उसे कटघरे में खड़ा होना पड़ता जैसे लुटेरे क्लाइव और वारेन हेस्टिंग्स को खड़ा होना पड़ा था।

१८३७ में लार्ड आकलैण्ड के जमाने में अवध के नवाब मोहम्मद अलीशाह को कंपनी के साथ नयी संधि करने को मजबूर होना पड़ा। अंगरेज अधिकारियों को लगा कि १८०१ की संधि में एक त्रुटि है। वह यह कि अगर नवाब ने प्रशासन की व्यवस्था अच्छी न की तब क्या होगा? इसलिए उसमें जोड़ा गया कि अगर नवाब ने शासन प्रबन्ध अच्छा न किया तो कंपनी यह शासन-व्यवस्था अपने हाथ में ले लेगी और शासन प्रबन्ध में हुआ सारा खर्च काट कर बाकी आमदनी नवाब को दे देगी। कंपनी शासन-व्यवस्था अपने हाथ नवाब के पूरे राज्य की ले सकती है या एक अंश की और सिर्फ तब तक के लिए जब तक उचित समझा जायेगा। इस संधि की पुष्टि ब्रिटेन के सम्राट और अवध के नवाब दोनों ने की।

१८४७ में नवाब होते ही वाजिद अली शाह ने अपनी सेना को सुसंगठित करना और उसकी शक्ति बढ़ाना शुरू किया। कंपनी ने दखल दिया, नवाब को यह बन्द कर देने को बाध्य किया और कहा कि अगर किसी तरह का खतरा नजर आता है तो और अंगरेज सेना रख लीजिए अर्थात् अंगरेजों की सेना अपने राज्य में बढ़ाओ, लेकिन अपनी नहीं।

डलहौसी ने १८४८ में बड़े लाट का पद संभालते ही देखा कि १८३७ की संधि अवध

को हड़प जाने में बाधक है। लेकिन फिर भी अवध को किसी न किसी तरह हड़पना होगा, क्योंकि इतना धन-धान्यपूर्ण भूखण्ड छोड़ा नहीं जा सकता। १८५६ में उसने कानपुर में अंगरेज सेना इकट्ठा की नवाब से यह कह कर कि यह नेपाल की गतिविधि पर नजर रखने के लिए है। डलहौसी १८३७ की संधि को साफ पी गया और बोला कि ऐसी कोई संधि नहीं हुई, हालाँकि इस संधि के प्रमाण ब्रिटिश सरकार के कागजात में भरे पड़े हैं। फरवरी १८५६ में उसने अंगरेज सेना अवध का राज्य छीन लेने के लिए रवाना की, यह बहाना बना कर कि १८०१ की संधि के मुताबिक नवाब ने अपने राज्य का शासन प्रबन्ध अच्छा नहीं किया। कंपनी के रेजीडेन्ट ने ऐसे कागजात पर नवाब से दस्तखत करा लेना चाहा जिसमें लिखा था कि नवाब अपनी मर्जी से सारा राज्य कंपनी को सौंप रहा है। नवाब के इन्कार करने पर रेजीडेन्ट ने बेगम और वजीर को घूस देकर काम निकाल लेने की कोशिश की। लेकिन जब तीन दिन तक नवाब को तैयार न किया जा सका, तो अंगरेज सेना महल में घुसी। नवाब को सिंहासन से उतार दिया गया, बेगमों को अपमानित किया गया, महल लूट लिया गया और नवाब को कैद कर कलकत्ता भेज दिया गया। इस तरह अपने सारे वादों को तोड़ कर, झूठ को सच और सच को झूठ बता कर फिरंगियों ने अवध छीन लिया।

अवध के नवाब के मातहत कितने ही जागीरदार और तालुकदार थे। उनके छोटे-बड़े किले और सेनाएँ थीं। उन पर भी फिरंगियों की शनिदृष्टि पड़ी। उनके गाँव और जमीनें छीन ली गयीं। अधिकांश तालुकेदारों के अधिकार फिरंगियों ने मानने से इन्कार कर दिये। जो तालुकदार अकाट्य प्रमाण द्वारा अपना अधिकार साबित करने में सफल होता, स्वयं इतिहासकार 'के' के अनुसार, उसे बदमाश या बेवकूफ करार दिया जाता और उसका तालुका हड़प लिया जाता।

दूसरी तरफ डलहौसी ने जमीन्दारों, जागीरदारों और तालुकदारों के जमीन पर अधिकार की जाँच के लिए इनाम कमीशन बैठाया। इस कमीशन ने करीब ३५ हजार छोटी-बड़ी जागीरों की जाँच की और करीब २१ हजार जागीरें जब्त कर लीं। डिजरेली ने २७ जुलाई, १८५७ को हाउस आफ कामन्स में अपने भाषण में हिसाब लगा कर बताया था कि इस तरह बंगाल प्रेसीडेन्सी में ५ लाख पौंड की वार्षिक आय की, बम्बई प्रेसीडेन्सी में ३ लाख ७० हजार पौंड की वार्षिक आय की और पंजाब में २ लाख पौंड की वार्षिक आय की रियासतें छीनी गयीं। डिजरेली ने स्वीकार किया कि यह नये ढंग से जागीरें और रियासतें जब्त करना था।[1]

सिर्फ जागीरें, तालुके, रियासतें और राज्य ही हजम कर फिरंगियों को संतोष न हुआ। उन्होंने वे पेन्शनें भी बन्द या कम कर दीं जो वे समझौते के मुताबिक कितने ही राजाओं और नवाबों को देते थे। १८५१ में जब बाजीराव द्वितीय की मृत्यु हुई तो फिरंगियों ने घोषणा की कि उनके दत्तक पुत्र नाना धोंडूपन्त पेशवा को ८ लाख

---

१. कार्ल मार्क्स, पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ५६

रुपये प्रतिवर्ष की पेन्शन पाने का कोई अधिकार नहीं। इन जागीरों और रियासतों के छीने जाने तथा पेन्शन बन्द हो जाने से बहुत से सैनिक, कारीगर और कर्मचारी बेकार हो गये।

इन आर्थिक कारणों के अलावा एक प्रधान कारण धार्मिक भी था। फिरंगी अपने साथ पादरी भी ले आये थे। ये पादरी हिन्दुस्तानियों को ईसाई बनाते और कंपनी की सरकार इस काम में उनकी हर तरह मदद करती। कंपनी के अधिकारी समझते कि अगर भारत को ईसाई बनाया जा सका तो फिर यहाँ उनका राज्य स्थायी हो जायगा। ईस्ट इंडिया कंपनी के डाइरेक्टरों के चेयरमैन मैंगल्स ने १८५७ में ब्रिटेन की संसद हाउस आफ कामन्स में कहा :

"ईश्वर की कृपा ने हिन्दुस्तान का विस्तृत साम्राज्य इंगलैण्ड को सौंपा है ताकि ईसा की विजय पताका भारत के एक किनारे से दूसरे किनारे तक फहराये। हर एक को अपनी पूरी ताकत लगाना चाहिए ताकि सारे भारत को ईसाई बनाने के महान कार्य में किसी भी कारण ढील न होने पाये।"[1]

हिन्दू और मुस्लिम धर्म को नष्ट कर सारे भारत को ईसाई बनाने और एशिया में भारत को ईसाई धर्म का गढ़ बनाने की बातें फिरंगी खुलेआम करते फिरते थे। दूसरी तरफ कंपनी की सरकार की तरफ से लाखों रुपए ईसाई धर्म के प्रचार में खर्च किये जाते थे। अंगरेज अधिकारी अपने मातहत काम करने वाले भारतीय कर्मचारियों को ईसाई बन जाने का प्रलोभन देते, दबाव भी डालते। जो भारतीय ईसाई हो जाते थे, उन्हें भारतीय कानून के अनुसार पैतृक सम्पत्ति से हाथ धोना पड़ता। कंपनी की सरकार ने कानून बनाया कि ईसाई बन जाने पर भी पैतृक सम्पत्ति में हिस्सा मिलेगा। इन सब ने मिल कर हिन्दुओं और मुसलमानों की धार्मिक भावनाएँ भी भड़कायीं। सुअर और गाय की चर्बी लगे कारतूस जब देशी सेनाओं को दिये गये, तो इन हिन्दू-मुस्लिम सिपाहियों ने इसे अपना धर्म नष्ट करने की चाल समझा। ये कारतूस ही विद्रोह के फौरी कारण बने।

भारत पर अधिकार जमाने वाले फिरंगी विदेशी पूंजीवादी थे। इस विदेशी पूंजीवाद ने यहाँ के सामन्ती समाज को ध्वंस करने का काम काफी मात्रा में किया, लेकिन ध्वंस के साथ ही निर्माण का जो काम देशी पूंजीवाद किया करता है, वह इसने न किया इसी हालत को देख कर कार्ल मार्क्स ने २२ जुलाई, १८५३ में लिखा था :

"भारतीय ब्रिटिश बुर्जुवा द्वारा अपने बीच बिखेरे गये सामाजिक नये तत्वों के फलों का भोग तब तक न कर सकेंगे, जब तक खुद ग्रेट ब्रिटेन में आज के शासक वर्गों का टाट उलट कर औद्योगिक सर्वहारा अधिकार नहीं कर लेता या जब तक खुद हिन्दू (अर्थात् भारतीय—ले०) इतने ताकतवर नहीं हो जाते कि अंगरेजों के जुए को एकदम उतार फेंके।"[2]

१. सावरकर, पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ५५
२. कार्ल मार्क्स, न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून में ८ अगस्त, १८५३ को प्रकाशित 'भारत में ब्रिटिश शासन के भावी परिणाम' शीर्षक लेख ; पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३८

कार्ल मार्क्स ने साफ कहा कि भारत की भलाई के दो ही रास्ते हैं—या तो ब्रिटेन में समाजवादी क्रान्ति हो या भारतीय जनता अंगरेजों की गुलामी के जुए को उतार फेंके। १८५७ में भारतीय जनता ने बड़ी दृढ़ता के साथ इस जुए को उतार फेंकने की कोशिश की।

क्या १८५७ का महाविद्रोह संगठित विद्रोह था ? क्या उसकी तैयारी पहले से की गयी थी और उसे सफल बनाने के लिए संगठन खड़े किये गये ? प्राप्त तथ्य बताते है कि इस विद्रोह को संगठित करने और जगह-जगह संगठन कायम करने की चेष्टा काफी पहले से की गयी थी।

फिरंगियों के खिलाफ विद्रोह संगठित करने का इरादा पहले-पहल संभवतः बिठूर में नाना साहब और उनके मंत्री अजीमुल्ला में पैदा हुआ। १८५४ में नाना साहब ने अजीमुल्ला को इंगलैण्ड भेजा। वहाँ उस समय सतारा के एलची रंगो बापूजी भी अपने राजा का सवाल लेकर मौजूद थे। दोनों को ही ब्रिटिश शासकों ने टका-सा जवाब दे दिया। लेकिन इन दोनों की अक्सर मुलाकात होती और आपस में राय-मशविरा होता।

रंगो बापू जो तो सीधे सतारा वापस आये, लेकिन अजीमुल्ला यूरोप के देशों, खास कर तुर्की और रूस का भ्रमण करने के बाद वापस आये। कीमिया में उस वक्त रूस और अंगरेजों के बीच लड़ाई चल रही थी। सेबास्तपोल में रूसियों ने अंगरेजों को बुरी तरह हराया था। उस वक्त लन्दन टाइम्स के सैनिक संवाददाता रसेल ने अपनी डायरी में रूसी मोर्चे पर अंगरेजों के शिविर मे अजीमुल्ला से मुलाकात का और फिर दूसरे दिन सबेरे ही शिविर से गायब हो जाने का उल्लेख किया है।

रूस और फारस अंगरेजों के दुश्मन थे। इस बात के काफी प्रमाण पाये जाते हैं कि नाना साहब ने इन दोनों देशों के शासकों से संपर्क स्थापित करने और अंगरेजों के खिलाफ परस्पर मदद के समझौते की चेष्टा की थी। कार्ल मार्क्स भारत की घटनाओं के बारे में जो डायरी रखते थे, उसमें एक जगह उन्होंने लिखा है :

> "बिठूर (गंगा के किनारे) के राजा नाना साहब ने रूस, फारस, दिल्ली के शाहजादों और अवध के भूतपूर्व नवाब के साथ षड़यंत्र किया, चर्बी लगे कारतूसों से पैदा हुई सिपाहियों की अशान्ति से फायदा उठाया।"[1]

जब १८५७ का विद्रोह आरंभ हुआ तो लोग आम तौर पर कहते थे कि नाना साहब ने रूस के जार से संधि की है और रूसी सेना फिरंगियों से लड़ने को तैयार है।[2] इस बात से भी पुष्टि होती है कि अजीमुल्ला के जरिए नाना साहब ने रूस से सम्पर्क स्थापित किया था। बिठूर पर अंगरेजों के कब्जे के बाद अजीमुल्ला के लिखे और उनके पास आये जो पत्र फिरंगियों के हाथ लगे, उनसे यह भी जाहिर होता है कि फ्रांसीसियों से भी सम्पर्क स्थापित करने की चेष्टा हुई थी, ताकि फ्रांस अधिकृत चन्दननगर से कलकत्ते के विद्रोहियों को मदद मिल सके।

१. पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १६८

२. सावरकर, पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ७२

अजीमुल्ला के भारत लौट आने पर बिठूर में विद्रोह की योजना तैयार की गयी। एक तरफ राजाओं और नवाबों को और दूसरी तरफ अंगरेजों की सेना के हिन्दुस्तानी सिपाहियों को मिलाने की चेष्टा की गयी। नाना साहब ने राजाओं और नवाबों को पत्र लिख कर उन्हें अंगरेजों के खिलाफ लड़ने का आह्वान किया। अवध के छीने जाने के बाद राजाओं और नवाबों ने नाना साहब की योजना में दिलचस्पी लेनी शुरू की। आखिरकार दिल्ली के बादशाह बहादुर शाह उर्फ जफर और बेगम जीनत महल, तथा कुछ शाहजादे, कलकत्ते के मटियाबुर्ज में नजरबन्द अवध के भूतपूर्व नवाब वाजिब अली और उनके वजीर अली नक्की खाँ, बेगम हजरत महल और उनके प्रधान सलाहकार फैजाबाद के मौलवी अहमद शाह, झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई, सतारा के रंगो बापू जी, रुहेलखण्ड के खान बहादुर खाँ, बाँदा के नवाब, जगदीश पुर के बाबू कुँवर सिंह आदि नाना साहब की इस योजना में शामिल हो गये।

इन सामन्त-सरदारों ने अच्छी तरह समझ लिया था कि विद्रोह की सफलता के लिए अंगरेजों की सेना की हिन्दुस्तानी पलटनों को मिलाना निहायत जरूरी है। इन्हीं हिन्दुस्तानी पलटनों के बल से अंगरेजों ने सारा देश जीता था। अगर इन्हीं को अंगरेजों के खिलाफ खड़ा कर दिया जाय तो अंगरेजों को मार भगाना आसान हो जायगा। इसीलिए बड़ी चतुराई के साथ उन्होंने हिन्दुस्तानी पलटनों के अन्दर काम करना आरंभ किया। पंडितों और साधुओं, मौलवियों और फकीरों को पलटनों में भेज कर उन्हें अंगरेजों के खिलाफ भड़काया। जो पलटनें विद्रोह की योजना में तैयार हो जातीं, उनके कुछ नेताओं को लेकर कमेटी बनायी जाती और कमेटी का निर्देश मान कर सब को चलने को कहा जाता। सेना के अन्दर विद्रोही नेताओं की बैठक अक्सर रात को होती।

फिरंगी सरकार के मुलाजिमों, भिश्तियों, मेहतरों और बावर्चियों को भी संगठित किया गया। किसानों को भी विद्रोह के लिए तैयार किया गया। विद्रोह के लिए तैयार रहने के लिए कमल के फूल और रोटियाँ, हिन्दुस्तानी पलटनों और गाँवों में घुमायी गयीं। जो विद्रोह की तैयारी कर रहे थे वे इन गुप्त संदेशों का अर्थ जानते थे।

इन गुप्त संगठनों की बात अंगरेज इतिहासकार स्वीकार करते हैं। ट्रिवेलियन ने लिखा :

> "शान्ति और सदिच्छा के ईसु के सन्देशों का प्रचार करने में लगे धनी और सभ्य ईसाइयों की किसी भी सोसाइटी ने संगठन की इतनी ज्यादापूर्ण व्यवस्था नहीं अपनायी जितनी इन बदमाशों ने अपनायी थी जिसका उद्देश्य राजद्रोह और कत्लेआम के सन्देश का प्रचार करना था।"[1]

मार्च १८५७ में नाना साहब अपने भाई बाला साहब और मंत्री अजीमुल्ला के साथ 'तीर्थयात्रा' के लिए रवाना हुए। दिल्ली, अम्बाला, लखनऊ और कालपी के संगठनों को देख कर वहाँ के नेताओं से बातें कर और प्रकट रूप में अंगरेज अधिकारियों से दिल खोल

---

१. सर जार्ज ट्रिवेलियन, कानपुर, चौथा संस्करण, पृ० ३०

कर मिलते हुए वे अप्रेल के अन्त में बिठूर वापस आये। लखनऊ वे १८ अप्रैल, १८५७ को पहुँचे थे। उसी दिन लखनऊ की जनता ने अंगरेज चीफ कमिश्नर सर हेनरी लारेन्स की बग्घी पर कीचड़ और ढेले फेंके थे। उसी जनता ने नाना साहब का विशाल जुलूस लखनऊ की सड़कों में निकाला।

इस अनोखी तीर्थयात्रा का उद्देश्य विद्रोह की तैयारी का अन्दाज लगाना और नेताओं के साथ मिल कर विद्रोह की तारीख निश्चित करना था। उधर बाबू कुँवर सिंह की भी राय ली गयी। सोच-समझ कर ३१ मई, १८५७ को सारे भारत में एक साथ विद्रोह करने का निर्णय किया गया।

यह तारीख ही क्यों निश्चित की गयी ? इसलिए कि अंगरेज उस वक्त फारस और चीन के साथ युद्ध में फँसे थे। उस वक्त भारत में अंगरेज पलटनें बहुत कम थीं। भारतीय सैनिकों की संख्या २ लाख से ऊपर थी जब कि अंगरेज सैनिकों की संख्या सिर्फ ४० हजार के लगभग। उस पर भी ज्यादातर अंगरेज पलटनें पंजाब में केन्द्रित थीं। मई-जून में उत्तर भारत में बड़ी गरमी पड़ती है और उसी के बाद बरसात आती है। अंगरेज सैनिकों के लिए यह मौसम बड़ा ही खराब होता है। फिर ३१ मई रविवार का दिन था और अंगरेजों को एक साथ गिर्जाघरों में पाया जा सकता था। इस फैसले के मुताबिक विद्रोह के लिए तैयार रहने के लिए हिन्दुस्तानी पलटनों में कमल के फूल और गाँवों में रोटियाँ घुमायी जाने लगीं। ये विद्रोह के गुप्त दूत थे। लेकिन अफसोस कि विद्रोह निश्चित तारीख के पहले ही फूट पड़ा और अंगरेज शासक सतर्क हो गये।

अध्याय ७१

सशस्त्र राष्ट्रीय महाविद्रोह-ज्वालामुखी फूट पड़ा
(१८५७-५९)

फिरंगी शासकों की देशी पल्टनों में असंतोष बहुत दिनों से काम कर रहा था। इन पल्टनों की बदौलत उन्होंने सारा भारत जीता, भारत के आसपास के देशों को अपने वश में किया। दूर-दूर तक वे इन पल्टनों को ले जाते, लेकिन उन्हें उचित भत्ता न देते। इससे १८२४ में देशी पल्टनों में विद्रोह की बात हम बता आये हैं। इसके बाद और १८५७ के पहले कम से कम चार अवसरों पर उसमें बगावत देखी गयी। १८४४ में ३४ वीं देशी पल्टन, १८४९ में २२वीं देशी पल्टन, १८५० में ६६ वीं और १८५२ में ३८ वीं देशी पल्टन ने बगावत की और फिरंगी शासक उन्हें जहाँ ले जाना चाहते थे, जाने से इन्कार कर दिया। १८५२ में उक्त पल्टन को फिरंगी शासक रंगून पर हमले के लिए ले जाना चाहते थे। उसके इन्कार करने पर सिखों की सेना बर्मा भेजी गयी।

लार्ड कैनिंग के पहले तक नियम यह था कि बंगाल आर्मी, जिसमें अधिकांश उत्तर प्रदेश और बिहार के जवान थे, सिर्फ देश के अन्दर रहेगी और बम्बई प्रेसीडेन्सी तथा मद्रास प्रेसीडेन्सी की पल्टनें बाहर भेजी जायेंगी। लेकिन कैनिंग ने कानून बना दिया कि बंगाल आर्मी की पल्टनों को भी जहाँ फिरंगी सरकार ले जाना चाहेगी, ले जायगी। इससे इन देशी पल्टनों के अन्दर असंतोष बढ़ा। १८५७ के आरंभ में एनफील्ड रायफलें और उनके सुअर तथा गाय की चर्बी लगे करतूस इन देशी पल्टनों में जारी किये गये। इन कारतूसों को दातों से पकड़ कर रायफल से निकालना पड़ता था। हिन्दू-मुस्लिम सिपाहियों ने इसे अपना धर्म नष्ट करने और सब को ईसाई बनाने की चाल समझा। विद्रोह के संगठन कर्त्ताओं ने इससे पूरा लाभ उठाया और देशी पल्टनों को अंगरेज शासकों के खिलाफ खड़ा कर दिया।

अवध के नवाब वाजिद अली शाह कलकत्ते के मटियाबुर्ज में कैद थे। उनके मंत्री अली नक्की खाँ को बैरकपुर की देशी पल्टनों को अपनी तरफ मिलाने की जिम्मेदारी दी गयी थी। चूंकि बंगाल आर्मी की देशी पल्टनों में अवध के लोगों की भरमार थी, इसलिए अली नक्की खाँ ने विद्रोह के लिए इन पल्टनों का समर्थन प्राप्त कर लिया।

बैरकपुर की घटना

२२ जनवरी १८५७ को बैरकपुर (कलकत्ते के पास) की छावनी में, जहाँ चर्बी वाले कारतूस थे, सिपाहियों ने गुप्त रूप से आग लगा दी। इसके बाद आगजनी की घटनाएँ कलकत्ते से लेकर सीमाप्रान्त तक सारे उत्तर भारत में देखी गयीं।

फिरंगी शासकों ने चर्बी लगे कारतूस पहले-पहल बंगाल आर्मी की १९ वीं देशी पल्टन

को देना चाहा, लेकिन यह पल्टन गुप्त रूप से विद्रोह के पक्ष में शामिल हो चुकी थी। उस वक्त यह पल्टन आज के पश्चिम बंगाल के बरहमपुर मुर्शिदाबाद जिला में थी। २५ फरवरी को उसे कारतूस दिये गये, लेकिन एक भी सिपाही ने उसमें हाथ नहीं लगाया। अंगरेज अफसरों ने इन्कार करने वाले सिपाहियों को दण्ड देना चाहा, लेकिन सिपाहियों को लड़ने-मरने को तैयार देख वे इस अवज्ञा को पी गये। फौरन एक अंगरेज रेजीमेन्ट को बर्मा से कलकत्ता आने का हुक्म भेजा गया। साथ ही हुक्म जारी किया गया कि १९वीं देशी पल्टन को बैरकपुर ले जाकर निरस्त्र कर तोड़ दिया जाय। ३१ मार्च को यह पल्टन तोड़ दी गयी।

लेकिन इसी बीच एक और घटना घट गयी। बैरकपुर स्थिति ३४वीं देशी पल्टन भी विद्रोह के पक्ष में सम्मति दे चुकी थी। मंगल पाण्डे इसी पल्टन के सिपाही थे। यह पल्टन १९ वीं पल्टन के अपमान को बर्दाश्त करना न चाहती थी, किन्तु नेताओं ने इन्तजार करने का आदेश दिया। उग्रपंथी मंगल पाण्डे को यह पसन्द न आया। इसलिए २९ मार्च, १८५७ को परेड के समय उन्होंने कतार से आगे बढ़ कर अपनी बन्दूक में गोली भरी और दूसरे सिपाहियों का आह्वान अंगरेज अफसरों पर आक्रमण करने के लिए किया। दूसरे सिपाही नेताओं के आदेश के अनुसार इस उग्रपंथ को अपनाने को तैयार न हुए। सर्जेन्ट-मेजर ह्यूजसन ने मंगल पाण्डे को गिरफ्तार करने का आदेश सिपाहियों को दिया, लेकिन अंगरेज अफसर का हुक्म मानने से उन्होंने इन्कार किया। मंगल पाण्डे की एक गोली ने सर्जेन्ट-मेजर का काम तमाम कर दिया।

इसी समय लेफ्टिनेन्ट बो घोड़े पर चढ़ा वहाँ आया। मंगल पाण्डे की दूसरी गोली घोड़े को जा लगी और वह सवार को लिए धराशायी हो गया। बो ने उठ कर पिस्तौल चलायी, लेकिन इसी बीच मंगल पाण्डे तलवार लेकर उस पर टूट पड़े। दूसरा अंगरेज अफसर मौत के घाट उतारा गया। एक अन्य गोरे ने मंगल पाण्डे पर वार करने की कोशिश की तो एक अन्य सिपाही ने बन्दूक के कुन्दे से वार कर उसके सर का भेजा निकाल दिया। सिपाहियों ने गरज कर कहा : 'खबरदार, मंगल पाण्डे को हाथ मत लगाना।'

फौरन कर्नल ह्वीलर आया और सिपाहियों को पाण्डे को गिरफ्तार करने का हुक्म दिया। सिपाहियों ने हुक्म मानने से इन्कार कर दिया। यह देख ह्वीलर सेनापति हियरसी के बँगले की तरफ भागा। सेनापति अंगरेज सैनिकों को लेकर आया। फिरंगियों के हाथ में पड़ने से बचने के लिए मंगल पाण्डे ने बन्दूक की नली अपने सीने से लगा कर दाग दी। वे घायल होकर गिर पड़े। फौजी अदालत में उन पर मुकदमा चला। फिरंगी अधिकारियों ने मंगल पाण्डे से दूसरे षड़यंत्रकारियों के नाम जानने चाहे, किन्तु एक नाम भी न जान सके। उन्हें ८ अप्रेल को फाँसी दी गयी। सारे बैरकपुर में कोई जल्लाद न मिला तो कलकत्ते से चार जल्लाद मँगाये गये। इस तरह एक बहादुर जवान के जीवन का अन्त हो गया, लेकिन उसका नाम अमर हो गया। इसके बाद सभी विद्रोहियों को अंगरेज पाण्डे कहते और विद्रोही सेना को पाण्डे सेना।

इस घटना के बाद ३४ वीं पल्टन भी तोड़ दी गयी। उसके सूबेदार पर रात को

गुप्त सभाएँ करने का अभियोग लगाया गया और मृत्यु-दंड दिया गया। आगे चल कर एक अन्य पल्टन भी तोड़ी गयी। विद्रोह के लिए तैयार इन पल्टनों के टूटने से बंगाल के संगठन की कमर टूट गयी।

अप्रैल १८५७ में उत्तर भारत की प्रायः सभी छावनियों में आगजनी की घटनाएँ देखी गयीं। देशी पल्टनों के सैनिकों ने अंगरेज अफसरों और उनके बड़े दलालों के निवास स्थानों में गुप्त रूप से आग लगायी। दानापुर, इलाहाबाद, आगरा, अम्बाला आदि में आगजनी की घटनाओं ने अंगरेज अफसरों को परेशान कर डाला। उस वक्त अम्बाला अंगरेज सेना का सदर दफ्तर था। अंगरेज शासकों का प्रधान सेनापति आनसन वहीं रहता था। उसने आग लगाने वालों को खोज निकालने की बड़ी कोशिश की, पर सब बेकार। उसने गवर्नर जनरल को लिखा :

"यह सचमुच विचित्र बात है कि आग लगाने वालों का पता नहीं लगता। यहाँ का हर एक व्यक्ति सतर्क रहता है, पर फिर भी अपराधियों के पते का सूराग नहीं मिलता।"

अप्रैल के अन्त में उसने फिर लिखा :

"अम्बाला में आग लगाने वालों में से किसी का भी पता हम नहीं लगा सके। यह मुझे बहुत ही असाधारण लगता है, लेकिन यह दिखाता है कि शरारतियों के बीच, जिन्होंने अपने साथ हुए तथाकथित अन्याय का बदला लेने का यह तरीका अपनाया है, कितनी गहरी मिल्लत है और जासूसी करने की हिम्मत करने पर दुर्गति का कितना बड़ा डर हर एक के अन्दर है।"[१]

लखनऊ में नेताओं ने ३१ मई को एक साथ सारे देश में विद्रोह आरंभ करने की योजना स्वीकार की थी, लेकिन यहाँ भी ३ मई को एक घटना घट गयी। रात की गुप्त सभाओं में जो गरमागरम भाषण होते थे, उनसे कुछ सिपाही अपने को ३१ मई तक काबू में न रख सके। ३ मई, १८५७ को चार सिपाही लेफ्टिनेन्ट मेचम के खेमे में घुस गये और बोले :

"व्यक्तिगत तौर पर आपसे हमारा कोई झगड़ा नहीं, लेकिन आप फिरंगी हैं और इसलिये मरना होगा।"[२]

अंगरेज लेफ्टिनेन्ट ने सिपाहियों से जीवन-भिक्षा माँगी। उसने कहा कि मुझे तो एक क्षण में मार सकते हो, लेकिन मुझे मार कर तुम्हारा फायदा क्या होगा? मेरी जगह कोई दूसरा आदमी आ जायगा। अपराध मेरा नहीं, बल्कि सरकारी व्यवस्था का है। यह सुनकर सिपाही कुछ ठण्डे हुए और वापस चले गये। लेकिन यह खबर पाते ही अंगरेज अफसर चौकन्ने हो गये और सर हेनरी लारेन्स ने चालाकी से उस पल्टन के हथियार रखवा लिये।

१. सावरकर, पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १०९

२. चार्ल्स बाल, हिस्ट्री आफ दि इंडियन म्यूटिनी, खण्ड १, प्रथम संस्करण, पृ० ५२

विद्रोह आरंभ

मेरठ में ६ मई को फिरंगी अधिकारियों ने तीसरे देशी रिसाले को चर्बी वाले कारतूस जबर्दस्ती देना चाहा। लेकिन नब्बे सवारों में से सिर्फ पाँच ने ही कारतूस छुए। फिरंगी अफसरों ने जबर्दस्ती करनी चाही, तो बाकी सवारों ने फिर कारतूस छूने से इन्कार किया और अपने खेमे में चले गये। सेनापति के पास समाचार पहुँचते ही उसने इनका कोर्ट-मार्शल किया और सभी पचासी सिपाहियों को आठ से लेकर दस साल तक की कड़ी सजा दी।

९ मई को इन पचासी सवारों को परेड मैदान में खड़ा किया गया। फिरंगी पैदल पल्टन और तोपखाना इन पर पहरा दे रहा था। सभी हिन्दुस्तानी सिपाहियों को यह दृश्य देखने के लिए हुक्म दिया गया। पचासी जवानों की वर्दियाँ उतार दी गयीं और उनको हथकड़ियाँ पहना कर आठ-आठ, दस-दस साल की कड़ी सजा काटने के लिए जेल भेज दिया गया।

अपने साथियों का यह अपमान देख कर हिन्दुस्तानी सिपाहियों का खून खौल उठा, लेकिन फिरंगी पल्टन और तोपखाने को तैयार देखकर वे खून का घूंट पीकर चुप रहे। यह सबेरे की घटना है। शाम को जब कुछ सिपाही मेरठ के बाजार में घूमने गये, तो वहाँ उन पर तानों की बौछार हुई। औरतों तक ने उन पर व्यंग किया : तुम्हारे भाई जेल में हैं और तुम यहाँ मक्खी मारते फिर रहे हो। लानत है तुम्हारी जिन्दगी को।[1]

सिपाही शर्मिन्दा हो कर छावनी लौट आये। रात को छावनी में कितनी ही गुप्त बैठकें हुईं। ३१ मई तक इन्तजार करने की जगह दूसरे ही दिन विद्रोह का झण्डा बुलन्द करने का उन्होंने फैसला किया। इस फैसले के मुताबिक फौरन उन्होंने दिल्ली समाचार भेजा :

"हम ग्यारह या बारह को दिल्ली पहुँच रहे हैं, स्वागत के लिए तैयार रहो।"[2]

१० मई को रविवार था। अंगरेजों को सिपाहियों के फैसले की जरा भी खबर न थी। शाम को पाँच बजे घण्टों की आवाज के साथ वे गिर्जाघर आखिरी प्रार्थना के लिए गये। ठीक उसी समय सैकड़ों हिन्दुस्तानी घुड़सवार झपट कर जेल पहुँचे। जेल में उनके आदमी थे, फाटक खुल गये, कैद पचासी जवानों की हथकड़ियाँ काट दी गयीं। अपने साथियों को मुक्त कर वे गिर्जाघर की तरफ बढ़े।

इसी बीच ११ वीं और २० वीं पैदल हिन्दुस्तानी पल्टन ने बगावत का झंडा बुलन्द किया। ११ वीं पल्टन के कर्नल फिनिस ने उन्हें धमकाया तो २० वीं पल्टन के एक सिपाही की गोली से उसके प्राण पखेरू उड़ गये। सिपाहियों के विद्रोह की खबर पाकर पूरे मेरठ शहर में आग लग गयी। नागरिक और आस-पास के किसान सिपाहियों की मदद के

---

१. जे० सी० विल्सन, मोरादाबाद रिपोर्ट ; के और मैलसन, हिस्ट्री आफ दि इंडियन म्यूटिनी, खण्ड २, १८९८ का संस्करण, पृ० ४२

२. जे० बी० मैलसन, द म्यूटिनी आफ द बेंगाल आर्मी (रेड पैम्फलेट), १८५८ का संस्करण, पृ० ३६

लिए आ पहुँचे। इसके बाद जो भी फिरंगी उनके हाथ आया, मारा गया। उनके बंगलों में आग लगायी गयी और पक्के घरों को ढा दिया गया। जो जान बचा सके वे भाग कर, भेष बदल कर या नौकरों-चाकरों के पैरों पड़ कर। सारे शहर में 'फिरंगियों को मारो' की आवाज गूंज रही थी।

अंधेरा होते-होते विद्रोही सिपाही दिल्ली की तरफ चल पड़े और फिरंगियों से बदला लेने का बाकी काम वहाँ के नागरिकों पर छोड़ गये। इस तरह जो विद्रोह ३१ मई को आरंभ होना चाहिये था, वह १० मई को ही आरंभ हो गया। योजना में मेरठ में विद्रोह का नम्बर सबसे आखिर में रखा गया था, क्योंकि उस वक्त यहाँ सिर्फ दो देशी पल्टनें और एक रिसाला था जब कि फिरंगियों की कई कटीली पल्टनें थीं और तोपखाना भी पूरी तरह उनके हाथ में था। अगर पहले से जरा भी सूराग मिला होता, तो फिरंगी पल्टनें देशी पल्टनों को आसानी से दबा देतीं। लेकिन योजना इतनी पोशीदा और विद्रोह इतना आकस्मिक था कि अंगरेज पल्टनें रात तक विद्रोहियों का कुछ न बिगाड़ सकीं। जब तक उन्हें तैयार किया गया, तब तक विद्रोही दिल्ली का रास्ता पकड़ चुके थे और मेरठ से दूर निकल गये थे। इन विद्रोहियों का तुरन्त पीछा करने की हिम्मत भी फिरंगी अधिकारियों को न हुई।

निश्चित तिथि के पहले मेरठ का यह विद्रोह अंगरेज शासकों के लिए बरदान बन गया। अगर ३१ मई को एक साथ विद्रोह हुआ होता तो फिरंगियों को भागने के लिए जगह न मिलती, लेकिन इससे विद्रोह को अलग-अलग दबाना आसान हो गया। इस तथ्य को अंगरेज इतिहासकार मैलसन और ह्वाइट ने स्वीकार किया है :

> "पर यह निश्चित है कि अगर भारत के सब हिस्सों में इस आकस्मिक विद्रोह ने अंगरेजों को अप्रस्तुत पाया होता तो तीव्र विनाश से हमारा कोई भी आदमी बच न पाता। तब भारत को फिर से जीतना ब्रिटिश राष्ट्र के लिए कठिन काम हो जाता.....।"[1]

> "पर मेरठ का विपत्तिपूर्ण विद्रोह एक तरह से वरदान था, इस अर्थ में कि वह समय से पहले बगावत था। इसने सारे देश में एक साथ सिपाहियों के पूर्व निर्धारित विद्रोह की, जिसको ३१ मई, १८५७, दिन रविवार को करना तय किया गया था, योजना गड़बड़ा दी।"[2]

किसी भी क्रान्ति के आयोजकों को १८५७ की इस बात से शिक्षा लेनी चाहिए। पूरी तैयारी से एक साथ विभिन्न मोर्चों पर शत्रु पर आघात किसी भी क्रान्ति या संग्राम की सफलता का मूल है। इस रास्ते को छोड़कर निश्चित समय के पहले ही कुछ कर बैठना चाहे जितना वीरतापूर्ण हो, लेकिन वस्तुतः वह सारे संग्राम के मूल पर आघात करना और असफलता की ओर ले जाना है।

१. के एण्ड मैलसन, हिस्ट्री आफ द इंडियन म्यूटिनी, खण्ड ५; सावरकर पूर्वोक्त, पृ० ११७
२. ह्वाइट, कम्प्लीट हिस्ट्री आफ ग्रेट सेपाय वार, पृ० १७; सावरकर, वही, पृ० ११७

दिल्ली मुक्त

सारी रात चल कर ११ मई को सबेरे मेरठ के विद्रोही दिल्ली के पास पहुँचे। उनके आगमन की खबर पाकर कर्नल रिप्ले ५४ वीं पल्टन को लेकर उनका मुकाबिला करने चला। लेकिन ज्योंही मेरठ की पल्टनें पास आयीं, ५४ वीं पल्टन भी विद्रोही बन गयी। कर्नल और दूसरे अंगरेज अफसर मारे गये। विद्रोहियों ने काश्मीरी फाटक और कलकत्ता फाटक से दिल्ली में प्रवेश किया। रास्ते में जो अंगरेज मिले मारे गये, उनके बँगले जलाये गये। विद्रोही दिल्ली के शाही महल के फाटक पर पहुँच गये। फाटक पर महल के अन्दर जाता कमिश्नर फ्रेजर विद्रोहियों के हाथ पड़ गया। ज्योंही वह घायल होकर गिरा सिपाही उसे रौंदते हुए महल में घुस गये। महल में रहने वाले अंगरेज अफसर और उनके परिवार के लोग मारे गये। महल पर विद्रोहियों का कब्जा हो गया। सिपाहियों ने बूढ़े बहादुर शाह से नेतृत्व करने का अनुरोध किया। कुछ हिचकिचा-हट के बाद उसने नेता बनना स्वीकार कर लिया। सम्राट बहादुर शाह का झण्डा लाल किले पर फहराने लगा।

शाही महल के पास ही अंगरेज सेना का बड़ा शस्त्रागार था। उस वक्त उसमें कम से कम ९ लाख कारतूस, ८-१० हजार राइफलें, बन्दूकें और बेशुमार बारूद थी। विद्रोहियों ने इस पर कब्जा करने की कोशिश की। इसकी रक्षा लेफ्टिनेन्ट विलोबी के नेतृत्व में नौ अंगरेज और कुछ भारतीय सैनिक कर रहे थे। भारतीय सैनिक विद्रो-हियों के साथ मिल गये, लेकिन फिर भी अंगरेज सैनिकों ने शस्त्रागार उन्हें सौंपने से इन्कार किया। विद्रोहियों के हाथ से बचाने के लिए आखिर में अंगरेजों ने शस्त्रागार में आग लगा दी। शस्त्रागार ध्वंस हो गया और उसके साथ वे अंगरेज भी खत्म हो गये। लेकिन इस विस्फोट से पचीस विद्रोही सिपाही और आस-पास की सड़कों के प्रायः तीन सौ नागरिक भी उड़ गये और टकड़े-टुकड़े हो गये।

जब तक अस्त्रागार अंगरेजों के हाथ था, खास छावनी के भारतीय सिपाही चुप रहे; सिर्फ अंगरेज अफसरों के हुक्म से अपने देशी भाइयों पर आक्रमण करने से इन्कार किया। लेकिन ज्योंही अस्त्रागार अंगरेजों के हाथ से निकल गया वे उन पर टूट पड़े। जो भी अंगरेज उनके हाथ आया, मारा गया। इस तरह ५४ वीं पल्टन के साथ ७४ वीं और ३८ वीं पल्टनें भी विद्रोही बन गयीं।

फिरंगियों को मारने में देशी पल्टनों के अलावा दिल्ली के नागरिकों और आस-पास के किसानों ने भी हिस्सा लिया। सम्राट बहादुर शाह के कड़े हुक्म पर दिल्ली में अंगरेजों का कत्ल बन्द हुआ और कितने ही अंगरेजों को महल में कैद कर रखा गया। जो अंगरेज दिल्ली से भेष बदल कर भागे थे, उनमें से अधिकांश आसपास के किसानों के हाथ मारे गये। कुछ पर किसानों ने तरस भी खाया और वे सुरक्षित मेरठ पहुँच गये।

दिल्ली पर विद्रोहियों का कब्जा फिरंगियों की इज्जत पर बड़ा भारी आघात था। अंगरेजों की भावना को इन आजादी के दीवानों के खिलाफ उभाड़ने के लिए इन फिरंगियों

ने क्या नहीं किया ? उन्होंने जोर शोर से प्रचार किया कि दिल्ली की सड़कों पर अंगरेज औरतों को नंगा चलाया गया है, उनके साथ खुलेआम बलात्कार किया गया है, उनके स्तन काट लिए गये हैं और छोटी-छोटी लड़कियों पर भी बलात्कार किया गया है। इस झूठ का प्रचार करने वाले कितने ही पादरी थे जो अपने को सच का पुतला और धर्म का ठेकेदार कहते हैं। यह प्रचार झूठा था। इसे खुद अंगरेजों ने स्वीकार किया है। गुप्तचर विभाग के प्रधान सर विलियम म्योर ने लिखा :

"चाहे जितनी क्रूरता और खून-खराबी हुआ हो, उन कहानियों का, जो महिलाओं के अपमान के बारे में फैली थीं, जहाँ तक मैं जाँच-पड़ताल कर सका हूं, कोई संतोष-जनक प्रमाण नहीं।"[१]

भारतीय फिरंगियों को भारत से मार भगाना चाहते थे। इसलिए कितने ही अंगरेजों को चाहे वे मर्द हों या औरत, बूढ़े हों या बच्चे, जान गवानी पड़ी, भारत को लूटने और तबाह करने की कीमत चुकानी पड़ी, लेकिन किसी अंगरेज महिला के साथ विद्रोहियों द्वारा बलात्कार की बात गुप्तचर विभाग का प्रधान अंगरेज भी न पा सका।

इसी बीच फिरंगियों के सौभाग्य से फारस के साथ उनका युद्ध समाप्त हो गया। गवर्नर जनरल कैनिंग ने अंगरेजी सेना को तुरन्त भारत आने का हुक्म दिया। चीन के साथ युद्ध के लिए जाने वाली सेनाओं को रास्ते से वापस बुलाया। रंगून जाने को तैयार दो अंगरेज पल्टनों को कलकत्ते में ही रोक लिया। अपनी पल्टनों को तैयार रहने का आदेश मद्रास के गवर्नर को भेजा गया। कलकत्ते और अम्बाला में अंगरेजी सेना इकट्ठा करने के साथ ही साथ कैनिंग ने विद्रोहियों के नाम घोषणा निकाली :

"आपलोगों के धर्म और जाति के मामलों में दखल देने का हमारा कोई भी इरादा नहीं। आपलोगों के धर्म का अपमान करने का हमारा कोई इरादा नहीं। अगर आप पसन्द करें तो आप कारतूस अपने हाथ बना सकते हैं। आपलोगों ने जिस कंपनी का नमक खाया है, उसके खिलाफ बगावत करना पाप है।"

इसी समय बहादुर शाह के नाम से एक घोषणा सारे देश के हिन्दुओं-मुसलमानों के नाम जारी की गयी थी जिसमें देश और धर्म के लिए लड़ने का आह्वान किया गया था।

विद्रोहियों को अपनी घोषणा पर ध्यान देता न देख कैनिंग ने प्रधान सेनापति आनसन को दिल्ली दखल करने का हुक्म दिया। किन्तु इसी बीच खुद पंजाब और सीमा प्रान्त में कितनी ही घटनाएँ घटीं।

पंजाब और सीमान्त प्रदेश में विद्रोह

उस वक्त पंजाब आर्मी का ज्यादातर हिस्सा मियांमीर के छावनी में था। लाहौर के पास होने के कारण लाहौर किले की रक्षा इसी छावनी के देशी सिपाहियों के हाथ थी। उस वक्त वहाँ देशी सिपाहियों की संख्या अंगरेज सैनिकों की चार गुनी थी।[२] उस वक्त पंजाब का प्रधान अफसर सर जान लारेन्स और लाहौर सेना का प्रधान अफसर राबर्ट

१. सावरकर, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ० [illegible] २. सावरकर, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ० [illegible]

माल्टगोमरी था। वे मेरठ विद्रोह की खबर पाकर चौकन्ने हो गये। उन्होंने जासूसों के ज़रिए पता लगा लिया कि देशी पल्टनें विद्रोह की योजना में शामिल हैं और सिर्फ मौके का इन्तजार कर रही हैं। १३ मई को जनरल परेड का हुक्म माल्टगोमरी ने दिया और परेड के मैदान में देशी पल्टनों को अंगरेज रिसाले और तोपखानों से घेर कर निरस्त्र कर दिया। दूसरी तरफ एक अंगरेज पल्टन ने जाकर तोपखाने की मदद से लाहौर किले के सिपाहियों से हथियार रखवाये, उन्हें निकाल बाहर कर किले पर कब्जा कर लिया। अमृतसर के गोविन्द गढ़ को सिखों और जाटों की मदद से अंगरेजों के लिए सुरक्षित बनाया गया।

१३ मई को फीरोजपुर की छावनी की ४५ वीं और ५७ वीं देशी पल्टनों ने विद्रोह किया। उनके साथ फीरोजपुर के निवासी भी विद्रोह में शामिल हुए। अंगरेज बैरकों में जाकर छिप गये थे, इसलिए उनके बंगलों, तम्बुओं, होटलों और गिर्जाघरों में आग लगायी गयी। विद्रोह के बाद देशी पल्टनों ने दिल्ली का रास्ता पकड़ा। जो गोरी पल्टन इन सिपाहियों का पीछा करने आयी, उसने जिसे पाया उसे कत्ल किया। कुछ दूर सिपाहियों का पीछा कर वह वापस लौट गयी।

मियाँ मीर की घटना से पेशावर की देशी पल्टनों में बड़ी हलचल मची। इसे देख अंगरेज अधिकारियों ने २१ मई को इन पल्टनों को अंगरेज पल्टनों और तोपखानों से घेर कर निरस्त्र कर दिया।

इसके बाद अंगरेज अधिकारियों ने होतीमर्दन की ५५ वीं पल्टन को निरस्त्र करने का फैसला किया। पेशावर से अंगरेज पल्टन भेजी गयी। इसकी खबर पाकर २४ मई को सिपाही कर्नल स्पाटिशवुड से पूछने गये कि क्या उन्हें भी निरस्त्र किया जायगा? इस कर्नल ने उन्हें गोल मटोल उत्तर देकर टाल दिया। सिपाही असन्तुष्ट मन लेकर वापस गये। कर्नल अपने सिपाहियों का निरस्त्र किया जाना देखना न चाहता था, इसलिए उसी रात उसने आत्म हत्या कर ली। यह समाचार पाते ही ५५ वीं पल्टन ने बगावत का झण्डा बुलन्द कर दिया, खजाना लूट लिया और अपने हथियार लेकर दिल्ली की तरफ चल पड़े।

लेकिन दिल्ली बहुत दूर थी। आगे पंजाब में अंगरेज पल्टनें भरी पड़ी थीं और पीछे से अंगरेज पल्टन पीछा कर रही थी। ऐसी हालत में ये सिपाही क्या करें? उन्होंने आत्मसमर्पण के बजाय लड़ कर मर जाना बेहतर समझा। कितने ही लड़ते हुए कवीलाई इलाके में पहुँच गये और वहाँ हिन्दुओं को मुसलमान बन जाना पड़ा। अधिकांश सिपाही काश्मीर की तरफ चले, इस आशा से कि शायद वहाँ का राजा गुलाब सिंह उनकी रक्षा करे। लेकिन केन्द्रीय सरकार के मंत्री राजा कर्ण सिंह के पूर्वज गद्दार गुलाब सिंह ने क्या किया? उसने हुक्म दिया कि जो भी विद्रोही काश्मीर में घुसे उसे मार दिया जाय।

जो भी सिपाही अंगरेजों के हाथ आये, उनको बेरहमी से मौत के घाट उतारा गया, उन्हें फांसी से लटकाया गया और जब फिरंगी उन्हें फांसी देते-देते थक गये तो उन्हें तोपों

से उड़ाया गया। ये सिपाही फांसी पर चढ़े, तोपों के गोलों से उड़ाये गये, लेकिन किसी ने आत्मसमर्पण नहीं किया, माफी नहीं मांगी। गद्दार गुलाब सिंह जैसे लोगों को छोड़ कर कौन देशवासी ऐसे बहादुर सिपाहियों पर गर्व न करेगा ?

सारे जालन्धर दोआबा में एक साथ विद्रोह करने की योजना बनी थी। ९ जून को जालन्धर में क्वीन्स रेजीमेन्ट के कर्नल के बंगले में आग लगा कर विद्रोह आरंभ करने की सूचना दी गयी। आधी रात से विद्रोह आरंभ हुआ। यह इतना आकस्मिक था कि यूरोपीय सैनिकों और तोपखाने के बावजूद फिरंगी कुछ न कर सके। इधर-उधर भाग कर जान बचाने लगे। लेकिन फिरंगियों को मौत के घाट उतारने में वे समय नष्ट न करना चाहते थे, बल्कि जल्दी फिल्लौर पहुँचना चाहते थे जहाँ उन्होंने सवार भेज कर तैयार रहने की सूचना भेज दी थी। एडजुटेन्ट बैगशा ने जालंधर के विद्रोहियों को रोकना चाहा, किन्तु उसे जान से हाथ धोना पड़ा। फिल्लौर के सिपाहियों ने विद्रोहियों का स्वागत किया और जालंधर की ३१ वीं तथा फिल्लौर की ३री पल्टन एक साथ मिल कर लुधियाना की तरफ चल पड़ीं। जालंधर से विद्रोह का तार पाकर लुधियाना के अंगरेज अफसरों ने सिखों और नाभा के राजा की सहायक सेना लेकर सतलज के किनारे विद्रोहियों को रोकना चाहा। नाव का पुल नष्ट कर दिया गया ताकि विद्रोही सतलज पार न कर सकें। गद्दार सिखों और फिरंगियों ने तोपों से विद्रोहियों पर गोलाबारी की। लेकिन इसके बावजूद विद्रोहियों ने नावों से नदी पार की, अंगरेज सेनापति विलियम्स को गोली का शिकार बनाया और देश के दुश्मन फिरंगियों तथा गद्दार सिखों को मार भगाया।

लुधियाना के नागरिकों ने विद्रोहियों का साथ दिया। उन्होंने साथ जाकर सिपाहियों को फिरंगियों और देशी गद्दारों के स्थान दिखाये। सरकारी माल गोदाम लूट लिए गये, गिर्जाघर, अंगरेजी समाचार पत्रों के प्रेस, अंगरेजों के घर जला दिये गये। लुधियाना विद्रोहियों के हाथ आ गया, लेकिन सैनिक महत्व के इस स्थान को छोड़ कर विद्रोही दिल्ली की तरफ चल पड़े।

इस तरह जब पंजाब में विद्रोह की लपटें जोर पकड़ रही थीं, इतिहास की उस महत्वपूर्ण घड़ी में सिख सरदारों ने देश के साथ सबसे बड़ी गद्दारी की। पटियाला, नाभा और झिन्द के तत्कालीन सिख राजाओं के नाम मीरजाफरों की सूची में अनन्त काल तक दर्ज रहेंगे। १३ जनवरी, १८४९ को झेलम के तट पर चिलियानवाला में बहादुर सिखों ने जो वीरता दिखा कर फिरंगियों को परास्त किया था, उसे ये गद्दार भूल गये। वे भूल गये कि किस प्रकार सिर्फ आठ साल पहले इन फिरंगियों ने सिखों का स्वतंत्र राज्य ध्वंस कर उन्हें गुलामी की जंजीर में बाँधा था। गुलामी की जंजीर इन देशद्रोहियों को देश की स्वाधीनता से ज्यादा आकर्षक लगी। इसलिए जब बहादुर शाह के सवार स्वराज की लड़ाई में शामिल होने का निमंत्रण लेकर इन राजाओं के पास पहुँचे तो इन गद्दारों ने उन सवारों को मरवा दिया और खुल कर अंगरेजों का साथ दिया।

पंजाब में अंगरेज सेना बहुत पहले ही से बहुत बड़ी तादाद में उपस्थित थी। इन

सिख राजाओं की मदद पाकर फिरंगियों ने पच्छिम में सरहद से लेकर सतलज तक का अंचल अपने लिए बिल्कुल सुरक्षित बना लिया। विद्रोहियों ही को नहीं, हजारों शान्तिपूर्ण नागरिकों को वहाँ से भगा दिया गया इसलिए कि वे अपने वतन से मुहब्बत करते थे। अगर इन राजाओं ने भी विद्रोह का साथ दे दिया होता तो चन्द दिन के अन्दर, एक-आध महीने के अन्दर सारे देश से फिरंगियों की हुकूमत खत्म हो गयी होती। पंजाब के प्रधान अधिकारी सर जान-लारेन्स ने ३१ अक्टूबर, १८५७ को एक पत्र में लिखा :

> "अगर सिख हमारे खिलाफ चले गये होते, तो मनुष्य की शक्ति के अन्दर की कोई भी चीज हमें बचा न पाती। कोई आशा न कर सकता था, दूरदर्शिता की बात तो जाने ही दीजिए, कि ये लोग अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता के लोभ का बदला लेने के प्रलोभन से अपने को रोक सकेंगे।"[1]

और भी सुनिए :

> "अगर पंजाब निकल गया होता तो हम मिट्टी में मिल गये होते। उत्तरी प्रान्तों में मदद के पहुँचने के बहुत पहले, अंगरेजों की हड्डियाँ धूप में सूखती मिलती। इंगलैण्ड इस मुसीबत से संभल न पाता और पूर्व में फिर अपनी शक्ति संचित न कर पाता।"[2]

पटियाला, नाभा और झिन्द के सिख राजाओं की मदद से पंजाब से दिल्ली तक की सड़क को सुरक्षित बना कर अंगरेज सेनापति आनसन फिरंगियों और सिखों की सेना लेकर २५ मई को अम्बाला से दिल्ली के लिए रवाना हुआ। लेकिन करनाल में पहुँचते ही आनसन २७ मई को हैजे से मर गया। सर हेनरी बर्नार्ड ने उसका पद संभाला।

अम्बाला से दिल्ली तक जितने गाँव इन फिरंगियों और सिखों की सेना के रास्ते में आये, उनमें पाशविक अत्याचार किये गये। जो भी उनके हाथ में पड़ते, उनका कोर्ट मार्शल किया जाता और बेरहमी से मृत्यु दंड दिया जाता। जब तक फांसी का तख्ता खड़ा किया जाता, उनके सर के बाल उखाड़े जाते, संगीनें भोंकी जातीं और भालों तथा संगीनों की नोक से निर्दोष हिन्दू किसानों के मुँह में गाय का और मुसलमानों के मुँह में सुअर का मांस ठूँसा जाता। इसके बाद उन्हें फांसी से लटका दिया जाता। एक अंगरेज इतिहासकार की जबानी ही सुनिए :

> "फौजी अदालत (कोर्ट मार्शल) में न्यायाधीश की जगह बैठने जाते समय अफसर कसम खाते कि वे अपने कैदियों को, चाहे वे अपराधी हों या निर्दोष, फाँसी की सजा देंगे और अगर कोई भेदाभेदहीन प्रतिशोध के विरुद्ध आवाज उठाने का साहस करता तो उसके कुछ साथियों की गुर्राहटें उसे फौरन चुप कर देती। जल्द अदालती कार्रवाई के बाद मृत्यु दण्ड प्राप्त कैदियों का, मृत्यु दंड दिये जाने के पहले, मूत्र

---

१. सावरकर, पूर्वोक्त-पुस्तक, पृ० १४५

२. लाइफ आफ लार्ड लारेन्स, खण्ड २, पृ० ३१५ ; सावरकर, पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १४२

सैनिक मजाक उड़ाते और उन्हें यत्रणा देते, जबकि शिक्षित अफसर देखा करते और सहमति जताते।"[1]

फिरगी पल्टन दिल्ली पर कब्जा करने चली, किन्तु इसके लिए किसी भी बड़ी चेष्टा के पहले ही देश के विभिन्न हिस्सों मे विद्रोह फूट पड़ा। नसीराबाद (राजपूताना), अलीगढ, बरेली (रुहेलखण्ड), कानपुर, लखनऊ, बनारस, दानापुर आदि मे विद्रोह की लपटे उठने लगी।

पश्चिम उत्तर प्रदेश और राजस्थान

९ वी देशी पल्टन अलीगढ मे थी। उसके कुछ दस्ते मैनपुरी, इटावा और बलन्द शहर मे थे। मई मे बुलन्द शहर में सिपाहियो के अन्दर विद्रोह का प्रचार करते हुए एक ब्राह्मण पकडा गया। उसे अलीगढ ले जाकर २० मई को फांसी दी गयी। फांसी देखने के लिए सारी पल्टन को हुकम दिया गया। उस ब्राह्मण को फांसी होते ही वही पर पल्टन ने विद्रोह कर दिया। उसने अगरेजो की हत्या तो नही की, लेकिन फौरन अलीगढ छोड कर भाग जाने का हुकम दिया। फिरगी अपने बीबी-बच्चे लेकर भागे। इन भागनेवाले मे आउटराम की पत्नी भी थी। आधी रात तक अलीगढ मे फिरगी हुकूमत का कोई चिह्न न रह गया।

इस विद्रोह का समाचार पाते ही २१ मई को मैनपुरी, इटावा और बुलन्दशहर मे विद्रोह हो गया। विद्रोहियो ने खजाने और हथियारो पर कब्जा किया और अगरेजो को भाग जाने की इजाजत दी। इन स्थानो को फिरगी हुकूमत से मुक्त कर विद्रोही खजाना और हथियार लेकर दिल्ली की तरफ चल पडे।

उस वक्त इटावा का चीफ मजिस्ट्रेट और कलक्टर एलन अक्टोवियन ह्यूम था। वह जनाना का भेष धारण कर भागा था।[2] यह वही ह्यूम था जो आगे चल कर १८८५ में कांग्रेस का जन्मदाता बना।

अजमेर के पास नसीराबाद की छावनी मे उस वक्त फिरगियो की एक कपनी, ३० वी देशी पल्टन, पहली बम्बई लैन्सर्स और मेरठ से आयी १५ वी देशी पल्टन थी। २८ मई को १५ वी पल्टन ने तोपखाने पर कब्जा कर लिया। फिरगी अफसर पहली बम्बई लैन्सर्स को लेकर तोपखाने पर कब्जा करने गये, लेकिन थोडी देर के बाद बम्बई लैन्सर्स ने फिरगियों का साथ छोड दिया। फिरंगी अफसर मारे गये। बाकी फिरगी नसीराबाद से भाग खडे हुए। विद्रोहियो ने खजाना, तोपें और हथियार लेकर दिल्ली की तरफ कूच किया।

रुहेलखण्ड आजाद

रुहेलखण्ड मे विद्रोह की योजना बहुत ही सगठित थी। इसलिए मेरठ के विद्रोहियो के आह्वान और दिल्ली के शाही निमत्रण के बावजूद बरेली में ३१ मई के पहले विद्रोह

१. होल्मेज, हिस्ट्री आफ द सेपाय वार, पृ० १२४; सावरकर, पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १३५
२. मैलसन, रेड पैम्फलेट, पृ० ७०

में हुआ। उस वक्त वहाँ आठवाँ रिसाला, १८ वीं और ६८ वीं देशी पल्टन और एक देशी तोपखाना था। ३१ मई को दिन के ११ बजे तोप दाग कर विद्रोह आरम्भ करने का सिगनल दिया गया। ६ घंटे में बरेली को स्वतंत्र कर लिया गया। अधिकांश अंगरेज अधिकारी मारे गये, कुछ भाग कर नैनीताल पहुँच गये।

तोपखाने का सूबेदार बख्त खाँ प्रधान सेनापति बनाया गया। रूहेलखण्ड के आखिरी स्वाधीन शासक हाफिज रहमत के वंशज खान बहादुर खाँ सर्वसम्मति से स्वाधीन रूहेलखण्ड के शासक नियुक्त किये गये। उन्होंने दिल्ली के सम्राट के सूबेदार की हैसियत से शासन भार सँभाला।

खान बहादुर खाँ अंगरेजों के बहुत प्रिय पात्र माने जाते थे। उन्हें अंगरेजों से दो पेन्शनें मिलती थीं, एक हाफिज रहमत का वंशज होने के कारण और दूसरी अंगरेजों के न्याय विभाग के जज होने के कारण। लेकिन ये खान बहादुर खाँ ही रूहेलखण्ड में गुप्त रूप से विद्रोह के संगठनकर्त्ता थे और सारे देश में एक साथ विद्रोह की योजना में शामिल थे।

शासनभार सँभालते ही खान बहादुर खाँ ने अंगरेज अपराधियों पर मुकदमा चलाने के लिए अदालत बैठायी। इन अपराधियों में अंगरेज डाक्टर, जो कि पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर का दामाद था, बरेली के सरकारी कालेज का प्रिंसिपल और बरेली का जिला जज, आदि थे। अदालत के फैसले के अनुसार छः अंगरेज अधिकारियों को फाँसी दी गयी। रूहेलखण्ड का अंगरेज कमिश्नर भाग निकला था। इसलिए उसके फरार होने की घोषणा जारी की गयी और ऐलान किया गया कि जो भी उसे जीवित या मृत पकड़ लायेगा, उसे एक हजार रुपये का इनाम दिया जायेगा।

शाहजहाँपुर और मोरादाबाद में ३१ मई को ही और बदायूँ में १ जून को विद्रोह हुआ। अंगरेज मारे गये या भाग गये। इस तरह पूरा रूहेलखण्ड दो दिन के अन्दर ब्रिटिश साम्राज्यियों के चंगुल से मुक्त हो गया। महारानी विक्टोरिया के झण्डे की जगह सम्राट बहादुर शाह का झंडा फहराने लगा।

बख्त खाँ के नेतृत्व में रूहेलखण्ड की पल्टनें फिरंगियों से मोर्चा लेने के लिए दिल्ली गयीं। इधर बहादुर खाँ ने नयी पल्टन खड़ी की और सारे रूहेलखण्ड का प्रशासन संगठित किया। उन्होंने सम्राट बहादुर शाह के नाम एक घोषणा जारी कर हिन्दुओं और मुसलमानों का आह्वान स्वराज और धर्म की रक्षा के लिए किया।

पूर्वी उत्तर प्रदेश में घमासान युद्ध

३१ मई को बनारस की छावनी में आग लगी। ३ जून को आजमगढ़ में १७ वीं पल्टन ने विद्रोह किया। लेफ्टिनेन्ट हचिसन और क्वार्टर सर्जेन्ट लेविस को गोली मार कर मौत के घाट उतारा गया, लेकिन बाकी अंगरेजों और उनके बीबी-बच्चों पर रहम दिखाया गया। उन्हें गाड़ियों में बैठाकर और रास्ते के लिए रक्षक देकर बनारस भेज दिया गया। दूसरी तरफ उन्होंने ७ लाख के खजाने और शस्त्रागार पर कब्जा किया।

जेल के ताले तोड़ कर सब कैदियों को मुक्त कर दिया। जगह-जगह स्वराज का झण्डा फहराया गया। विजय-उत्सव मनाने के लिए फौज का बड़ा भारी जुलूस निकला। इस उत्सव के बाद विद्रोही फैजाबाद की तरफ चल पड़े। यहाँ के विद्रोह में पुलिस ने भी खुल कर फौज का साथ दिया।

आजमगढ़ के विद्रोह का समाचार ४ जून, १८५७ को बनारस पहुँचा। उस वक्त बनारस की छावनी सिकरौल में ३७ वीं देशी पल्टन, लुधियाना सिख रेजीमेन्ट और एक रिसाला था। तोपखाना फिरंगियों ने जान-बूझ कर अपने हाथ में रखा था। इसी बीच जनरल नील गोरी पल्टन लेकर बनारस आ पहुँचा था। बनारस में सिर्फ फौज के अन्दर ही नहीं, आम जनता में असंतोष बहुत था। अन्न के दाम बढ़ जाने के लिए अंगरेज ही जिम्मेदार माने जाते थे। फौज और जनता के इस असंतोष के समाचार अंगरेज अधिकारियों के पास थे। इसलिए आजमगढ़ के विद्रोह की खबर पाते ही उन्होंने तुरत सिपाहियों को निरस्त्र करने का फैसला किया।

इस योजना के अनुसार ४ जून को ही शाम को सिपाहियों को परेड के मैदान में अंगरेज अफसरों ने हथियार सौंप देने का हुक्म दिया। अपना तोपखाना उन्होंने सिपाहियों पर हमले के लिए तैयार रखा। सिपाहियों को भी इस योजना की खबर पहले ही मिल चुकी थी। इसलिए वे भी विद्रोह का फैसला कर के गये थे। अंगरेजों को हथियार सौंपने के बजाय सिपाही पास के शस्त्रागार और अंगरेज अफसरों पर टूट पड़े।

बागी सिपाहियों का दमन करने के लिए अंगरेज सिख पल्टन ले आये। सिख सरदार अपने देश से ज्यादा अंगरेजों की गुलामी पसन्द करते थे। लेकिन बनारस में क्या देखा गया? पहले एक विद्रोही सिपाही ने सिख रेजीमेन्ट के कमाण्डर गाइज को मार दिया। ज्योंही ब्रिगेडियर डाजसन उसका स्थान लेने आया, तो उसे एक सिख सिपाही ने गोली मार दी। दूसरे सिखों ने इसे महान पाप मान कर अपने ही साथी के टुकड़े टुकड़े कर दिये।

इन गुमराह सिखों को क्या पुरस्कार मिला? फिरंगी तोपखाने ने सिखों समेत सभी हिन्दुस्तानी सैनिकों को भूनना शुरू किया। अब सिख सैनिक क्या करें? बाध्य होकर उन्हें भी विद्रोहियों का साथ देना पड़ा। १८५७ के विद्रोह के इतिहास म यह पहला अवसर था, जब हिन्दुओं, मुसलमानों और सिखों ने मिल कर फिरंगियों का मुकाबिला किया था। ऐसा ही अगर सारे देश में होता, तो भारत का इतिहास दूसरी तरह लिखा गया होता।

इसी वक्त खास शहर में विद्रोह का खतरा देखा गया। अंगरेज इधर-उधर प्राण रक्षा के लिए भागने लगे। उनकी रक्षा के लिए सिख सरदार सूरत सिंह और बनारस के राजा आगे आये। बनारस में अंगरेजों के खजाने में बेशुमार रुपये थे और सिखों की रानी के आभूषण जिसे अंगरेजों ने देश निकाला दे दिया था। इस खजाने पर सिखों का पहरा था। उनके सामने अंगरेजों से अपनी रानी के गहने छीनने का और रानी के साथ किये गये अपमान का बदला लेने का अच्छा मौका था, लेकिन सूरत सिंह ने यह न होने

दिया। अवश्य ही जल्दी ही सिख पहरे से हटा दिये गये और अंगरेज सैनिकों का पहरा बैठा दिया गया।

और बनारस के राजा ने क्या किया जिसके पूर्वज चेतसिंह को फिरंगियों ने बुरी तरह लूटा था? उसने अपनी सारी सेवाएँ, अपना सर्वस्व भारतमाता या काशी विश्वनाथ के चरणों में नहीं, फिरंगी शासकों के चरणों में अर्पित किया।

५ जून को जौनपुर में विद्रोह हुआ। बनारस में सिखों की जो रेजीमेन्ट थी, उसका एक दस्ता उस वक्त जौनपुर में था। इस दस्ते ने भी विद्रोह में हिस्सा लिया। कमांडिंग अफसर लेफ्टिनेन्ट मारा और ज्वायंट मजिस्ट्रेट कूपेज मारे गये। बाकी अंगरेजों को हथियार डाल कर जौनपुर से भाग जाने का हुक्म दिया गया। इससे फायदा उठा कर अंगरेज बनारस भाग गये। विद्रोही खज़ाना और हथियार लेकर लखनऊ की तरफ चल पड़े।

इस तरह सारे बनारस प्रान्त में विद्रोह की आग फैल गयी और खास बनारस को छोड़ कर सारा प्रान्त आजाद हो गया। गाँवों और शहरों की आम जनता ने इसमें हिस्सा लिया। फिरंगी राज के सारे चिह्न उखाड़ फेंके गये। अंगरेजों द्वारा लादे गये नये जमीन्दार मार भगाये गये और पुराने जमीन्दार फिर लाकर बैठाये गये। अंगरेजों को लगान और कर देना बन्द कर दिया गया। उनके जेलखाने और न्यायालय तोड़ डाले गये। तार काट दिये गये, रेल लाइनें उखाड़ दी गयीं। गाँव-गाँव में नौजवान पहरा देने लगे ताकि वहाँ अंगरेज न घुसने पायें और न उनके यहाँ से कोई मदद अंगरेजों को पहुँचने पाये। ब्रिटिश सरकार के ही कागजात में लिखा पाया जाता है:

> "ज्योंही जिलों में मालूम हुआ कि बनारस में आजादी के लिए विद्रोह हो गया है, सारा देश एक आदमी की तरह उठ खड़ा हुआ। पड़ोस की छावनियों के साथ यातायात के साधन काट दिये गये और ऐसा लगता था कि रैय्यत और जमीन्दार उस योजना को पूरा करने की चेष्टा करने वाले हैं जिसे बनारस में पूरा करने में सिपाही असफल हुए थे।" (रेड पैम्फलेट, पृ० ९१)[1]

बनारस शहर में ४ जून के विद्रोह की असफलता के बाद एक तरफ से गिरफ्तारियाँ शुरू हुईं। कुछ विद्रोह के संगठनकर्त्ता भी पकड़े गये और उनके पास से महत्वपूर्ण पत्र बरामद हुए जो उनके संगठन पर प्रकाश डालते थे। एक लखपति साहूकार भी पकड़ा गया था और उसके घर से २०० तलवारें और राइफलें बरामद हुई थीं। वह भी विद्रोहियों से सम्बन्धित था।

इसके बाद जनरल नील ने अंगरेजों और सिखों के दस्तों को 'अमन-कानून' कायम करने के लिए बनारस के आस-पास के गाँवों में भेजना शुरू किया। दुश्मनों के ये दस्ते गाँव जाते और जिसे भी पकड़ पाते फांसी दे देते। वृक्षों की डालों को ही फांसी का तख्ता बनाया गया। इन डालों से लटका कर फांसी दी जाती। दिन-रात फांसी देने का

१. सावरकर, पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १८८

काम चलाया जाता और लाशों को डालों से लटकता छोड़ दिया जाता। इस काम में हाथियों का भी प्रयोग किया गया। हाथियों पर बैठा कर निरपराध, निर्दोष भारतीयों को वृक्ष के तले ले जाया जाता। उनके गले में फांसी का फंदा डालकर रस्सी का दूसरा सिरा मजबूती से डाल से बांध दिया जाता और फिर हाथी को रवाना कर दिया जाता। कभी-कभी हाथ-पैर तोड़ कर आदमी को अंगरेजी के अंक आठ या नौ का रूप दिया जाता और तब उसे फांसी दी जाती। ज्यादा से ज्यादा और तरह-तरह से हिन्दुस्तानियों को फांसी देने में फिरंगियों को बड़ा मजा आता।

फांसी लगाने की इस मेहनत से बचने के लिए उन्होंने एक नया तरीका निकाला। फिरंगियों और सिखों की पल्टन पूरे गाँव को घेर कर चारों तरफ से आग लगा देती। किसी को भी गाँव से निकलने न दिया जाता। जो आग से बच निकलने की कोशिश करता, उसे गोली मार दी जाती। इस तरह सारा गाँव जला कर खाक कर दिया जाता और उसके साथ मर्दों-औरतों, बूढ़ों-बच्चों, हिन्दुओं-मुसलमानों सबको जिन्दा जला दिया जाता। इन सब घटनाओं का उल्लेख खुद अंगरेजों द्वारा लिखी पुस्तकों और पत्रों में मिलता है। एक अंगरेज ने अपने पत्र में लिखा :

"हमलोगों ने एक बड़े गाँव में आग लगायी जो लोगों से भरा था। हम लोगों ने उन्हें घेर लिया और जब वे भागते हुए लपटों से बाहर निकले हमने उन्हें गोली मारी।"[1]

हम पहले बता आये हैं कि किस तरह हिन्दुस्तानियों ने फिरंगियों पर दया दिखायी थी, उन्हें गाड़ियों पर बैठा कर सुरक्षित भेज दिया था। उनके इसी बर्ताव से बनारस प्रान्त में मारे जाने वाले फिरंगियों की संख्या बहुत कम थी। लेकिन साम्राज्यी फिरंगियों ने क्या किया? उन्होंने हाथ में पड़ने वाले हर हिन्दुस्तानी को मौत के घाट उतारा। जवानों को ही नहीं, दुर्बल बूढ़ों, मासूम बच्चों, गर्भवती और दूध पिलाती युवतियों, सबको जिन्दा जलाया। क्या अपराध था उनका? यह कि हिन्दुस्तान ने आजादी के लिए सर उठाया था और ये हिन्दुस्तानी सिखों और गुरखों की तरह देश के साथ गद्दारी करने को तैयार न हुए थे। स्वदेश प्रेम हर साम्राज्यवादी लुटेरे की नजर में सबसे बड़ा अपराध होता है।

गंगा और जमुना के संगम पर स्थित इलाहाबाद का किला सैनिक दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण था। वह कलकत्ता और दिल्ली के बीच यातायात नियंत्रित करता था। बनारस में विद्रोह के वक्त इस किले में अंगरेज पल्टन बिल्कुल न थी, सारे किले की व्यवस्था अंगरेज अफसरों के मातहत हिन्दुस्तानी सिपाहियों के हाथ थी। यहाँ पर ६ ठीं देशी पल्टन, फीरोजपुर की सिख रेजीमेन्ट के लगभग दो सौ जवान और अवध रिसाला था। ६ ठीं पल्टन विद्रोह की योजना में शामिल थी, लेकिन उसने दिखावा ऐसा किया कि फिरंगी उसे सबसे ज्यादा वफादार पल्टन समझते थे। खुद गवर्नर-जनरल लार्ड कैनिंग ने उसकी 'अद्वितीय स्वामिभक्ति' की प्रशंसा की थी।

---

१. चार्ल्स बाल, वही, खण्ड १, पृ० २४४

बनारस के विद्रोह की खबर ५ जून को इलाहाबाद पहुंची। उसी दिन इलाहाबाद शहर में इतनी सरगरमी फैली कि अंगरेज शासक डर गये। किले के फाटक बन्द कर दिये गये और तोपों के मुंह बनारस से आने वाली सड़क के पुल की तरफ मोड़ दिये गये। उसी शाम बनारस पुल पर लगी तोपों को किले के अन्दर ले आने का हुक्म सिपाहियों को दिया गया, लेकिन सिपाही तोपों को किले के बदले छावनी में खींच कर ले जाना चाहते थे।

६ जून को सबेरे अंगरेज अफसर अवध रिसाले को लेकर इस अवज्ञा के लिए सिपाहियों को दंड देने चले। सामना होने पर अंगरेज अफसरों ने रिसाले की सिपाहियों पर हमले का हुक्म दिया, लेकिन सवारों ने अपने भाइयों पर हमला करने से इन्कार कर दिया। एक अंगरेज अफसर वहीं मारा गया।

उसी दिन परेड के मैदान में अद्भुत दृश्य देखा। जो भी अंगरेज अफसर सिपाहियों को हुक्म देता, वही गोली का शिकार होता। उस दिन कम से कम आठ अंगरेज अफसर मारे गये। उसके बाद अंगरेजों के बंगलों और मेस पर हमले हुए। जो भी अंगरेज हाथ आया मारा गया, लेकिन किला विद्रोहियों के हाथ न आ सका। किले की रक्षा का भार सिखों पर था। अंगरेजों ने पहले ही से अपने बाल-बच्चे हटा कर किले में ले जाकर रखे थे। इसमें काफी हथियार और दूसरा जरूरी सामान भी इकट्ठा किया गया था। सिखों ने ऐन मौके पर गद्दारी की। उन्होंने अंगरेजों का झण्डा किले पर से उतारने से इन्कार कर दिया और किले के अन्दर के चन्द दूसरे सिपाहियों को निरस्त्र कर बाहर निकाल देने में अंगरेज अफसरों की मदद की। अगर सिखों ने उस दिन गद्दारी न की होती तो इलाहाबाद का महत्वपूर्ण किला विद्रोहियों के हाथ आ गया होता।

सिपाहियों के विद्रोह की खबर पाते ही इलाहाबाद शहर उठ खड़ा हुआ। रेल, तार, जेल, अदालत सब ध्वंस कर दिये गये। जो अंगरेज हाथ आये, मारे गये। ७ जून को सवेरे विद्रोहियों ने लगभग ३० लाख रुपए के खजाने पर कब्जा कर लिया। शाम को जुलूस निकला और थाने पर बहादुर शाह का झण्डा फहरा दिया गया।

इलाहाबाद प्रान्त में भी प्रायः सभी वर्गों के लोगों ने विद्रोह में हिस्सा लिया। किसान और ताल्लुकदार, दूकानदार और सेठ-साहूकार सभी इस विद्रोह के साथ थे। स्कूल के एक शिक्षक मौलवी लियाकत अली को स्वतंत्र इलाहाबाद प्रान्त का शासक नियुक्त किया गया। उन्होंने दिल्ली के सम्राट के सूबेदार की हैसियत से शासन-भार संभाला और अमन-कानून की स्थापना की। किले पर कब्जा करने के लिए उन्होंने अपनी सेना संगठित करनी शुरू की।

इलाहाबाद में विद्रोह की खबर पाकर जनरल नील वहां के किले को बचाने के लिए तुरन्त चल पड़ा और ११ जून को किले में दाखिल हो गया। उसने किले की रक्षा का भार अंगरेज सैनिकों के हाथ सौंपा और सिखों को विद्रोहियों पर हमले के लिए भेजा। १७ जून को अंगरेज सेना ने इलाहाबाद शहर में घुसना शुरू किया। सारे दिन लड़ाई चलती रही। अंत में सुसज्जित अंगरेज सेना का मुकाबिला असंभव समझ मौलवी

लियाकत अली अपने साथियों के साथ रात को कानपुर की तरफ चल पड़े। १८ जून को इलाहाबाद शहर पर भी अंगरेजों का फिर कब्जा हो गया।

शहर पर अंगरेजों के कब्जे के बाद इस प्रान्त के निवासियों ने फिरंगियों के साथ पूर्ण असहयोग की नीति अपनायी। जनरल नील ने छोटे-छोटे नेताओं के सर के लिए भी हजारों रुपए के पुरस्कार की घोषणा की। लेकिन कोई भी देश के साथ गद्दारी करने आगे न आया। इस समय के एक अंगरेज अफसर ने एक गाँव के अपने अनुभव को लिखा :

"मजिस्ट्रेट ने विद्रोहियों के नेता के, जिसे गाँव वाले अच्छी तरह जानते हैं, सर या लाश के लिए एक हजार रुपए के इनाम का वादा किया, फिर भी, हमारे प्रति उनकी घृणा इतनी प्रबल है कि कोई भी उसे हमारे हवाले करना नहीं चाहता।"[1]

कोई भी फिरंगियों को खाने-पीने का सामान, बैल गाड़ी, डोली आदि न देता था। अपना सामान अंगरेजों के हाथ बेचना भी गुनाह माना जाता था। अगर कोई गद्दारी कर अंगरेजों की मदद करता तो गाँववाले उसकी दुर्गति करते। एक रोटीवाले ने अंगरेजों को कुछ रोटियाँ दी तो उसे अपने दोनों हाथों और नाक से हाथ धोना पड़ा। आम जनता के इस असहयोग का ही परिणाम था कि जून के अन्त तक भी जनरल नील इलाहाबाद से आगे नहीं बढ़ सका।

इलाहाबाद के आस-पास के गाँवों में भी जनरल नील ने वही पाशविकता दिखायी जो बनारस के गाँवों में दिखायी थी। यहाँ भी गाँव के गाँव जलाये गये, और उनके निवासियों को जला कर मार डाला गया। शहर में बारह-बारह, तेरह-तेरह साल के लड़कों को भी फांसी दी गयी।

कानपुर पर पेशवाई झण्डा

मेरठ के विद्रोह की खबर पहुँचते ही कानपुर में बड़ी हलचल मची। सिपाहियों की गुप्त बैठकों में भी बहस हुई और उन्होंने जल्दबाजी न कर अपने नेताओं के हुक्म के मुताबिक चलने का फैसला किया। नाना साहब आदि ने अपनी योजना को इतना गुप्त रखा कि अंगरेज अधिकारी भाप भी न सके। वे उन्हें अपना दोस्त ही समझते रहे।

नाना साहब बिठूर में रहते थे। किन्तु कानपुर शहर में अंगरेजों के विरुद्ध भावना को उभड़ता देख अंगरेज सेनापति सर ह्वीलर ने नाना साहब से मदद माँगी। इसके उत्तर में नाना साहब खुशी से अपनी दो तोपें और तीन सौ पैदल तथा घुड़सवार सैनिक लेकर २२ मई को काननपुर आ गये। अंगरेजों ने खजाने की रक्षा का भार नाना साहब पर दिया। इस तरह बिना खून-खराबा के खजाना नाना साहब के हाथ आ गया और उनके सैनिकों ने उस पर पहरा देना आरंभ किया।

कानपुर में उस वक्त १ ली, ५३ वीं और ५६ वीं देशी पल्टन और एक देशी रिसाला था। इन सारी पल्टनों में नाना साहब ने विद्रोह का जाल बिछा रखा था। कानपुर

१. चार्ल्स बाल, इंडियन म्यूटिनी, खण्ड १; सावरकर, वही, पृ० २०२

आने पर इन पल्टनों के नेताओं और नाना साहब तथा उनके साथियों के बीच बैठकें हुईं और विद्रोह की योजना को अन्तिम रूप दिया गया।

निर्णय के अनुसार ४ जून की रात को, जबकि ह्वीलर और दूसरे अंगरेज अधिकारियों को विद्रोह की कोई आशा न थी, विद्रोह आरंभ हुआ। रिसाला और पहली पल्टन छावनी छोड़ कर नाना साहब के पास नवाबगंज (कानपुर) चली गयी। अंगरेजों ने तुरन्त बाकी दोनों पल्टनों को परेड मैदान में हाजिर होने का हुक्म दिया। अंगरेजी तोपखाना जरूरत पड़ने पर इन पल्टनों को भून डालने के लिए तैयार रखा गया। दोनों पल्टनें अंगरेज अफसरों के हुक्म के मुताबिक बाकी सारी रात हथियार लिए परेड मैदान में खड़ी रहीं। जब अंगरेज अफसरों को विश्वास हो गया कि कम से कम ये दोनों पल्टनें बागी न होंगी, तब वे सन्तुष्ट होकर जाने लगे। उसी वक्त दोनों पल्टनों को मौका मिला और वे भी अंगरेजों का पक्ष छोड़ कर नवाबगंज में नाना साहब के निवास स्थान पर चली गयीं।

सर ह्वीलर को सन्तोष था कि कोई अंगरेज मारा नहीं गया। वह आशा करता था कि दूसरी जगह की तरह कानपुर के विद्रोही सिपाही भी तुरन्त दिल्ली चले जायेंगे और इस तरह मुसीबत टल जायगी। लेकिन विद्रोहियों के नेताओं ने उन्हें समझा-बुझाकर कानपुर में ही रोक लिया। इन तीन हजार सिपाहियों ने नाना साहब को अपना राजा और सूबेदार टीका सिंह को घुड़सवार सेना का प्रधान सेनापति चुना। सूबेदार टीका सिंह कानपुर में देशी पल्टनों के अन्दर विद्रोह के मुख्य संगठनकर्त्ता थे। जमादार दल गंजन सिंह ५३ वीं पल्टन के और सूबेदार गंगादीन ५६ वीं पल्टन के कर्नल बनाये गये।

इसके बाद नाना साहब ने सर ह्वीलर को आत्मसमर्पण करने अथवा युद्ध के लिये तैयार रहने को पत्र लिखा। ह्वीलर ने किले के अन्दर लड़ाई की तैयारी की। लेकिन नाना साहब के घेरे और तोपों की मार ने किले के अन्दर के अंगरेजों की हालत दिन पर दिन बदतर करनी शुरू की। कानपुर में फिरंगियों के विरुद्ध इस युद्ध में नागरिकों ने सिपाहियोंकी बड़ी मददकी। हर नागरिक सिपाहियोंकी मदद न करना गुनाह मानता था। युवतियाँ भी मदद करने के लिए जनानखाने के बाहर निकल आयी थीं। सिपाहियों की प्यारी नर्त्तकी अजीजन सैनिक भेष धारण किये, हथियारों से लैस घोड़े पर सवार सिपाहियों को प्रोत्साहित करती फिरती थी। २५ जून को ह्वीलर ने घुटने टेक दिये। अंगरेजों को इलाहाबाद चले जाने की इजाजत दे दी गयीं। उनके लिए चालीस नावों का इन्तजाम कर दिया गया। उनमें खाने-पीने की आवश्यक सामग्री भी रख दी गयी।

२७ जून को सुबह सतीचौरा घाट से अंगरेजों के जाने की बात थी। हजारों नागरिक और सिपाही इस दृश्य को देखने आये थे। बनारस और इलाहाबाद के सिपाही भी थे जहाँ जनरल नील ने पाशविक अत्याचार किये थे। ज्योंही अंगरेज नाव पर बैठ कर जाने लगे, तमाशा देखने वाले सिपाही उन पर टूट पड़े। चारों तरफ 'मारो फिरंगी को' की आवाज गूँजने लगी।

नाना साहब के पास ज्योंही इस हमले की खबर पहुँची, उन्होंने इसे बन्द करने का हुक्म दिया। किसी भी अंगरेज स्त्री या बच्चे को न मारने की उन्होंने सख्त हिदायत दी। उनके हुक्म को पाते ही मारकाट बन्द कर दी गयी। जो लोग बच गये थे, उन्हें पकड़ कर किनारे लाया गया। १२५ स्त्रियों और बच्चों को कैद कर सावदा कोठी भेज दिया गया और पुरुषों को मौत के घाट उतार दिया गया। चालीस नावों में से सिर्फ एक नाव निकल भागी थी। रास्ते में किसानों और जमीन्दारों ने इस पर आक्रमण किये। आखिरकार दुर्विजय सिंह नाम के एक जमीन्दार ने इस नाव के नंगे-भूखे चार अंगरेजों को शरण दी, उन्हें अपने यहाँ एक महीने रखा और फिर इलाहाबाद भेज दिया। इस तरह जो चार सौ अंगरेज इलाहाबाद के लिए रवाना हुए थे, उनमें से १२५ स्त्रियों-बच्चों और ४ मर्दों को छोड़ कर बाकी सब मारे गये।

इन कैदियों के साथ नाना साहब ने कैसा व्यवहार किया? कितने ही अंगरेजों ने हिन्दुस्तानियों के खिलाफ अंगरेजों की भावना को उभाड़ने के लिए प्रचार किया कि नाना साहब ने अंगरेज औरतों की खुलेआम बेइज्जती की और खुद उन पर बलात्कार करने की चेष्टा की। लेकिन अंगरेजों ने इसीकी जाँच के लिए जो कमीशन बैठाया था, उसने साफ कहा कि ये आरोप सफेद झूठ थे।[1]

इन कैदियों के साथ जेल में अच्छा बर्ताव किया जाता था, अवश्य ही कुछ औरतों से चक्की पिसवायी जाती थी। उनके बच्चों की देख-रेख के लिए एक प्रधान रक्षिका भी रखी गयी थी। शत्रुओं की स्त्रियों के साथ नाना साहब के व्यवहार का एक और भी प्रमाण इतिहास में मौजूद है। कानपुर में विद्रोह के आरम्भ में चार अंगरेज औरतों और कुछ एंग्लो इंडियन औरतों को कुछ सवार उठा ले गये थे। समाचार पाते ही नाना साहब ने उन सवारों को तुरन्त गिरफ्तार किया, सजा दी और तुरन्त औरतों को वापस करने को बाध्य किया।[2]

कानपुर में अंगरेजों के राज के सारे चिह्न खत्म हो जाने पर २८ जून को नाना साहब ने बड़ा दरबार किया। इस अवसर पर सारी सेना की, जिसमें ६ पैदल पल्टनें और दो रिसाले थे, परेड हुई। दिल्ली के सम्राट की १०१ तोपों की और नाना साहब की २१ तोपों की सलामी दी गयी। १ जुलाई को बिठूर में नाना साहब का राजतिलक हुआ। उन्होंने कानपुर और उसके आस-पास के अंचल का राज संभाला।

अर्वाचीन बुन्देलखण्ड

८ जून को झांसी की अंगरेज छावनी में देशी पल्टन ने विद्रोह किया। अंगरेजों ने झांसी के राज्य का प्रबन्ध संभालने के बाद शहर के बाहर एक छोटा किला बनवाया था, जिसे स्टार फोर्ट कहते थे। उस दिन हवलदार गुरुबख्श सिंह कुछ सिपाहियों को लेकर इस किले में घुसा और लड़ाई का सामान तथा रुपया-पैसा उठा कर ले गया।

१. म्योर की रिपोर्ट और विल्सन की रिपोर्ट; के और मैलेसन, इंडियन म्यूटिनी, खण्ड २, पृ० २६७
२. ट्रेविलियन, पूर्वोक्त पुस्तक; सावरकर, वही, पृ० २३७

यह हालत देख अंगरेज अपने बाल-बच्चों को लेकर शहर के अन्दर पुराने किले में चले आये। यहाँ उन्होंने मोर्चा लगाया। किन्तु रिसालेदार काले खाँ के नेतृत्व में सिपाहियों ने इस किले पर धावा बोला और आत्मसमर्पण करने को बाध्य किया।

८ जून को कमिश्नर स्कीन ने किले का फाटक खोलवा दिया और सागर चले जाने देने का अनुरोध किया। सिपाहियों ने सब अंगरेजों को कैद कर लिया। शहर की सड़कों पर उन्हें पैदल चला कर झोखनबाग ले जाया गया। वहाँ सबको रानी का राज्य हड़पने के इल्जाम में मृत्युदंड दिया गया। इस तरह ७५ अंगरेज मर्द, १२ औरतें और २३ बच्चे मारे गये। यह कत्ल विद्रोह के नेताओं की मर्जी के विरुद्ध था।

राज्य छिन जाने के बाद झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई शहर में अपने महल में रहती थीं। विद्रोही उनके महल के पास गये। काले खाँ के साथ सिपाहियों ने नारा बुलन्द किया : खलक खुदा का, मुलक बादशाह का, राज महारानी लक्ष्मी बाई का।

रानी लक्ष्मी बाई महल की खिड़की के पास आ खड़ी हुईं। हाथ जोड़कर उन्होंने सब को नमस्कार किया। तलवारों में खून देख उन्होंने काले खाँ से सवाल किया। काले खाँ ने सारा हाल बताया और मजबूरी जाहिर की। सिपाहियों की अनुशासनहीनता और झाँसी को लूटने की बातें उन्हें पसन्द न आयीं। अधिकतर सिपाही दिल्ली जाने के लिए उतावले हो रहे थे। रानी ने उन्हें अपना हीरों का हार देकर दिल्ली बिदा किया।

इस बीच रानी ने बड़ी चतुराई से गुप्त रूप से अपनी सेना संगठित की थी। सब जातियों के नौजवानों और नवयुवतियों को उन्होंने सैनिक शिक्षा देने की कोशिश की थी। इसलिए उनकी सेना में एक तरफ देश के लिए मर मिटने को तैयार सभी जातियों के नौजवान थे और दूसरी तरफ अनेक नवयुतियाँ। उस जमाने में उनकी नारी सेना हर हिन्दुस्तानी के लिए गर्व की बात है।

सिपाहियों के दिल्ली रवाना होते ही रानी ने अपनी सेना इकट्ठा की। राज्य के पुराने कर्मचारियों, जागीरदारों और नगर के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधियों को बुला कर उनका मत लिया। सब की राय पर उन्होंने अपने दत्तक पुत्र दामोदर राव के नाम पर झाँसी का राज संभाला। पुराने तोपची गुलाम गौस खाँ ने पुरानी तोपें ठीक कर सलामी की। प्रधानमंत्री लक्ष्मण राव, प्रधान सेनापति दीवान जवाहर सिंह, पैदल सेना के तीन कर्नल रघुनाथ सिंह, मुहम्मद जमा खाँ और खुदा बख्श, घुड़सवारों की प्रधान स्वयं रानी, और तीन कर्नल सुन्दर, मुन्दर और काशी बाई, तोपखाने का प्रधान गुलाम गौस खाँ, न्यायाधीश नाना भोपटकर, महकमे के प्रधान मोरोपन्त और जनाना विभाग की प्रधान मोती बाई और उनकी नायब जूही रानी दोनों महिलायें नियुक्त की गयीं। इस प्रकार रानी एक तरफ शासन-व्यवस्था और दूसरी तरफ सैनिक शक्ति मजबूत करने लगीं। अवश्य ही अंगरेजों को धोका देने के लिए अंगरेजों के ही रिसालेदार से लिखवा कर जबलपुर के कमिश्नर के पास भेज दिया गया कि झाँसी का राज अंगरेजों की तरफ से रानी लक्ष्मी बाई ने संभाल लिया है।

अवध स्वतंत्र

लखनऊ में २४ अप्रैल, १८५७ को ४८ वीं बंगाल रेजीमेन्ट, ३ रे देशी रिसाले और ७ वीं अवध पल्टन की बगावत को सर हेनरी लारेन्स ने फिरंगी सेना की मदद से दबा दिया था। अवध में विद्रोह के संगठक मौलवी अहमद शाह को पुलिस ने गिरफ्तार करने से इन्कार कर दिया था। आखिरकार सेना भेजकर उन्हें गिरफ्तार किया गया था और मौत की सजा सुनायी गयी। किन्तु मृत्युदंड दिये जाने के पहले ही सारा अवध विद्रोह की आग से जल उठा।

३० मई को रात को ९ बजे तोप की आवाज के साथ ७१ वीं पल्टन ने विद्रोह आरंभ किया। अंगरेजों के बंगलों पर हमले किये गये। कुछ अंगरेज अफसर मारे गये, छावनी में आग लगा दी गयी। ३१ मई को सबेरे अंगरेज सैनिकों और कुछ देशी सैनिकों को लेकर हेनरी लारेन्स विद्रोहियों का दमन करने चला, लेकिन उसके साथ के सातवें रिसाले ने रास्ते में ही विद्रोह कर दिया। लारेन्स वापस गया और रिसाला विद्रोहियों से जा मिला। शाम तक ४८ वी पल्टन भी विद्रोह में शामिल हो गयीं।

इसके बाद तो सारे अवध में विद्रोह फैल गया। सीतापुर, फर्रूखाबाद, महमदी, बहराइच, सिकरौरा, गोंडा, फैजाबाद, सुल्तानपुर आदि सब जगह हिन्दू-मुसलमान, सिपाही और नागरिक, किसान और ताल्लुकदार विद्रोह के मैदान में कूद पड़े। मौलवी अहमद शाह फैजाबाद के जेल खाने से मुक्त कर लिये गये। कितने ही अंगरेज अफसर मारे गये। कहीं-कहीं उनके बाल-बच्चे भी मारे गये। लेकिन अधिकांश अंगरेजों के साथ सिपाहियों और नागरिकों ने दया का बर्ताव किया, उनकी मुसीबत से फायदा उठाने की कोशिश न की और उन्हें सुरक्षित लखनऊ जाने दिया। अवश्य ही बाद में अवध के जानकार इन अंगरेजों की मदद से ही अंगरेजी राज फिर स्थापित किया जा सका। जो हो, १० जून तक सारे अवध में फिरंगी राज्य खत्म कर दिया गया।

लखनऊ और उसके आस-पास के जिलों के फिरंगियों ने भाग-भाग कर लखनऊ रेजीडेन्सी में शरण ली। सर हेनरी लारेन्स ने इसकी रक्षा का पूरा इन्तजाम किया था। इसमें अंगरेज सैनिकों के अलावा सिख और कुछ बहुत ही विश्वासी हिन्दुस्तानी सिपाही थे। कानपुर की हार का बदला लेने की गरज से लारेन्स ने २९ जून को चार सौ अंगरेज सैनिकों, चार सौ गद्दार सैनिकों और दस तोपों के साथ लखनऊ से फैजाबाद की तरफ कूच किया। चिनहट के पास विद्रोहियों ने सर लारेन्स को बुरी तरह हराया और खदेड़ कर रेजीडेन्सी में बन्द कर दिया।

अवध के इस विद्रोह की व्यापकता का अन्दाज अंगरेजों द्वारा ही लिखे गये निम्न-लिखित शब्दों से मिल सकता है:

"सारा अवध हथियार लेकर हमारे खिलाफ खड़ा हो गया है। सिर्फ नियमित पल्टनें ही नहीं, बल्कि भूतपूर्व नवाब की फ़ौज के साठ हजार आदमी, जमीन्दार

और उनके आश्रित अढ़ाई सौ किले, जिनमें से अधिकांश तोपों से लैस हैं, हमारे खिलाफ चल रहे हैं। उन्होंने कंपनी के राज को अपने राजाओं की प्रभुता के साथ तौला है और प्रायः सर्वसम्मति से अपने राजाओं का राज बेहतर समझा है। खुद उन पेन्शन पाने वालों ने, जिन्होंने सेना में नौकरी की है, हमारे खिलाफ घोषणा कर दी है और एक-एक आदमी मुक्ति-विद्रोह में शामिल हो गया है।" (जी. बी. मैलसन, रेड पैम्फलेट)

चिनहट में अंगरेजों की हार के बाद अवध की गद्दी पर नवाब वाजिद अली शाह के, जो उस वक्त कलकत्ते में कैद कर रखे गये थे, बेटे बिरजिस कदर को बैठाया गया। चूंकि शाहजादा नाबालिग था, इसलिए उसकी माँ हजरत महल ने उसके नाम पर अवध का शासन भार संभाला। उन्होंने शासन प्रबन्ध के लिए विभिन्न कर्मचारी नियुक्त किये और अवध के राजाओं और जमीन्दारों को अपनी-अपनी फौज के साथ लखनऊ आने को आमंत्रित किया।

सिंधिया की गद्दारी

ग्वालियर राज्य की जनता और सेना विद्रोह करना चाहती थी, लेकिन उसका कायर राजा जयाजी राव सिंधिया अपने मंत्री दीवान दिनकर राव राजवाड़े की मुट्ठी में था, और दीवान अंगरेजों की मुट्ठी में। इसके बावजूद सिपाहियों ने १४ जून को विद्रोह किया। अंगरेजों को मार भगाया गया। उनकी औरतों को कैद कर लिया गया। सेना ने सिंधिया से नेतृत्व करने और आगरा, कानपुर तथा दिल्ली चलने को कहा, लेकिन यह गद्दार वादे कर टालता रहा। अगर इतिहास की उस निर्णायक घड़ी में सिंधिया ने विद्रोह का साथ दिया होता तो क्या होता? खुद अंगरेजों के ही शब्दों में सुनिए :

"अपने खोये अधिकार को पुनः प्राप्त करने के लिए वह सबसे ज्यादा अनुकूल क्षण था। जरूरत सिर्फ विद्रोही फौजों के प्रस्ताव को मान लेने और अंगरेजों से बदला लेने की थी। अगर उसने मान लिया होता, उनका नेतृत्व किया होता और इसी तरह अपने विश्वासी मराठों के साथ युद्ध-क्षेत्र की तरफ प्रस्थान किया होता, तो परिणाम हमारे लिए सबसे ज्यादा विनाशकारी होते। वह हमारे दुर्बल स्थानों पर कम से कम २० हजार सैनिक लेकर चढ़ आता जिनमें आधे को यूरोपियनों ने कवायद और अनुशासन की शिक्षा दी थी। आगरा और लखनऊ का तुरन्त पतन हो जाता। हैवलाक इलाहाबाद में बन्द हो जाता और या तो वह किला घिर जाता या विद्रोही उसे बगल में छोड़कर बनारस होकर कलकत्ता पर चढ़ जाते। उन्हें रोकने के लिए न सेना थी न किलेबन्दी।"

(जी० बी० मैलसन, रेड पैम्फलेट, पृ० १९८)

गवर्नर जनरल कैनिंग ने विलायत तार भेजा :

"अगर सिंधिया विद्रोह में शामिल हो जाता है, तो कल ही हमें बोरिया-बिस्तर बाँध कर चले आना होगा।"

आगरा, मऊ और इन्दौर

नसीराबाद और नीमच की विद्रोही पल्टनें ५ जुलाई, १८५७ को आगरा पर चढ़ आयी। भरतपुर और बिठौली के राजाओं की 'वफादार' फौजें उनका मुकाबिला करने को भेजी गयीं। लेकिन इन फौजों ने क्या कहा? उन्होंने कहा कि चूंकि हमारे राजा का आदेश नहीं, इसलिए हम अंगरेजों के खिलाफ बगावत नहीं कर रहे हैं, लेकिन हम अपने देश के भाइयों के खिलाफ तलवार न उठायेंगे। बाध्य होकर बिग्रेडियर पोल ह्वेल को सिर्फ अंगरेज सैनिक लेकर विद्रोहियों को रोकने जाना पड़ा। लड़ाई में हार कर उसे वापस आगरा भागना पड़ा। विद्रोही उसका पीछा करते हुए आगरा आ पहुँचे। ६ जुलाई को आगरा शहर की जनता ने पुलिस के नेतृत्व में विद्रोह किया। बड़ा भारी जुलूस सड़को पर निकला। फिरंगी राज के खात्मे और दिल्ली सम्राट के अधिकार की घोषणा की गयी। पश्चिमोत्तर प्रान्त के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर कोलविन ने बाकी अंगरेजों को साथ लेकर किले में शरण ली।

मऊ की अंगरेज छावनी के सिपाहियों और इन्दौर के राजा के सिपाहियों ने एक साथ विद्रोह करने की योजना बनायी थी। १ जुलाई, १८५७ को विद्रोह कर सिपाहियों ने इन्दौर की रेजीडेन्सी के अंगरेजों पर हमला किया। रेजीडेन्सी के भारतीय सिपाहियों ने अंगरेजों की तरफ से अपने देशी भाइयों पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया। अंगरेज इन्दौर से भाग खड़े हुए। सिपाहियों ने उन्हें सुरक्षित जाने की इजाजत दी।

कलकत्ता और बंगाल

इसी बीच कलकत्ते के, जो उस वक्त हिन्दुस्तान में ब्रिटिश शासकों की राजधानी था, अंगरेजों की क्या हालत थी? भारतीय समाचार-पत्रों ने खुलेआम लेख लिखकर विद्रोह के साथ हमदर्दी जाहिर करना और उसे प्रोत्साहित करना आरंभ किया। इसलिए १३ जून, १८५७ को कैनिंग ने समाचार-पत्रों के खिलाफ एक कानून पास किया। आतंक के मारे अंगरेजों की हालत पतली थी। १४ जून की हालत रेड पैम्फलेट के लेखक जी० बी० मैलसन के शब्दों में ही सुनिए :

> "सब जगह आतंक, अव्यवस्था और भयपूर्ण आश्चर्य था। बेबुनियाद बड़ी से बड़ी खबरें उड़ायी गयीं। सब लोग विश्वास करने लगे थे कि बैरकपुर की पल्टन कलकत्ते चढ़ी आ रही है, कि कलकत्ते के आस-पास की जनता ने विद्रोह कर दिया है, कि अवध का नवाब अपने आदमियों को लेकर गार्डेनरीच लूट रहा है। सब से ऊँचे पद पर बैठे लोग ये अफवाहें सब से पहले फैलाते। सरकार के सेक्रेटरी कौंसिल के मेम्बरों के पास दौड़ रहे थे, अपनी पिस्तौलों में गोलियाँ भर रहे थे, दरवाजों के सामने नाकेबन्दी कर रहे थे. सोफा पर सो रहे थे; कौंसिल के सदस्य सपरिवार अपने घरों को छोड़कर जहाजों पर आश्रय ले रहे थे, उनसे नीचे के ओहदेदार उनका अनुकरण कर अपनी कीमती चीजें समेट कर किले की तरफ भाग

रहे थे और किले की तोपों के नीचे सोने की इजाजत पाकर बहुत प्रसन्न हो रहे थे। आतंकग्रस्त शरणार्थियों को काल्पनिक हत्यारों की पहुँच से दूर ले जाने के लिए घोड़े, गाड़ियाँ, पालकियाँ, हर किस्म की सवारियाँ इकट्ठा की गयी थीं। कलकत्ते के आस-पास के ईसाइयों का प्रत्येक घर खाली हो गया था। आधे दर्जन तुले हुए हठधर्मी तीन-चौथाई नगर को जलाकर खाक कर सकते थे।" (मैलसन, रेड पैम्फलेट, पृ० १०५-१०६)

मटियाबुर्ज (गार्डेन रीच) में कैद अवध के नवाब वाजिद अली और बैरकपुर की देशी पल्टनें अंगरेज शासकों को काल जैसी लगती थीं। उन्हें खबर मिली की १४ जून की रात को बैरकपुर छावनी के सिपाही विद्रोह कर देंगे। तोपखाने की मदद से उन्हें फौरन निरस्त्र किया गया। १५ जून को वाजिद अली शाह और उनके वजीर अली नक्की खाँ को पकड़ कर मटियाबुर्ज से हटाया गया और फोर्ट विलियम में ले जाकर बन्द कर दिया गया। उनके घरों की, यहाँ तक कि जनानखानों की अच्छी तरह तलाशी ली गयी। फोर्ट विलियम में कैद रहने पर भी अली नक्की खाँ ने विद्रोहियों को कोसनेवाले अंगरेजों से साफ शब्दों में कहा :

"हिन्दुस्तान में पैदा की गयी भयंकर क्रान्ति, मेरी राय में, न्यायपूर्ण है। अवध को छीनने का यह उचित बदला है। आपलोगों ने जान-बूझ कर न्याय का उत्तम पथ छोड़ दिया है और ठगी तथा खुदगर्जी का काँटेदार रास्ता अपनाया है। अगर उन्हीं काँटों से आपके पैरों में खून आ रहा है तो आश्चर्य की क्या बात ? जब आपलोगों ने प्रतिशोध के बीज बोये थे, तब आप हँस रहे थे ; जब उन्हीं बीजों ने उचित समय पर फल देने शुरू किये हैं, तो आप अवाम को क्यों दोष देते हैं ?" (जी. बी. मैलसन, रेड पैम्फलेट १०७)

खास बंगाल के बारे में हम पहले कह आये है कि बैरकपुर की १९वीं और ३४ वीं पल्टनों के निरस्त्र किये जाने के बाद इस प्रान्त में विद्रोह की रीढ़ टूट गयी थी। १८ नवम्बर १८५७ में चटगाँव के सिपाहियों ने विद्रोह किया था, किन्तु उनकी संख्या कम थी। नोआखाली और त्रिपुरा का चक्कर काट कर वे असम के पहाड़ों में पहुँचे थे। फिरंगियों के साथ कई युद्धो में पराजय के बाद उनका नामोनिशान मिट गया। त्रिपुरा के राजा इशानचन्द्र ने अपने राज्य में आये कई विद्रोहियों को पकड़ कर अंगरेजों के हाथ सौंप दिया था। अंगरेजों ने इन सिपाहियों को फाँसी दी थी। वीरभूम जिले के करीम खाँ और मैमनसिंह जिले के वृन्दावन तिवारी को फिरंगियों के खिलाफ विद्रोह के लिए भड़काने के 'अपराध' में फाँसी की सजा दी गयी। मैमनसिंह जिले के मीर जाँगू और शेख जमीरुद्दीन को इसी 'जुर्म' में लम्बी सजा दी गयी थी। मालदह के चमन सिह पर राजद्रोह का मुकदमा चला था। फराजी नेता दुदू मियाँ को 'राजबन्दी' बना कर अलीपुर जेल में रखा गया था।

इसी तरह की छुटपुट घटनाएँ और भी मिलती हैं। लेकिन यह सच्चाई है कि खास बंगाल में विद्रोह ने जरा भी बड़ा आकार धारण नहीं किया। चूंकि बंगाल आर्मी

के अधिकतर सैनिक उत्तर प्रदेश और बिहार के थे, इसलिए उनका सीधा सम्बन्ध खास बंगाल के किसानों से न था। इसीलिए जबकि उत्तर प्रदेश और बिहार में किसान युद्ध-क्षेत्र में दीख पड़े, खास बंगाल के किसान चुप रहे।

अंगरेजी पढ़े-लिखे बंगाली बाबुओं ने अर्थात् मध्य वर्ग ने सीधे गद्दारी की। काली प्रसन्न सिंह, हरिश्चन्द्र मुखोपाध्याय जैसे चन्द लोगों को छोड़ कर बाकी प्रगतिशील और सुधारक बनने वाले शिक्षित बाबू मोशाय ने इस विद्रोह का विरोध किया था और देश की जगह अंगरेज साम्राजियों के प्रति वफादारी दिखायी थी।

सिपाहियों के पक्ष में खास बंगाल के किसानों के आगे आने का उल्लेख सिर्फ एक जगह आता है। इतिहासकार के ने लिखा है कि बरहमपुर में सिपाहियों के विद्रोह की खबर पाकर हजार-हजार किसान बरहमपुर शहर में जमा हुए थे। उन्होंने बंगाल के नवाब के वंशधर बरहमपुरवासी फेरदून खाँ से नेतृत्व करने का अनुरोध किया था, किन्तु इस दुर्बल व्यक्ति ने किसानों को वापस भेज दिया। के ने स्वीकार किया है कि अगर यह व्यक्ति किसानों का नेतृत्व करता और मुर्शिदाबाद की जनता विद्रोही सिपाहियों के साथ आ मिलती तो सारे खास बंगाल में विद्रोह की आग लग जाती।[1]

११ जून, १८५७ तक सारे हिन्दुस्तान में ११ रिसालों, ५ तोपखानों, कम से कम ५० पैदल पल्टनों, और लगभग सभी सफरमैना तथा सुरंग लगाने वालों ने खुला विद्रोह किया। सारा अवध फिरंगियों से छिन गया। फिरंगियों के खजाने का कम से कम एक करोड़ रुपया विद्रोहियों के हाथ चला गया। लेकिन ठीक उसी दिन हिन्दुस्तान के इस महान सशस्त्र विद्रोह पर ब्रिटेन में लीपापोती की जा रही थी और कहा जा रहा था कि हिन्दुस्तान में बिल्कुल अमन-चैन है। ११ जून, १८५७ को एक प्रश्न के उत्तर में व्यापार बोर्ड के अध्यक्ष (व्यापार मंत्री) ने ब्रिटेन के हाउस आफ कामन्स में कहा :

"बंगाल की पिछली अशान्ति के बारे में अब चिंता का कोई कारण नहीं; क्योंकि मेरे सम्माननीय और सज्जन मित्र लार्ड कैनिंग की चतुराई, दृढ़ता और तत्परता से सेना में बोये गये अशान्ति के बीज समूल उखाड़ फेंके गये हैं।"

बिहार का जबर्दस्त मोर्चा

जबकि अवध, रुहेलखण्ड, दिल्ली, बुन्देलखण्ड, मध्य भारत, आगरा आदि में फिरंगी हुकूमत खत्म की जा रही थी और सारे हिन्दुस्तान की स्वतंत्रता का झंडा बुलन्द किया जा रहा था, उस वक्त बिहार में क्या हो रहा था? वह भी पीछे न था। पटना वहाबी आन्दोलन का केन्द्र था। फिरंगी कमिश्नर टेलर को पक्का विश्वास था कि यह नगर विद्रोह में अवश्य हिस्सा लेगा। इसलिए उसने आरंभ से ही इस पर कड़ी नजर रखी थी।

१. जे. डब्ल्यू. के., हिस्ट्री आफ द सिपाय वार, खण्ड १, पृ० ४६८; सुप्रकाश राय, भारतेर कृषक विद्रोह ओ गनतांत्रिक संग्राम, खण्ड १, प्रथम संस्करण, पृ० ३६८

यहाँ के विद्रोह के संगठन के नेता बड़े-बड़े मौलवी थे। प्रभावशाली और धनी सेठ-साहूकार और जमीन्दार भी इसमें शामिल थे। इन संगठनकर्त्ताओं ने पटना की पुलिस और आम जनता को तथा दानापुर छावनी के सिपाहियों को अपने पक्ष में कर लिया था और अवध से अपना सम्बन्ध रखा था। बिहार के विभिन्न शहरों, जमीन्दारों और राजाओं के साथ भी सम्पर्क स्थापित किया गया। दानापुर छावनी में सिपाहियों की गुप्त सभाएँ रात को होतीं।

मेरठ में विद्रोह की खबर आते ही दानापुर छावनी के सिपाहियों में अशान्ति दीख पड़ी। धूर्त टेलर ने तेज कदम उठाये। उसने पटना शहर की रक्षा के लिए दो सौ सिख रैटरे के नेतृत्व में भेजे। रास्ते के गाँवों और पटना शहर के लोगों ने इन सिखों को धिक्कारा। पटना के गुरुद्वारे के पुजारी ने इन अंगरेजपरस्त सिखों को गुरुद्वारे में घुसने नहीं दिया।

पटना की रक्षा की व्यवस्था कर टेलर ने विद्रोह को शुरू होने के पहले ही कुचल देने की कारंवाई की। तिरहुत के पुलिस जमादार वारिस अली की गतिविधि सन्देहजनक देखी गयी। यकायक उसका घर घेर लिया गया और उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। उस वक्त वे गया के विद्रोह के संगठक अली करीम को पत्र लिख रहे थे। इस पत्र के ही आधार पर वारिस अली को फाँसी दे दी गयी और अली क़रीम को गिरफ्तार करने के लिए लेविस को एक दस्ते के साथ भेजा गया। अली करीम हाथी पर बैठ कर भागे। लेविस ने पीछा किया, लेकिन रास्ते में गाँव वालों ने फिरंगियों को हैरान और गुमराह किया। हार कर लेविस वापस चला गया, अली करीम बच निकले।

टेलर को इसी बीच कुछ नेताओं के नाम मालुम हो गये थे। उन्हें गिरफ्तार करने के लिए उसने एक चाल चली। एक दिन उसने अपने घर पर नगर के प्रमुख व्यक्तियों को महत्वपूर्ण राजनीतिक विषयों पर विचार-विमर्श के लिए बुलाया। जब मेहमान जाने लगे, उसने तीन मौलवियों को रोक लिया और पकड़ कर जेल में डाल दिया। रात की गुप्त सभाओं को रोकने के लिए टेलर ने पटना शहर में ९ बजे से करफ्यू लगा दिया।

इस तरह दुश्मन को हमले पर हमला करता देख ३ जुलाई, १८५७ को पीर अली के नेतृत्व में लगभग दो सौ जेहादी "दीन, बोलो! दीन" का नारा बुलन्द करते हुए हाथ में बहादुर शाह का झण्डा लिए हुए पटना की सड़कों पर आगे बढ़े और गिर्जाघर पर हमला किया। उसी समय लायल कुछ सैनिकों के साथ उधर आया। पीर अली ने गोली मार कर फिरंगी अफसर को ढेर कर दिया, उनके अनुयायियों ने फिरंगी के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। रैटरे 'वफादार' सिखों को लेकर अया। औरों के साथ पीर अली को भी गिरफ्तार किया। लखनऊ निवासी पीर अली पटना में पुस्तक-विक्रेता का काम करते थे।

पीर अली को फाँसी दी गयी। फाँसी के फन्दे के सामने खड़े पीर अली से फिरंगी अफसर ने कहा : दूसरे नेताओं के नाम बता कर तुम अपनी जिन्दगी बचा सकते हो। क्या था जवाब पीर अली का? इस बहादुर देशभक्त ने नाम बताने से इन्कार किया।

उसने दृढ़ता के साथ फिरंगियों को चेतावनी दी : तुम हम जैसे लोगों को फाँसी से लटका सकते हो, लेकिन हमारे आदर्श को फाँसी नहीं दे सकते। अगर मैं मरूँगा, तो मेरे खून से हजारों वीर पैदा होंगे और तुम्हारे राज्य को नष्ट कर देंगे। खुद कमिश्नर टेलर ने इस शहीद की तारीफ की है।

और सचमुच ही पीर अली के खून से हजारों विद्रोही पैदा हो गये। उनकी फाँसी का समाचार पाते ही २५ जुलाई को दानापुर की तीन देशी पल्टनों (७वीं, ८वीं और ४०वीं) ने विद्रोह कर दिया। एक अंगरेज पल्टन और अंगरेज तोपखाना दानापुर में मौजूद था, पर उनकी परवाह न कर सिपाहियों ने फिरंगियों की गुलामी की वर्दी फाड़ फेंकी और जगदीशपुर पहुँच कर बाबू कुँवर सिंह से नेतृत्व करने का अनुरोध किया।

बाबू कुँवर सिंह की उम्र उस वक्त ८० साल की थी। नाना साहब से उनकी खत-किताबत थी। टेलर को इसका पता लग गया था, इसलिए इन्हें भी अपने यहाँ कैद करने की उसने चाल चली थी। उसने उन्हें अपना मेहमान बनने के लिए आमंत्रित किया था। कुँवर सिंह उसकी चाल को ताड़ गये थे और इसलिए बीमारी का बहाना कर उसे टाल दिया था। किन्तु जब सिपाही उनके पास पहुँचे तो वे बूढ़े से जवान हो गये, बीमार से स्वस्थ हो गये और विद्रोहियों का नेता बनना स्वीकार कर लिया।

ऐसे योग्य नेता को पाकर विद्रोहियों के जोश का कहना ही क्या! उन्होंने आरा पर धावा किया, सरकारी खजाने को लूट लिया, अंगरेजों के जेलखाने और आफिस तोड़ दिये, उनका झंडा फाड़ दिया। यहाँ के मुट्ठी भर अंगरेजों ने पचास सिखों के साथ आरा हाउस में शरण ली। विद्रोहियों ने सिखों को अपनी तरफ मिलाने की बड़ी कोशिश की, लेकिन ये तो अपना तन-मन सभी फिरंगी साम्राजियों के यहाँ गिरवी रख चुके थे।

२९ जुलाई को दानापुर से कैप्टन डनबर के नेतृत्व में २७० अंगरेज सैनिक और लगभग १०० सिख सैनिक इन घिरे हुए अंगरेजों की मदद के लिए आये। रात को जब वे चुपचाप आरा की तरफ बढ़ रहे थे, कुँवर सिंह के आदमियों से उनकी भिड़न्त हुई। डनबर और उसके अधिकांश साथी मारे गये। सिर्फ ५० आदमी वापस दानापुर जा सके।

इसी बीच दूसरी तरफ से मेजर आयर सेना और तीन तोपें लेकर कुँवर सिंह के घेरे को तोड़ने आया। उसके आगमन का समाचार पाकर घेरे को कायम रखते हुए कुँवर सिंह ने रास्ते के एक जंगल में उसका रास्ता रोका। तोपों और संगीनों के सामने सिपाहियों को हटना पड़ा। आयर ने फिर से आरा पर कब्जा कर लिया। आठ दिन के बाद आरा हाउस में घिरे अंगरेज बाहर निकल सके।

जगदीशपुर जाकर कुँवर सिंह ने अपनी सेना इकट्ठा करनी शुरू की, लेकिन आयर फौरन कुमुक लेकर चढ़ आया। सुशिक्षित अंगरेज सेना का मुकाबिला आमने-सामने की लड़ाई में असंभव देख कुँवर सिंह जगदीशपुर से हट गये और जंगल में जाकर छापामार युद्ध करना शुरू किया। आयर ने १४ अगस्त १८५७ को जगदीशपुर पर कब्जा कर लिया और कुँवर सिंह के महल में ही डेरा डाला।

कुँवर सिंह के पास सेना बहुत ही छोटी थी---कुल बारह सौ सिपाही और पाँच सौ रंगरूट। जगदीशपुर और आरा में अंगरेजों को सतर्क देख उनसे न भिड़ना ही उन्होंने उचित समझा। वे मौके का इन्तजार करने लगे। कुछ महीने बाद उनके पास समाचार आया कि आजमगढ़ से अंगरेज और नेपाली सैनिक लखनऊ पर चढ़ाई के लिए भेजे गये हैं। कुँवर सिंह ने छापामार युद्ध की नीति के अनुसार इस कमजोर बिन्दु पर टूट पड़ने का फैसला किया। वे जंगल से निकल कर आजमगढ़ की तरफ अपनी सेना लेकर चल पड़े। १८ मार्च, १८५८ को कुछ और विद्रोही भी उनसे आ मिले। इस संयुक्त सेना ने अतरौलिया के किले के पास मुकाम किया।

कुँवर सिंह के अतरौलिया आने का समाचार पाकर मिलमैन तीन सौ पैदल और घुड़सवार तथा दो तोपें लेकर अतरौलिया चला। रात भर चल कर वह २२ मार्च को सबेरे ही वहाँ पहुँच गया। उसे देखते ही विद्रोही तितर-बितर हो गये। मिलमैन विजय के गर्व से निश्चिन्त होकर सेना के साथ नाश्ता-पानी करने बैठा। नाश्ता शुरू ही हुआ था कि गोलियों की बौछार आने लगी। गन्ने के खेत, आम के बगीचे, सब तरफ से गोलियाँ बरसने लगीं। चारों तरफ से अपने को घिरा देख मिल्मैन को भागना पड़ा। अतरौलिया से कौसिल्ला के पड़ाव तक कुँवर सिंह के छापामार मिल्मैन और उसके सैनिकों को परेशान करते गये।

किन्तु कौसिल्ला के पड़ाव मे भी फिरंगियों को शरण न मिली। जिन हिन्दुस्तानियो के जिम्मे उस पड़ाव का सामान छोड़ दिया गया था, वे गाड़ियों पर सारा सामान लाद कर फिरंगियों को छोड़ कर चले गये थे। मिल्मैन को भूखे-प्यासे अपने सैनिकों के साथ आजमगढ़ लौटना पड़ा। कुँवर सिंह के सिपाही दुश्मन का पीछा करते हुए आजमगढ़ आ पहुँचे।

इसी बीच फिरंगियों की मदद के लिए बनारस और गाजीपुर से साढ़े तीन सौ सैनिक कर्नल डेम्स के नेतृत्व में आजमगढ़ आ पहुँचे थे। यह कर्नल अपने सैनिकों को लेकर १८ मार्च, १८५८ को मिलमैन की हार का बदला लेने चला। लेकिन उसे भी बुरी तरह हार कर भागना पड़ा और आजमगढ के किले में छिप जाना पड़ा। विजयी कुँवर सिंह ने आजमगढ़ में प्रवेश किया। इस शहर को अपने कुछ साथियों को सौंप वे बनारस की तरफ रवाना हो गये। उनकी योजना बनारस और इलाहाबाद पर कब्जा कर कलकत्ते से अवध और दिल्ली को जाने वाली फिरंगियों की मदद का रास्ता काट देना था।

गवर्नर-जनरल लार्ड कैनिंग ने इस खतरे को देखा और क्रीमिया के युद्ध में ख्याति प्राप्त लार्ड मार्क कर को कुँवर सिंह पर चढ़ाई करने का हुक्म दिया। कर पाँच सौ सैनिकों और आठ तोपों को लेकर चला। ६ अप्रैल को आजमगढ़ से लगभग आठ मील की दूरी पर कुँवर सिंह से उसका मकाबिला हुआ। कर ने तुरन्त सैनिकों को हमला करने का आदेश दिया। उसे अपनी तोपों और सुशिक्षित सैनिकों पर पूरा विश्वाम था। कुँवर सिंह की सेना में इस वक्त बहुत से लोग शामिल हो गये थे, लेकिन वे जानते थे कि भीड़ से युद्ध जीता नहीं जा सकता। इसलिए उन्होंने सैन्य संचालन की चतुराई पर भरोसा किया।

जब दुश्मन की तोपें उनके सामने वाले हिस्से पर आग उगल रही थीं, उनकी सेना दुश्मन की पीठ पर पहुँच गयी। कर की सारी योजना उलट गयी। उसकी तोपें पीछे हटने लगी। लेकिन जाये कहाँ, चौतरफी मार से फिरंगियों के हाथी बेकार होकर भागने लगे। कुँवर सिंह की सेना का मुख्य भाग अपनी पीठ पर देख मार्क कर बाकी सैनिकों को लेकर आगे आजमगढ़ की तरफ भागा।

अंगरेजों की सेना की गतिविधि देख कुँवर सिंह ने बनारस और इलाहाबाद पर कब्जे का विचार छोड़ जगदीशपुर जाने और उस पर कब्जा करने की योजना बनायी। इसके लिए दुश्मन को कावा देना जरूरी था। यह काम उन्होंने बखूबी किया।

जनरल लुगार्ड आजमगढ़ में घिरे अंगरेजों की मदद के लिए आ रहा था। कुँवर सिंह ने अपने चुनिन्दा सिपाहियों को टोंस नदी के पुल पर लुगार्ड का रास्ता रोकने को तैनात कर दिया। वे बाकी सेना को लेकर गाजीपुर की तरफ चल पड़े। चुनिन्दा सैनिको को हुक्म था कि जब आजमगढ़ से सारी सेना के सुरक्षित गाजीपुर की सड़क पर पहुँच जाने का संकेत किया जायगा, तभी वे पीछे हटेंगे और आकर बाकी सेना से मिल जायेंगे। इन सिपाहियों ने अपना काम बड़ी खूबी से पूरा किया। फिरंगियों ने समझा कि आजमगढ़ को अपने कब्जे में बनाये रखने के लिए विद्रोह पुल रोके हैं। उन्होंने पुल पर अपना हमला तेज किया, लेकिन सिपाही इस बहादुरी से लड़े कि फिरंगी आगे न बढ़ सके। संकेत पाकर ही सिपाही पीछे हटे। सिपाहियों की इस बहादुरी की तारीफ अंगरेज इतिहासकारों ने भी की है।[1]

सिपाहियों को पुल पर से यकायक हट जाते देख लुगार्ड तेजी से आगे बढ़ा, लकिन कुँवर सिंह की सेना का नाम-निशान न देख उसे आश्चर्य हुआ। उसने तुरन्त अंगरेज घुड़सवार और घोड़ों द्वारा खीचा जाने वाला तोपखाना उनका पीछा करने को भेजा। बारह मील चल कर जब इन फिरंगियों ने कुँवर सिंह के सैनिकों को देखा तो अपने को घिरा पाया। उनकी बुरी हार हुई।

इस हार की खबर पाकर जनरल डगलस पाँच-छः तोपें लेकर आया। कुँवर सिंह ने फिर अपने चुनिन्दा सिपाहियों को इसका रास्ता रोकने का हुक्म देकर अपनी सेना के दो हिस्से कर दो रास्तों से गंगा की तरफ भेज दिया। तोपों की गोलाबारी के बावजूद चुनिन्दा सिपाही फिरंगियों का रास्ता रोके रहे जब तक उनकी सारी सेना सुरक्षित स्थान में नही पहुँच गयी। सेना के सब हिस्से फिर आ मिले और आगे बढ़ने लगे। रात भर चल कर मनोहर नामक स्थान के पास आराम के लिए ठहरे। लेकिन तभी डगलस अपने घुड़सवारों के साथ आ पहुँचा। थके-मांदे सिपाहियों का इस हमले के सामने ठहरना मुश्किल हो गया। कई हाथी, लड़ाई का सामान और रसद फिरंगियों के हाथ लगी।

अपनी पूर्ण पराजय के लक्षण देखते ही कुँवर सिंह ने अपनी सेना को छोटे-छोटे हिस्सों

१ के एण्ड मैलसन, इंडियन म्यूटिनी, खण्ड ४, १८८९ का संस्करण, पृ० ११०

में बाँट कर विभिन्न दिशाओं में पीछे हटने और नियत स्थान और समय पर आ मिलने का आदेश दिया। सिपाहियों को विभिन्न दिशाओं में हटता देख फिरंगियों ने उनका पीछा करना मुमकिन न समझा, वहीं पड़ाव डाल दिया और कुँवर सिंह की गतिविधि का पता लगाने के लिए आदमी भेजे।

उधर नियत स्थान पर इकट्ठा होकर कुँवर सिंह की सेना फिर आगे बढ़ने लगी। दुश्मन को धोखा देने के लिए उन्होंने अफवाह उड़ायी कि नावों की कमी के कारण वे हाथियों से बलिया के पास गंगा पार करेंगे। डगसल यह समाचार पाकर बड़ा खुश हुआ और बलिया जाकर कुँवर सिंह के दल के आगमन का इन्तजार करने लगा। इधर कुँवर सिंह ने बलिया से प्रायः ७ मील दूर शिवपुर घाट से नावों के जरिए गंगा पार की। डगलस खबर पाकर जल्दी वहाँ पहुँचा, लेकिन सिर्फ आखिरी नाव उसके हाथ लगी, बाकी सेना या तो पार कर गयी थी या बीच नदी में थी।

किन्तु यहीं पर एक दुर्घटना घटी। गंगा पार कर कुँवर सिंह हाथी पर बैठ कर जब रवाना हो रहे थे उनके सर पर तने क्षत्र को देख कर डगलस ने गोला चलाया। भुजा का मांस उड़ जाने से हाथ काटना जरूरी लगने लगा।[1] अस्सी साल के इस वीर पुरुष ने दूसरे हाथ से तलवार निकाली और कुहनी से नीचे हाथ काट कर गंगा को भेंट कर दिया।

२२ अप्रैल १८५८ को आठ महीने के बाद फिर उन्होंने जगदीशपुर पर कब्जा कर लिया। उनका यह आक्रमण इतना आकस्मिक था कि आरा के फिरंगियों को तब खबर मिली, जब जगदीशपुर पर कुँवर सिंह का अधिकार हो चुका था। यह समाचार पाते ही आरा का अंगरेज सेनापति ले ग्राण्ड आग बबूला हो गया। वह चार सौ सैनिक और दो तोपें लेकर २३ अप्रैल को जगदीशपुर पर झपटा। बीच के जंगल में ही कुँवर सिंह ने अपने सिपाहियों को लेकर उसे आ घेरा और फिर वह पिटाई की कि फिरंगियों को भागते न बना। ले ग्राण्ड मारा गया। १९० गोरों में सिर्फ ८० ही वापस जा सके। फिरंगी सेना में बाकी सिख थे। वे सिर्फ सात ही मारे गये, बाकी भाग गये। कुँवर सिंह का हुक्म था कि गोरों को ज्यादा से ज्यादा मारो और उनका साथ देनेवाले हिन्दुस्तानियों को कम से कम। इस पराजय को अंगरेज इतिहासकारों ने अंगरेजों के लिए शर्मनाक घटना बताया है।[2]

फिरंगियों का साथ देनेवाले भारतीयों के साथ कुँवर सिंह के अच्छे व्यवहार के उदाहरण और भी पाये जाते हैं। विद्रोह के आरंभ में कुछ अंगरेज परस्त बंगाली बाबू उनके हाथ में पड़ गये थे। कुँवर सिंह ने उन्हें मुक्त कर दिया था और हाथी पर बैठा कर पटना भेज दिया था, जहाँ वे जाना चाहते थे।

हाथ कटने का घाव कुँवर सिंह के लिए घातक सिद्ध हुआ। २६ अप्रैल, १८५८ को इस वयोवृद्ध वीर सेनानी ने स्वतंत्र जगदीशपुर में अन्तिम साँस ली। उनकी मृत्यु

१. दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह, कुँवर सिंह : एक अध्ययन, प्रथम संस्करण, पृ० १९-२०
२. चार्ल्स बाल, इंडियन म्यूटिनी, खण्ड १, पृ० २८८

के बाद उनके योग्य अनुज अमर सिंह ने स्वराज के लिए लड़नेवाले उन सिपाहियों का नेतृत्व संभाला।

ले ग्राण्ड की पराजय का समाचार पाकर ब्रिगेडियर डगलस और जनरल लुगार्ड ने गंगा पार कर ३ मई को अमर सिंह पर चढ़ाई की। बिहिया, हातमपुर, दलीपपुर और कई अन्य स्थानों में अमर सिंह के सिपाहियों से उनका मुकाबिला हुआ। ज्योंही अमर सिंह देखते कि दुश्मन सबल पड़ रहा है, वे अपने सिपाहियों को छोटे-छोटे जत्थों में बाँट कर विभिन्न दिशाओं में पीछे हट जाते। फिरंगी विजय का आनन्द भी न मना पाते कि अमर सिंह अपनी पूरी सेना लिए हुए जंगल के दूसरे सिरे पर नजर आते। छापामार युद्ध के कौशल को अपना कर उन्होंने दुश्मन की नाक में दम कर दिया। हताश होकर जनरल लुगार्ड १५ जून को इस्तीफा देकर इंगलैण्ड चला गया। अंगरेज सेना भी अमर सिंह का पीछा करना छोड़ वापस गयी।

अमर सिंह को अपनी सेना संगठित करने का मौका मिला। उन्होंने गया की पुलिस को विद्रोही बना दिया। इसके बाद अंगरेज सेना को गलत रास्ते पर भेज कर वे आरा पर टूट पड़े और फिर जगदीशपुर पर कब्जा कर लिया। जुलाई, अगस्त और सितम्बर तक उनका कब्जा बना रहा। फिरंगियों ने इस बीच जंगल कटवाये और सड़कें बनवायीं। आखिर में उन्होंने जगदीशपुर पर सात तरफ से हमला किया ताकि किसी भी तरफ से अमर सिंह निकल न पायें। १७ अक्तूबर को वे सब जगदीशपुर के पास आ पहुँचे। वे समझते थे कि इस बार अमर सिंह को वे जरूर पकड़ लेंगे, लेकिन जगदीशपुर आने पर उन्हें मालूम हुआ कि वे फिर उनके हाथ से निकल चुके हैं। फिरंगी पल्टन एक तरफ से पाँच घंटा देर कर आयी थी; अमर सिंह उसी तरफ से घेरे से बच कर निकल गये थे।

१९ अक्तूबर को नोनादी गाँव में फिरंगियों ने अमर सिंह और उनके साथियों को फिर घेर लिया। इस घेरे के तोड़ने में अमर सिंह के चार सौ साथियों में से तीन सौ मारे गये। घेरे को तोड़ कर जब वे गाँव से बाहर पहुँचे तो फिरंगियों की नयी पल्टन आ पहुँची। आखिर में सिर्फ तीन आदमी बच निकले जिनमें एक अमर सिंह थे। पीछा करने वाले दुश्मनों से बचते हुए अमर सिंह कैमूर की पहाड़ियों में पहुँच गये। ग्रामवासी फिरंगी पल्टन को गुमराह कर उनकी मदद करते रहे। इन पहाड़ियों में भी अमर सिंह अन्त तक लड़ते रहे, आत्मसमर्पण नहीं किया। इस वीर सेनानी का अन्त कब, कहाँ और कैसे हुआ, इतिहास कुछ नहीं बताता। सफलता के कोई लक्षण न देख कुँवर सिंह के परिवार की डेढ़ सौ महिलाओं ने उन्नसवीं सदी का जौहर व्रत किया। तोपों के मुँह के सामने खड़े होकर उन्होंने अपने हाथ से पलीते में आग लगायी।[1]

अमर सिंह के छापामार युद्ध ने मार्क्स और एंगेल्स का भी ध्यान आकर्षित किया था। १ अक्तूबर १८५८ को न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून में प्रकाशित 'भारत में विद्रोह' शीर्षक लेख में एँगेल्स ने अमर सिंह के छापामार युद्ध कला के ज्ञान की प्रशंसा की थी।[2]

१. सावरकर, पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४४२

२. द फस्ट वार आफ इंडेपेंडेन्स १८५७-१८५९, विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, मास्को, पृ० १९२

आदिवासी अंचल का मोर्चा

सिंहभूम और मानभूम का आदिवासियों का अंचल १८५७ के राष्ट्रीय महाविद्रोह में पीछे न था। जब महाविद्रोह आरंभ हुआ, उस वक्त चायबासा में रामगढ़ बटालियन की एक सेना थी। ३० जुलाई को हजारीबाग में देशी पल्टनों ने विद्रोह किया। रामगढ़ बटालियन की सेना उसे दबाने के लिए भेजी गयी, लेकिन उसने खुद ही विद्रोह कर दिया। वह वापस राँची आ गया और यहाँ की अन्य देशी पल्टनों ने उसका साथ दिया।[1]

ज्योंही इस विद्रोह का समाचार चायबासा पहुँचा, वहाँ का अधिकारी प्रधान सहायक कमिश्नर अपनी जान लेकर भागा, उसने जाकर सरायकेला के राजा चक्रधारी सिंह की शरण ली। राजा ने उसे अपने आदमियों के पहरे में रानीगंज पहुँचा दिया। जाते समय अंगरेज अधिकारी जिले की व्यवस्था का सारा भार चक्रधारी सिंह पर दे गया। वफादार कुत्ते की तरह इस सामन्त ने चायबासा की रक्षा की व्यवस्था की और ब्रिटिश सरकार की मदद के लिए दूसरे सामन्तों से सेना माँग भेजी। पोराहाट के राजा ने कोई भी मदद भेजने से इन्कार कर दिया। दूसरे सामन्तों की जो सेनाएँ आयीं, उनमें मतभेद देखा गया। इसलिए चायबासा की रामगढ़ बटालियन की सेना के खिलाफ कोई भी कार्रवाई करने का साहस उन्हें न हुआ।

राँची से विद्रोहियों का दूत चायबासा आया, वापस राँची गया और फिर चायबासा आया। ऐसा करने में कुछ वक्त लगा। आखिरकार सितम्बर १८५७ के आरंभ में चायबासा में सिपाहियों ने विद्रोह आरंभ किया। उन्होंने खजाना लूट लिया, जेल के फाटक खोल दिये और खजाना लेकर विद्रोही साथियों से मिलने राँची चल पड़े। संजय नदी में उस वक्त बाढ़ आ रही थी। इसलिए इसे वे पार न कर सके। हो लोगों को यह पसन्द न था कि खजाना उनके यहाँ से चला जाय। इसलिए हजारों की संख्या में इकट्ठा होकर उन्होंने सिपाहियों को हैरान करना आरंभ किया। जिन्हें भी वे अकेला पा जाते मार देते। ऐसी हालत में पोराहाट के राजा अर्जुन सिंह ने इन विद्रोही सिपाहियों को अपने यहाँ आमंत्रित किया। सिपाही इस राजा के यहाँ चले गये और खजाना उसके जिम्मे कर दिया।

चायबासा के प्रधान सहायक कमिश्नर की जगह लेफ्टिनेन्ट बर्च नियुक्त हुआ। वह १६ सितम्बर को सरायकेला के राजा, खरसवान के राजा और ३००० कोलों को लेकर चायबासा पहुँचा। उस पर अधिकार कर उसने पोराहाट के राजा के पास हुक्म भेजा कि जल्दी आकर आत्मसमर्पण करो, सरकारी खजाने और विद्रोही सिपाहियों को हमारे हाथ सौंप दो। टाल-मटोल करने के बाद वह राजा राँची गया और सारा खजाना तथा एक सौ विद्रोही सिपाहियों को कमिश्नर कर्नल डालटन के हाथ सौंप दिया। पर अंगरेज इतने से ही खुश न हुए। आज्ञा भंग करने के लिए डालटन ने उसे डाटा-

---

१. बंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, सिंहभूम, सरायकेला और खरसवान, पृ० ३८

फटकारा और हुक्म दिया कि चायबासा जाकर लेफ्टिनेन्ट बर्च के हाथ आत्मसमर्पण करो ताकि वह उस पर मुकदमा चला सके।

इस मकदमे का परिणाम बहुत कुछ जानाबूझा था। इसलिए राजा लेफ्टिनेन्ट बर्च के पास न गया। इस राजा का दीवान जग्गू था। ब्रिटिश विरोधी कामों के लिए अंगरेजों ने उसकी गिरफ्तारी के लिए इनाम की घोषणा कर रखी थी। यह दीवान उस वक्त कोलों को अंगरेजों के खिलाफ संगठित कर रहा था।

नवम्बर के अन्त में किसानों को धान काटने में व्यस्त और जिले में शान्ति देख लेफ्टिनन्ट बर्च ने सेना लेकर पोराहाट के राजा पर चढ़ाई की। उसके यकायक हमले से जग्गू दीवान पकड़े गये। बर्च ने उसी वक्त उन्हें फांसी से लटका कर ब्रिटिश साम्राजियों की 'न्यायप्रियता' का परिचय दिया।[1]

लेकिन राजा अर्जुन सिंह फिर भी उसके हाथ न आये। वे उसके घेरे से निकल कर पास के जंगल में चले गये। सरायकेला के राजा और कुछ दूसरे सामन्त सरदारों ने राजा अर्जुन सिंह के खिलाफ अंगरेजों की मदद की। राजा अर्जुन का न पकड़ा जाना अंगरेजों को कांटे की तरह खटकता था। कोलों में उनका बड़ा प्रभाव था। दिसम्बर के अन्त में लुशिंगटन ने, जो कुछ समय के लिए मानभूम और सिंहभूम का स्पेशल कमिश्नर नियक्त किया गया था, कंपनी सरकार के पास रिपोर्ट भेजी कि सिंहभूम के विभिन्न आदिवासियों में व्यापक विद्रोह फैल गया है।[2]

इस वक्त लुशिंगटन के पास कैप्टेन हेल के मातहत सिखो का एक दस्ता था। २५ दिसम्बर को इस सेना ने सरायकेला के राजा की सेना के साथ मिल कर विद्रोहियों पर हमला किया और उन्हें तितर-बितर कर दिया। इन विद्रोहियों में कोल तथा दूसरे लोग थे और पोराहाट के राजा के भाई उनका नेतृत्व कर रहे थे। इस जीत के बाद अंगरेजों ने देख लिया कि और सेना आये बगैर विद्रोहियों का दमन नहीं किया जा सकता। इसलिए कर्नल फास्टर के नेतृत्व में रानीगंज से शेखाबाटी बटालियन चायबासा भेजी गयी।

इसी बीच अर्जुन सिंह और उनके भाई सारे कोलहान में विद्रोह की आग फैला देने में लगे थे। इसमें उनको बड़ी सफलता भी मिली। इसके परिणाम भी जल्दी ही देखे गये। १४ जनवरी, १८५८ को लुशिंगटन कैप्टेन हेल के मातहत ५०-६० सिखों को लेकर बार पीर के कुछ विद्रोही सरदारों को दण्ड देने गया। जब वह वापस आ रहा था तो मोगरा नदी के पास एक गहरे सूखे नाले में ३-४ हजार विद्रोहियों ने यकायक उन्हें आ घेरा और तीरों की बरसा से उनका स्वागत किया। दुश्मनों की गोलियां उन्हें रोकने में असमर्थ थी। अंगरेज अपने सिपाहियों को लेकर जंगल से तेजी से भागे। विद्रोहियों ने जंगल के अन्त तक उनका पीछा किया। कोई भी अंगरेज अफसर अक्षत न बचा था। सिखों का सेनाध्यक्ष कैप्टेन हेल चार जगह घायल हुआ था, लेफ्टिनेन्ट बर्च की

१. उपरोक्त गजेटियर, पृ० ३६ २. उपरोक्त गजेटियर, पृ० ३६

बाँह को तीर ने छेद कर बगल से सटा दिया था। लुशिंगटन और डा० हेयेस को भी चोट आयी थी, पर कम। बन्दूकों की बदौलत बच कर किसी तरह वे चायबासा पहुँचने में समर्थ हुए।

इसी समय विद्रोहियों ने चक्रधरपुर पर हमला किया। यह पोराहाट के राजा का निवास स्थान था, किन्तु इस पर उस वक्त सरायकेला के राजा ने कब्जा कर रखा था। उसके पास तीन सौ बन्दूकधारी सैनिक और दो तोपें थीं। लेकिन विद्रोहियों की छोटी-सी टुकड़ी के हमले से ही वह हार गया और दुम दबा कर भागा।[1] इन दोनों सफलताओं से एक तरफ विद्रोहियों का साहस और दूसरी तरफ आम जनता में उनका सम्मान बढ़ा।

१७ जनवरी, १८५८ को कर्नल फास्टर शेखावाटी बटालियन लेकर चायबासा पहुँचा और फौरन चक्रधरपुर पर चढ़ाई की। उसे देख कर विद्रोही गाँव खाली कर वहाँ से हट गये। खाली गाँव पर कब्जा कर कर्नल फास्टर विजय के अभिमान के साथ पोराहाट चला। रास्ते में पड़ने वाले गाँवों को पहले उसने लूटा, अन्न और मवेशी अपने साथ लिये और फिर उनमें आग लगायी। इस तरह लूटता-पाटता और आग लगाता फास्टर पोराहाट की तरफ आगे बढ़ा।

इसी बीच बहुत से विद्रोही कोल सिरिंगसेला दर्रे के पास इकट्ठा हुए। यहाँ फास्टर की सेना से उनका मुकाबिला हुआ। फास्टर की सेना में मेदिनीपुर से भेजे गये ५० यूरोपीय नाविक भी आ मिले थे। वह इस सेना की मदद से विद्रोहियों को भगाने और बहुतों को मारने में सफल हुआ। कई दूसरे दस्ते विद्रोहियों के छोटे दस्तों को दबाने भेजे गये। फरवरी, १८५८ तक बहुत कुछ शान्ति जैसी दीख पड़ने लगी। अब कैप्टेन डालटन ने भार संभाला और शेखावाटी बटालियन संभलपुर भेज दी गयी।

लेकिन पोराहाट के राजा अर्जुन सिह अब भी मोर्चे पर डटे रहे। अंगरेजों ने उनसे आत्मसमर्पण कराने की बड़ी कोशिश की, पर वे टस से मस न हुए। उनकी रियासत जप्त कर ली गयी, लेकिन कोल उनके साथी बने रहे और फिरंगियों का मुकाबिला करते रहे।

मार्च १८५८ में, २००० कोलों ने सहायक कमिश्नर के कैम्प पर धावा बोल दिया, बड़ी मुश्किल से उन्हें पीछे हटाया जा सका। अप्रैल में विद्रोहियों ने दूसरा हमला चक्रधरपुर पर किया। यहाँ नौ सेना का दस्ता सरायकेला के राजा के आदमियों की मदद से विद्रोहियों को हटाने में सफल हुआ।

मई के आखिर में नौ सेना ब्रिगेड का प्रधान अफसर वेन्ड्रेन अपने द्वितीय अफसर स्काट और २० नौ सैनिकों तथा सरायकेला के राजा के सैनिकों को लेकर विद्रोहियों पर हमला करने गया। विद्रोहियों के तीन शिविरों को उसने नष्ट कर दिया, यहाँ उसका मुकाबिला किसी ने नहीं किया। क्रमशः उसे घने जंगल में चट्टानों से घिरी घाटी में

१. उपरोक्त गजेटियर, पृ० ४०

खींच ले जाया गया। ज्योंही वेल्डेन विजय गर्व से अपनी टुकड़ी के साथ वहाँ पहुँचा, विद्रोहियों न चारों तरफ से दुश्मनों पर तीरों और गोलियों की बौछार शुरू कर दी। वेल्डेन को अपनी टुकड़ी के साथ पीछे भागना पड़ा और खुले मैदान में जाकर दम लेना पड़ा।

९ जून, १८५८ को कई हजार कोलों ने चक्रधर के नौसेना ब्रिगेड के शिविर को आ घेरा। असिस्टेन्ट कमिश्नर मानक्रीड, जो चायबासा से लौट रहा था, बड़ी मुश्किल से इस शिविर में घुस सका। १० और ११ जून को फिर कोलों ने वेल्डेन के शिविर पर हमला किया। वेल्डन में यह ताकत न थी कि वह विद्रोहियों को हटा सके। १२ जून को जब लेफ्टिनेन्ट रीव्ज मदद के लिए कुमुक लेकर आया तब विद्रोही वहाँ से चले गये। कंपनी की सेना ने विद्रोहियों का पीछा करने की कोशिश की, पर जल्दी ही निराश होकर वापस आयी।

मैदानों में आधुनिक हथियारों से लैस सुशिक्षित कंपनी सेना का मुकाबिला करना असंभव समझ विद्रोहियों ने पहाड़ियों में आश्रय लिया और सिंहभूम में पहाड़ियों की कमी नहीं। बरसात के दिनों कंपनी की सेना कहीं आ-जा न सकी, वह नाकेबन्दी करके बैठ गयी। दिसम्बर १८५८ में उसने उस पहाड़ी को चारों तरफ से घेर लिया जहाँ राजा अर्जुन सिंह ने आश्रय ले रखा था। निकलने का कोई रास्ता न देख १५ फरवरी, १८५९ को उन्होंने आत्मसमर्पण किया। उनके आत्मसमर्पण से इस अंचल का विद्रोह समाप्त हो गया।

मानभूम में विद्रोह के आरम्भ में रामगढ़ बटालियन के ६४ सिपाही और १२ सवार थे। उनका रुख देखकर डिपुटी कमिश्नर कैप्टेन ओक्स भाग खड़ा हुआ और रघुनाथ-पुर होता हुआ रानीगंज चला गया। विद्रोहियों ने खजाने पर कब्जा किया, जेल के फाटक खोल दिये और खजाना लेकर राँची चले गये। सिपाहियों के चले जाने पर पंचेत के जमीन्दार परिवार के एक सदस्य के नेतृत्व में विद्रोहियों ने अदालत के कागजात जला दिये और अंगरेजों की हुकूमत के चिह्न मिटा दिये।

जल्दी ही डिपुटी कमिश्नर सेना लेकर एक महीने के अन्दर वापस आया। जाते वक्त उसने पंचेत के राजा नीलमणि सिंह से मदद मांगी थी, लेकिन राजा ने न दी थी। वापस आते ही डिपुटी कमिश्नर ने सबसे पहले इस राजा को गिरफ्तार किया और कलकत्ता भेज दिया। वहाँ वह मार्च १८५९ तक कैद रखा गया।[1] इस तरह जल्दी कदम उठाने से मानभूम में विद्रोह बड़ा रूप धारण न कर सका। संभलपुर में सुरेन्द्र साई के नेतृत्व में जो मोर्चा लगा था, उसका वर्णन हम पीछे (अध्याय ५६) कर आये हैं।

असम में आग की लपटें

असम में राष्ट्रीय महाविद्रोह के समय बहुत बड़ी घटनाएँ नहीं घटीं, लेकिन फिर भी उसकी लपटें यहाँ की सुरमावेली और ब्रह्मपुत्र की घाटी में पहुँची थीं और कुछ समय के लिए अंगरेजों की चिन्ता का विषय बन गयी थीं।

---

१. बेंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, (मानभूम), पृ० ६६

ब्रिटिश सत्ता के दिल्ली और लखनऊ में पतन की खबरें जब असम पहुँचीं तो खसिया सरदारों के अन्दर बड़ी हलचल देखी गयी। जयन्तिया के भूतपूर्व राजा ने अपना खोया राज्य फिर से दखल करने की योजनाएँ बनायीं और खसिया सरदारों के साथ गप्त वार्तालाप आरम्भ किया।[1]

उस वक्त रेवन्यू बोर्ड के सदस्य मि० एलेन को लफ्टिनेन्ट गवर्नर सर फ्रेडरिक हैलिडे ने सिलहट और काछाड़ समेत पूर्वी सीमा की व्यवस्था का अस्थायी भार दिया था। उसने सोचा कि अगर इस राजा को गिरफ्तार किया जाता है, तो अशान्ति जल्दी फैल सकती है, इसलिए साँप मर जाये और लाठी भी न टूटे का रास्ता अपनाया। उसे सिलहट शहर में आकर रहने का हुक्म दिया, ताकि वह अंगरेज अधिकारियों की नजर के सामने रहे।

नवम्बर १८५७ में चटगाँव में ३४ वीं देशी पल्टन की तीन कंपनियों ने विद्रोह किया।[2] अपनी बैरकों में आग लगा कर, जेल के फाटक तोड़ कर और खजाने को साथ लेकर वे कोमिल्ला की तरफ चल पड़े। इसके बाद त्रिपुरा के पहाड़ी जंगलों से होते हुए सिलहट जिले के दक्षिण-पूर्व में आ पहुँचे। उनका इरादा काछाड़ होकर मणिपुर पहुँचने का था।

उनकी गतिविधि का समाचार पाते ही एलेन ने उनका रास्ता रोकने का फैसला किया। उसके हुक्म से मेजर बिंग, जो सिलहट लाइट इन्फैन्ट्री का सेनाध्यक्ष था, १६० आदमियों को लेकर उनका मुकाबिला करने चला। अपने सिपाहियों को दौड़ाता हुआ, लगभग ८० मील की दूरी ३६ घंटे में तय कर वह परतापगढ़ पहुँचा।[3] वहाँ पहुँचने पर उसने सुना कि विद्रोही २८ मील दूर लाटू से होकर जाने वाले हैं। रात भर चल कर वह सबेरे लाटू पहुँचा। थोड़ी देर बाद ही विद्रोही भी, जिनकी संख्या लगभग २०० थी,[4] वहाँ आ पहुँचे।

बिंग की सेना में आधे हिन्दुस्तानी सिपाही थे। विद्रोहियों ने उनसे अंगरेजों का साथ छोड़ देने की अपील की। लगता है कि यह अपील करने का उन्हें काफी अवसर नहीं मिला। बिंग ने उन पर धावा बोल दिया। २६ विद्रोही मारे गये, लेकिन उन्होंने मेजर बिंग को भी समाप्त कर दिया।

बिंग की जगह संभालने वाले अंगरेज ने जंगल में विद्रोहियों का पीछा करना उचित नहीं समझा। विद्रोही काछाड़ की तरफ बढ़ चले। लेकिन ज्योंही वे काछाड़ जिले में घुसे लेफ्टिनेन्ट रास के मातहद सिलहट लाइट इन्फैन्ट्री की दूसरी टुकड़ी उन पर टूट पड़ी। इस हमले का भी मकाबिला कर और कुछ साथियों को खोकर विद्रोही मणिपुर की तरफ बढ़ते गये। यहाँ मणिपुर के कुछ राजकुमार अपने कुछ अनुयायियों के साथ विद्रोहियों मे शामिल हो गये।

उनको समाप्त करने के लिए अंगरेज अपनी सेना को पर्याप्त न समझते थे।

१. सर एडवर्ड गेट, ए हिस्ट्री आफ आसाम, १९६७ का संस्करण, पृ० ३६६

२. उपरोक्त, पृ० ३६९ ३. उपरोक्त, पृ० ३७८ ४. उपरोक्त, पृ० ३७९

इसलिए नियमित सेना के इस्तेमाल के साथ-साथ उन्होंने विद्रोहियों की हत्या के लिए कूकी स्काउट नियुक्त किये और एक-एक विद्रोही की हत्या के लिए उन्हें पुरस्कार दिये।[1]

इस तरह चटगाँव से विद्रोह कर जितने सिपाही चले थे, उनमें से प्रायः सभी मारे गये या पकड़े गये, सिर्फ ३-४ सिपाही बच कर निकल सके।

सिलहट लाइट इन्फैन्ट्री में जो हिन्दुस्तानी सिपाही थे, उनकी वफादारी में अंगरेजों को सन्देह था। इसलिए जब विद्रोहियों के सिलहट पहुँचने की खबर कलकत्ता पहुँची, वहाँ से ब्रिठिश रेजीमेन्ट की कई कंपनियाँ तुरन्त सिलहट के लिए रवाना की गयी। लेकिन सिलहट में शान्ति देख कर वे वापस ढाका चली गयीं।

पहली आसाम लाइट इन्फैन्ट्री में उत्तर प्रदेश और बिहार के सिपाहियों की संख्या बहुत ज्यादा थी। वह उस वक्त डिब्रूगढ़ में थी। स्थानीय तोपखाने में भी हिन्दुस्तानी सिपाही थे। गौहाटी में दूसरी आसाम लाइट इन्फैन्ट्री थी। इसमें भी उत्तर प्रदेश और बिहार के काफी लोग थे, हालाँकि पहली से कम।

शाहाबाद से हिन्दुस्तानी सिपाहियो के पत्र डिब्रूगढ के हिन्दुस्तानी सिपाहियों के पास पहुँचे। इसका परिणाम हुआ कि सितम्बर १८५७ में उनमें बेचैनी दीख पड़ने लगी। इन सिपाहियों के नेताओं ने अहोम राजवंश के एक सरदार सारंग राजा के साथ सम्पर्क स्थापित किया जो उस वक्त जोरहाट में रहते थे।[2] उनके साथ मिल कर उन्होने अंगरेजों को मार भगाने और उस अंचल को स्वतंत्र करने की योजना बनानी शुरू की।

इस इन्फैन्ट्री के सेनाध्यक्ष कर्नल हन्ने ने इस खतरे को देखा और तुरत उसे रोकने के कदम उठाया। उसने हिन्दुस्तानी सिपाहियों को छोटी-छोटी टुकड़ियों में बाँट कर दूर-दूर की चौकियों में भेज दिया, ताकि वे एक जगह जमा न रह सकें और परस्पर पत्राचार न कर सकें। डिब्रूगढ में उसने विश्वासी गुर्खों और पहाड़ियों को जमा किया।

सारंग राजा उस समय एक लड़का था। वास्तविक सत्ता उसके दीवान मनीराम दत्त के हाथ थी। वह उस वक्त कलकत्ते में था। राजा को गिरफ्तार किया गया और उसके घर की तलाशी ली गयी। उसके घर में मनीराम के पत्र पाये गये जो अंगरेजों के खिलाफ विद्रोह की बातों से भरे थे। मनीराम को तुरन्त कलकत्ते में गिरफ्तार कर लिया गया। कुछ सप्ताह कलकत्ते में नजरबन्द रखने के बाद उन्हें असम भेज दिया गया। वहाँ उन पर मामला चलाया गया, ब्रिटिश राज्य का विद्रोही करार दिया गया और मृत्यु दंड दे दिया गया। अंगरेज हुकूमत उलटने की योजना बनाने वाले चार अन्य नेताओं पर भी मुकदमा चला। एक को फांसी और बाकी तीन को लम्बे काले पानी की सजा दी गयी।[3]

जब इस योजना का समाचार कलकत्ते पहुँचा तो नौ सेना की तीन कंपनियाँ एक-एक कर फौरन गौहाटी के लिए रवाना की गयी। इन कार्रवाइयों ने विद्रोह को आरंभ होने के पहले ही खत्म कर दिया।

१. उपरोक्त, पृ० ३७६	२. पूर्वोक्त, पृ० ३७६	३. वही, पृ० ३८०

गोदावरी जिले का विद्रोह

१८५७ के महान राष्ट्रीय विद्रोह की लपटों से दक्षिण भारत अछूता न था। इसका उदाहरण उस वक्त की मद्रास प्रेसीडेन्सी के और आजकल के आन्ध्र के गोदावरी जिले के सुब्बा रेड्डी का विद्रोह (१८५८) था। अंगरेज शासकों ने इस विद्रोह के बारे में लिखा है कि इसका केन्द्र यरनागुडेम के उत्तर की पहाड़ियाँ थीं। उनके अनुसार इसकी उत्पत्ति एक नारी को लेकर पहाड़ी सरदारों के बीच झगड़े के कारण हुई। इस घटना के नेता सुब्बा रेड्डी ने बड़ी चतुराई से सारे आपसी झगड़े को अंगरेजों के खिलाफ मोड़ दिया।

उन्होंने प्रचार किया कि नाना साहब अपनी विजयी सेना को लेकर आगे बढ़ रहे हैं और जो भी अंगरेजों के खिलाफ सबसे ज्यादा युद्ध करेगा, उसे सबसे ज्यादा पुरस्कार दिया जायगा।[1] उन्होंने कोयों की बड़ी भारी सेना इकट्ठा की और बुत्तायागुडेम के मजिस्ट्रेट को मार डाला। अंगरेज शासकों का कहना है कि इस मजिस्ट्रेट ने एक धनी बेवा को अपनी बीबी बना कर रखा था, लेकिन सुब्बा रेड्डी उसकी शादी अपने बेटे से करना चाहते थे। सुब्बा रेड्डी ने कई गाँव लूट लिये। प्रधान सहायक मजिस्ट्रेट ६०-७० आदमी लेकर मुकाबिला करने आया, तो सुब्बा रेड्डी ने उन्हें मार भगाया।

सफरमैना और सुरंगबाजों की दो कंपनियाँ यरनागुडेम भेजी गयीं। उन्होंने विद्रोहियों पर चढ़ाई की। पोलावरम तालुके के जिलगुमिल्ली में विद्रोहियों ने उनका मुकाबिला किया। पराजित होकर विद्रोही जंगल में शरण लेकर लड़ते रहे। लेकिन अन्त में सात विद्रोही नेताओं के साथ सुब्बा रेड्डी पकड़े गये। अंगरेजों ने इन सब को फाँसी दे दी।[2]

---

१. मद्रास डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, गोदावरी, पृ० २६
२. वही, पृ० २६

अध्याय ७२

सशस्त्र राष्ट्रीय महाविद्रोह–अंगरेजों की फिर भारत विजय

(१८५७-५९)

इलाहाबाद में जनरल नील के प्रवेश के बाद गवर्नर जनरल लार्ड कैनिंग ने अपनी राजधानी कुछ समय के लिए कलकत्ते से इलाहाबाद स्थानान्तरित की ताकि उत्तर भारत के विद्रोह को दबाने में कदम जल्दी उठाये जा सकें। फारस के युद्ध से फुरसत पाकर जनरल हैवलाक अंगरेज सेना के साथ आया और इलाहाबाद का मुख्य अफसर बना। वह जल्दी ही अपनी सेना लेकर कानपुर की हार का बदला लेने के लिए रवाना हुआ। उसने अपने साथ वे अंगरेज अफसर भी लिये जो विद्रोहियों की दया से इलाहाबाद पहुँच गये थे। नील ने पहले ही मेजर रेनाड के नेतृत्व में एक दस्ता कानपुर रवाना कर दिया था।

फतेहपुर की तरफ मेजर रेनाड के बढ़ने की खबर पाकर नाना साहब ने ज्वाला प्रसाद और टीका सिंह के नेतृत्व में सेना भेजी। रेनाड के दस्ते को कुचलने के लिए यह सेना काफी थी, लेकिन उसे इस दस्ते के साथ ही साथ हैवलाक की सेना का भी मुकाबिला करना पड़ा। हैवलाक का आगमन उनके लिए बिल्कुल आकस्मिक था। फलत: १२ जुलाई, १८५७ की लड़ाई में उन्हें अपनी तोपें छोड़ कर पीछे हट जाने को मजबूर होना पड़ा। विजय के गर्व के साथ अंगरेज सेना ने फतेहपुर में प्रवेश किया।

फतेहपुर ने अंगरेजों के ही डिपुटी मजिस्ट्रेट हिकमतुल्ला के नेतृत्व में विद्रोह किया था। कई अंगरेज अफसर मारे गये थे। अवश्य ही मजिस्ट्रेट शेरर पर दया दिखा कर उसे इलाहाबाद भेज दिया गया था। इसका बदला लेने के लिए पहले इस शहर को लूटा गया और फिर उसमें आग लगा दी गयी, कितने ही जीवित जला दिये गये।

कानपुर का युद्ध

फतेहपुर के लूटे और जलाये जाने की खबर कानपुर पहुँची तो नाना साहब का सारा दरबार गुस्से से आग बबूला हो गया। पाण्डु नदी के किनारे अंगरेज सेना को रोकने के लिए नाना साहब के भाई बाला साहब के नेतृत्व में सेना भेजने का फैसला हुआ। इसी बीच कुछ जासूस पकड़े गये थे। उन पर मुकदमे से पता चला कि बीबी गढ़ में कैद अंगरेज औरतें इलाहाबाद के अंगरेजों के पास पत्र इन जासूसों के जरिए भेजती रही हैं। जिन औरतों को दया कर नाना साहब ने मौत से बचा दिया था, वे दुश्मन को समाचार भेज रही थीं। फतेहपुर में हिन्दुस्तानियों के जिन्दा जलाये जाने की खबर के साथ इस घटना ने मिल कर लोगों के मन से दया-मया खत्म कर दी, प्रतिशोध की भावना मानवीय गुणों पर

हावी हो गयी। फर्रुखाबाद वगैरह से लाकर कुछ अंगरेज पुरुष भी यहाँ कैद कर रखे गये थ। सब अंगरेज पुरुष, स्त्री, बच्चे कसाइयों से मरवा दिये गये और फतेहपुर का बदला लिया गया।

पाण्ड नदी के किनारे अपनी सेना की हार के बाद नाना साहब ने कानपुर से आगे बढ़ कर हैवलाक का मुकाबिला किया। इस युद्ध में नाना साहब की सेना ने जो वीरता दिखायी उसकी प्रशंसा अंगरेज इतिहासकारों ने भी की है। लेकिन विजय श्री आखिर में अंगरेजों के ही हाथ रही। २० जुलाई, १८५७ को कानपुर पर अंगरेजों का अधिकार हो गया। इसके बाद लूट और कत्ल का दौर-दौरा चला। ह्वीलर की मौत का बदला लेने के लिए हैवलाक ने झुण्ड के झुण्ड हिन्दुस्तानियों को पकड़ कर फांसी दी। बहुत से ब्राह्मण गिरफ्तार किये गये। उन्हें फांसी देने के पहले बीबी गढ़ में मारे गये अंगरेजों के खून के दाग चाटने को बाध्य किया गया। फांसी के वक्त विद्रोहियों ने जिस धैर्य और दृढ़ता का परिचय दिया, उसकी प्रशंसा अंगरेज इतिहासकारों ने भी की है।[1]

युद्ध-क्षेत्र से नाना साहब अपनी बाकी सेना लेकर बिठूर गये और वहाँ से खजाना आदि लेकर गंगा पार कर फतेहगढ़ पहुँचे।

साढ़े चार महीने बाद दिल्ली फिर पराधीन

हम पहले बता आये हैं कि कैसे अम्बाला से अंगरेज रास्ते के गाँवों को जलाते, लोगो को फांसी पर लटकाते दिल्ली की तरफ रवाना हुए थे और प्रधान सेनापति आनसन की मृत्यु के बाद सर हेनरी बर्नार्ड ने अंगरेज सेना का नेतृत्व संभाला था। उसकी सेना में सिख काफी तादाद में थे। बर्नार्ड मेरठ की सेना के साथ मिल कर दिल्ली पर आक्रमण करना चाहता था।

दिल्ली ने इन दोनों सेनाओ के मिलने के पहले ही मेरठ की अगरेज सेना को खत्म कर देना चाहा। इस इरादे से हिन्दुस्तानी सेना दिल्ली से आगे बढ़ी और ३० मई को हिण्डन नदी के किनारे अंगरेज सेना का मुकाबिला किया। सारी वीरता के बावजूद हिन्दुस्तानी सेना की हार योग्य सेनापति के अभाव से हो गयी।

७ जून को बर्नार्ड की सेना मेजर रीड की सेना से आ मिली। बर्नार्ड की सेना मे सिख थे तो रीड की सेना में गुरखे। यह सम्मिलित सेना दिल्ली के पास अलीपुर मे आ पहुँची। हिन्दुस्तानी सेना फिर दिल्ली से निकल कर अंगरेज सेना का मुकाबिला करने आयी। बुन्देला की सराय में दोनों का मकाबिला हुआ। यहाँ भी सारी वीरता के बावजूद योग्य सेनापति के अभाव में हिन्दुस्तानी पल्टनों को हार खानी पड़ी। इनका सेनापति एक शाहजादा था जिसने कभी लड़ाई का मुँह भी न देखा था। दुश्मन की तोपों ने ज्योंही गोलाबारी आरंभ की त्योंही यह 'सेनापति' भाग खड़ा हुआ था। फिर भी बहादुर सिपाहियों ने अंगरेज सेना का काफी नुकसान किया। उनका एडजूटेन्ट-जनरल चेस्टर मारा गया।

१. चार्ल्स बाल, इंडियन म्यूटिनी, खण्ड १, पृ० ३८८

८ जून को फिरंगी सेना दिल्ली की चहारदीवारी के पास पहुँच गयी। जनरल बर्नार्ड अपने अन्य सेनापतियों के साथ मिल कर रोज दिल्ली पर हमले की योजनाएँ बनाने-बिगाड़ने लगा। हिन्दुस्तानी पल्टनों की शक्ति देख दिल्ली पर फौरन हमला करने की हिम्मत उसके सेनापतियों को न हुई। दूसरी तरफ हिन्दुस्तानी पल्टनें रोज दिल्ली से बाहर निकल कर अंगरेजों पर हमले करतीं और उनकी शक्ति कम करतीं। इन संघर्षों के दौरान अंगरेज सेना का एक हिन्दुस्तानी रिसाला भी हिन्दुस्तानी सेना से जा मिला।

दिल्ली के अन्दर हिन्दुस्तानी पल्टनें एक पर एक आ रही थीं। जो भी पल्टन दिल्ली आती, दूसरे ही दिन अंगरेजों पर हमला करने जाती। ३ जुलाई, १८५७ तक दिल्ली में बीस हजार हिन्दुस्तानी सिपाही थे।[1] रूहेलखण्ड के बख्त खाँ ने आकर इन सब सेनाओं को संगठन का रूप देने की कोशिश की थी। ऐसी हालत में जिस बर्नार्ड ने जाते ही दिल्ली पर कब्जा कर लेने का स्वप्न देखा था, उसकी लज्जा का अन्त न रहा। आखिरकार यह लज्जित, थका-मांदा बर्नार्ड ५ जुलाई को हैजे का शिकार हो गया। अब रीड ने नेतृत्व संभाला। लेकिन थोड़े ही दिन में वह भी इस्तीफा देकर भागा और ब्रिग्रेडियर जनरल विलसन अंगरेज सेना का नेता बना।

अब तक अंगरेज घबरा गये थे। अधिकांश अफसर दिल्ली का घेरा उठा लेने की बात करने लगे थे। लेकिन ब्रिटिश सेना के नामी इंजिनियर बेयर्ड स्मिथ ने दखल देकर रोका और कहा कि अगर दिल्ली का घेरा उठाया गया, तो पंजाब और फिर सारा हिन्दुस्तान हाथ से निकल जायगा। ब्रिटिश साम्राज्य ध्वंस हो जायगा।

इन शब्दों से अंगरेजों की हिम्मत बंधी, उन के शिविर में चारों तरफ से नयी-नयी सेनाएँ और काबिल सेनापति आने लगे। इससे उनकी हिम्मत बढ़ी।

इधर दिल्ली की क्या हालत थी? लगभग पचास हजार सिपाही दिल्ली की रक्षा के लिए उपस्थित थे, लेकिन शक्तिशाली और प्रभावशाली नेतृत्व के अभाव में सब जगह अराजकता थी। लूटपाट की घटनाएँ अक्सर हुआ करती थीं। इसको रोकने के लिए पहले बख्त खाँ के हाथ में सारी क्षमता दी गयी और बाद में छः आदमियों की कमेटी के हाथ में सारी सेना का इन्जाम सौंपा गया जिनमें तीन नागरिक थे और तीन सैनिक। लेकिन फिर भी अव्यवस्था दूर न हुई। ऐसी स्थिति में अपनी दुर्बलता को समझते हुए बहादुर शाह ने जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, अलवर आदि के राजाओं को अपने हाथ से पत्र लिखा :

"मेरी यह दिली ख्वाहिश है कि फिरंगी किसी भी तरह और किसी भी कीमत पर हिन्दुस्तान से भगा दिये जायँ। मेरी यह दिली ख्वाहिश है कि सारा हिन्दुस्तान आजाद हो जाय। लेकिन इस मकसद के लिए जो इन्कलाबी लड़ाई चलायी जा रही है, वह कामयाबी तब तक हासिल नहीं कर सकती, जब तक इस बगावत को राह दिखाने के लिए ऐसा आदमी आगे नहीं आता जो आन्दोलन के सारे बोझ को

१. चार्ल्स थियोफिलस मेटकाफ, टू नेटिव नैरेटिव्ज आफ द म्यूटिनी इन देहली, १८९८ का संस्करण, पृ० १२७

अपने कंधों पर उठा सके, कौम की मुखतलिफ ताकतों को संगठित तथा इकट्ठा कर सकें और खुद अपने में कुल अवाम को एकजुट कर सकें। अंगरेजों के निकाले जाने के बाद हिन्दुस्तान पर अपनी निजी तरक्की के लिए हुकूमत करने की ख्वाहिश मुझ में जरा भी नहीं रह गयी। अगर आप सब देशी राजा दुश्मन को भगाने के लिए अपनी तलवार निकालने के लिए तैयार हों तो मैं अपनी शाही ताकत और अधिकार देशी राजाओं के ऐसे मंडल को देने को तैयार हूँ जिसे इनके इस्तेमाल के लिए चुना जाय।"[1]

लेकिन राजपूताने के राजा दूर से ही तमाशा देखते रहे। वे पशुओं और पक्षिओं के युद्ध में चमगादड़ की भूमिका निभा रहे थे।

दिल्ली के अन्दर हिन्दुस्तानी सेना में अराजकता का परिणाम यह हुआ कि उनमें आपस में अविश्वास पैदा होने लगा। नीमच और बरेली की पल्टनों ने एक दूसरे को दिल्ली की हालत के लिए दोषी बताना आरंभ किया। बख्त खाँ ने एकता स्थापित करने की कोशिश की। दोनों पल्टनों को एक साथ अंगरेजों पर हमला करने नजफगढ़ भेजा गया। लेकिन मोर्चे पर जाकर बख्त खाँ का हुक्म मानने से नीमच की पल्टन ने इनकार कर दिया और बरेली की पल्टन के पास खेमा न गाड़ कर पड़ोस के गाँव के पास डेरा डाला। अंगरेजों को इस फूट का पता लग गया। वे २५ अगस्त को नीमच की पल्टन पर टूट पड़े और उसे काट कर रख दिया।

सितम्बर १८५७ के मध्यभाग में अंगरेजों ने चारों तरफ से दिल्ली पर धावा बोला। उस वक्त उनके पास प्रायः ग्यारह हजार सेना थी। अंगरेज सेना कुछ आगे बढ़ सकी, लेकिन उसे बड़ा नुकसान उठाना पड़ा। पहले ही दिन उसके चार में से तीन मोर्चों के प्रधान सेनापति घायल हो गये, ६६ अफसर और ११ सौ से ज्यादा सैनिक मारे गये। जनरल विलसन इस नुकसान से घबरा कर पीछे हटने की सोचने लगा, लेकिन फिर दूसरे जनरलों ने दखल दिया।

इसके बाद घमासान युद्ध हुआ। हर गली-कूचे में अंगरेजों का मुकाबिला किया गया। तीन-चौथाई दिल्ली पर अंगरेजों का अधिकार हो जाने के बाद बख्त खाँ सम्राट वहादुर शाह के पास पहुँचा और दिल्ली छोड़ देने का प्रस्ताव किया। लेकिन अंगरेजों को खबर पहुँचाने वाले इलाही बख्श जैसे गद्दारों के चक्कर में पड़ कर कमजोर बहादुर शाह राजी न हुआ। बख्त खाँ अपनी सेना लेकर अंगरेजों के घेरे को तोड़ कर रूहेलखण्ड चला गया और बहादुर शाह हुमायूँ के मकबरे में जा छिपा। जान बख्शने का वादा लेकर उसने आत्मसमर्पण किया। उसे कैद कर लिया गया, खूंखार लेफ्टिनेन्ट हडसन ने उसके दो बेटों और एक पोते को सड़क पर खड़ा कर गोली मार दी। उनकी लाशें कोतवाली के सामने फेंक दी गयीं, गिद्ध उन्हें नोचते रहे। आखिर में दुर्गन्ध से बचने के लिए उन्हें खींच कर नदी में फेंक दिया गया। दिल्ली को जिस तरह लूटा गया और

१. मेटकाफ, नेटिव नैरेटिव, पृ० २२६; सावरकर, वही, पृ० ३१४

नागरिकों को कत्ल किया गया, नादिरशाह ने भी वैसा न किया था। लार्ड एल्फिंस्टन ने सर जान लारेन्स को लिखा :

"घेरे की समाप्ति के बाद हमारी सेना ने जो अत्याचार किये वे बहुत ही हृदय विदारक हैं। मित्र और शत्रु का भेद-भाव किये बगैर पूर्ण प्रतिशोध लिया जा रहा है। जहाँ तक लूट का सम्बन्ध है, हमलोग सचमुच नादिरशाह से बढ़ गये हैं।"[१]

बाम्बे टेलीग्राफ ने रिपोर्ट छापी :

"जब हमारी सेनाएँ अन्दर घुसी तो चहारदीवारी के अन्दर पाये जाने वाले सब नागरिकों को संगीनें भोंक कर जगह पर ही मार दिया गया ; और इस तरह मारे जाने वालों की संख्या बहुत थी। इसका अनुमान आप मेरे इस कथन से लगा सकते हैं कि कुछ घरों में चालीस या पच्चास आदमी छिपे थे।"[२]

इस तरह एक सप्ताह के भयंकर युद्ध के बाद २० सितम्बर, १८५७ को दिल्ली का पतन हुआ। स्वाधीन भारत का झण्डा प्रायः साढे चार महीने तक दिल्ली पर फहराता रहा और देशवासियों को आजादी के लिए लड़ने की प्रेरणा देता रहा।

लखनऊ पर चढ़ाई

लखनऊ रेजीडेन्सी में घिरे फिरंगियों की हालत दिन पर दिन बदतर हो रही थी। २ जुलाई, १८५७ को एक गोला अवध के चीफ कमिश्नर सर हेनरी लारेन्स को लगा और ४ जुलाई को उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। उनकी जगह संभालने वाला मेजर बैंक्स भी जल्दी ही गोली से मारा गया। अंगरेजों का नेतृत्व अब ब्रिगेडियर इंगलिस ने संभाला। अपनी हालत पतली होते देख फिरंगियों ने अपने हिन्दुस्तानी गुप्तचर अंगद को मदद के लिए कानपुर भेजा। हैवलाक ने इस गुप्तचर के साथ पत्र द्वारा सूचित किया कि पाँच-छः दिन में वह लखनऊ पहुँच रहा है, लेकिन विद्रोहियों ने उसे इस तरह परेशान किया कि दो महीने के पहले वह लखनऊ नहीं पहुँच सका।

२९ जुलाई को कानपुर से गंगा पार कर हैवलाक लखनऊ चला। उसके साथ डेढ़ हजार सैनिक और तेरह तोपें थीं। उसी दिन उसे उन्नाव और बशीरतगंज के पास दो बार विद्रोहियों से लड़ना पड़ा। उसके प्रायः अढ़ाई सौ सैनिक मारे गये। ३० जुलाई को वह मगरवारा में ठहरा। इसी बीच हैवलाक के जाने की खबर पाकर नाना साहब फिर कानपुर के पास पहुँच गये। नाना साहब के जाल में फँसने से बचने के लिए वह ४ अगस्त तक मगरवारा में ही ठहरा रहा। सामने बशीरतगंज में फिर विद्रोहियों को जमा देख हैवलाक उनसे मोर्चा लेने और लखनऊ जाने को बढ़ा। उसने विद्रोहियों को भगा दिया, लेकिन उसके प्रायः तीन सौ आदमी मारे गये। ५ अगस्त को फिर उसे मगरवारा में ही वापस आना पड़ा। ११ अगस्त को फिर उसे बशीरतगंज में विद्रोहियों से टक्कर लेकर मगरवारा लौटना पड़ा। इसी बीच नाना साहब ने बिठूर पर

१. लारेन्स की जीवनी, खण्ड २, पृ० २६२; सावरकर, वही, पृ० ३४४

२. मजुमदार, राय चौधरी और दत्त, पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ७७१

कब्जा कर लिया था और कानपुर पर हमले की तैयारी कर रहे थे। कानपुर के रक्षक जनरल नील का सन्देश पाकर हैवलाक १२ अगस्त को वापस कानपुर गया। जो पाँच-छः दिन में लखनऊ पहुँचने का इरादा रखता था, नाना साहब के सिपाहियों ने उसे गंगा के किनारे ही बाँध रखा। हैवलाक की वापसी से अवध के विद्रोहियों का जोश बढ़ गया। लखनऊ की हजरत महल की सरकार ही असली सरकार मानी जाने लगी।

कानपुर पहुँच कर हैवलाक ने बिठूर पर चढ़ाई की। नाना के सिपाहियों ने सामने और पीछे दोनों तरफ से हमला किया। बड़ी बहादुरी के बावजूद अनुशासन के अभाव से विद्रोहियों को पीछे हटना पड़ा। १७ अगस्त को हैवलाक कानपुर वापस आया। नाना साहब की सेना का खास हिस्सा उस वक्त कालपी में था। इस हालत को देख कर हैवलाक ने कलकत्ता मदद के लिए लिख भेजा। उसने साफ लिखा कि अगर मदद न मिली तो ब्रिटिश सेना को लखनऊ छोड़ कर इलाहाबाद जाने को बाध्य होना पड़ेगा।

लखनऊ का घेरा तोड़ने में हैवलाक की इस असफलता से खीझ कर फिरंगी सरकार ने सर जेम्स आउटराम को लखनऊ पर चढ़ाई करनेवाली सेना का सेनापति बनाकर भेजा। १५ सितम्बर, १८५७ को कानपुर में आउटराम ने हैवलाक से सारा चार्ज लिया, लेकिन सेनापति बनते ही उसने लखनऊ का घेरा तोड़ने की सारी जिम्मेदारी हैवलाक को ही दी। उसने अपने सारे अधिकार उसे सौंपे और खुद उसके नीचे एक सैनिक बनना स्वीकार किया, क्योंकि वह हैवलाक की वीरता की कद्र करता था और लखनऊ की विजय का सेहरा उसके सर से उतार कर अपने सर पर रखना न चाहता था।

कलकत्ते से आयी अंगरेज सेना को साथ लेकर हैवलाक २० सितम्बर को फिर गंगा पार कर लखनऊ चला। उसके साथ लगभग साढ़े तीन हजार पैदल जिनमें करीब अढ़ाई हजार अंगरेज थे, बाकी सिख, चुनिन्दा रिसाला, बढ़िया तोपखाना और नील, आउटराम तथा कूपर जैसे अफसर थे। रास्ते में विद्रोहियों से लड़ते-भिड़ते यह सेना २३ सितम्बर को आलमबाग जा पहुँची। उस दिन और फिर रात को अवध की सेना और अंगरेज सेना के बीच घमासान युद्ध हुआ। अंगरेज सेना में दिल्ली की विजय का जोश था। विद्रोही उसकी अग्र गति न रोक सके। रास्ते में जनरल नील और ७२२ सैनिकों की बलि देकर हैवलाक और आउटराम अंगरेज सेना को लेकर रेजीडेन्सी पहुँच गये। लेकिन क्या इससे लखनऊ पर उनका कब्जा हो सका? नहीं, उल्टे जो घेरा तोड़ने आये थे, वे भी पहले के फिरंगियों के साथ रेजीडेन्सी में घिर गये।

हैवलाक और आउटराम के लखनऊ रेजीडेन्सी में घिर जाने का संवाद फिरंगियों के नये प्रधान सेनापति सर कोलिन कैम्पबेल के पास पहुँचा, तो वह खुद इस शहर पर आक्रमण का संचालन करने ३ नवम्बर, १८५७ को कानपुर पहुँचा। ब्रिगेडियर ग्रान्ट के नेतृत्व में बड़ी भारी अंगरेज सेना कानपुर में पहले ही जमा की जा चुकी थी। कैप्टेन विलियम पील गंगा के रास्ते नयी अंगरेज सेना लेकर कानपुर आया।

दिल्ली पर विजय के बाद कर्नल ग्रेटहेड ने १० अक्टूबर को आगरा पर कब्जा किया। यहाँ से सेना लेकर वह भी कानपुर पहुँचा। नील ने इलाहाबाद में जो अत्याचार किये

थे, वे ग्रेटहेड के काले-कारनामों के सामने फीके पड़ गये। दिल्ली से लेकर कानपुर तक के गाँवों को जलाता और हर तन्दुरुस्त आदमी को फांसी देता यह जल्लाद कानपुर आया था।

कानपुर में चारो तरफ से बड़ी भारी सेना इकट्ठा कर सर कोलिन कैम्पबेल ने ब्रिगेडियर ग्रान्ट को लखनऊ रवाना किया। उसके आलमबाग पहुँच जाने पर खुद कैम्पबेल कानपुर से चला और ९ नवम्बर को वहाँ पहुँचा। कानपुर की रक्षा के लिये मशहूर जनरल विन्डम को कुछ सेना के साथ छोड़ गया।

गुप्तचर के जरिये कैम्पबेल ने आउटराम और हैवलाक से सम्बन्ध स्थापित किया और १४ नवम्बर, १८५७ को लखनऊ पर आक्रमण का हुक्म दिया। लखनऊ पर विजय के लिए नामी अंगरेज सेनापति जमा थे। हैवलाक, आउटराम, पील, ग्रेडहेड, बहादुरशाह के बेटों को गोली मारनेवाला हडसन, ब्रिगेडियर होप ग्रान्ट, आयर और स्वयं प्रधान सेनापति सर कोलिन कैम्पबेल अवध में स्वतंत्रता के गढ़ लखनऊ पर अधिकार के लिए सारी ताकत लगा रहे थे।

२३ नवम्बर तक घमासान युद्ध के बाद रेजीडेन्सी का घेरा तोड़ा जा सका और भीतर तथा बाहर की अंगरेज सेनाएँ मिल सकी। लेकिन इसके बावजूद लखनऊ आत्मसमर्पण करने को तैयार न हुआ। इसलिए कैम्पबेल ने अंगरेज सेना को फिर बड़े युद्ध के लिए तैयार करना शुरू किया। रेजीडेन्सी खाली कर उसने दिलखुशा बाग में अपनी सेना इकट्ठा की। उसने चार हजार सैनिक और पच्चीस तोपें आउटराम के नेतृत्व में आलमबाग में तैनात की। लेकिन फिरंगियों की खुशी ज्यादा देर न ठहर सकी। २४ नवम्बर को हैवलाक की मृत्यु हो गयी और कानपुर में तातिया टोपे के आगमन का समाचार पाकर प्रधान सेनापति सर कोलिन कैम्पबेल को लखनऊ छोड़ कर उधर भागना पड़ा।

कानपुर फिर मुक्त

तातिया टोपे जन्मजात सैनिक और सेनापति थे। वे फिरंगियों की देशी पल्टनों को फोड़ कर अपनी तरफ मिलाने और कठिन से कठिन परिस्थिति में नयी सेना जमा कर लेने की कला में दक्ष थे। कानपुर में रहते समय जब नयी सेना लाकर ताकत बढ़ाने का सवाल उठा था, वे शिवराजपुर जाकर ४२ वीं पल्टन को ले आये थे। बिठूर छोड़ कर चले जाने के बाद फिर नयी सेना जमा करना नाना साहब के लिए जरूरी हो गया। तातिया टोपे छद्मवेश धारण कर ग्वालियर की छावनी पहुँचे और मोरार में जितनी भी सेना थी, उसे लेकर कालपी आ गये। कालपी के किले का सामरिक महत्व देख कर उस पर कब्जा करने का फैसला किया। नाना साहब ने कालपी को अपना मुख्य आधार बनाना स्वीकार किया और अपने प्रतिनिधि के रूप में अपने छोटे भाई बाला साहब को उस पर अधिकार करने को भेजा। कालपी के दुर्ग पर ९ नवम्बर, १८५७ को अधिकार कर उसकी व्यवस्था का भार बाला साहब पर छोड़ कर तातिया आगे बढ़े।

कानपुर के पास के कुछ गाँवों पर अधिकार कर वे इन्तजार करने लगे। ज्योंही सर कोलिन कैम्पबेल ने लखनऊ में युद्ध शुरू किया, तातिया ने शिवराजपुर पर कब्जा कर कलकत्ते से कानपुर पहुँचने वाली अंगरेज सेनाओं और लड़ाई के सामान का रास्ता काट दिया।

इसके बाद वे आगे बढे और यूरोप में बहुत ही नाम कमानेवाले सेनापति विन्डम को बुरी तरह हरा कर सारे कानपुर पर फिर से कब्जा कर लिया। फिरंगी सेना का बड़ा नुकसान हुआ। उसके कितने ही अफसर मारे गये। फिरंगियों को भाग कर किले में बन्द हो जाना पड़ा। ठीक इसी समय सर कोलिन कैम्पबेल लखनऊ से कानपुर आ पहुँचा।

कैम्पबेल न आते ही फिरंगी सेना को फिर से संगठित किया, और जल्दी-जल्दी तातिया पर हमले की तैयारी करने लगा।

६ दिसम्बर, १८५७ को कैम्पबेल ने नाना साहब की सेना पर हमला शुरू किया। वह चाहता था कि नाना साहब और तातिया की सेना को घेर कर यहीं नष्ट कर दिया जाय। इसलिए उसने कालपी और ब्रह्मावर्त (बिठूर) के जाने वाले रास्तों में नाकेबन्दी कर रखी थी। कैम्पबेल को विजय मिली, लेकिन नाना साहब और तातिया की सेना का बड़ा हिस्सा उसके घेरे को तोड़ कर निकल गया। उनमें से कुछ कालपी गये और कुछ अवध में फैल गये। फिरंगियों ने ब्रह्मावर्त जाकर उसे लूट लिया। नाना साहब के महल, किले और नगर के मन्दिरों को ढहा दिया। इस तरह विन्डम की हार का बदला लिया।

दोआबा के बहादुरों का मोर्चा

कैम्पबेल ने लखनऊ पर अन्तिम हमला आरंभ करने के पहले गंगा और जमुना के बीच पूरे दोआबा को विद्रोहियों से छीन कर अपने कब्जे में करने की योजना बनायी। इस योजना के अनुसार उसने सीटन को एक सेना के साथ अलीगढ़ से पूर्व की तरफ आगे बढ़ने और वालपोल को एक सेना के साथ पच्छिम की तरफ बढ़ने को कहा। दोनों सेनाओं का मैनपुरी में मिलना तय हुआ। कैम्पबेल ने खुद एक सेना लेकर फतेहगढ़ पर चढ़ाई की।

१८ दिसम्बर को वालपोल तोपें और सेना लेकर कानपुर से पच्छिम की तरफ चला। रास्ते में विद्रोहियों से लड़ता-भिड़ता वह इटावा पहुँचा। विद्रोही इसे खाली कर हट गये थे, लेकिन इसी इटावा में केवल पच्चीस जवानों ने सिर्फ देशी बन्दूकों के सहारे वालपोल की पूरी सेना को चुनौती दी। उन्होंने एक मकान की दीवार के पीछे, जिसमें बन्दूक चलाने के लिए छेद थे, मोर्चा लगा रखा था। वालपोल ने तोपें दिखा कर डराया-धमकाया और रास्ता छोड़ देने का हुक्म दिया, लेकिन कोई असर न हुआ। फिरंगियों ने पहले हथगोलों का, फिर जलते हुए पुआल का इस्तेमाल किया, लेकिन ये जवान हटने का नाम न लेते थे। वे अपनी देशी बन्दूकों से गोलियाँ बरसाते जा रहे थे। तीन

घंटे तक उन्होंने फिरंगी पल्टन को आगे बढ़ने न दिया। आखिर में सुरंग बना कर फिरंगियों ने सारी इमारत उड़ा दी। इमारत बैठ गयी और उसके साथ पच्चीसों जवान शहीद हो गये। कौन स्वाधीनता-प्रेमी इन जवानों पर अभिमान न करेगा?

८ जनवरी, १८५८ को वालपोल और सीटन की सेनाएँ मैनपुरी में मिलीं। इसी बीच सर कोलिन कैम्पबेल ने फतेहगढ़ पर हमला कर ४ जनवरी को कब्जा कर लिया। फर्रुखाबाद के नवाब ने भी अपनी स्वाधीनता की घोषणा की थी। फतेहगढ़ में उनकी राजधानी थी। फतेहगढ़ के पतन से दोआबा में विद्रोहियों का आखिरी गढ़ ढह गया। दिल्ली से लेकर इलाहाबाद तक पूरे दोआबा पर फिरंगियों का फिर से कब्जा हो गया।

इसी बीच अफवाह उड़ी थी कि नाना साहब कानपुर की विजय के बाद बहादुर शाह को छुड़ाने के लिए सेना के साथ दिल्ली आ रहे हैं। इस अफवाह ने फिरंगियों में खलबली मचा दी थी। उन्होंने पहरेदारों को हुक्म दिया था कि अगर सचमुच ही नाना साहब दिल्ली आ जायँ तो पहरेदार फौरन बहादुर शाह को गोली मार दें।[1]

आठ महीने के बाद लखनऊ फिर गुलाम

कैम्पबेल रूहेलखण्ड को विजय कर लखनऊ पर आक्रमण करना चाहता था, लेकिन गवर्नर जनरल लार्ड कैनिंग ने पहले लखनऊ पर कब्जा करने का आदेश दिया। फलत: वह बड़ी भारी सेना लेकर २३ फरवरी, १८५८ को कानपुर से लखनऊ चला। वालपोल और सीटन उसके साथ थे। इस सेना का वर्णन करते हुए रसेल ने अपनी डायरी में लिखा :

"उन्नाव और बन्नी के ऊसरों ने संभवत: इतनी बड़ी सेनाएँ, इंजीनियर, तोपें, घोड़े, पैदल, रसद से भरी गाड़ियाँ, फौज के नौकर-चाकर, छोटे-बड़े तम्बू कभी नहीं देखे। हर चीज की पूरी व्यवस्था की गयी थी। पैदल सेना की बटालियनें, जिनमें पन्द्रह अंगरेज सैनिकों की थीं, घुड़सवारों के अट्ठाइस स्क्वैड्रन (जिनमें चार यूरोपीय रेजीमेन्टें थीं), चौवन छोटी तोपें और आठ बड़ी तोपें उसमें शामिल थीं।" (पृ० २१८)[2]

फिरंगियों ने अपनी मदद के लिए नेपाल के अपने दलाल जंग बहादुर को भी बुलाया। अंगरेजो की मदद से नेपाल के राजा के हाथ से वास्तविक सत्ता छीन लेने वाले इस जंग बहादुर ने अगस्त १८५७ में तीन हजार गुरखे अपने मालिकों की मदद के लिए आजमगढ और जौनपुर भेजे थे।

जब फिरंगी दोआबा में विद्रोह दबाने में व्यस्त थे, राना बेनी माधव, मोहम्मद हुसेन, राजा नादिर खाँ आदि ने बनारस के आस-पास के हिस्सों और पूर्वी अवध को स्वतंत्र कर लिया था। २३ दिसम्बर, १८५७ को जंग बहादुर नौ हजार गुरखों को लेकर अंगरेजों की मदद के लिए चला। उधर जनरल फ्रैंक और रोक्राफ्ट बड़ी-बड़ी अंगरेज सेनाएँ

---

१. चार्ल्स बाल, इंडियन म्यूटिनी, खण्ड २, पृ० १८४

२. सावरकर, वही, पृ० ३६६

लेकर बढ़े। ये तीनों सेनाएँ बनारस के उत्तर और अवध के पूर्व के विद्रोहियों को कुचलते हुए लखनऊ की तरफ आगे बढ़ने लगीं।

पूरब से आनेवाली अंगरेज सेना को सुल्तानपुर में ही रोकने की कोशिश अवध दरबार ने की। अंगरेजों की जीत के बावजूद इस युद्ध का अन्य दृष्टियों से बड़ा महत्व है। अंगरेजों का मुकाबिला करनेवाली इस सेना में पच्चीस हजार पैदल और ग्यारह सौ घुड़सवार थे। इनमें सिपाही सिर्फ पाँच हजार थे, बाकी सब आस-पास के किसान थे,[1] जो सिपाहियों के साथ मिल कर फिरंगियों को मार भगाने और अवध की स्वतंत्रता की रक्षा करने आये थे।

इसी तरह का मुकाबिला पच्छिम से लखनऊ पर चढ़ाई करने वाली अंगरेज सेना को भी करना पड़ा था। मियागंज की लड़ाई में अंगरेज सेना का मुकाबिला करने वाले आठ हजार विद्रोहियों में से सिपाही सिर्फ एक हजार थे, बाकी सात हजार आस-पास के किसान थे।[2]

११ मार्च तक पच्छिम और पूरब से चढ़ाई करनेवाली सेनाएँ लखनऊ में आ मिलीं। लेकिन इस बीच लखनऊ में क्या हो रहा था? सर कोलिन कैम्पबेल को दोआबा में फंसा देख मौलवी अहमद शाह लखनऊ के आलमबाग में पड़ाव डाले अंगरेजों को खत्म कर देना चाहते थे। लखनऊ में बहुत-सी विद्रोही पल्टनें जमा हो गयी थीं और बहुत से तालुकदार अपनी-अपनी सेना लेकर उसकी रक्षा के लिए आ गये थे। किन्तु दरबार के अधिकांश अधिकारी अयोग्य थे और सारे देश के लाभ की जगह व्यक्तिगत लाभ ज्यादा देखते थे। इसलिए सारे शहर में अव्यवस्था दीख पड़ती थी। मौलवी अहमद शाह ने अनुशासन और व्यवस्था कायम करने की चेष्टा थी। उनके बढ़ते प्रभाव से कुछ नाकाबिल दरबारी जलने लगे और उन्हें गिरफ्तार कर जेल म डलवा दिया। लेकिन दिल्ली से आनेवाली पल्टनों और लखनऊ की जनता ने हजरत महल पर इतना दबाव डाला कि उन्हें मौलवी को मुक्त कर देना पड़ा।

मुक्त होने के बाद भी अहमद शाह ने आउटराम को आलमबाग से मार भगाने की बड़ी कोशिश की। कितने ही और बहादुरों ने भी चेष्टा की। एक दिन हजरत महल खुद मोर्चे पर गयीं। लेकिन आउटराम आलमबाग से चिपका ही रहा। मौलवी अहमद शाह की प्रशंसा करते हुए इतिहासकार होल्म्स ने अपनी पुस्तक 'सेपाय वार' (सिपाही युद्ध) में लिखा :

> "फिर भी अगर विद्रोहियों में अधिकांश कायर थे, तो उनका नेता ऐसा व्यक्ति था जो अपने जोश और अपनी क्षमता दोनों की दृष्टि से महान उद्देश्य के समर्थन और बड़ी सेना का सेनापति बनने के योग्य था। यह व्यक्ति फैजाबाद का मौलवी अहमदुल्ला था।"

---

१. मैलसन, पूर्वोक्त पुस्तक, खण्ड २, पृ० ३३४ ; सुप्रकाश राय, वही, पृ० ३४५

२. मैलसन, पूर्वोक्त पुस्तक, खण्ड ३, पृ० २८७ ; सुप्रकाश राय, वही, पृ० ३४५

सर कोलिन कैम्पबेल ने आलमबाग पहुँच कर जो विशाल सेना लखनऊ पर आक्रमण करने के लिए इकट्ठी की उसमें लगभग तीस हजार सैनिक थे। लखनऊ की रक्षा के लिए भी तीस हजार सिपाही और पचास हजार स्वयंसेवक इकट्ठा हुए थे। उन्होंने सड़क-सड़क पर मोर्चेबन्दी और नाकेबन्दी की। उत्तरी भाग में गोमती होने की वजह से उसे उन्होंने सुरक्षित समझा। यह कमजोरी अंगरेज सेनापतियों की तेज नजर से छिपी न रही।

६ मार्च से १४ मार्च तक घमासान युद्ध हुआ। १० मार्च को बहादुर शाह के बटों का हत्यारा हडसन मारा गया। १५ मार्च को लखनऊ पर अंगरेजों का कब्जा हो गया। लेकिन बेगम हजरत महल, नाना साहब, दिल्ली के शाहजादा फीरोज, मौलवी अहमद शाह आदि अंगरेजों के घेरे को तोड़ कर निकल गये और बरेली की तरफ चले गये।

मौलवी अहमद शाह जल्दी ही लखनऊ वापस आ गये। खास लखनऊ शहर के अन्दर अपने मुट्ठी भर साथियों और दो तोपों के साथ शहादत गंज के एक मकान में अपना मोर्चा लगाया। इस मोर्चे से वे अंगरेजों के खिलाफ २१ मार्च तक लड़ते रहे। लुगार्ड के नेतृत्व में अंगरेज और सिख सैनिक उनसे लड़ने भेजे गये। कितने ही दुश्मनों को हताहत कर मौलवी ने अपना मोर्चा हटाया।

लखनऊ पर कब्जा होते ही सारी फिरंगी सेना, अंगरेज, सिख, नेपाली लुटेरे और हत्यारे बन गये। अनुशासन समाप्त हो गया, जो जहाँ पाता, वहीं लूटता और इस लूट में आपस में मरते-कटते। अंगरेज सैनिकों और अफसरों ने लूट में सिखों और नेपालियों को मात कर दिया। सारी सेना लूट-मार करने वाली भीड़ बन गयी। बाध्य होकर कोलिन कैम्पबेल को पहले साधारण हुक्म और बाद में २६ मार्च को कठोर हुक्म जारी करने पड़े। सब सैनिकों की घंटे-घंटे में हाजिरी ली जाने लगी। नगर में उनके प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। सेना के नौकरों-चाकरों के लिए हुक्म जारी किया गया कि अगर उन्हें शहर में सशस्त्र पाया गया तो फाँसी दे दी जायगी। सैनिकों को निरस्त्र कर दिया गया और सिर्फ ड्यूटी के वक्त हथियार रखने की इजाजत दी गयी। ब्रिटिश सेना की इस हालत के बारे में एंगेल्स ने न्यू-यार्क ट्रिब्यून के २५ मई, १८५८ के अंक में प्रकाशित "लखनऊ पर आक्रमण का विस्तृत विवरण" शीर्षक लेख में लिखा :

"बारह दिन और रात लखनऊ में ब्रिटिश सेना न थी, थी तो सिर्फ नियम-कानूनों को ताक पर रख देने वाली, नशे से बुत, क्रूर भीड़ जो बटमारों के गिरोह बन गयी थी और जो उन सिपाहियों से ज्यादा हिंसक और लालची थी जिन्हें अल्प समय पहले वहाँ से भगाया गया था। १८५८ का लखनऊ पर अधिकार ब्रिटिश सेना के मत्थे पर स्थायी कलंक बना रहेगा।"[1]

फिरंगियों ने लखनऊ को सिर्फ लूटा ही नहीं, जिसको पाया उसे कत्ल किया और

१. द फर्स्ट वार आफ इंडेपेंडेंस १८५७-१८५९, पृ० १५१-५२

जिसे चाहा उसे जिन्दा जलाया। लन्दन टाइम्स के संवाददाता विलियम हावर्ड रसेल ने अपनी डायरी में इन घटनाओं का भी जिक्र किया है।

स्वाधीन दिल्ली और लखनऊ पर फिर फिरंगियों का कब्जा हो गया, लेकिन फिर भी विद्रोह दबा नहीं। विद्रोहियों के नेताओं ने रुहेलखण्ड और अवध में मोर्चेबन्दी की लड़ाई छोड़ कर छापामार युद्ध का सहारा लिया। उनकी तरफ से फरमान जारी किया गया :

"काफिरों की नियमित सेनाओं का मुकाबिला खुली लड़ाई में करने की कोशिश मत करो, क्योंकि अनुशासन में वे तुम से बढ़ कर हैं और उनके पास बड़ी-बड़ी तोपें हैं। लेकिन उनकी गतिविधि पर नजर रखो, नदियों के सब घाटों पर पहरा दो, उनके यातायात को काट दो, उनकी रसद बन्द कर दो, उनकी डाक काट दो और बराबर उनके शिविर के आस-पास रहो। फिरंगी को आराम की साँस न लेने दो।"[१]

रुहेलखण्ड में जाँबाजों का मोर्चा

अप्रेल में होप ग्रान्ट और वालपोल अपनी-अपनी सेनाएँ लेकर विद्रोहियों को गंगा पार रुहेलखण्ड में खदेड़ देने के लिए चले। रुइया के छोटे से जमीन्दार नरपत सिंह अपने अढ़ाई सौ जवानों को लेकर वालपोल की विशाल अंगरेजी सेना से भिड़ गये। अपने सैनिकों को विद्रोहियों की गोली से मरता देख वालपोल ने दुर्ग के कमजोर हिस्से की तरफ जाकर ऐसी गोलाबारी की कि गोले उसी की सेना पर आकर गिरे। इससे अंगरेज सेना में ही भगदड़ मची। जनरल होप ने हालत को संभालने की कोशिश की लेकिन नरपत सिंह के जवानों की गोलियों ने उसका काम तमाम कर दिया। अंगरेजों को पीछे हटना पड़ा। होप की मृत्यु से सिर्फ सर कोलिन कैम्पबेल और लार्ड कैनिंग ही नहीं, इंगलैंड की सरकार भी शोकमग्न हो गयी, क्योंकि होप अपने समय के सबसे अच्छे अफसरों में गिने जाते थे।

विद्रोहियों को अवध से भगाकर सर कोलिन ने रुहेलखण्ड पर चढ़ाई की। शाहजहाँपुर में नाना साहब, मौलवी अहमद शाह आदि विद्रोही नेताओं की उपस्थिति की खबर पाकर कोलिन ने इस नगर को चारों तरफ से घेर लिया, लेकिन विद्रोही नेता खुद सर कोलिन की नाक के नीचे से निकल गये, वह कुछ न कर पाया।

रुहेलखण्ड की राजधानी बरेली पर स्वतंत्रता का झंडा अब भी फहरा रहा था। विद्रोह के प्रमुख नेता नाना साहब, उनके भाई बाला साहब, मिर्जा फीरोज शाह, मौलवी अहमद शाह, बेगम हजरत महल, राजा तेजा सिंह, खान बहादुर खाँ आदि यहाँ इकट्ठा थे। फिरंगियों के प्रधान सेनापति सर कोलिन को शाहजहाँ पुर से बरेली की तरफ आगे बढ़ता देख विद्रोह के नेताओं ने छापामार युद्ध के कौशल के अनुसार उसे खाली कर देने की योजना बनायी। खाली करने की सारी तैयारी के बावजूद फिरंगी सेना को पास आया देख बहादुर रुहेले अपने को रोक न सके। फिरंगियों का कुछ खून बहाये बगैर

---

१. रसेल, डायरी, पृ० २७६; सावरकर, वही, पृ० ४४४

वे अपनी राजधानी को खाली कैसे करें? ५ और ६ मई, १८५८ को वे फिरंगी सेना से लोहा लेते रहे और ७ मई को सर कोलिन कैम्पबेल की आँख में धूल झोंक कर खान बहादुर खाँ के नेतृत्व में बरेली खाली कर चले गये। सर कोलिन ने रुहेलखण्ड की राजधानी पर कब्जा कर लिया।

फिरंगियों ने बरेली पर कब्जा किया और इधर मौलवी अहमद शाह ने योजनानुसार पीछे आकर शाहजहाँपुर पर फिर कब्जा जमा लिया। बरेली में यह खबर पाकर सर कोलिन ने सेना भेज कर चारों तरफ से शाहजहाँपुर को घेर लिया। मौलवी अहमद शाह खतरे में पड़ गये। सर कोलिन को पक्का विश्वास हो गया कि इस बार वे मौलवी को जरूर पकड़ लेंगे और विद्रोहियों को समाप्त कर देंगे। ११ मई से तीन दिन तक घमासान युद्ध होता रहा। उधर से नाना साहब, मिर्जा फीरोज, बेगम हजरत महल, महमदी के नवाब आदि अपनी-अपनी सेनाएँ लेकर मौलवी की मदद में पहुँच गये। इनकी मदद पाकर अहमद शाह दुश्मनों का घेरा तोड़ कर फिर निकल गये।

फिरंगियों के प्रधान सेनापति सर कोलिन को कावा देकर विद्रोही फिर अवध में वापस आ गये। लेकिन इसके वाद विद्रोहियों के सबसे योग्य नेता के साथ धोखा हुआ। पोवाईं के राजा जगन्नाथ सिंह ने विद्रोहियों को मदद ने देने के बहाने मौलवी अहमद शाह को बुला भेजा और सर काट कर शाहजहाँपुर में अंगरेजों को दे आया। देशभक्तों की हर पीढ़ी अंगरेजों के इस कुत्ते जगन्नाथ सिंह के नाम पर थूकती रहेगी।

इस विद्रोह के लिए फिरंगियों ने जगन्नाथ को पचास हजार रुपए का इनाम दिया। मौलवी का सर कोतवाली से टाँग दिया। उत्तर भारत में अपने सबसे बड़े दुश्मन की मौत पर अंगरेजों ने सिर्फ हिन्दुस्तान में ही नहीं, ब्रिटेन में भी खुशी मनायी। ब्रिटिश इतिहासकार मैलसन ब्रिटिश साम्राजियों का ही आवश्यक अंग था, लेकिन कुछ समय के लिए वह अपना साम्राजी रूप भूल जाता है और स्वाधीनताप्रेमी अंगरेज बन कर लिखता है:

> "मौलवी बहुत ही मार्के के आदमी थे।...सामरिक नेता के रूप मे उनकी क्षमता के कितने ही प्रमाण विद्रोह के दौरान पाये गये थे, लेकिन इस अध्याय में जो लिखे गये हैं उनसे ज्यादा निर्णायक अन्य प्रमाण न थे। अन्य कोई भी व्यक्ति अभिमान के साथ नहीं कह सकता कि उसने रणक्षेत्र में सर कोलिन कैम्पबेल को दो बार नाकाम कर दिया है।...इस प्रकार फैजाबाद के मौलवी अहमद-अल्लाह की मृत्यु हुई। अगर देशभक्त वह व्यक्ति है जो अपनी मातृभूमि की अन्यायपूर्वक नष्ट स्वाधीनता के लिए षड़यंत्र और युद्ध करता है तो यह सबसे ज्यादा सुनिश्चित है कि मौलवी सच्चे देशभक्त थे। उन्होंने अपनी तलवार पर कत्ल का दाग नहीं लगाया, उन्होंने हत्या की कोई साजिश नहीं की; उन्होंने अपने देश पर कब्जा कर लेनेवाले परदेशियों से रणक्षेत्र म पुरुषार्थ, सम्मान और दृढ़ता के साथ युद्ध किया था; और उनकी स्मृति को सब राष्ट्रों के वीरों और सच्चे दिल वालों का सम्मान पाने का अधिकार है।"[1]

१. के एण्ड मैलसन, इंडियन म्यूटिनी, खण्ड ४, पृ० ३७६-८१

आइए, इस सच्चे देशभक्त की स्मृति में ससम्मान सर झुका कर हम आगे बढ़ें।

भारतीय इतिहास की दुर्गा

बुन्देलखण्ड और मध्य भारत में सागर, नवगाँव, बाँदा, शाहगढ़, बानपुर आदि में भी फिरंगियों की हुकूमत खत्म कर दी गयी थी। नर्मदा के उत्तर का अधिकांश भाग स्वतंत्र हो गया था, और यहाँ के विद्रोही झांसी की रानी को अपना नेता मानते थे। १८५८ के आरंभ में भारत को फिर से विजय करने की जो योजना फिरंगी शासकों ने बनायी थी, उसमें सर ह्यू रोज को जमुना और विन्ध्यालय के बीच का हिस्सा सौंपा गया था। उसकी मदद हैदराबाद, भोपाल और कुछ अन्य रियासतों के शासक कर रहे थे। मद्रास, बम्बई और हैदराबाद की सेनाएँ उसके साथ थीं। उत्तर भारत में सिखों और गरखों की तरह यहाँ भी कितने ही भारतीय मातृभूमि के सीने में छूरी भोंक रहे थे।

रोज ने अपनी सेना के दो हिस्से किये—एक को उसने मऊ की ओर भेजा और दूसरे को लेकर वह सागर की ओर बढ़ा। सागर से चौबीस मील के फासले पर राहतगढ़ है, जो पठानों के कब्जे में था। इन पठानों ने रोज का रास्ता रोका और चार दिन के घनघोर युद्ध के बाद ही इस किले को खाली किया। राहतगढ़ से पन्द्रह मील पर बरांदिया का किला था। यहाँ बानापुर के राजा मरदान सिंह के मातहत विद्रोही सिपाहियों का एक हिस्सा था। रोज ने इन्हें भी हरा कर सागर पर चढ़ाई की। विद्रोहियों ने कुछ अंगरेजों को यहाँ कैद कर रखा था। रोज ने सागर पर अधिकार कर उन्हें मुक्त किया। सागर और झांसी के बीच बानापुर के राजा मरदान सिंह और शाहगढ़ के राजा बखत बली फिरंगियों से लोहा लेने को तैयार थे। मदनपुर की लड़ाई जीतने के बाद रोज ने शाहगढ़ पर कब्जा किया। १० मार्च को उसने बानापुर पर कब्जा किया और उसके कर्मचारियों को फांसी दे दी। तालबेहट के किले पर १२ मार्च को और फिर चन्देरी के किले पर कब्जा कर रोज बड़ी सेना के साथ २० मार्च को झांसी के पास पहुँचा।

झांसी के पास पहुँच कर रोज ने रानी को अपने मंत्रियों, सेनापतियों और अन्य प्रधान अधिकारियों के साथ आत्मसमर्पण करने, निरस्त्र होकर अपने पास आने अथवा उसका फल भोगने को तैयार रहने को रहा। रानी लक्ष्मी बाई ने आत्मसमर्पण करने से इन्कार कर दिया, कालपी मदद के लिए अपने दूत भेजकर सब फाटक बन्द करवा दिये और लड़ाई की तैयारी की।

आत्मसमर्पण से रानी के इन्कार करने पर पूरी तैयारी के बाद रोज ने २३ मार्च १८५८ को झांसी पर चारों तरफ से हमला बोल दिया। एक हफ्ते तक घमासान युद्ध होता रहा। झांसी की रानी सारी जनता को इस युद्ध के मैदान में उतारने में समर्थ हुई थीं। उनके मोर्चे संभालने वालों में सिर्फ ब्राह्मण और क्षत्रिय ही नहीं थे, कोरी, काछी और तेली तक थे; महाराष्ट्रीय और बुन्देलखण्डी थे; पठान और अन्य मुसल-

मान थे। मर्दों के साथ हर मोर्चे पर औरतें थीं। मोर्चे पर डटे सिपाहियों के लिए भोजन और जल की व्यवस्था के अलावा वे बारूद और गोले तैयार कराने, तोपों तक उन्हें पहुँचाने और खुद तोपें चलाने में मर्दों की मदद करतीं। रोज ने दुरबीन से स्त्रियों को भी गोला-बारूद ढोते और तोप चलाते देखा तो दंग रह गया। इस तरह स्त्री-पुरुषों को, सारी जनता को लड़ते उसने न देखा था।

रानी के गोलन्दाज गुलाम गौस खाँ, कुँवर खुदा बख्श, भाऊ बख्शी और उनकी तोपें घनगरज, बिजलीकड़क आदि कमाल की थीं। अंगरेज सेना झांसी के अन्दर घुस सकी तो बहादुरी के बल से नहीं, दगाबाजी के बल से। फिरंगी झांसी के अन्दर गुप्तचर रखने और एक फाटक के रक्षक को मिलाने में कामयाब हुए थे। इस रक्षक ने अंगरेज सेना के लिए अपना फाटक खोल दिया था। देश के इस दुश्मन का नाम था दूल्हाजू।

झांसी के अन्दर घुस कर फिरंगियों ने कत्लेआम शुरू किया। पाँच वर्ष के बच्चे से लेकर अस्सी वर्ष के बूढ़े तक जितने भी पुरुष मिले उन्हें कत्ल किया गया। पतियों की रक्षा के लिए आगे आने वाली स्त्रियाँ भी मारी गयीं। कितनी ही स्त्रियाँ सतीत्व की रक्षा के लिए कुएँ में कूद गयीं। फिरंगियों ने घर-घर में घुस कर लूट-खसोट मचायी। शहर में रानी का महल भी लूटा गया और उसमें आग लगायी गयी। रानी के सिपाही भी एक-एक इंच जमीन के लिए लड़े और जब तक जीवित रहे फिरंगियों को आगे बढ़ने नहीं दिया। रानी के बहुत से सैनिक, उनके नामी गोलन्दाज गुलाम गौस, कुँवर खुदा बख्श आदि मारे गये, कितनी ही स्त्रियाँ भी लड़ते-लड़ते मारी गयीं। सिर्फ किला रानी के हाथ में रह गया। एक दिन रानी ने दृढ़ता से कहा था : अपनी झांसी मैं न दूंगी। जिसमें हिम्मत है वह ले ले। आज अपनी आँखों से उसी झांसी की यह हालत देख रानी की आँखों में आँसू आ गये, भारत के इतिहास की दुर्गा रो पड़ी।

मदद के लिए रानी का संवाद पाकर तातिया तोपे बड़ी सेना लेकर झांसी के पास आ गये थे, लेकिन ह्यू रोज ने उन्हें मार भगाया था। झांसी छोड़ कर कालपी जाने के अलावा रानी के सामने अन्य रास्ता न था। ४ अप्रैल की रात को रानी घोड़े पर सवार हुईं। अपने दत्तक पुत्र दामोदर राव को पीठ से बाँधा और चुने हुए सवारों को लेकर दुश्मनों के घेरे को तोड़ झांसी के बाहर निकल गयीं। उनके साथ सिर्फ मुट्ठी भर सैनिक ही जा सके, बाकी लड़ते हुए मारे गये। उनके पिता मोरोपन्त हाथी पर कीमती सामान लाद कर जा रहे थे। वे घायल होने पर किसी तरह बच कर निकल गये और दतिया पहुँच गये। दतिया का राजा भी अंगरेजों का मददगार था। राज्याधिकारियों ने सारा कीमती सामान छीन लिया और उन्हें पकड़ कर अंगरेजों के हवाले कर दिया। अंगरेजों ने उन्हें झांसी में फांसी दे दी।

झांसी से निकल कर रानी ने अपने चन्द साथियों के साथ कालपी की राह पकड़ी। सारी रात वे चलती गयीं। सबेरे भांडेर के नीचे बहने वाली पहूज नदी के पास पहुँच कर नहाया-धोया और पुत्र को जलपान करा कर फिर चल पड़ीं। इसी बीच रोज ने

रानी का पीछा करने के लिए लेफ्टिनेन्ट बोकर को घुड़सवारों के साथ भेज दिया था। उसके पास आते ही रानी साथियों को लेकर उससे भिड़ गयीं। एक-एक साथी के पल्ले दो-दो, तीन-तीन सवार पड़े, फिर भी उन्होंने बोकर के दस्ते को परास्त कर दिया। रानी के वार से बोकर घायल होकर गिर पड़ा। उसके साथी उसे उठा कर झांसी भाग गये। रानी कालपी पहुँच गयीं।

दूसरी तरफ ब्रिगेडियर ह्विटलाक जबलपुर से १७ फरवरी को रवाना होकर, रास्ते में विद्रोह को दबाता हुआ, लूटता-पाटता और अपनी सेना बढ़ाता बाँदा पहुँचा। १९ अप्रैल को बाँदा पर कब्जा कर वह किरवी पहुँचा। यहाँ का नाबालिग शासक राव माधव राव था और उसके संरक्षक स्वयं अंगरेज थे। इस बालक ने विद्रोह में कोई हिस्सा भी न लिया था और जब ह्विटलाक किरवी पहुँचा तो उसकी अगवानी की थी। लेकिन ह्विटलाक ने क्या किया? माधव राव को गिरफ्तार कर लिया, उसका महल लूट कर ढहा दिया, किरवी को लूट कर नष्ट कर दिया। इतिहासकार के और मैलसन ने स्वीकार किया है कि ह्विटलाक ने यह अन्याय माधव राव की अपार सम्पत्ति के लोभ स किया था। ह्विटलाक का यह काण्ड साम्राज्यवादियों का नग्न रूप था।

ह्विटलाक ने आगे बढ़ कर महोबा पर कब्जा किया और इस तरह प्रायः सारे बुन्देल-खण्ड को उसने फिर से जीत लिया।

कालपी में राव साहब और तातिया टोपे ने काफी सेना इकट्ठी कर रखी थी। तोपों की ढलाई, गोला-गोली बनाने और दूसरे शस्त्रास्त्रों के निर्माण का भी अच्छा प्रबन्ध किया गया था। अप्रैल के तीसरे सप्ताह बानापुर के राजा मरदान सिंह, शाहगढ़ के बखत बली और बाँदा के नवाब भी अपनी-अपनी बची सेनाएँ लेकर कालपी आ गये। लेकिन सारी सेना की हालत अच्छी न थी। सिपाहियों में अनुशासन न था, कबायद-परेड कुछ न जानते थे।

झांसी का कड़ा इन्तजाम कर रोज ने २५ अप्रैल १८५८ को कालपी पर चढ़ाई का हुक्म दिया। इसी समय उसे समाचार मिला कि रानी पेशवा की सेना लेकर कोंच होती हुई फिर झांसी आने वाली है। लोहारी के किले को जीत कर रोज कोंच की तरफ बढ़ा। पेशवा की सेना की कमजोरी जानकर रोज ने अपनी सेना के तीन भाग किये। दो को पेशवा की सेना के दाँये-बायें भेज दिये और एक को सामने रखा। पेशवा को रोज के सिर्फ सामने वाले दस्ते का पता लगा और तातिया टोपे को उसका मुकाबिला करने भेज दिया। पेशवा की सेना का सबसे अव्यवस्थित पृष्ठ भाग था और इसका भार रानी लक्ष्मी बाई को दिया गया था। रोज की सेना ने जब दायें और बायें से आक्रमण किया तो पेशवा की सेना में भगदड़ मच गयी। फिर भी तातिया टोपे और रानी बड़ी चतुराई से व्यवस्थित ढंग से रोज के चक्रव्यूह से पेशवा की सेना को निकाल लायी। रोज ने कोंच पर अधिकार कर लिया, पर अपने व्यूह से पेशवा की सेना को सुरक्षित निकल जाते देख आश्चर्य करता रहा।

तातिया लौट कर कालपी नहीं गये। इतिहास कहता है कि वे अपने पिता से मिलने जालौन के पास चर्खीगाँव चले गये थे। इधर कालपी में रानी ने राव साहब और दूसरे सामन्त सरदारों की बड़ी भर्त्सना की और सेना की अव्यवस्था तथा अनुशासनहीनता की ओर संकेत किया। उनकी बातों से सामन्त सरदारों और सेना में भी जोश आया। वे फिरंगी सेना को चबा जाने को उतावले हो गये। २२ मई १८५८ को राव साहब के नेतृत्व में पेशवा की सेना ने फिर फिरंगी सेना का मुकाबिला किया। लेकिन फिर रणक्षेत्र में अनुशासनहीनता देखी गयी। रोज के छोटे से सामने के दस्ते को ही दुश्मन की सब सेना समझ वे अपने मोर्चे छोड़ उस पर पिल पड़े। राव उनको अपने मोर्चों पर बनाये न रख सका। रोज ने दोनों बगलों से जो गोलाबारी शुरू की तो पेशवा की सेना के भागने की नौबत आ गयी। ऐसे समय रानी अपने सवारों को लेकर फिरंगियों के दाहिने पार्श्व पर टूटीं। पासा पलट गया। पेशवा की सेना आगे बढ़ने लगी। पन्द्रह मिनट का मौका और मिल गया होता तो रोज की पूरी हार हो गयी होती। लेकिन रोज डेढ़ सौ ऊँटों का तोपखाना और रिसाला लिए हुए यद्ध की गतिविधि देख रहा था। अपनी सेना को भागते देख वह इस संरक्षित सेना के साथ आ पहुँचा। पेशवा की सेना युद्ध छोड़ कर भागी, रानी को भी अपने रिसाले के साथ वापस आना पड़ा। २४ मई को कालपी पर रोज का कब्जा हो गया। लड़ाई का बहुत-सा सामान रोज के हाथ लगा, लेकिन पेशवा की बाकी सेना सुरक्षित कालपी से निकल गयी। अधिकांश सैनिक मारे गये या विजय की आशा न देख सेना छोड़ अपने-अपने गाँव चले गये।

विद्रोहियों को नयी सेना की जरूरत थी। तातिया और रानी की सलाह से पेशवा ने ग्वालियर पर हमला किया। सिंधिया की सेना और जनता ने विद्रोहियों का साथ दिया। जयाजी राव सिंधिया और उसका मंत्री दिनकर राव भाग खड़े हुए और अंगरेजों के पास आगरा पहुँच गये। २ जून, १८५८ को ग्वालियर का दुर्ग और सेना विद्रोहियों के हाथ आ गयी। अगर उस वक्त सिंधिया ने विद्रोहियों का साथ दे दिया होता, तो सारे महाराष्ट्र में विद्रोह की आग जल उठती और फिरंगियों को भागना पड़ता।

नयी सेना और मजबूत दुर्ग पाकर फिरंगियों से लोहा लेने की पुरजोर तैयारी करने की जरूरत थी। रानी ने इसका सुझाव भी दिया, लेकिन राव साहब और उनके सामन्त सरदारों ने क्या किया ? राव साहब ने गद्दी पर बैठ कर बाकायदे अपने को पेशवा घोषित किया और जशन मनाना शुरू किया।

ह्विटलाक की सेना रोज से कालपी में आ मिली। उधर राजपूताने से कर्नल स्मिथ अपनी सेना लेकर आगरा होकर ग्वालियर की तरफ आ रहा था। ग्वालियर पर विद्रोहियों के कब्जे का समाचार पाते ही रोज ने पूरी तैयारी की और ग्वालियर पर चढ़ आया। वह अपने साथ जयाजी राव सिंधिया को भी ले आया और घोषणा की कि वह तो सिर्फ सिंधिया को उसकी राजगद्दी पर बैठाने के लिए आया है। उसकी इस चाल ने काम किया और ग्वालियर की सेना में हिचकिचाहट दीख पड़ी। उसने पहले मोरार पर कब्जा किया और फिर १७ जून को ग्वालियर पर धावा बोला। उस दिन अंगरेजों

को पीछे हटना पड़ा। १८ जून को ग्वालियर की सेना का एक हिस्सा जयाजी राव के पक्ष में चला गया। फिरंगी सेना ग्वालियर में घुस आयी। सब मोर्चे टूट गये।

रानी लक्ष्मी बाई घिर गयीं, लेकिन अपने चन्द सवारों के साथ वे दुश्मन के घेरे को तोड़ कर निकल गयीं। अंगरेजो ने उनका पीछा किया। रानी के साथी अंगरेजों को खत्म करते हुए एक एक कर गिरने लगे। रानी के नये घोड़े ने बड़ा धोखा दिया। उन्होंने पीछा करने वाले अनेक अंगरेजों को मौत के घाट उतारा, बाकी भाग खड़े हुए। लेकिन मुन्दर समेत उनके प्राय: सभी साथी भी मारे गये और रानी स्वयं बुरी तरह घायल हो गयीं। उनके बचे हुए दो-तीन साथी उन्हें पास के बाबा गंगादास के आश्रम में ले गये। उन्हें पीने को पानी दिया गया और बिस्तर पर लिटाया गया। शीघ्र ही रानी ने अन्तिम साँस ली। उनके साथियों ने तुरन्त उनके शव को जला दिया, ताकि अंगरेजों के हाथ में न पड़ने पाये।

इस तरह भारतीय इतिहास की इस वीरांगना के जीवन का अन्त १७ जून, १८५८ को सिर्फ तेईस वर्ष में हुआ। यूरोपवासियों को अपनी जोन आफ आर्क पर बड़ा अभिमान है, भारत की यह वीरांगना जोन आफ आर्क से कहीं बढ़ कर थी। उनका बलिदान युगों तक भारतवासियों के हृदय में स्वतंत्रता की भावना प्रज्वलित रखेगा।

रानी की वीरता का लोहा उनके बड़े-बड़े दुश्मनों ने भी माना था। रोज ने कहा था :

"वे उन सब में सबसे अच्छी और सबसे बहादुर थीं।"

ग्वालियर और जौरा अलीपुर की हार के बाद तातिया टोपे और राव साहब अपनी बाकी सेना लेकर अंगरेजों के चंगुल से निकल गये। इसके बाद उन्होंने छापामार युद्ध का सहारा लिया। फिरंगियों की कई सेनाएँ उनका पीछा कर रही थीं, लेकिन उनकी आँखो में धूल झोंक कर तातिया प्राय: दस महीने तक लड़ते रहे। वे नयी सेना इकट्ठा करते, नये स्थानों पर कब्जा करते और उनके हाथ से निकल जाने पर फिर अन्य नये स्थान में पहुँच जाते। वे लोग नर्मदा को पार कर दक्षिण निकल जाना चाहते थे। दक्षिण में छापामार युद्ध चलाना ज्यादा सुविधाजनक था। फिरंगी यह जानते थे और इसलिए उन्हें नर्मदा पार न करने दिया। आखिर में सिंधिया के जागीरदार मानसिंह ने दगाबाजी कर ७ अप्रैल, १८५९ को तातिया को पकड़वा दिया। ब्रिटिश साम्राजियों ने १८ अप्रैल, १८५९ को शिवपुरी में उन्हें फांसी दे दी। इस तरह भारत के इस महान सेनापति के जीवन का अन्त हुआ।

महाराष्ट्र का मोर्चा

इस बीच नर्मदा के तट और उसके दक्षिण की हालत क्या थी? क्या महाराष्ट्र में कुछ भी नहीं हुआ? प्राप्त तथ्य कुछ दूसरी ही बात कहते हैं। पूना, सतारा, धाड़-वाड़, बेलगाँव, हैदराबाद यानी संक्षेप में मैसूर तक फैली प्राय: सभी छावनियों के सिपाहियों को विद्रोह में शामिल करने की चेष्टा हुई थी। उत्तर भारत में विद्रोह बिजली की तरह

फैला, लेकिन दक्षिण भारत में देर कर और रुक-रुक कर जिससे फिरंगियों ने पूरा लाभ उठाया।

उस वक्त दक्षिण में तीन महत्वपूर्ण पल्टनें थीं—कोल्हापुर में २७ वीं, बेलगांव मे २९ वीं और धाड़वाड़ में २८ वीं। आपस में पत्र-व्यवहार कर उन्होंने १० अगस्त १८५७ विद्रोह की तिथि निश्चित की। किन्तु अंगरेज सेना के आने का समाचार पाकर कोल्हापुर के सिपाहियों ने ३१ जुलाई को ही विद्रोह कर दिया। कुछ अंगरेज अफसरों को मार कर खजाने पर कब्जा किया और फिर नयी आयी अंगरेज सेना से लड़-भिड़कर पश्चिमी घाट की तरफ चले गये। सावन्तवाड़ी के रामजी सिरसाले के नेतृत्व में विद्रोहियों के विभिन्न जत्थे ऐक्यबद्ध हुए और काड़ी के जंगल में अंगरेज सेना को हैरान करते रहे। ब्रिटिश साम्राजियों ने गोवा के पुर्त्तगालियों की मदद से कुछ महीनों में इन्हें दबा दिया। नये फिरंगी अफसर जैकब ने आकर कोल्हापुर के बाकी सिपाहियों को निरस्त्र कर दिया और उनके नेताओं को गोली मार दी।

कोल्हापुर के महाराजा के छोटे भाई चिमना साहब ने इस बिगड़ी हालत को सुधारने की कोशिश की। उन्होंने इस बार कोल्हापुर शहर को विद्रोह के लिए तैयार किया और १५ दिसम्बर, १८५७ को विद्रोह का झण्डा बुलन्द किया। जैकब ने फिरंगी सेना और तोपे लेकर शहर पर कब्जा कर लिया। कितनों ही को पकड़ कर उसने तोप से उड़ा दिया। जैकब ने खुद स्वीकार किया है कि विद्रोहियों ने तोप के मुँह पर भी अपने नेता के नाम न बताये।[1]

१० अगस्त को बेलगाँव में विद्रोह के चिह्न देखे गये। किन्तु विद्रोह आरंभ होने के ठीक पहले सिपाहियों के नेता ठाकुर सिंह और नागरिकों के नेता मुंशी गिरफ्तार कर लिए गये। जल्दी ही नयी अंगरेज सेना आ पहुँची और और बेलगाँव तथा धाड़वाड़ में विद्रोह न होने दिया। मुंशी को तोप मे उड़ा दिया गया।

सतारा के रंगो बापूजी का जिक्र हम पहले कर आये है। कोल्हापुर में विद्रोह फैलाने के 'अपराध' में उनके बेटे को फांसी दी गयी और सतारा के राज परिवार के दो राजकुमारों को निर्वासित कर दिया गया। रंगो बापूजी अंगरेजों के चंगुल से बच कर निकल गये। पकड़वाने वाले को पुरस्कार की घोषणा के बावजूद फिरंगी उन्हें न पा सके। इस देशभक्त का अन्त कैसे हुआ, अज्ञात है।

बम्बई के सिपाहियों ने १८५७ की दीपावली के दिन विद्रोह करने, पूना जा कर उस पर कब्जा करने और मराठों के स्वतंत्र राज्य का झंडा बुलन्द करने तथा नाना साहब को पेशवा घोषित करने की योजना बनायी थी। लेकिन अंगरेज अधिकारी फारेस्ट ने उनकी योजना का पता लगा लिया। उसने खुद छिपकर विद्रोही नेताओं की बैठक की बहस सुनी।[2] उसने दीपावली के पहले ही नेताओं को गिरफ्तार कर लिया, दो को फांसी पर चढ़ा दिया और छः को निर्वासित कर दिया।

१. सर जार्ज ले ग्रैण्ड जैकब, वेस्टर्न इंडिया ; सावरकर, वही, पृ० ५०१
२. फारेस्ट, रियल डेन्जर इन इंडिया ; सावरकर, वही, पृ० ५०२

नागपुर के सिपाहियों और नागरिकों ने १३ जून, १८५७ को विद्रोह करने का फैसला किया था, किन्तु उसी समय मद्रासी पल्टन आ गयी और विद्रोह की चिनगारी ठण्डी हो गयी। जबलपुर के राजा शंकर सिंह और उनके पुत्र ने ५२ वी पल्टन को विद्रोह के लिए तैयार किया था, लेकिन फिरंगियों ने उन दोनों को गिरफ्तार कर १८ सितम्बर, १८५७ को तोप से उड़ा दिया। इससे दबने के बजाय ५२ वीं पल्टन ने फौरन विद्रोह कर दिया और अपने अफसर मैक ग्रिमोर को मार कर विद्रोहियों से जा मिली। दिल्ली के शाहजादा फीरोजशाह ने धाड़ राज्य, महीदपुर, गोरिया और अन्य स्थानों मे विद्रोह संगठित किया।

निजाम की गद्दारी

दक्षिण में निजाम हैदराबाद का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण था। यह रियासत अगर विद्रोह में शामिल हो जाती तो पूरा पासा पलट जाता। लेकिन इसका मंत्री सालार-जंग फिरंगियों का कुत्ता था और निजाम अफजुद्दौला चन्द दिन पहले ही गद्दी पर बैठा था। वह अपना राज खतरे में डालना न चाहता था। इसलिए इन दोनों ने देशद्रोह का रास्ता अपनाया। १२ जून, १८५७ को हैदराबाद में विद्रोह के पोस्टर देखे गये। जगह-जगह विद्रोह के पक्ष में सभाएँ हो रही थी। मस्जिदों से फिरंगियों को मार भगाने का आह्वान किया जा रहा था। सालारजंग ने कुछ जनप्रिय नेताओं को गिरफ्तार कर अंगरेजों को सौंप दिया। १७ जुलाई, १८५७ को हैदराबाद शहर में सचमुच ही विद्रोह शुरू हो गया। 'दीन'-'दीन' की आवाज चारों तरफ गूँजने लगी। खुद निजाम की सेना के रोहिला सिपाहियों और लगभग पाँच सौ नागरिकों ने अंगरेजो की रेजीडेन्सी पर धावा बोल दिया। सालारजंग ने फिरंगियों का साथ दिया और अपनी ही रियासत के सिपाहियों को काट डालने में अंगरेजों की मदद की। संघर्ष मे विद्रो-हियों के नेता तोरबाज खाँ मारे गये और मौलवी अलाउद्दीन गिरफ्तार कर लिए गये। उन्हें कालापानी दे दिया गया। इस तरह सालारजंग की खुली गद्दारी से हैदराबाद में फिरंगियों के खिलाफ विद्रोह जल्द ही दबा दिया गया।

लेकिन हैदराबाद के पड़ोस की बहुत ही छोटी-सी रियासत जोरापुर के राजा ने विद्रोह का पूरा साथ दिया। उन्होंने अरबों, रोहिलों और पठानों की सेना इकट्ठा की। रायचूर और अर्काट के ब्राह्मणों और मौलवियों ने राजा को इस शुभ कर्म के लिए प्रोत्साहित किया। उनके विद्रोह का झण्डा बुलन्द करने पर निजाम और अंगरेजों ने मिल कर उन पर चढ़ाई की। सालारजंग ने उन्हे गिरफ्तार कर अंगरेजों को सौंप दिया। इस राजा के बचपन का मित्र मिडोज टेलर नाम का अंगरेज अधिकारी था। उसके जरिए फिरंगियों ने राजा से विद्रोह के संगठनकर्त्ताओं के नाम जानने का बड़ा प्रयत्न किया और बदले में सुनिश्चित मौत से बचा देने का वादा किया। लेकिन इस नौजवान राजा ने मौत का भय दिखाये जाने के बावजूद नाम बताने से इनकार किया और अनुरोध किया कि उन्हें अपराधियों की तरह फांसी से न लटकाया जाय, बल्कि तोप से उड़ा दिया

जाय। टेलर के हस्तक्षेप से इस राज्य का मृत्यु-दंड काले पानी की सजा में बदल दिया गया। लेकिन राजा ने कैदी की तरह जेल में रहना पसन्द न किया और एक अंगरेज वार्डर की पिस्तौल लेकर गोली मार ली।

नारगुण्ड के शासक भास्कर राव बाबा साहब ने २५ मई, १८५८ को विद्रोह किया। फिरंगियों ने मानसन के नेतृत्व में चढ़ाई की। भास्कर राव अपने चुने साथियों के साथ नारगुण्ड के पास के जंगल में रात को फिरंगी सेना पर टूट पड़े। मानसन का सर काट कर नारगुण्ड के फाटक पर लटका दिया। लेकिन उनके सौतेले भाई ने गद्दारी की। वह अंगरेजों से जा मिला। अंगरेजों की सेना फिर चढ़ आयी। परास्त होकर भास्कर राव रणक्षेत्र से निकल गये, लेकिन कुछ दिन बाद पकड़े गये। फिरंगियों ने १२ जून, १८५८ को उन्हें फांसी दे दी। फिरंगियों की गुलामी का जुआ उतार फेंकने को प्रोत्साहित करनेवाली उनकी युवती सुन्दरी रानी ने सास के साथ मालप्रभा नदी में कूद कर आत्महत्या कर ली।

कोमल दुर्ग के भीमाराव, खानदेश के भीलों और कुछ अन्य लोगों ने भी विद्रोह का झण्डा बुलन्द किया, किन्तु अंगरेजों ने उन्हें आसानी से दबा दिया।

पटाक्षेप

आइए अब विद्रोह के पटाक्षेप की तरफ चलें। अहमद शाह मौलवी की शहादत के बाद भी विद्रोह के नेता अवध और रुहेलखण्ड में फिरंगियों के खिलाफ लड़ते रहे। पोवाईं के राजा की गद्दारी का समाचार पाकर निजाम अली खाँ पीली भीत तक चढ़ आये। खान बहादुर खाँ चार हजार, फर्रुखाबाद वालों ने पाँच हजार, विलायत शाह ने तीन हजार और नाना साहब आदि ने पाँच हजार सैनिक लेकर रुहेलखण्ड और अवध दोनों में एक साथ फिरंगियों के खिलाफ मोर्चा लगाया। विद्रोहियों की कार्रवाई में सरगरमी देख पोवाईं का गद्दार थर-थर कांपने लगा। अंगरेजों ने उसकी रक्षा के लिए फौरन सेना भेजी।

बेगम हजरत महल और सरदार मामू खाँ ने घाघरा के किनारे चौकघाट को अपनी सेना का सदर दफ्तर बनाया। इनके अलावा राव रामबख्श सिंह, बहुनाथ सिंह, चन्दा सिंह, गुलाब सिंह, भोपाल सिंह, हनुमन्त सिंह आदि अवध के प्रमुख सामन्त सरदारों ने फिरंगियों के खिलाफ मोर्चा लगाया। उन्होंने अवध को फिरंगियों से फिर छीन लेने की कोशिश की। दिल्ली के शाहजादा फीरोज शाह भी दक्षिण से अवध आ गये। रुइया के राजा नरपत सिंह भी आगे बढ़े। लेकिन इन सबसे बड़ी भूमिका थी शंकरपुर के राजा बेनीमाधव की जिनके बारे में आज भी बैसवाड़े के लोग बड़े अभिमान के साथ फाग गाते हैं—'अवध मा राना है मर्दाना।'

राना बेनीमाधव लखनऊ पर चढ़ गये। उन्होंने लखनऊ में पोस्टर चिपकवा कर हिन्दुस्तानियों को शहर से हट जाने का अनुरोध किया, ताकि फिरंगियों से मोर्चेबन्दी में उनका नुकसान न हो। उस वक्त लखनऊ पर चढ़ाई का विद्रोहियों का साहस देख फिरंगियों को दाँतों तले उँगली काटनी पड़ी।

राना बेनीमाधव सिंह और उनके साथी जमीन्दारों की सेना लखनऊ की तरफ बढ़ते हुए उन्नाव और लखनऊ के बीच नवाबगंज में आ गयी थी। अंगरेज सेनापति होप ग्रान्ट ने यकायक आकर इस सेना पर हमला बोल दिया। इस आकस्मिक हमले के बावजूद विद्रोही भागे नहीं। वे फिरंगी सेना से भिड़ गये और तीन घण्टे तक घमासान युद्ध होता रहा। अंगरेजों की तोपें सिर्फ पाँच सौ गज पर आकर विद्रोहियों पर गोलाबारी कर रही थीं। विद्रोही कट-कट कर गिर रहे थे, लेकिन तीन घण्टे तक वे लड़ते रहे। विजय अंगरेजों की रही, लेकिन उनकी वीरता की बात होप ग्रान्ट न भूल सका। उसने अपनी पुस्तक में इसका वर्णन किया।[1]

विद्रोहियों को इस प्रकार फिर जोर पकड़ते देख फिरंगियों के प्रधान सेनापति ने अक्तूबर १८५८ में विशाल सेना जमा की और विद्रोहियों को उत्तर की तरफ भगाना शुरू किया। राना बेनीमाधव को शंकरपुर में तीन तरफ से तीन सेनाओं ने घेर लिया। फिरंगियों के प्रधान सेनापति ने खुद राना के पास समाचार भेजा कि अब लड़ने से कोई फायदा नहीं। उसने वादा किया कि अगर राना हथियार डाल देंगे तो उन्हें माफ कर दिया जायगा और उनकी सारी जायदाद उन्हीं के पास रहने दी जायगी। लेकिन राना बेनीमाधव ने आत्मसमर्पण करने से इन्कार कर दिया और शंकरपुर छोड़ कर निकल गये।

नवम्बर १८५८ में विक्टोरिया की घोषणा प्रकाशित हुई। उसमें हथियार रख देने वालों को क्षमा करने का वादा किया गया, लेकिन फिर भी अवध लड़ता रहा. शंकरपुर, डौंड़ियाखेरा, रायबरेली, सीतापुर आदि में उनके मोर्चे लगे रहे।

सब तरफ से अंगरेज सेना के बढ़ते दबाव से अप्रैल १८५९ में ६० हजार विद्रोहियों के साथ नाना साहब, बेगम हजरत महल आदि ने नेपाल में प्रवेश किया। जंगबहादुर के पत्र के उत्तर में विद्रोहियों की तरफ से नाना साहब ने लिखा कि अगर नेपाल अंगरेजों के खिलाफ लड़े तो वे उसके झण्डे के नीचे अंगरेजों से लड़ने को तैयार हैं। अगर नेपाल इसके लिए तैयार न हो तो कम से कम उनको राजनीतिक शरण दे। जंगबहादुर ने अपने प्रतिनिधि कर्नल बलभद्र सिंह को भेज कर नाना साहब आदि को अंगरेजों के सामने हथियार डालने और आत्मसमर्पण करने को कहा। विद्रोही नेताओं ने साफ जवाब दिया कि वे अंगरेजों के सामने घुटने न टेकेंगे, लेकिन नेपाल सरकार के सामने हथियार डालने को वे किसी भी वक्त तैयार हैं।

जंगबहादुर ने क्या किया? उसने अपने मालिक अंगरेज साम्राजियों के प्रति पूरी वफादारी दिखायी। उसने अंगरेज साम्राजियों की सेना को नेपाल में घुस कर विद्रोहियों पर आक्रमण करने की पूरी इजाजत दे दी। विद्रोहियो की शक्ति इस तरह तितर-बितर हो गयी।

जंगबहादुर और कुछ अन्य लोगों की रिपोर्ट के अनुसार नाना साहब की मृत्यु नेपाल के जंगल में सितम्बर १८५९ में हो गयी, हालांकि उनके साधु के भेष में वापस भारत आने

१. होप ग्रान्ट, इंसीडेन्ट्स आफ द सेपाय वार, पृ० २६१; सावरकर, वही, पृ० ५११

और जगह-जगह जाने की कहानियाँ भी पायी जाती हैं। नाना साहब के परिवार की महिलाओं और बेगम हजरत महल तथा उनके बेटे को बाद में काठमाण्डू में रहने की इजाजत जंगबहादुर ने दी। बरेली में खान बहादुर खाँ पकड़े गये और गोली मार दी गयी। लखनऊ के सरदार मामू खाँ को आजीवन कारावास का दण्ड दिया गया। कितनों ही को कालेपानी की सजा दी गयी। दिल्ली के फीरोज शाह भारत से निकल कर फारस जाने में समर्थ हुए। बाँदा के नवाब ने आत्मसमर्पण किया और कुछ पेन्शन पाकर बाकी जिन्दगी बितायी। बहादुरशाह को मृत्युदंड दिया गया था, लेकिन बाद में आजीवन निर्वासन का दण्ड देकर बर्मा में कैद कर दिया गया। बेगम जीनत महल उनके साथ गयी। राव साहब चार साल बाद साधु के भेष में पकड़े गये और उन्हें २० अगस्त, १८६२ को बिठूर में फांसी दी गयी।

विद्रोह के अन्तिम दिनों में ब्रिटिश सेना में सिख सैनिकों की संख्या एक लाख तक पहुँच गयी थी। डेरा इस्माइल खाँ की सिख पल्टनों में विद्रोह के लक्षण भी दीख पड़े थे। वहाँ अंगरेज अफसरों को मार डालने और फिरंगियों के खिलाफ विद्रोह का झंडा बुलन्द करने का षड़यंत्र खोज निकाला गया था। अंगरेजों ने सिखों की मदद से विद्रोह दबाया था। विद्रोह के दब जाने के बाद उत्तर भारत में सिख राज की स्थापना की भावना का उठना अस्वाभाविक न था, लेकिन यह भावना कोई उग्र रूप धारण न कर सकी।

इस तरह ब्रिटिश साम्राजियों के खिलाफ पहला देशव्यापी सशस्त्र स्वाधीनता संग्राम असफल हुआ। इसकी असफलता का मुख्य कारण संगठन, अनुशासन और नेतृत्व का अभाव था। इसके नेता सामन्त थे जो संगठित रूप से चलने के बजाय मनमाने तरीके से चलना, अवकाश के क्षणों में अपनी शक्ति मजबूत करने के बजाय ऐशो-आराम में बिताना ज्यादा पसन्द करते थे। इनमें कोई भी ऐसा शक्तिशाली नेता न था जो सब को एक सूत्र में बाँध कर चलता।

विद्रोह को संगठित रूप देने की चेष्टा जरूर की गयी थी, लेकिन नेतृत्व करने के लिए देशव्यापी कोई संगठन न खड़ा किया गया। सिपाहियों में वीरता का अभाव न था, लेकिन अनुशासन का अभाव सर्वत्र दीख पड़ता था। इसके चलते अनेकों जगह जय ने पराजय का रूप धारण किया था।

छापामार युद्ध की कला को पूरी तरह न अपनाया गया। सामन्त सरदारों की विलासप्रियता यहाँ भी बाधक साबित होती रही। गर्मी और बरसात के दिन फिरंगियों के लिए मुश्किल के दिन थे, लेकिन १८५९ के इन दिनों को छापामार युद्ध को विस्तृत करने, अंगरेजों की नाक में दम करने और स्वयं अपनी शक्ति की वृद्धि में न लगाकर सामन्त सरदारों ने इसे अपने लिए भी आराम का अवकाश समझा।

सिख सामन्तों, गुरखा सामन्तों, हैदराबाद के निजाम और ग्वालियर के सिंधिया ने देशद्रोह का रास्ता अपना कर विद्रोह को असफल बनाने में बड़ा काम किया।

हर क्रान्तिकारी के लिए उपरोक्त बातें बड़ी शिक्षाप्रद हैं। उसे याद रखना होगा

कि क्रान्ति की सफलता के लिए क्रान्तिकारी नेतृत्व, क्रान्तिकारी संगठन और अनशासन, क्रान्तिकारी शक्तियों की एकता और सही रणनीति तथा कार्यनीति आवश्यक है। उसे यह भी याद रखना होगा कि सेना के एक बड़े अंश को क्रान्ति के पक्ष में खींच लाना अत्यन्त आवश्यक है।

विद्रोह दब गया, लेकिन ईस्ट इंडिया कंपनी के राज्य का अन्त हो गया। ब्रिटिश पूंजीपतियों ने देख लिया कि अब पुराने ढंग से भारत पर राज नहीं किया जा सकता, इसलिए अपनी लूट को बरकरार रखने के लिए उन्होंने कंपनी राज की जगह महारानी विक्टोरिया का राज कायम किया। यह गुलामी के पट्टे पर वैधानिकता का मुलम्मा चढ़ा कर उसे आकर्षक बनाने और भारतवासियों की आँख में धूल झोंकने के अलावा अन्य कुछ न था।

अध्याय ७३

बेद विद्रोह

(१८५७)

बेद बीजापुर जिले के हलगली गाँव के और उसके आस-पास के निवासी थे।[1] उनका १८५७ का विद्रोह राष्ट्रीय महाविद्रोह का एक अंग कहा जा सकता है।

बीजापुर जिले में इसके पहले कुछ दिलचस्प विद्रोह हुए हैं। अंगरेजों के खिलाफ पहला विद्रोह दिसम्बर १८२४ में देखा गया था। कित्तूर विद्रोह में थाकरे के मारे जाने के बाद ही दिवाकर दीक्षित ने अपने समर्थक राव जी रास्टिया और बालप्पा तक्कालकी की सहायता से कुछ अनुयायी इकट्ठा किये और सिंदगी पर चढ़ाई की। यहाँ के छोटे किले पर कब्जा कर उन्होंने अपना थाना स्थापित किया और राजस्व वसूल करना आरंभ किया। लेकिन कुछ लोगों ने उन्हें धोखा दिया। ऐसा ही एक गद्दार अन्नप्पा पटके था। जब वह अंगरेजों को समाचार दे रहा था, विद्रोहियों ने उसे पकड़ा और मौत के घाट उतार दिया।[2] काश, किसी ने मीरजाफर और जगत सेठ को मौत के घाट उतार दिया होता जब वे क्लाइव के साथ देश को बेचने का षड़यंत्र कर रहे थे! अगर वैसा होता, तो भारत का इतिहास दूसरी तरह लिखा गया होता। दो सौ वर्ष की गलामी की बेड़ियाँ उसके पैरों में न पड़तीं।

जब इस विद्रोह का समाचार धाड़वाड़ पहुँचा, तो कलक्टर ने सेना का एक दस्ता सिन्दगी भेजा। सेना ने जल्दी ही इस नगर पर कब्जा कर लिया, विद्रोही नेता पकड़े गये और उन्हें दण्ड दिया गया।[3]

१८४० का विद्रोह उससे भी दिलचस्प है। नरसिंह दत्तात्रेय उर्फ 'नरसप्पा' नामक एक अन्धे आदमी ने निजाम के अंचल से १२५ अरब अपने साथ लेकर बदामी के किले पर हमला किया और उस पर कब्जा कर लिया। नरसप्पा सतारा के विद्रोही राजा प्रताप सिंह के संपर्क में रह चुके थे जिन्हें अंगरेजों ने १८३९ में गद्दी से उतार दिया था। नरसप्पा का उद्देश्य अंगरेजों के हाथ से राज्य छीन लेना था।[4]

बदामी नगर पर कब्जा करने के बाद उन्होंने अपने को राजा घोषित किया और इस अंचल पर राज करना शुरू कर दिया। लेकिन उनके राजा बनने के एक सप्ताह के अन्दर ए० बेंटिंगटन के नेतृत्व में एक छोटी सेना बदामी आयी। उसने विद्रोहियों को पराजित कर दिया। नरसप्पा और उनके अनुयायी पकड़े गये।[5]

१८५७ में चण्डकावते के बसलिंगप्पा ने विद्रोह करने की कोशिश की। वे चण्डकावते के भूतपूर्व 'देशमुख' थे। उन्होंने और बीजापुर के सिरसेट्टी ने सूरापुर के वेंकटप्पा के

१. मैसूर स्टेट गजेटियर, बीजापुर, पृ० ८६   २. वही, पृ० ८५
३. वही, पृ० ८५.   ४. वही, पृ० ८५   ५. वही, पृ० ८६

साथ ही विद्रोह करने की योजना बनायी थी। इसके लिए उन्होंने सेना भरती की थी और घोषणा की थी कि नाना साहब आ रहे हैं। लेकिन अफसोस कि उनकी योजना का पता अंगरेजों को लग गया। बसलिंगप्पा और उनके पुत्र को गिरफ्तार कर लिया गया। जिंगी में उनके घर और कोटनाल नामक दुर्ग की तलाशी ली गयी तो उसमें हथियार पाये गये। अंगरेजों ने कोटनाल को ढहा दिया, और 'राजद्रोह' के अपराध में बसलिंगप्पा पर मुकदमा चलाया तथा उनकी जमीन्दारी जप्त कर ली।[1]

बेद मुख्यत: शिकार करते थे और इसलिए उनके पास अग्नेय अस्त्र थे। भारतीयों को निरस्त्र करने के लिए १८५७ में कानून बना कर अंगरेजों ने आदेश दिया कि वे अपने हथियारों की रजिस्टरी करायें और बिना लाइसेंस हथियार न रखें। वे अपने मौजूदा हथियार अंगरेजों को सौंप दें।

हलगली के बेदों ने एक स्वर से इसका विरोध किया। हर एक ने इस कानून को न मानने का पक्का फैसला कर लिया। जल्दी ही उन्होंने इस कानून के खिलाफ प्रचार शुरू कर दिया। बदनी मंतुर और अलगुण्डी आदि आस-पास के गांवों के बेद हलगली की तरफ चल पड़े।[2] हर आदमी के पास हथियार थे। वे अंगरेजों के खिलाफ लड़ने और अपने भाइयों की मदद करने जा रहे थे। यह आस-पास के बेदों का सम्मिलित मोर्चा था।

उनके जमाव का संवाद पाकर ब्रिटिश अधिकारी लेफ्टिनेन्ट कर्नल मालकाम ने लेफ्टिनेन्ट कर के अधीन एक सेना विद्रोह दबाने के लिए भेजी। कर ने २९ नवम्बर, १८५७ को हलगली गाँव घेर लिया और विद्रोहियों को हथियार रखने को कहा। विद्रोहियों ने उसकी मांग नामंजूर कर दी और आत्मसमर्पण से मृत्यु को बेहतर समझा। इसके बाद भयंकर युद्ध हुआ। अनेकों बेद बहादुरी के साथ लड़ते हुए मारे गये। अंगरेजों ने अपनी विजय आसान बनाने के लिए गाँवों में आग लगा दी। यह बेदों के लिए नयी आफत थी। वे अंगरेजों से लड़ें या आग से? विजय अंगरेजों की हुई। लेकिन खुद मालकाम ने स्वीकार किया कि बेद बड़ी बहादुरी से लड़े और इस लड़ाई में कम से कम १०० बेद मारे गये। २९० बेद गिरफ्तार किये गये। उनमें से १३ बेदों को ११ दिसम्बर, १८५७ को मुधोल में खुलेआम फाँसी दी गयी और फिर तीन दिन के बाद ६ बेदों को हलगली में फांसी से लटकाया गया। इस तरह अंगरेजों ने आम जनता में आतंक पैदा करने की कोशिश की।

---

१. वही, पृ० ८६   २. वही, पृ० ८६

अध्याय ७४

नील विद्रोह

(१८६०–६१)

> "नील के किसानों के वर्त्तमान विद्रोह के बारे में प्राय: एक सप्ताह तक मुझे इतनी चिन्ता रही जितनी दिल्ली की घटना (अर्थात् १८५७ का महाविद्रोह) के समय भी नहीं हुई थी। मैं हर समय सोचता रहता कि अगर किसी अबोध निलहे ने भय या क्रोध से गोली चला दी तो उसी वक्त दक्षिण बंगाल की सब कोठियों (अर्थात् नील कोठियों) में आग लग जायगी।"[1]

य शब्द हैं भारत के गवर्नर-जनरल लार्ड कैनिंग के जिन्होंन १८५७ का सशस्त्र महाविद्रोह भी देखा था। मध्य वर्ग और नये जमीन्दार वर्ग की गद्दारी के कारण खास बंगाल के किसान १८५७ के महाविद्रोह में शामिल न हो पाये; लेकिन उस महाविद्रोह से उन्होंने प्रेरणा ली और महाविद्रोह के समाप्त होते न होते निलहे साहबों और ब्रिटिश सरकार के खिलाफ विद्रोह का झण्डा बुलन्द कर उस कलंक को धो डाला। उनके इस विद्रोह ने कैनिंग की भी नींद हराम कर दी थी।

नील विद्रोह के नायक नील की खेती करने वाले किसान थे। निलहे साहबों के पाशविक अत्याचार और शोषण ने इन किसानों को बगावत करने को मजबूर कर दिया था।

हम पहले अध्याय में जिक्र कर आये हैं कि किस प्रकार नील का व्यापार फिरंगियों की लूट का एक बड़ा भारी साधन बन गया था। फिरंगियों के साथ-साथ बंगाल के अंगरेज-परस्त नये जमीन्दारों को भी नील की खेती और व्यापार बड़े लाभ का साधन मालूम हुआ। इसलिए अंगरेजपरस्त भारतीय व्यापारियों और जमीन्दारों ने आन्दोलन करना शुरू किया कि अंगरेज भारत में आकर बसें और उसमें पूंजी लगायें। इसी के लिए १५ दिसम्बर, १८२९ को कलकत्ते के टाउनहाल में भारतीय व्यापारियों और जमीन्दारों की एक सभा हुई थी जिसमें प्रधान वक्ताओं में राजा राममोहन राय और द्वारकानाथ ठाकुर थे। ये निलहे साहबों के बड़े प्रशंसक थे और नील की खेती को भारत के लिए लाभदायक समझते थे। इसलिए ये चाहते थे कि निलहे साहबों को बड़ी जमीन्दारियां खरीदने और बड़े पैमाने पर नील की खेती कराने के अधिकार दिये जायें। इसके लिए उन्होंने ब्रिटिश पार्लमेन्ट के पास स्मृतिपत्र भी भेजे थे।[2] लार्ड बेंटिक ने इस स्मृतिपत्र का समर्थन किया था।

लेकिन खास बंगाल में ही जमीन्दारों का दूसरा दल भी था जो समझता था कि अगर

---

१. सी० ई० बकलैण्ड, बेंगाल अण्डर लेफ्टिनेन्ट गवर्नर्स, खण्ड १, पृ० १९२

२. पार्लमेन्टरी पेपर्स, खण्ड ४५, पृ० २७

निलहों को जमीन्दारियाँ खरीदने और बड़े पैमाने पर नील की खेती कराने का अधिकार दिया गया तो सिर्फ किसानों का ही नहीं, जमीन्दारों का भी सर्वनाश हो जायगा। इसलिए उन्होंने भी एक स्मृतिपत्र ब्रिटिश पार्लमेन्ट के पास भेजा था। उसमें निलहे साहबों के अत्याचार का वर्णन कर अनुरोध किया गया था कि उन्हें जमीन्दारियाँ खरीदने का हक न दिया जाय।

किन्तु ब्रिटेन के उपनिवेशवादी जानते थे कि भारत में अंगरेजों को बसाये और उसे पूंजी के जाल में जकड़े बगैर ब्रिटिश साम्राज्य के साथ उसे मजबूती से बांध कर न रखा जा सकेगा। इसलिए गवर्नर जनरल बेंटिक ने १८२९ में 'कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स' को लिख भेजा :

"भारत में ऐसा कोई सम्प्रदाय नहीं जो हमारी मसीबत के समय मदद के लिए आगे आयेगा। भारत के प्रभावशाली क्षमतावान साहसी व्यक्तियों में से अधिकांश हमें नापसन्द करते हैं।...बिना रोक-टोक बहुत से यूरोपीयों को भारत में बसा कर हम इस बाधा को दूर कर सकते हैं।"[१]

इसलिए १८३३ में ब्रिटेन की सरकार ने भारत में जमीन पर ईस्ट इंडिया कंपनी की इजारेदारी खत्म कर दी। अब हर अंगरेज को अधिकार दे दिया गया कि वह भारत में आ कर बस सकता है और जायदाद का मालिक बन सकता है।

इससे अंगरेजों ने बड़ी-बड़ी जमीन्दारियाँ खरीद कर उनमें नील की खेती करानी शुरू की। निलहे साहबों की इन जमीन्दारियों में बंगाल इंडिगो कंपनी की जमीन्दारी सब से बड़ी थी। उसने ५९४ गाँवों की जमीन्दारी हथिया ली थी और सरकार को सालाना लगान ३ लाख ४० हजार रु० देती थी। बंगाल के सिर्फ नदिया जिले में उसने १८ लाख रुपए की पूंजी लगा रखी थी।

पहले ईस्ट इंडिया कंपनी की नील की कोठियाँ थीं, अब निलहे सहबों की या दूसरी कंपनियों की कोठियाँ जगह-जगह खुल गयीं। ये निलहे कुछ तो अपनी जमीन में खुद नील की खेती कराते, लेकिन अधिकांश वे किसानों को जबर्दस्ती अग्रिम देकर नील की खेती करने को मजबूर करते। वे किसानों को अपनी कोठी पर पकड़ मंगाते, जबर्दस्ती उनसे नील की खेती करने का इकरारनामा लिखाते। नील की खेती के लिए दो रुपया प्रति बीघा अग्रिम दिया जाता। कोठी के अमीन जाकर किसान की अच्छी से अच्छी जमीन में निशान लगा आते। इस जमीन में किसान को नील बोना ही पड़ता, किसान उसकी देख-रेख करता, निराता और पौधे जब तैयार हो जाते, उन्हें काट कर कोठी पहुँचा आता। कोठी में हर बोझ की नाप की जाती। रुपए में ४, ६ या ८ बोझ के हिसाब से किसान का पावना दर्ज कर लिया जाता। हर बीघे में नील ८ से १० बोझ तक पैदा होता।

नील का मौसम होने पर किसान के देने-पावने का हिसाब किया जाता। अग्रिम

१. प्रमोद सेनगुप्त, नील विद्रोह, ४२-४३

दो रुपए के अलावा किसान से बीज की बाबत ४ से लेकर ८ आने तक, स्टैम्प की बाबत, वह चाहे लगे या न लगे, २ आने से लेकर ८ आने तक, बोनी की बाबत गाड़ी भाड़ा ४ आने से लेकर १३ आने तक काट लिया जाता। नतीजा होता कि हिसाब-किताब करने पर किसान को कुछ भी न मिलता, उल्टे उस पर कर्ज हो जाता। इसके बाद जो पेशगी रकम दी जाती, उससे बकाया कर्ज काट लिया जाता और नाम मात्र की रकम किसान को दे दी जाती। इस तरह एक बार जो किसान इकरारनामा कर पेशगी रकम ले लेता, वह सारी जिन्दगी छुट्टी न पाता। उस पर कर्ज दिन ब दिन चढ़ता जाता। वह निशान लगी जमीन में दूसरी फसल भी न बो सकता था। इकरारनामे के खिलाफ जाने पर उसकी संपत्ति छीन लेने और उसे कैद कर लेने का निलहों को अधिकार था।

किसानों की इस दुर्दशा का वर्णन करते हुए १८५० में देवेन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा स्थापित सुप्रसिद्ध 'तत्वबोधनी पत्रिका' में अक्षय कुमार दत्त ने लिखा :

"निलहे साहबों के कामों का वर्णन करते हुए प्रजा पीड़न का ही विवरण लिखना पड़ता है। वे दो प्रकार से नील प्राप्त करते हैं—प्रजा आदि को अग्रिम मूल्य देकर वे नील खरीदते हैं और अपनी भूमि में खेती करा कर नील तैयार करते है। सरल स्वभाव वाले सज्जन सोच सकते हैं कि इसमें दोष क्या? लेकिन लोगों का कितना दुख-दर्द, कितनी भग्न आशा, कितने दिनों का अनशन, कितनी यंत्रणा इसके उत्तर के अन्दर छिपी है, वह धीरे-धीरे जाहिर हो रही है। ये दोनों ही प्रजा के नाश के अमोघ उपाय है। नील तैयार करने का प्रजा का मन नहीं। निलहे उन्हें जबर्दस्ती इस काम में लगाते है और नील के बीज बोने के लिए उनकी अच्छी से अच्छी जमीन निश्चित कर देते हैं। माल की वाजिब कीमत देना उनकी नीति नहीं, इसलिए वे प्रजा के नील की बहुत ही कम कीमत निश्चित करते है। निलहे साहब सर्वेसर्वा हैं, मन में आते ही वे प्रजा आदि का सर्वस्व हरण कर सकते हैं। दया कर पेशगी के तौर पर जो रकम देने का वे हुक्म देते है, गुमास्ता और दूसरे नौकरशाहों की दस्तूरी और हिसाब आदि में उसका भी कोई न कोई हिस्सा काट लिया जाता है। इस वजह से किसान जिस जमीन में धान या दूसरा अन्न बोकर आसानी से सारे साल परिवार का पालनकर जिन्दगी बिता सकता है, उसमें निलहे साहब का नील बोने से लाभ की बात तो दूर, उसे कर्ज के मजबूत जाल में फंस जाना पड़ता है। इसलिए वह किसी भी तरह अपनी मर्जी से इस काम में नहीं लगता। खास कर खेती ही उसकी जीविका है, भूमि उसकी एकमात्र सम्पत्ति है और इसी पर उसकी सारी आशा, सारा भरोसा निर्भर करता है। क्या कोई आदमी इस तरह अपने संचित धन को तिलांजलि देकर आत्महत्या करना चाहता है? किन्तु उसके लिए दूसरा रास्ता क्या? प्रबल प्रतापी महाबली पराक्रमी निलहे साहब की अनिवार्य अनुमति के खिलाफ जाना क्या दीन-दरिद्र क्षुद्र प्रजा आदि के लिए संभव है? . . . उसे अपनी ही जमीम में नील जरूर बोना पड़ता है। प्रत्यक्ष देख कर भी अपने ही हाथ जहर पीना पड़ता है। इस जमीन का नाम है 'खाताई

जमीन'—खाताई जमीन का प्रसंग उठते ही प्रजा का शोक सागर हिलोरें लेने लगता है।"

इस तरह निलहे साहबों ने प्रजा अर्थात् किसानों को भूमिदास बना दिया। सरकारी कानून-कायदे किसानों के खिलाफ थे। जो कानून किसानों के पक्ष में थे, निलहे साहब उनकी परवाह न करते। पुलिस और सरकारी अधिकारी उनकी मुट्ठी में थे। फिर १८५७ में तो कितने ही निलहे साहबों को ही मजिस्ट्रेट और डिपुटी मजिस्ट्रेट बना दिया गया।

निलहे साहबों के इन अमानुषिक अत्याचारों की बात खुद बड़े-बड़े अंगरेज अधिकारियों और पादरियों ने स्वीकार की है। सी० ई० बकलैण्ड ने 'बेंगाल अण्डर लेफ्टिनेन्ट गवर्नर्स' (छोटे लाटों के मातहत बंगाल) नामक पुस्तक में निलहे साहबों के अपराधपूर्ण कार्यों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है :

१. "आक्रमणात्मक अपराध जिन्हें कानूनी अर्थ में नर हत्या नहीं कहा जा सकता, लेकिन जिनके कारण भारतीयों की मृत्यु हुई।"
२. "प्राप्य कह कर कथित अर्थ को वसूल करने के लिए या अन्य कारण से भारतीयों को खास कर गुदाम में गैरकानूनी तरीके से बन्द रखना।"
३. "दूसरे निलहों के साथ दंगे-हंगामे के लिए कारखाने के आदमियों को अथवा भाड़े के गुण्डों को जमा करना।"
४. "किसानों और अन्य भारतीयों को गैरकानूनी तरीके से बेत मारना और अन्य दण्ड देना।" (खण्ड १, पृ० २३८)

दे लातूर साहब १८४८ में फरीदपुर के मजिस्ट्रट थे। नील कमीशन (१८६०) के सामने गवाही देते हुए उन्होंने कहा :

"नील की एक भी ऐसी डिबिया इंगलैंड नहीं पहुँचती जो इंसान के खून से रंगी न हो—यह बात कहने के लिए मिशिनरियों (ईसाई धर्म के प्रचारकों) की आलोचना की गयी है। लेकिन मैं भी यही बात कहता हूँ। फरीदपुर का मजिस्ट्रेट रहने के समय मैंने जो अनुभव प्राप्त किये हैं, उनके आधार पर मैं जोर देकर कह सकता हूँ कि यह बिल्कुल सच है। मैंने कुछ किसानों को देखा है जिनकी सारी देह बल्लमों से नाथ डाली गयी थी। कुछ किसानों की लाशें मेरे सामने लायी गयी थीं जिनकी हत्या निलहे साहब फोर्डने गोली मार कर कर दी थी। मैं और भी कई किसानोंकी बात जानता हूँ जिन्हें बल्लम से बुरी तरह जख्मी कर हरण कर ले जाया गया था।"[1]

दे लातूर ने, नील की खेती जिस तरह करायी जाती थी, उसे खूँरेजी की व्यवस्था कहा था। ऐशले इडेन बारासात (चौबीस परगना) के जिला मजिस्ट्रेट थे और बाद में वे बंगाल के गवर्नर भी बने। उन्होंने नील कमीशन के सामने बयान में कहा :

"मेरे ख्याल से कम से कम पिछले ६ साल के अन्दर किसी भी रैय्यत ने इस फसल

१. इंडिगो कमीशन रिपोर्ट, एविडेंस नं० १६१८

> (नील) की खेती के लिए कानूनी इकरारनामा नहीं किया। कोठी की जो खास जमीन है, उसे छोड़ कर कहीं भी नील की खेती अपनी मर्जी से नहीं होती, बल्कि सब जगह जबर्दस्ती करायी जाती है।"

उन्होंने तथ्य पेश कर बताया कि नील की खेती से किसानों को नुकसान ही नकसान है। उन्होंने नील की खेती और उसी जमीन म तम्बाकू की खेती का हिसाब पेश कर बताया कि जिस जमीन में नील की खेती कर किसानों को ९ रु० ६ आना नुकसान उठाना पड़ रहा है, उसी में अगर वह तम्बाकू की खेती करे तो उसे ११ रु० का लाभ होगा।[1]

इडेन ने अपनी गवाही में यह भी कहा कि सरकारी कर्मचारी अक्सर निलहे साहबों का पक्ष लेकर न्याय को तिलांजलि देते ह। खुद उन्हें भी कई मामलों में ऐसा करने को मजबूर होना पड़ा है। उन्होंने निलहे साहबों के खिलाफ अदालत में सत्य प्रमाणित ४९ घोर अपराधों के मामलों की फेहरिश्त भी पेश की।

कृष्ण नगर के पादरी जेम्स लांग ने नील कमीशन के सामने गवाही देते हुए कहा कि इस व्यवस्था ने सारे नदिया जिले की रैय्यत को भूमिदास बना देने के लिए सर्वहारा बना दिया है और यह व्यवस्था मृत्युलोक में मजिस्ट्रेट के और स्वर्ग में भगवान के अस्तित्व तक को स्वीकार नहीं करती।

ये निलहे गोरे किसानों पर तरह-तरह के अत्याचार करते, उनका शोषण करते और उनके घरों की स्त्रियों पर बलात्कार करते। अगर किसान किसी भी तरह निलहे साहबों के खिलाफ जाने की हिम्मत करते तो उनके घर लूट लिये जाते, उनमें आग लगा दी जाती और उनको मौत के घाट तक उतार दिया जाता। निलहे गोरों के इन अत्याचारों की बातें ब्रिटेन की पार्लमेन्ट में भी उठी थीं। लेआर्ड साहब ने पार्लमेन्ट में अपने भाषण में कहा था :

> "निलहे असहाय किसानों की जमीन दखल कर रहे हैं, उनके घर-द्वार ध्वंस कर रहे हैं, दरख्त काट कर और बगीचों के पौधे उखाड़ कर फेंक रहे हैं। जो बाधा देने की चेष्टा करते हैं, उनकी हत्या की जा रही है अथवा उनका हरण कर उन्हें खुद (निलहों द्वारा) तैयार किये गये जेलखाने में बन्द किया जा रहा है। सारे देश में अराजकता का बाजार गर्म है—इसकी तुलना किसी सभ्य देश में नहीं मिलती।"[2]

निलहों के इन पाशविक अत्याचारों ने नील किसानों को विद्रोही बना दिया।

उन्नीसवीं सदी के आरंभ में हम नदिया जिले के चौगाछा गाँव के विश्वनाथ सर्दार को निलहे साहबों के खिलाफ मोर्चा लगाते देखते हैं। साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने किसानों के इस नायक को 'बिशे डकैत' कहा है, लेकिन अपने हर दुश्मन को डकैत कहना उनकी आदत है, हालाँ कि सबसे बड़े डकैत स्वयं साम्राज्यवादी हैं। उनकी जीवनी के लेखक हराधन दत्त लिखते हैं :

> "मैं विश्वनाथ सर्दार को बंगाल के नील आन्दोलन का प्रधान अग्रणी और पथ-प्रदर्शक

---

१. इंडिगो कमीशन रिपोर्ट, पृ० ११

२. हंसार्ड, खण्ड १६२, खण्ड ८०२ ; प्रमोद सेनगुप्त, नील विद्रोह, पृ० ६५

कहना चाहता हूँ। उन्नीसवीं सदी का पहला दशक। उस समय ऐक्यबद्ध आन्दोलन एक तरह से अवास्तविक था। विश्वनाथ अकेले ही उस वक्त इन दुर्द्धर्ष, अपराजेय निलहों के खिलाफ उठ खड़े हुए थे। मृत्यु वरण कर वे नील आन्दोलन के प्रथम शहीद बने। डकैत के रूप में विश्वनाथ की कहानियाँ हम सुनते आ रहे हैं—किन्तु उन्नीसवीं सदी के प्रथम दशक में उन्होंने नाना क्षेत्रों मे बंगाल के लांछित मनुष्यों का प्रतिनिधित्व किया और अंगरेज सरकार को परेशान कर डाला। विश्वनाथ बंगाल में नील आन्दोलन के प्रथम अग्र पथिक हैं—इसमें मतभेद की कोई गुंजाइश नहीं। विश्वनाथ के जीवन की यही सर्वश्रेष्ठ कीर्ति है कि वे विश्वनाथ विद्रोही थे।"[1]

अत्याचारी निलहे साहबों को दण्ड देना उनके जीवन का लक्ष्य था। उस वक्त नदिया में सैमुएल फेडी नामक शक्तिशाली निलहा था। फेडी की नील कोठी जिला शासक इलियेट के बंगले के पास ही थी। विश्वनाथ ने एक बार दीवाली की रात को इस कोठी को लूट लिया। फेडी के कितने ही आदमी मारे गये। उस की स्त्री ने पास के तालाब में सर पर काली हंडी रख कर जान बचायी। विश्वनाथ ने इस महिला के जीवन की रक्षा में सतर्कता बरती थी। फेडी को पकड़ कर वागदेवी खाल के पास के जंगल में ले जाया गया। उसने विश्वनाथ से जीवन-भिक्षा मांगी और वादा किया कि यह बात वह किसी से भी नही कहेगा। किन्तु मक्त होने के बाद फेडी ने विश्वासघात किया और विश्वनाथ को गिरफ्तार करा दिया।

किसी तरह विश्वनाथ और उनके साथी जेल से मुक्ति प्राप्त करने में समर्थ हुए। इसके बाद उन्होंने अपने दल के साथ २७ सितम्बर, १८०८ को आधी रात के बाद फेडी की कोठी पर हमला किया। इस हमले का वर्णन नदिया के "डिस्ट्रिक्ट गजेटियर" में विस्तार के साथ मिलता है। फेडी और उस के साथी लेडियार्ड को मार-पीट कर, उन्हें घायल और तरह-तरह से अपमानित कर, उनके खजाने को लूट कर तथा उसके प्रधान रक्षक को पकड़ कर वे ले गये। इस तरह विश्वनाथ ने फेडी को विश्वासघात का दंड दिया। कुछ दिन बाद वे ब्रिटिश मिलिटरी के हाथ पड़ गये और उन्हें फांसी दे दी गयी।

१८२९ में बंगाल के मैमन सिंह जिले के जलालपुर में किसानों को निलहों के गिरोह और पुलिस के खिलाफ लड़ते पाते हैं। नील की कोठी के पाँच सौ लठैतों का मुकाबिला करने के लिए कई गाँवों के हजारों किसान आगे आये थे। पुलिस नील की कोठी का पक्ष लेकर गांव के मुखिया लोगों को गिरफ्तार करने आती, लेकिन किसान इकट्ठा हो कर पुलिस को ही घेर लेते। पुलिस के आने का समाचार आस-पास के गाँवों मे पहुँचाने के लिए किसानों ने पहरे की व्यवस्था की थी। उनके आदमी ऊँचे वृक्षों पर चढ़े चारो तरफ नजर रखते और पुलिस को देखते ही शंख अथवा घंटा बजा कर आस-पास के गाँवो को सूचना दे देते। सांकेतिक शब्द सुनते ही किसान लाठी, बल्लम, बर्छा आदि,

१. हराधन दत्त, विद्रोही विश्वनाथ, रविवासरीय आनन्द बाजार पत्रिका, १० बैसाख १३६८ मासिक बसुमती, आसाढ़ १३६९

हथियार लेकर दौड़ पड़ते और पुलिस को मार भगाते। एक बार दो हजार किसानों ने आकर पुलिस वालों को कस कर पीटा और पकड़ कर रख लिया। बाद में मजिस्ट्रेट मिलिटरी लेकर आया और पुलिस वालों को छुड़ा कर ले गया। काफी लम्बे अरसे तक किसान अपना यह संग्राम चलाते रहे।[१]

नील कोठियों के खिलाफ बहाबियों, तीतूमीर और फराजियों की मोर्चेबन्दी का उल्लेख हम पहले ही कर आये हैं। इस तरह १८५० के पहले भी निलहों के खिलाफ किसानों के संग्राम की अनेक घटनाएँ पायी जाती है। १८४८ में 'कलकत्ता रिव्यू' नामक मासिक पत्र में एक अंगरेज लेखक ने 'निलहे लगभग तीस साल पहले' शीर्षक लेख मे इन संघर्षों का वर्णन इस प्रकार किया है :

"अनगिनत भयंकर दंगा-हंगामों की बात हम जानते हैं। आमने-सामने के ऐसे संघर्षों के उदाहरण हम एक-दो नहीं, सैकड़ो दे सकते है जिनमें दो-दो, तीन-तीन और यहाँ तक की छः-छः आदमी मारे गये है और इसी अनुपात में बहुत से लोग घायल हुए है। अनगिनत मुठभेड़ों में पच्छिम के 'ब्रज' भाषा-भाषी भाड़े के सैनिको ने इस दृढ़ता के साथ युद्ध किया था, जो किसी भी युद्ध में कंपनी के सैनिकों के लिए गौरवजनक होता। अनेक बार निलहे साहबों ने किसान लठैतों से घिर जाने पर अपने तेज घोड़े की पीठ पर चढ़ कर बड़ी चतुराई के साथ भाग कर जान बचायी है। कितनी ही जगह किसानों ने सशस्त्र हमले कर नील कोठियों को मिट्टी में मिला दिया है। कितनी ही जगह एक पक्ष ने बाजार लूटा, तो दूसरे ही क्षण दूसरे पक्ष ने आकर उसका बदला लिया।"

इस लेखक ने बताया कि किसानों ने बिना लड़े जमीन पर अपना अधिकार नहीं छोड़ा। जैसे भारत पर अधिकार के लिए ब्रिटिश साम्राजियों को यद्ध पर युद्ध करने पड़े थे, उसी प्रकार निलहे साहबों को भी अपना आधिपत्य कायम करने के लिए किसानों से कदम-कदम पर लड़ना पडा था।

निलहे साहबों के लठैतों और अंगरेज सरकार की पुलिस के साथ किसानों की इन मुठभड़ों ने १८५९-६० में खुले विद्रोह का रूप धारण किया। पहले किसानों ने अंगरेज शासकों के पास आवेदन-निवेदन कर न्याय पाने की चेष्टा की। फिर नील की खेती का बायकाट किया और आखिर मे जब निलहों और पुलिस तथा सरकारी अधिकारियों ने मिल कर उनसे जबर्दस्ती नील की खेती कराने की चेष्टा की तो उन्होंने हथियार उठा लिये। उनका यह विद्रोह खास बंगाल में नील की खेती समाप्त करके ही शान्त हुआ।

आवेदन-निवेदन का एक उदाहरण नदिया के किसानों का है। उन्होंने १६ जनवरी, १८६० को बंगाल के गवर्नर के पास लिखा कि स्थानीय सरकारी अधिकारियों से न्याय न पाकर उन्हें यह निवेदन पत्र भेजने को वाध्य होना पड़ा। २८ अक्तूबर, १८५९ को आवेदनकारियों के गाँव के बोरू मण्डल और चन्दर विश्वास को नील कोठी की फैक्टरी

---

१. इंडिगो कमीशन रिपोर्ट, परिशिष्ट १६, खण्ड १

के हथियारबन्द आदमी उठा ले गये थे। तब से उनका पता नहीं चला। स्थानीय जाँच से यह सच साबित होने पर भी मजिस्ट्रेट ने आवेदनकारियों की शिकायत पर विचार करने से इन्कार कर दिया और बहाना किया कि उसे ऐसे मामलों में दखल देने का अधिकार नहीं। आवेदनकारियों की स्थानीय अधिकारियों से न्याय पाने की कोशिश से निलहे आगबबूला हो गये। २ दिसम्बर, १८५९ को वे गोविन्दपुर के आनन्द सरदार को और ८ जनवरी, १८६० को सोन प्रोकुरिया के ऊजलमुल्ला और पाटन शेख को उठा ले गये। इस तरह के उदाहरण देकर किसानों ने गवर्नर से निलहों के अत्याचारों से रक्षा और न्याय का निवेदन किया। इसी तरह के कितने ही आवेदन पत्र किसानों ने स्थानीय और उच्च अधिकारियों के पास भेजे थे। अवश्य ही इनका कोई खास असर नहीं हुआ। क्रमश: किसानों को मालूम हो गया कि नील की खेती जबर्दस्ती कराने का कानूनी अधिकार निलहों को नहीं। इसलिए उन्होंने पेशगी लेने और नील की खेती करने से इन्कार करना और निलहों का बायकाट शुरू कर दिया। जबर्दस्ती करने पर वे मारने-मरन को तैयार हो गये। किसानों के इस विद्रोह का वर्णन उस वक्त कितने ही लोगों ने किया है। मार्च १८६० में निलहों ने जो स्मृतिपत्र बंगाल के गवर्नर को दिया, उसमें उन्होंने लिखा :

किसान संगठित रूप से विद्रोही बन गये हैं। किसानों से नील की खेती कराना संभव नही। "मुफस्सिल की अदालतों में किसी भी रैय्यत के खिलाफ कोई भी मामला दायर करना संभव नहीं, क्योंकि अपने अभियोग को प्रमाणित करने के लिए हम कोई गवाह जुटा नही पाते। यहाँ तक कि हमारे कर्मचारी भी अदालत में जाकर गवाही देने की हिम्मत नहीं करते।" "रैय्यत इस वक्त बहुत ही उत्तेजित है, वह बिगड़ गयी है, वह कोई भी दुष्कर्म करने को प्रस्तुत है। वह रोज हमलोगों की कोठी और बीज गोदाम में आग लगा देने की कोशिश में रहती है। हमारे अधिकांश नौकरानी-नौकर हमें छोड़ कर चले गये है, क्योंकि रैय्यत ने उन्हें मार डालने या घर जला देने की धमकी दी है। जो दो-एक नौकर हमारे साथ है, वे भी जल्दी ही चले जाने को वाध्य होंगे, क्योंकि पास के बाजार से खाने-पीने का सामान नही खरीद पाते।" "सब जिलों में क्रान्ति आरंभ हो गयी है।"

इस स्मृतिपत्र में उन्होने निम्नलिखित घटनाओं का भी उल्लेख किया : (१) विद्रोही रैय्यत ने मोल्लाहार्टी कोठी के सहायक मैनेजर कैम्पबेल साहब पर आक्रमण किया और उन्हें मरा समझ कर मैदान में फेंक कर चली गयी, (२) खजूरा की कोठी लूट कर उसमें आग लगा दी ; (३) लोकनाथपुर की कोठी पर हमला किया ; (४) चाँदपुर की कोठी के गुदाम में आग लगा दी ; (५) वामनदी कोठी के किसान हथियार इकट्ठा कर रहे हैं और दूसरी कोठियों में भी विद्रोह फैल रहा है। सारा कृष्ण नगर (नदिया) जिला निलहों के काबू के बाहर चला गया है।[1]

---

१. हिन्दू पैट्रियट, १७ मार्च १८६०

जून १८६० को 'कलकत्ता रिव्यू' में लिखा गया :

"बंगाल के ग्रामवासियों में एक आकस्मिक और अत्यन्त आश्चर्यजनक परिवर्तन आ गया है। एक क्षण में उन्होंने अपनी स्वाधीनता की घोषणा कर दी है। जिस रैय्यत के साथ हम खरीदे गुलाम की तरह या रूस के भूमिदास की तरह व्यवहार करने के आदी थे, जिसे हम जमीन्दारों और निलहों का निर्विरोध यंत्र समझते थे, अन्त में वही जाग उठी है, सक्रिय हो उठी है और प्रतिज्ञा की है कि अब वह जंजीरों में बंधी नहीं रहेगी। इस वक्त गाँवों के किसानों ने जिस आश्चर्यजनक अनुभव द्वारा नील की खेती के बारे में निश्चय किया है और जिसके फलस्वरूप उनके बीच अनेक जगहों में विस्फोट दीख पड़ रहे हैं, उसकी कल्पना विज्ञ व्यक्ति भी न कर सके थे।" (पृ० ३५५)

१८६० के मार्च महीने से लेकर जून के मध्य भाग तक नदिया, जैसोर, बारासात, पाबना, राजशाही, फरीदपुर और खास बंगाल के अन्य जिलों में विद्रोह तेजी के साथ फैल गया। 'छोटे लाटों के मातहत बंगाल' नामक पुस्तक के लेखक बकलैण्ड के अनुसार विद्रोह सबसे पहले उत्तर बंगाल से आरम्भ हुआ। उन्होंने लिखा है कि औरगाबाद महकमे की एन्ड्रूज कंपनी की आनकूरा कोठी पर विद्रोहियों ने सबसे पहले आक्रमण किया। किसान लठैतों ने बनियागाँव की कोठी को भी धूल मे मिला दिया। मालदह जिले की एन्ड्रूज कंपनी की बाकराबाद कोठी भी लूट ली गयी।[1]

सेकेण्ड बंगाल पुलिस बटालियन का हवलदार सीबू खाँ अपने पुलिस दलके साथ पाबना जिले की निशानपुर फैक्टरी में था। उसे विद्रोही किसानों का दमन करने के लिए भेजा गया था। उसने अपने अनुभव को १० अप्रैल, १८६० के पत्र में वर्णन करते हुए लिखा :

"सुबह हम तैयार होकर पियारी नामक गाँव गये। ज्योंही हम उस गाँव मे पहुँचे, लाठी, बल्लम और तीर-धनुष से लैस दो हजार किसानों ने हमें चारों तरफ से घेर लिया। वे क्रमशः हमलोगों की तरफ आगे बढने लगे। उनके बल्लम के आघात से मजिस्ट्रेट साहब का घोड़ा घायल हो गया। हमें समाचार मिला कि आसपास के बावन गाँवों से ये विद्रोही इकट्ठा हुए थे। इनमें से एक आदमी ने खास कर हमारी दृष्टि आकर्षित की थी और उसकी तरफ से बन्दूक की गोलियो की कई आवाजें भी सुनाई पड़ी थी।"

संभवतः इसी घटना के बारे में बकलैण्ड ने लिखा है कि पाबना जिले में एक डिपुटी मजिस्ट्रेट के मातहत हथियारबन्द पुलिस के छोटे से दस्ते को लठैतों के बहुत बड़े दल ने हरा कर मार भगाया था। लठैतों का यह दल नील की खेती बन्द करने के लिए जमा हुआ था।

१९ मई, १८६० को 'हिन्दू पैट्रियट' नामक पत्र में उसके संपादक हरिश्चन्द्र मुखोपाध्याय ने लिखा :

"बंगाल अपने किसानों पर अवश्य ही गर्व कर सकता है। नील आन्दोलन आरंभ

१. सी० ई० बकलैण्ड, बंगाल अण्डर लेफ्टिनेण्ट गवर्नर्स, खण्ड १, पृ० १८८

होने के बाद से बंगाल की रैय्यत ने जिस नैतिक शक्ति का इतना स्पष्ट परिचय दिया है, वह अन्य किसी भी देश के किसानों में देखी नही गयी। गरीब, राजनीतिक ज्ञान और क्षमता से विहीन एवं नेतृत्वहीन होने पर भी ये सारे किसान इस तरह की क्रान्ति करने में सफल हुए है, जो गरुत्व और महत्व में किसी भी देश के सामाजिक इतिहास की क्रान्ति की तुलना में किसी भी तरह कम नही। उन्हें एक ऐसी शक्ति के विरुद्ध संग्राम करना पड़ा है जिसके हाथ में दुर्द्धर्ष क्षमता के सब प्रकार के उपकरण थे। सरकार उनके खिलाफ थी, समाचार पत्र भी उनके खिलाफ थे, कानून अदालत सभी उनके खिलाफ थें—इन शक्तियों के खिलाफ उन्होंने जो सफलता प्राप्त की, उसका सुफल समाज के सभी वर्ग और देश के भावी वंशधर भोग सकेंगे।.....इसी बीच रैय्यत को सताने वाले समझ गये है कि उनके स्वेच्छाचारी राज का अन्त होने जा रहा है।....इस क्रान्ति के लिए उन्हें (रैय्यत को) अवर्णनीय कष्ट सहने पड़े है—प्रहार, अपमान, गृहत्याग, सम्पत्ति ध्वंस, सब उन्हें भोगना पड़ा है, सब तरह के अत्याचार उन पर हुए है। गाँव के गाँव जला दिये गये है; पुरुषों को पकड़ कर कैद कर दिया गया है, स्त्रियों पर पाशविक अत्याचार हुए हैं, धान के गोले बखार नष्ट किये गये है, सब प्रकार की नृशंसता उनके ऊपर बरसायी गयी है। इस पर भी रैय्यत ने सर नही झुकाया।"

इसी 'हिन्दू पैट्रियट' मे शिशिर कुमार घोष के छपे पत्र किसानों की संग्रामी दृढ़ता के बारे में बहुत प्रकाश डालते है। ५ जुलाई, १८६० के पत्र में उन्होंने लिखा :

"निलहे केनी के लोगों ने एक किसान का अपहरण किया है—यह समाचार फैलते ही सत्ताइस गाँवों के किसानों ने केनी की कोठी से सारा सम्बन्ध तोड़ लिया। बिजलिया कोठी के ओकान साहब ने कुछ गाँवों के प्रधानों को गिरफ्तार कर, उन्हे नील की खेती के इकरारनामे पर दस्तखत करने को मजबूर किया। प्रधानों ने गाँव वापस आकर सब किसानों को इकट्ठा किया और कोठी के अमीनों तथा तागीददारों को पीटते-पीटते गाँव के बाहर निकाल दिया।...अन्त में गाँव के किसानों ने अपना अधिकार बचाये रखने के लिए अन्तिम उपाय का सहारा लिया। २० जून को मल्लिकपुर में मीरगंज की कोठी के जान मैकार्थर के दल के साथ गाँव के किसानों का एक बड़ा संघर्ष हो गया है।"

८ अगस्त, १८६० के पत्र में उन्होंने लिखा.

"यशोहर (जैसोर) की रैय्यत बिगड़ गयी है।....संग्राम के प्रधान केन्द्र छालकोपा, बिजलिया, रामनगर आदि स्थानों की कोठियाँ हैं। हजार-हजार किसानों ने नील कोठी का आक्रमण रोकने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर रखी है। बलपूर्वक फसल ले जाने के लिए निलहे रिवाल्वर, गोली-बारूद और लठैत इकट्ठा कर रहे हैं। गाँव के किसान भी लाठी और बल्लम इकट्ठा कर रहे हैं। उनकी प्रतिज्ञा है कि मूल्य पाये बिना वे फसल न ले जाने देंगे।"

नील विद्रोह की समीक्षा करते हुए १८८० में शिशिर कुमार घोष ने 'अमृत बाजार पत्रिका' में लिखा :

"इस विद्रोह में बंगाल के पचास लाख किसानों ने जिस देश प्रेम, आत्मत्याग और निष्ठा का परिचय दिया, उसका उदाहरण दुनिया के इतिहास में विरल है। जिन किसानों को जेल में बन्द कर रखा गया था, वे भी नील की खेती करने को राजी न हुए, हालांकि सरकारी तौर पर वादा किया गया था कि उन्हें जेल से रिहा कर दिया जायगा, उनके घर द्वार जिन्हें निलहों ने ध्वंस कर दिया था, फिर बनवा दिये जायेंगे और उनके स्त्री, पुत्र, परिवार को, जो भिखारी बन कर दर-दर ठोकरें खाते फिरते थे, फिर वापस ला दिया जायगा।"

किसानों के इस विद्रोह को देख कर निलहे और दूसरे अंगरेज कांप रहे थे। जुलाई १८६० में ब्रिटिश जमीन्दार और वणिक समिति के अध्यक्ष मैकिन्टे ने इंगलैण्ड के भारत-सचिव चार्ल्स उड को पत्र लिखा :

"ग्रामांचल की हालत इस वक्त बिल्कुल अराजकतापूर्ण है। किसान अपना कर्ज और इकरारनामा अस्वीकार कर ही शान्त नही होते, वे महाजनों और मालिको को (अंगरेजों को) देश से निकाल बाहर करने का बन्दोबस्त कर रहे हैं। इस देश से सब यूरोपीयों को निकाल बाहर कर अपनी अपहृत संपत्ति को फिर से वापस लेने की व्यवस्था करना तथा यूरोपीयों से लिया गया सारा कर्ज रद करना ही उनका उद्देश्य है।"

सारे बंगाल में नील विद्रोह को आरंभ होते देख अंगरेज शासकों ने नील की खेती की हालत और नील किसानों के विक्षोभ की जाँच के लिए नील कमीशन ३१ मार्च १८६० को बैठाया। बंगाल सरकार के सेक्रेटरी सेटन कर इसके अध्यक्ष और तीन अंगरेज तथा एक बंगाली इसके सदस्य थे। ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन ने जमीन्दारों के प्रतिनिधि के रूप में चन्द्रमोहन चट्टोपाध्याय को नामजद किया था। इंडियन प्लान्टर्स एसोसिएशन ने एक प्रतिनिधि नामजद किया था जो निलहों का प्रतिनिधित्व करता था। किसानों का कोई भी प्रतिनिधि न था, उनका कोई केन्द्रीय संगठन भी न था। लेकिन रेवरेन्ड सेल नामक एक अंगरेज पादरी को रैय्यत और मिशनरियों के प्रतिनिधि के तौर पर लिया गया था।

इस कमीशन ने मई में अपना काम आरंभ किया और २७ अगस्त १८६० में अपनी रिपोर्ट पेश की। इस कमीशन के सामने गवाहियों के कुछ उदाहरण हम पहले दे आये हैं। सरकारी कमीशन होते हुए भी इसे स्वीकार करना पड़ा कि निलहे साहबों के खिलाफ लगाये गये अधिकांश आरोप सच हैं। बंगाल के उस वक्त के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर ग्रान्ट ने इस रिपोर्ट की भूमिका में स्वीकार किया कि बंगाल की प्रजा क्रीतदास नहीं, बल्कि वस्तुत: भूमि की स्वत्वाधिकारी है। अगर वह इस प्रकार की क्षति की विरोधी बन गयी तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। जो हानिकारक है, उसे कराने के लिए अत्याचार

अवश्यंभावी है। ये अत्यधिक अत्याचार ही नील के किसानों की अशान्ति के मूल कारण हैं।

यह सब स्वीकार करते हुए भी निलहों के अत्याचार रोकने के लिए कोई कानून नही बना। सिर्फ में छपा कर सरकार की तरफ से सूचित कर दिया गया कि (१) सरकार नील की खेती पक्ष या विपक्ष में नहीं; (२) अन्य शस्य की भांति नील भी बोने, न बोने का अधिकार जा को है; (३) कानून भंग कर अत्याचार या अशान्ति का कारण पैदा करने पर निलहे साहबों या विद्रोही किसानों में से किसी को भी कठोर दण्ड से बचने न दिया जायगा।

अंगरेज सरकार ने इस तरह तटस्थता का दिखावा किया, लेकिन पुलिस और मिलिटरी भेज कर जगह-जगह किसानों के दमन के लिए कदम उठाये। पर नील की खेती न करने का किसानों का आन्दोलन तेजी से चलता रहा। उनके आन्दोलन ने नया रूप—लगानबन्दी का रूप धारण किया। उन्होंने निलहों और जमीन्दारों को लगान देना बन्द कर दिया।

अगस्त-सितम्बर १८६० में बंगाल के छोटे लाट ग्रान्ट नदी के रास्ते बंगाल की हालत देखने गये थे। वापस आकर १७ सितम्बर १८६० को जो रिपोर्ट उन्होंने लिखी, उसमें उन्होंने स्वीकार किया कि उनके कुमार और कालिन्दी नदी को पकड़ कर जाते वक्त और खास कर वापस आते वक्त हजारों किसान नदी के दोनों किनारों पर आकर जमा हुए थे। उन्होंने ग्रान्ट से ऐसा कानून बनाने की मांग की थी जिससे उन्हें नील की खेती न करनी पड़े।

किसानों के असंतोष के इस रूप को अपनी आँखों देख कर ही ग्रान्ट ने किसानों के दमन के लिए कठोर कदम उठाने की निलहों की माँग ठुकरा दी थी। उन्होंने निलहों की इस मांग को खतरनाक बताते हुए लिखा कि ऐसा करने से बड़ा भारी किसान विद्रोह हो जायगा जो भारत में ब्रिटिश पूंजी को ध्वंस कर देगा।

नील किसानों के इस विद्रोह की अन्त में जीत हुई। बंगाल मे नील की खेती बन्द हो गयी। निलहे यहाँ से हट कर बिहार और उत्तर प्रदेश के किसानों का खन चूसने लगे। आगे चल कर बीसवीं सदी में चम्पारण और खेड़ा के किसान भी इन शोषकों के खिलाफ उठ खड़े हुए थे। अवश्य ही आगे चल कर रासायनिक क्रिया से बनने वाले नील ने नील की खेती हमेशा के लिए समाप्त कर दी।

नील किसानों के इस संग्राम के कुछ पहलुओं पर विचार करना जरूरी है। उनका कोई केन्द्रीय संगठन न था, न कोई बड़ा नेता था। स्थानीय नेताओं में नदिया जिले के चौगाछा गाँव के विष्णुचरण विश्वास और दिगम्बर विश्वास के नाम आते है। ज्यादातर गाँव-गाँव में किसानों ने अपने नेता चुने थे और दूसरे गाँवों से सम्बन्ध स्थापित किया था। अवश्य ही उस वक्त के पत्रों और कुछ पुस्तकों से उनके संगठन और रणनीति पर कुछ प्रकाश पड़ता है। १८६० में 'इंडियन फील्ड' नामक मासिक पत्रिका में प्रकाशित नदिया जिले के कृष्णनगर के एक जर्मन पादरी ने एक पत्र में लिखा :

"किसानों ने छः विभिन्न कंपनियों में अपने को विभक्त कर लिया था। एक कंपनी

गठित हुई थी सिर्फ तीर-धनुष लेकर। प्राचीन काल के डेविड की तरह सिर्फ गोफनों से ढेले मारनेवालों को लेकर दूसरी कंपनी बनी थी। ईंट वालों को लेकर और एक कंपनी बनी थी जो मेरे मकान के आंगन से भी ईंट उखाड़ ले गये थे। और एक कम्पनी थी बेल वालों की। उनका काम था सख्त कच्चे बेल फेंक कर निलहे साहबों के लठैतों के सर पर मारना। थाली वालो को लेकर एक गौर कंपनी बनायी गयी थी। वे भात खाने की पीतल की थाली चक्र की तरह शत्रु पर फेंक कर मारते थे। उससे शत्रु-निधन अच्छी तरह ही होता है। और एक कंपनी रोड़ा वालों को लेकर बनायी गयी थी। वे अच्छी तरह पकाये गये मिट्टी के बर्तन के टुकड़े या पूरा बर्तन लेकर शत्रु का स्वागत करते। खास कर बंगाली स्त्रियाँ इन अस्त्रों का व्यवहार अच्छी तरह जानती है। एक दिन निलहे के लठैतों ने जब देखा कि स्त्रियाँ इन अस्त्रों से लैस होकर उनकी तरफ दौड़ती चली आ रही हैं, तो वे डर कर भाग खड़े हुए। इन सब के अलावा एक और कंपनी बनायी गयी है जिसमे लाठी चलाने वालों को लिया गया है। उनकी सर्वश्रेष्ठ वाहिनी है 'युधिष्ठिर कंपनी' अर्थात् बल्लभधारी वाहिनी।.. एक बल्लमधारी एक सौ लठैतो को पराजित कर सकता है। इनकी संख्या कम होने पर भी ये अत्यन्त दुर्द्धर्ष है और निलहों के लठैत इनसे इतना डरते है कि उनकी हिम्मत आक्रमण करने की नही होती।"१

इनसे स्पष्ट है कि निरस्त्र किसानों के पास जो भी हथियार सभव थे और अंगरेज सरकार जिन पर कोई कानूनी रोक भी नही लगा सकती थी, विद्रोही किसानों ने उनका इस्तेमाल करने की कोशिश की थी। इन सब अस्त्रों के प्रयोग की शिक्षा भी देने की व्यवस्था की गयी थी। विद्रोहियों के संग्राम के कौशल के बारे मे अनाथनाथ वसु ने 'महात्मा शिशिरकुमार घोष' नामक पुस्तक में लिखा :

"(निलहों के) लठैतों से अपनी रक्षा के लिए किसानों ने एक अपूर्व कौशल का आविष्कार किया था। हर गाँव के किनारे उन्होने एक नगाड़ा रख दिया था। जैसे ही लठैत गाँव पर हमला करने की कोशिश करते, किसान नगाड़ा बजा कर आस पास के गाँव की रैय्यत को विपत्ति की सूचना देते और वे इसे सुनते ही दल के दल आ जुटते। इस तरह थोड़े ही समय मे चार-पाँच गाँवो के लोग इकट्ठा होकर निलहे साहबों के लठैतों के साथ तुमुल संग्राम मे जुट जाते।" (पृ० ३६)

इसी सम्बन्ध में सतीश मित्र ने 'यशोहर-खुलनार इतिहास' (जैसोर-खुलना का इतिहास) नामक पुस्तक में लिखा :

"गाँव की सीमा के पास एक जगह डुगडुगी रहती थी। निलहों के आदमी अत्याचार करने गाँव आते तो कोई उस डुगडुगी को बजा देता। उसी वक्त गाँव के सैकड़ों किसान लाठी-सोंटा लेकर दौड़ते हुए आ पहुँचते। निलहों के लोग प्राय: अक्षत देह लेकर वापस न जा पाते। सम्मिलित प्रजा शक्ति के विरुद्ध खड़ा होना सहज

१. हिन्दू पैट्रियट, ११ फरवरी १८६०

काम नहीं. . .सिपाही विद्रोह की समाप्ति के बाद नाना सहब और तातिया टोपे के नाम देश भर में गूंज उठे थे। नील-विद्रोही किसान भी अपने नेताओं को इन सब नामों से पुकारते थे।" (पृ० ७८१, खण्ड २)

नील किसानों के पक्ष में जो मुट्ठी भर मनीषी खड़े हुए थे, उनमें हरिश्चन्द्र मुखोपाध्याय, रेवरेण्ड जेम्स लांग, शिशिरकुमार घोष और दीनबन्धु मित्र के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। हरिश्चन्द्र मुखोपाध्याय ने 'हिन्दू पैट्रियट' नामक पत्र के जरिए विद्रोही किसानों का बड़ा समर्थन किया। वे निलहों के अत्याचारों के समाचार अपने पत्र में छापा करते थे। काचीकाटा कोठी के निलहे आर्चिबाल्ड हिल ने कृष्णनगर की एक किसान औरत को जबर्दस्ती पकड़ कर अपने घर में रात के साढ़े ग्यारह बजे तक बन्द रखा था। यह समाचार छापने के कारण हरिश्चन्द्र मुखर्जी पर इस निलहे ने मानहानि का मुकदमा चलाया था। मामला चलते ही वक्त उनकी मृत्यु हो गयी थी। उनकी मृत्य के बाद उनकी स्त्री पर मुकदमा चलाया गया। औरों से मदद न पाकर उनकी स्त्री ने एक हजार रुपया देकर मामले को हटवा लिया।

लाँग मिशनरी थे, अंगरेज होते हुए भी वे निलहों के अत्याचारों के विरोधी थे। उन्होंने इन अत्याचारों के बारे में एक पुस्तिका भी लिखी थी जिसमें निलहों के बारे में किसानों के गाने भी थे। दीनबन्धु मित्र ने जब 'नील दर्पण' नाटक लिखा तो उन्होंने इसका अनुवाद अंगरेजी में किया। निलहों के समर्थक कलकत्ते से प्रकाशित होने वाले अंगरेजी दैनिक 'इंगलिश मैन' के संपादक ब्रेट ने लाँग पर इस नाटक का अनुवाद करने के और उसकी भूमिका लिखने के लिए मानहानि का मुकदमा चलाया। सुप्रीम कोर्ट के जज वैलेस ने निलहों का पक्षपात कर उन्हें एक महीने जेल और हजार रुपये जुर्माने की सजा दी।

शिशिरकुमार घोष 'हिन्दू-पैट्रियट' में किसानों के संग्राम के बारे में हमेशा लिखा करते थे। दीनबन्धु मित्र ने नील कमीशन की रिपोर्ट के प्रकाशित होने के बाद ही 'नील दर्पण' नाटक लिखा। यह बहुत ही जनप्रिय हुआ।

नील के किसानों का संग्राम जमीन्दारों, उपनिवेशवादियों और उनकी सरकार के खिलाफ था। निलहे पूंजीवादी जमीन्दार थे, ये विदेशी थे। आज हमारे देश में देशी पूंजीवादी जमीन्दार पैदा हो रहे हैं। इनके खिलाफ संग्राम करने वाले किसान नील विद्रोह से बहुत सी शिक्षा ले सकते हैं।

अध्याय ७५

जयन्तिया विद्रोह

(१८६०-६३)

"जयन्तिया पहाड़ियाँ एक पीढ़ी से ब्रिटिश भूमि थीं, लेकिन यह भूमि नाम मात्र को ही ब्रिटिश थी। जब तक यहाँ के लोगों को अपने रंग-ढंग पर पूर्णतः छोड़ दिया जाता, तब तक उन्हें किसी तरह की गड़बड़ी करने का बहाना न मिलता, लेकिन कर जैसी अपमान जनक बात पर गुस्सा जाहिर करने को वे हमेशा तैयार रहते।"[१]

उपरोक्त उदाहरण बताता है कि टैक्सों का बोझ लाद कर भारतीयों को नोचने और अपने मुनाफे का पहाड़ बढ़ाने की अंग्रेजों की नीति के कारण ही जयन्तिया की पहाड़ियों में विद्रोह हुआ। मार्के की बात है कि जब यह विद्रोह हुआ उस वक्त ईस्ट इंडिया कंपनी का राज खत्म हो चुका था और महारानी विक्टोरिया के राज की घोषणा हो चुकी थी। इसके बाद भी जयन्तिया के पहाड़ियों पर नये-नये टैक्स का लगाया जाना सूचित करता है कि अंगरेजों के साम्राजी शोषण के राज का सिर्फ नाम बदल गया था। विद्रोही भारत-वासियों की आँख में धूल झोंकने के लिए नाम बदला गया, लेकिन दिन-पर-दिन ज्यादा शोषण की नीति ज्यों-की-त्यों रखी गयी।

रेवेन्यू बोर्ड का सदस्य एलेन खासी और जयन्तिया की पहाड़ियों में रह आया था। १८५७ के महाविद्रोह के जमाने में उसके जिम्मे काछाड़, सिलहट समेत पूर्वी अंचल की रक्षा का भार सौंपा गया था। उस काम से फुर्सत पाकर उसने अंगरेज साम्राजियों की आय बढ़ाने का उपाय सोचा। जयन्तिया पहाड़ियों में रहने वाले सिन्तेंग लोगों पर अंगरेजों का राज माना जाता था, लेकिन ये पहाड़ी अपने को स्वतंत्र ही समझते थे। एलेन ने फैसला किया कि इन लोगों से कर वसूल किया जाना चाहिए, ताकि इन लोगों को अनुभव हो कि वे ब्रिटिश सरकार के मातहत हैं। उसका यह कार्य ब्रिटिश सरकार की आय बढ़ाने के लिए था, लेकिन वह इसके समर्थन में तर्क देता कि इससे ये पहाड़ी मितव्ययी और परिश्रमी हो जायेंगे तथा अशान्ति कम फैलायेंगे। अपने तर्क के समर्थन में ही आदिवासियों का उदाहरण देता और कहता कि जब से टैक्स लगा तब से उनकी विद्रोह की भावना कम पड़ गयी है।[२]

एलेन के इस फैसले के अनुसार १८६० में इन पहाड़ियों पर गृह कर लादा गया। इस कर के लादे जाने के कुछ महीने बाद ही सिन्तेंगों ने विद्रोह का झण्डा बुलन्द किया। लेकिन अंगरेजों ने इसे कुचलने के लिए बड़ी सेना पहले से ही इकट्ठा कर

१. आसाम डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, खासी, जयन्तिया एण्ड गारो हिल्स, पृ० ५१
२. सर एडवर्ड गेट, हिस्ट्री आफ आसाम, पृ० १८०

रखी थी, इसलिए उसे फौरन दबा दिया। विद्रोहियों को आतंकित कर चुप रहने को वाध्य किया।

अंगरेज अधिकारियों ने अब प्रशासन में सुधार की चेष्टा की। दोलोइयों अर्थात् मुखियों की क्षमता बढ़ा दी गयी, लेकिन उन्हें बता दिया गया कि अगर अंगरेजों के खिलाफ जरा भी गये तो बरखास्त कर दिये जाओगे और उस जगह दूसरा 'दोलोई' नियुक्त कर दिया जायगा। पुलिस को सब अपराधों की रिपोर्ट देने का काम भी उन्हें सौंपा गया।

साम्राजियों की भूख सिर्फ गृह कर लगाने से ही कैसे शान्त होती? उन्होंने फौरन आय कर लगाने का फैसला किया। यहाँ के आदिवासियों के सब नेताओं समेत ३१० आदमियों पर आय कर लगा दिया गया और उन्हें प्रतिवर्ष १,२५९ रुपया देने का आदेश दिया गया।

पहाड़ियों ने समझ लिया कि इन टैक्सों का विरोध न किया गया तो उनका कभी अन्त न होगा। एक-आध साल में ही कोई अन्य टैक्स लाद दिया जायगा। इसलिए पहले साल तो उन्होंने गुस्से को पीकर आय कर चुका दिया, लेकिन दूसरे साल वे विद्रोह के मैदान में कूद पड़े।

१७ जनवरी, १८६२ को उन्होंने जोवाई थाने को आ घेरा। सिपाहियों ने गोली बरसा कर उन्हें पीछे हटने को वाध्य किया। लेकिन २३ जनवरी, १८६२ को वे फिर चढ़ आये और इस बार थाने को जला कर खाक कर दिया।[1]

इसके बाद उन्होंने ब्रिटिश सरकार की सेना का शिविर आ घेरा। चन्द दिनों के अन्दर उन्होंने इस अंचल से ब्रिटिश राज के सारे चिह्न उखाड़ फेंके।[2]

इस विद्रोह को शान्त करने के लिए सिखों की दो रेजीमेन्टें और हाथियों द्वारा खींचा जाने वाला तोपखाना इन पहाड़ियों में ले जाया गया। सिन्तेंगों ने जिस बहादुरी के साथ इस सेना का मुकाबिला किया, उसके कायल अंगरेज शासक भी हैं। इस सम्बन्ध में 'आसाम का इतिहास' के रचयिता सर एडवर्ड गेट ने, जो इंडियन सिविल सर्विसेज में थे अर्थात् भारत में ब्रिटिश शासन की मशीन के एक पुर्जे थे, लिखा :

> "...लेकिन सिंतेंगों ने, हालाँकि उनके पास सिर्फ धनुष और तीर थे, अपनी स्वाधीनता के लिए बहादुरी के साथ युद्ध किया।"[3]

सिन्तेंगों की किलेबन्दी और नाकेबन्दी अधिकांश आदिवासियों के पुराने ढंग की थी। नोकीले लट्ठों को जमीन में गाड़ कर वे मोर्चेबन्दी करते और दुश्मनों को आगे बढ़ने से रोकते। गाँवों के जाने वाले सभी रास्तों में 'पांजी' अर्थात् नोकीले छोटे-छोटे बाँस गाड़ कर वे नाकेबन्दी करते।

इन बहादुर आदिवासियों के विद्रोह को दबाने में अंगरेज सरकार को लोहे के चने चबाने पड़े। चार महीने बाद लगा कि विद्रोह शान्त हो गया है, लेकिन शीघ्र ही फिर

१. उपरोक्त गजेटियर, पृ० ५१-२ २. सर एडवर्ड गेट, वही, पृ० ३८१

३. सर एडवर्ड गेट, वही, पृ० ३८१

उसने जोर पकड़ा। सिन्तेंगों ने छापामार युद्ध का सहारा लिया।[1] वे आमने-सामने की लड़ाई से बचते और अवसर देख कर दुश्मन पर टूट पड़ते। इसलिए विद्रोह को कुचलने के लिए अंगरेजों की सेना को एक-एक घाटी, एक-एक जंगल छानना पड़ा। इस तरह विद्रोही नवम्बर, १८६३ तक लड़ते रहे।

इस विद्रोह को कुचलने के बाद ब्रिटिश सरकार ने सिंन्तेंगों को प्रसन्न करने के लिए कई कदम उठाये। गृह-कर लागू रहा, लेकिन उन्हें अन्य सहूलियतें दी गयी। सड़कें बनवायी गयीं, स्कूल खोले गये और पुलिस का हस्तक्षेप न्यूनतम कर दिया गया। लोगों को अपना दोलोई' (मुखिया) चुनने का अधिकार दिया गया। उन्हें अपनी पंचायत बनाने का भी अधिकार दिया गया, जो फौजदारी और दीवानी दोनों किस्म के मामलों का फैसला करती। जवाई में रहने वाले यूरोपीय अफसर के लिए खसिया जानना अनिवार्य कर दिया गया।

१. उपरोक्त गजेटियर, पृ० ५२

अध्याय ७६

कूकी विद्रोह

(१८६०-९०)

अंगरेज इतिहासकारों ने कूकियों को दुर्द्धर्ष बताते हुए आम तौर पर लिखा है कि वे लूटपाट करने और सर काट ले जाने के लिए पहाड़ों से उतर कर मैदानों के निवासियों पर हमला करते। अंगरेज सरकार इन निवासियों की रक्षा करने जाती और इसीलिए कूकियों से उसका कई बार युद्ध हुआ। अफसोस की बात है कि हमारे कितने ही नामी इतिहासकारों ने अंगरेज उपनिवेशवादियों के इसी असत्य को दोहराया। लेकिन अगर हम अंगरेज साम्राजियों द्वारा दिये गये तत्त्वों पर ही अच्छी तरह गौर करें, तो हमें कूकियों के साथ अंगरेज उपनिवेशवादियों की टक्कर की वास्तविकता कुछ और ही मालूम होती है। उदाहरण के लिए अंगरेज साम्राजियों द्वारा लिखे गये दो उद्धरणों को लीजिए :

> "उन्हें अत्यावश्यक वस्तुओं के लिए कम दाम पर फसल बेचना और अत्यधिक मूल्य देकर बीज खरीदना पड़ता। इस अन्याय के कारण वे चरम आर्थिक दुर्दशा में जा पड़े और प्राय: सारी उपजाति साहूकारों के कर्ज के जाल में फंस गयी। मुसीबत के समय वे किसी महाजन से चन्द रुपयों का कर्ज लेते हैं। उन्हें निरक्षर समझ कर ऋणपत्र पर सूद बहुत ज्यादा बढ़ा कर लिखा जाता है। इस कर्ज के जाल से वे कदाचित ही मुक्त हो पाते हैं। अधिकारी महाजनों के कर्ज से उनकी रक्षा की भर सक चेष्टा करते हैं, पर रक्त पिपासु महाजनों को रोकना अत्यन्त कठिन है।"[१]

> "लगता है कि राजा की प्रजा के एक हिस्से ने अविराम शोषण से क्रुद्ध होकर राज्य पर आक्रमण करने और लूटने के लिए कूकियों का आह्वान किया था।"[२]

ये दोनों उद्धरण किस बात की ओर संकेत करते हैं? ये बताते हैं कि बेईमान साहूकार इन कूकियों की निरक्षरता और सरलता से नाजायज फायदा उठा कर उन्हें लूटते थे। ये साहूकार मैदानों के रहने वाले थे और कूकी अंचल के आस-पास के बाजार इनके अड्डे थे। इन अड्डों से वे अपनी सूदखोरी का जाल कूकियों के अंचल तक फैलाते। इन बेईमान सौदागरों से असन्तुष्ट होकर उनके अड्डों पर कूकियों का हमला बिल्कुल स्वाभाविक है। दूसरा उद्धरण बताता है कि त्रिपुरा के राजा की असन्तुष्ट प्रजा ने भी कभी-कभी उन्हें आमंत्रित किया था। वे शोषित जनता की मदद में आये थे। इसके भी पहले के इतिहास में हम जायें तो देखते हैं कि त्रिपुरा के राजवंश और कितने ही असंतुष्ट तत्वों ने कूकियों को अपनी मदद के लिए आने को आमंत्रित किया था।

---

१. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर आफ चिट्टागाँग हिल ट्रैक्ट्स, पृ० ६७

२. चटगाँव के कमिश्नर के पास कलक्टर की ७ नवम्बर, १८६० की रिपोर्ट।

अठारहवीं सदी के अन्त तक कूकी त्रिपुरा राजा की प्रजा के रूप में रहते थे। इस सदी के अन्त में महाराजा कृष्ण माणिक्य के शासन काल में पइतू कूकियों के प्रधान सरदार शिवबूत पचास हजार कूकी परिवारों को लेकर अलग पहाड़ों में जा बसे और अपने को स्वाधीन घोषित किया। अवश्य ही इनका एक हिस्सा बाद में त्रिपुरा वापस आया और पहाड़ों में बस्तियाँ बना कर रहने लगा।

त्रिपुरा के इतिहास पर नजर डालने से पता लगता है कि मैदानी हिस्से पर कूकियों का पहला आक्रमण १७३७ में हुआ था। इस सम्बन्ध में त्रिपुरा के इतिहास के रचयिता कैलाश चन्द्र सिंहने लिखा :

"११४७ त्रिपुराब्द (१७३७ ई०) में राजवंश के पारिवारिक अन्तर्द्वन्द्व के समय महाराज मुकुन्द माणिक्य और मुसलमान फौजदार को कारारुद्ध कर सूबा रुद्रमणि ठाकुर ने जय माणिक्य नाम ग्रहण कर सिंहासन पर अधिकार किया। उस वक्त रण दुर्मद कूकियों ने उनकी सहायता की थी।"[१]

१७६७ में शमशेर गाजी के नेतृत्व में हुए किसान-विद्रोह के दमन के लिए त्रिपुरा के तत्कालीन राजा कृष्ण चन्द्र माणिक्य ने कूकियों को बुलाया था, इसका जिक्र हम पहले कर आये हैं। १८२४-२६ में चन्द्र ठाकुर द्वारा उकसाये जाने पर कूकियों ने त्रिपुरा के राजा से कई बार लोहा लिया।[२] १८३६ में त्रिपुरा के राजवंश के राम कानू ठाकुर ने तीन-चार सौ कूकियों को लेकर खण्डल गाँव के मेरकू चौधरी के मकान पर हमला किया। वे कूकियों की सहायता से चौधरी का घर खाक कर और १५ आदमियों की हत्या कर पहाड़ी अंचल में चले गये थे। मेरकू चौधरी बदनाम साहूकार था। उसके अत्याचार से कूकी तंग आ गये थे। कूकियों के आक्रमण का यही मूल कारण था। राम कानू ठाकुर ने चौधरी से बदला लेने की गरज से कूकियों के क्रोध की आग में घी मात्र डाला था।[३] १८४३ में राजवंश के भगवान चन्द्र ठाकुर ने कूकियों का एक दल लेकर खण्डल परगने के एक गाँव को लूट कर जला दिया था।[४]

उपरोक्त उदाहरण बताते हैं कि त्रिपुरा के राज परिवार के लोगों ने कूकियों को अपने स्वार्थ साधन में कितनी ही बार इस्तेमाल किया। लेकिन एक दिन वह भी आया जब यही कूकी सामन्ती शोषण, साहूकारों के अत्याचार और उनके समर्थक तथा रक्षक अंगरेज उपनिवेशवादियों के खिलाफ उठ खड़े हुए। पर उस पर जाने के पहले जरा गौर किया जाय कि साहूकार कैसे कूकियों का शोषण करते थे।

कूकी अंचल में तीन बाजार थे—चांगशील जो पहले व्यापारी बाजार कहलाता था, सोनाई और टेपाईमुख। काछाड़, श्रीहट (सिलहट) और त्रिपुरा राज्य के खण्डल परगने के बंगाली बनिये इन बाजारों में नमक तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ ले जाकर कूकियों के हाथ बेचते और उनसे नाम मात्र के मूल्य पर रबड़ खरीद कर ले आते। धीरे-धीरे कूकियों की समझ में आ गया कि ये बनिये किस तरह उन्हें लूट रहे हैं। उन्होंने आपस

१. कैलास चन्द्र सिंह, राजमाला (बंगला), पृ० ३५०
२. वही. पृ० ३५१ ३. वही, पृ० ३५६ ४. वही, पृ० ३५८

में सलाह कर रबड़ की ज्यादा कीमत मांगी और सरदारों ने उनसे अतिरिक्त शुल्क की मांग की। सौदागरों ने इन्हें देने से इन्कार किया, इसलिए तीनों बाजार बन्द हो गये। नमक आदि के अभाव से कूकियों को बड़ा कष्ट होने लगा। कूकियों के आक्रमण का यह भी एक कारण था।[1]

१८६० के कूकी आक्रमण का मूल कारण बताते हुए त्रिपुरा के इतिहास के रचयिता कैलाश चन्द्र सिंह ने लिखा :

"त्रिपुरा के पार्वत्य प्रदेश का रियांग सम्प्रदाय कूकियों की तरह भयंकर न होने पर भी नितान्त निरीह नहीं। रियांग लोग खण्डल के बंगाली महाजनों से हमेशा रुपया उधार लेते। पार्वत्य प्रदेश में अनावृष्टि के कारण दो-तीन साल लगातार अन्न पैदा नहीं हुआ। सूद और मूल मिला कर कर्ज बहुत चढ़ गया। महाजन रुपए के लिए रियांग लोगों से तकाजा करने लगे। उसे असह्य अनुभव कर रियांगों ने दुप्खाङ्ग (कूकियों की एक जाति) और अन्य कूकियों से मिल कर यह कार्य (आक्रमण) पूरा किया। कृष्ण चन्द्र ठाकुर, राजकुमार नीलकृष्ण ठाकुर आदि राजवंश के लोग इसमें शामिल थे। विख्यात कूकी सरदार रतन पुंइया ने इनका साथ दिया था।"[2]

जनवरी १८६० के अन्त में त्रिपुरा राज्य के खण्डल परगने के छागलनाइया थाने के मुनसीरखील नामक गाँव के बाजार में त्रिपुरा राज्य के एक सेनापति धरनीधर सिंह ने अपने मातहत की सेना को लेकर एक पूजा का आयोजन किया था। इसी समय समाचार आया कि चार-पाँच सौ कूकियों ने पास के गाँव पर हमला किया है। यह समाचार पहुँचते ही सेनापति और उसकी सेना फौरन भाग खड़ी हुई। कूकियों ने बेरोक टोक १५ गाँवों के सब महाजनों और धनी व्यक्तियों को लूटा और उनके घर जला कर खाक कर दिये। उन्होंने १८५ आदमियों को मार डाला और १०० आदमियों को पकड़ ले गये, जिनमें अधिकांश युवतियाँ थीं। ये कूकी गाँवों से सिर्फ सोना, चाँदी और लोहा ले गये।[3] त्रिपुरा के जिला मजिस्ट्रेट ने उनका मुकाबिला करने के लिए हथियारबन्द पुलिस भेजी। सिपाहियों के हाथ में बन्दूकें देख कर कूकी घने जंगल में घुस गये।

जनवरी १८६१ में कूकियों और रियांगों ने त्रिपुरा की प्राचीन राजधानी उदयपुर पर हमला किया। यहाँ त्रिपुरा राज्य की एक छावनी थी। उस वक्त उसमें एक हवलदार के मातहत पाँच सौ सैनिक थे। कूकियों के आगमन का समाचार सुनते ही वे सब हथियार छोड़ कर सर पर पैर रख कर भागे। कूकियों ने अस्त्रागार पर कब्जा किया, उदयपुर और उसके आस-पास के गाँवों को लूट लिया और एक बड़े बाजार को जला कर खाक कर दिया। जो लोग कूकियों को रोकने आये, मारे गये। इसके बाद कूकियों ने चटगाँव के पहाड़ी अंचल की चाकमा रानी कालिन्दी की जमीन्दारी के कई गाँवों को जलाया।[4]

---

१. वही, पृ० ३८२ २. वही, पृ० ३६५-६६
३. वही, पृ० ३६४ ४. वही, पृ० ३६७

इन कूकियों का मुकाबिला करने के लिए अंगरेज सरकार की सेना आयी। युद्ध में पराजित होकर कूकी घने जंगल में चले गये। अंगरेज सरकार ने २३० सिपाहियों और ३,४५० सशस्त्र कुलियों को लेकर चढ़ाई की। कूकी सब गाँवों को जला कर हट गये और जहाँ भी मुमकिन हुआ सरकारी सेना पर छिप कर आक्रमण किये। अंगरेज सरकार की सेना ने १५०० मन अन्न नष्ट कर कूकियों से बदला लेने की चेष्टा की।[1]

इसके बाद भी कूकियों के बहुत से छोटे-बड़े आक्रमण हुए। जंगल में उनका पीछा करना असम्भव देख अंगरेजों ने उनके तुष्टीकरण का सहारा लिया। १८६२ में पहाड़ी चटगाँव के सुपरिन्टेन्डेन्ट ग्रेहम ने कूकी सरदार रतन पुंइया से सन्धि की। इस सन्धि के अनुसार तय हुआ कि सीमा अंचल में शान्ति की रक्षा के लिए अंगरेज सरकार हर साल रतन पुंइया को ४०० रु०, हाउलंगों को ८०० रु० और साइलो लोगों को ८०० रु० देगी।[2] यह संधि १८६७ तक रही। इसके बाद फिर कूकियों के हमले शुरू हो गये। सरकार ने कूकियों का दमन करने के लिए तीन सेनाएँ भेजीं, लेकिन कोई फल न निकला। १८६८ के अन्त में बंगाल के गवर्नर विलियम ग्रे ने फिर सेना भेजने का प्रस्ताव किया, लेकिन वाइसराय लार्ड मेयो ने इसे बन्द कर दिया और कूकियों के साथ शान्तिवार्ता पर जोर दिया।

शान्ति बनाये रखने के लिए अंगरेज अधिकारियों ने कूकी सरदारों को सन्तुष्ट करने की तरह-तरह से कोशिश की और कूकी सरदार रतन पुंइया को बहुत-सा धन दिया, किन्तु इससे शान्ति न आयी। कुछ दिन बाद फिर कूकी लोगों ने सिलहट, काछाड़ और त्रिपुरा पर हमले शुरू किये। वे बहुत से सरकारी कर्मचारियों और महाजनों को पकड़ ले गये।

१८७१ में अंगरेज सरकार ने कूकियों के खिलाफ दो बड़ी सेनाएँ भेजीं। उसे हुक्म दिया गया कि यदि कूकी आत्मसमर्पण न करें तो उनके गाँव, अन्न की बखारें और खेतों में खड़ा अनाज जला दो।[3] कई हजार सैनिक तोपें-बन्दूकें लेकर कूकी अंचल में घुसे। सरदार रतन पुंइया विभीषण बन गया। इस सेना के साथ जाकर उसने जंगलों और पहाड़ियों में रास्ता दिखाया। कूकियों के घर ध्वंस कर दिये गये, उनके अन्न भंडार जला दिये गये। इस तरह कूकियों को अंगरेज सरकार की अधीनता मानने को वाध्य किया गया।[4] इसके बाद अंगरेजों ने कूकी अंचल को त्रिपुरा से अलग कर लुशाई के साथ मिला दिया और उन पर नजर रखने के लिए अगरतल्ला में एक पोलिटिकल एजेन्ट नियुक्त किया। इसी के हाथ में कूकी अंचल का शासन भार दिया गया।[5]

अक्तूबर १८७९ में कूकियों ने बंगाली साहूकारों से शोषण-उत्पीड़न का बदला लेने के लिए चांगशील बाजार लूट लिया। बाजार के साहूकार जान बचाने के लिए काछाड़ भाग गये। १८८३ में कूकियों के एक दल ने बंगाली साहूकारों के केन्द्र टेपाईमुख के कूकी बाजार पर हमला किया और उसे लूट लिया। कई बंगाली महाजन मारे गये।

---

१. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर आफ चिट्टागांग हिल ट्रैक्ट्स, पृ० ९
२. कैलाश चन्द्र सिंह, राजमाला, पृ० ३६६
३. वही, पृ० ३७७-७८ ४. वही, पृ० ३७९ ५. वही, पृ० ३८०-८१

१८८८ में अंगरेज सेनापति लेफ्टिनेन्ट स्टुआर्ट ने कूकी अंचल की नाप-जोख आरंभ की तो कूकियों ने उन्हें और उनके साथ के सब लोगों को मार दिया। सितम्बर १८९० में अंगरेज सेनापति कैप्टेन ब्राउन सैयंग से चांगशील आ रहा था। उसके साथ एक बंगाली किरानी, एक दफादार, दो सशस्त्र पुलिस और कई कुली थे। कूकियों ने यकायक हमला कर उन्हें मार दिया।[1] इस तरह ये कूकी काफी लम्बे अरसे तक अंगरेजों का मुकाबिला करते रहे, उन्हें बार-बार चुनौती देते रहे।

१. वही, पृ० ३८५-८६

अध्याय ७७

असम में अशान्ति

(१८६१-९४)

हम अन्य अध्यायों में असम के लगभग आधा दर्जन विद्रोहों का वर्णन कर आये हैं। इनके अलावा कितने ही छोटे विद्रोह हुए, जिनका विवरण हम यहां पर दे रहे हैं।

फूलागुड़ी का हंगामा (१८६१)

असम के नौगांव जिले में स्थित फूलागुड़ी के आदिवासी किसान अफीम की खेती करते थे। अंगरेजों ने अफीम का व्यापार बड़े मुनाफे का देख कर अफीम की खेती अपने नियंत्रण में लाने की चेष्टा की। उन्होंने सरकारी इजाजत के बिना अफीम की खेती पर रोक लगा दी। इस रोक के खिलाफ फुलागुड़ी के किसानों में असंतोष फैलना बिल्कुल स्वाभाविक था। इसी बीच अफवाह फैली कि अंगरेज सरकार उन पर आय कर लगाने जा रही है। पान पर भी टैक्स लगने वाला है।[1] इससे लोगों का असंतोष भड़क उठा।

'मेलों' यानी ग्राम-पंचायतों की बैठकें रोज-रोज होने लगीं जिनमें लोग बड़ी संख्या में हिस्सा लेते। उनमें अंगरेज सरकार के नये अन्यायपूर्ण हुक्मों पर विचार किया जाता।[2] इन सभाओं के समाचार अंगरेजों के पास भी पहुंचे। उन्होंने ग्रामसभाओं को भंग करने की चेष्टा की। गांव-गांव पुलिस भेजी जाने लगी। किसानों को डराया-धमकाया जाने लगा और उनके नेताओं को गिरफ्तार करने की कोशिश की जाने लगी। लेकिन आदिवासी किसानों ने इसकी कोई परवाह न की। ग्रामसभा में आदिवासियों की उपस्थिति देख पुलिस का साहस उन्हें भंग करने और उनके नेताओं को गिरफ्तार करने का न होता।

असिस्टेन्ट कमिश्नर लेफ्टिनेन्ट सिंगर अपने को बड़ा तीसमार खां समझता था। १८ दिसम्बर, १८६१ को वह नौगांव से इसकी जांच के लिए गया। नौजवानी का जोश इस अंगरेज अधिकारी पर सवार था, लेकिन वह न जानता था कि मौत उसके सर पर नाच रही है। उसने गांव पहुंचते ही सब ग्रामवासियों को तितर-बितर हो जाने का हुक्म दिया। ग्रामवासियों ने उसकी बात अनसुनी कर दी। सिर्फ अपनी लाठियों को उन्होंने मजबूती से पकड़ा। सिंगर ने तब पुलिस को किसानों की लाठियां छीन लेने का हुक्म दिया। एक सिपाही ने उसके हुक्म के अनुसार लाठियां छीनने की कोशिश की, तो किसानों ने उसकी पिटाई करनी शुरू कर दी। सिंगर उसकी मदद करने दौड़ा,

---
१. आसाम डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, नौगांव, पृ० ५८
२. वही, पृ० ५७

तो उस पर भी एक लट्ठ आ पड़ा और वह जमीन सूंघने लगा। अपने सरदार को ही गिरा देख पुलिस वाले जान लेकर भागे, हालाँकि उनके पास बन्दूकें थीं। साहब को गिरा और जिन्दा देख किसानों के एक नेता ने कहा :

"यह साहब हमारी शिकायतें दूर करने नहीं आया, बल्कि हमें हथकड़ियाँ-बेड़ियाँ पहनाने आया है ; यह अभी जिन्दा है, इसे मार दो।"[1]

उद्दण्ड अफसर को उचित दण्ड मिला। उसके मारे जाने और पुलिस के पलायन का समाचार जब नौगाँव पहुँचा, तो बड़ा हड़कंप मंचा। डिपुटी कमिश्नर ने झटपट दूसरी आसाम लाइट इन्फैन्ट्री के कुछ सैनिक नौगाँव से रवाना किये। खुद वह खजाने की रक्षा के लिए वहाँ रह गया। उसने मदद के लिए तुरन्त एक हरकारा तेजगाँव रवाना किया। कर्नल हापकिंसन उस वक्त तेजगाँव में था। समाचार पाते ही उसने ५० सैनिक फौरन रवाना किये। खुद स्टीमर लेकर वह गौहाटी गया। वहाँ से ८० सैनिक और ले आया।[2] कुछ को तेजपुर में छोड़ कर बाकी को नौगाँव रवाना किया।

किसानों के पास लाठी छोड़कर और कोई अस्त्र न थे। उनसे वे सशस्त्र सैनिकों का मुकाबिला कैसे करते? सेना ने आकर मनमाना अत्याचार किया। किसानों को इस दमन के सामने सर झुका कर अंगरेज शासकों का अन्यायपूर्ण हुक्म मान लेना पड़ा।

शम्भूधन का विद्रोह (१८८२)

काछाड़ जिले में १८८२ में शम्भूधन के विद्रोह का शिकार अंगरेज जिला अधिकारी और चन्द पुलिस वालों को होना पड़ा। इस विद्रोह के कारण क्या थे? सर डब्ल्यू. डब्ल्यू. हंटर ने इस घटना का विवरण देते हुए लिखा है कि शम्भूधन अपने में दैवी शक्ति होने का दावा करता था। वह तरह-तरह के रोगों का इलाज करता था। माईबांग में उसने अड्डा जमाया और उसके कुछ अनुयायी भी जमा हो गये। उसके अनुयायी आस-पास के गाँवों से अपने गुजारे के लिए रसद वसूल करते।

उसे अंगरेजी राज्य के लिए खतरनाक समझ डिपुटी कमिश्नर सशस्त्र पुलिस लेकर माईबाँग गया। वहाँ पहुँचने पर उसने देखा कि जिनकी खोज में वह गया था, वे वह स्थान त्याग कर चले गये हैं। इस बीच शम्भूधन अपने २० अनुयायियों के साथ उत्तर काछाड़ सबडिवीजन के सदर दफ्तर गुनजोंग जा पहुँचा था, जहाँ माईबाँग से पैदल पहुँचने में छः घण्टे लगते थे। शम्भूधन ने गुनजोंग पर आक्रमण कर उसे जला दिया। अपने दल के साथ वह रात को माईबाँग लौट आया, जहाँ मेजर बोइड अपनी सशस्त्र पुलिस के साथ खेमा गाड़े पड़ा था। सबेरा होते ही शम्भूधन के आदमियों ने मेजर बोइड के खेमे पर धावा बोल दिया। लेकिन पुलिस की गोलियों की बौछार के सामने ये काछाड़ी क्या करते? ८-९ काछाड़ी वहीं ढेर हो गये। अवश्य ही वे मेजर बोइड को दाँव या फरसे से हाथ में घायल करने में सफल हुए। उचित उपचार के अभाव में घाव जहरीला हो गया। उसने कुछ दिनों में ही बोइड की जान ले ली।

१. वही, पृ० ५७ २. वही, पृ० ५८

शम्भूधन कुछ दिन इधर-उधर छिपता रहा। आखिर में पुलिस को उसके छिपने के स्थान का पता चल गया। चारों तरफ से घिर जाने पर शम्भूधन ने भाग निकलने की कोशिश की, लेकिन पैर मे गोली लग जाने से वह गिर गया। उसके इलाज का कोई भी प्रबन्ध अंगरेज शासको ने नहीं किया। शरीर से अधिक खून निकल जाने के कारण उसकी मृत्यु हो गयी। उसका गुरु मानसिंह नामक आदमी था। वह पकड़ा गया; उसे आजीवन निर्वासन का दण्ड दिया गया।[1]

कामरूप में लगानबन्दी (१८९३)

१८९३ में असम के कामरूप जिले मे भूमि का राजस्व बढ़ा दिया गया। जिले के कुछ हिस्सों में किसानों ने एक साथ मिलकर लगान देने से इनकार कर दिया।[2] अंगरेज सरकार के रवैये के खिलाफ ग्रामवासियों का असंतोष इस कदर बढ़ा कि २४ दिसम्बर, १८९३ को लगभग २०० आदमियों ने रंगिया के बाजार पर धावा किया और उसे लूट लिया। पुलिस जिला सुपरिटेन्डेन्ट वहां भेजा गया, लेकिन लोगों का उग्र रूप देख वह इस घटना के लिए जिम्मेदार लोगों को गिरफ्तार न कर सका।

यह समाचार पाकर डिपुटी कमिश्नर रंगिया पहुँचा और नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। समाचार पाते ही भीड़ इकट्ठा हो गयी। वह गिरफ्तार व्यक्तियों की रिहाई की माग करने लगी। उन्हें छुड़ाने के लिए वह थाने पर आक्रमण के लिए तैयार हो गयी। लेकिन डिपुटी कमिश्नर अपने साथ सशस्त्र सैनिक और पुलिस ले आया था, वे भीड़ को तितर-बितर करने में सफल हुए।

इस हिस्से में जरा शान्ति दीख पड़ने लगी तो किसानों ने दूसरी तरफ धावा बोला। २१ जनवरी, १८९४ को उन्होंने सारुखेतरी में मौजादार और मण्डल पर हमला किया।[3] मण्डल की पिटाई उन्होंने इतनी की कि कुछ दिनों में ही वह मर गया। सबडिवीजनल अफसर नजदीक ही पड़ाव डाले पड़ा हुआ था। वह बहुत से किसानों को गिरफ्तार करने में सफल हुआ। लेकिन आस-पास के इतने किसान आ कर जमा हो गये कि उसे वाध्य होकर सब गिरफ्तार लोगों को छोड़ देना पड़ा। यही नही, ज्योंही रात हुई, वह दुम दबा कर बारपेटा भाग गया।

उसकी मदद के लिए जल्दी ही डिपुटी कमिश्नर आ पहुँचा। उसने ५९ विद्रोहियों को गिरफ्तार किया। फिर आस-पास के किसान उन्हें छुड़ाने के लिए बड़ी संख्या में वहां आ पहुँचे। सैनिकों और सशस्त्र पुलिस की बदौलत वह किसानों को पीछे हटाने और दबाने में कामयाब हुआ।

पाथरुघाट में किसानों का मोर्चा (१८९४)

असम के दरंग जिले में पाथरुघाट एक तहसील है। इसके अधिकांश निवासी

१. आसाम डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, काछार, पृ० ३५

२ आसाम डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, कामरूप, पृ० ५८

३. वही, पृ० ५९

मुसलमान थे। १८६८ में जब भूमि राजस्व बढ़ाया गया, तो यहाँ के किसानों ने इसका जबर्दस्त विरोध किया। वे बड़ी संख्या में इकट्ठा हुए और आरामगृह (रेस्ट हाउस) में ठहरे डिपुटी कमिश्नर, तहसीलदार और जिला पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट का घेराव किया।[1] उन्होंने इन सरकारी अधिकारियों को अपनी शिकायत सुनने को बाध्य किया था। अवश्य ही हिंसा का सहारा न लेने की बुद्धिमानी सरकारी अधिकारियों ने दिखायी थी।

असम घाटी का भूमि राजस्व फिर बढ़ाया गया, तो जनवरी १८९४ में यहाँ के किसानों का असंतोष फूट पड़ा। पाथरूघाट तहसील के किसानों ने लगानबन्दी का रास्ता अपनाया।[2] उनकी बड़ी-बड़ी सभाएँ हुईं। बड़े-बड़े प्रदर्शनों के जरिये उन्होंने मांग बुलन्द की कि बढ़ा हुआ राजस्व रद्द किया जाय।

अंगरेज शासकों ने दमन का रास्ता अपनाया। डिपुटी कमिश्नर सशस्त्र पुलिस लेकर लगान वसूल करने में असमर्थ तहसीलदारों की मदद करने गया। वह इन्सपेक्शन बँगले में ठहरा। बहुत बड़ी संख्या में इकट्ठा होकर किसानों ने अपनी मांग डिपुटी कमिश्नर के सामने उपस्थित की। लेकिन यह अंगरेज अधिकारी किसानों का दुःख-दर्द सुनने न आया था। वह उनकी मुसीबत बढ़ाने आया था। पुलिस ने लोगों को वहाँ से हट जाने का हुक्म दिया। लोगों ने हटने से इन्कार किया, तो उसने बल प्रयोग कर उन्हें बंगले के अहाते से निकाल बाहर किया।

आधे घंटे बाद किसान फिर वापस आये। इस बार वे लाठियों और पत्थरों से सुसज्जित थे। पुलिस ने आगे बढ़कर उन्हें दूर तक खदेड़ा। खुले मैदान में पहुँचने पर भीड़ भी पुलिस से भिड़ गयी। पुलिस ने गोली चलाई, लेकिन इसकी परवाह न कर किसान डटे रहे। अपनी खैरियत न देख पुलिस ने गोली चलाते हुए पीछे हटना और भीड़ ने आगे बढ़ना शुरू किया। पुलिस ने अन्तिम गोलियाँ चलायीं और फिर भीड़ पर टूट पड़ी। लोग पीछे हटे, लेकिन फिर थोड़ी दूर पर आ डटे। डिपुटी कमिश्नर को मजबूर होकर पीछे भागना और आकर इन्सपेक्शन बंगले में छिपना पड़ा। इस गोलीकाण्ड में १५ आदमी मारे गये थे और ३७ आदमी घायल हुए थे।[3]

---

१. आसाम डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, दरंग, पृ० ६१
२. वही, पृ० ६१
३. वही, पृ० ६१

अध्याय ७८

कूका विद्रोह

(१८६९-७२)

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में पंजाब में गुरु गोविन्द सिंह के विशुद्ध राजनीतिक धर्म की पुनः स्थापना का प्रयास हुआ। यह प्रयास करने वाले बालक सिंह नामक उदासी फकीर थे।[1] वे जाति के अरोड़ा थे और अटक जिले के हाजरों गाँव के रहने वाले थे। उनके अनुयायी सगियासी या हबियासी कहलाते थे। १८६३ में उनकी मृत्यु के बाद पच्छिम पंजाब में यह आन्दोलन समाप्त हो गया; लेकिन उसने उनके शिष्य रामसिंह कूका के नेतृत्व में पंजाब के मध्य और पूर्व के जिलों में काफी जोर पकड़ा।

राम सिंह का जन्म १८२० के लगभग लुधियाना से १४ मील पूर्व भैणी आला गाँव में हुआ था। उनके पिता जस्सा बढ़ई थे।[2] कुछ दिनों तक उन्होंने लाहौर में खालसा सेना में नौकरी की थी। उसे छोड़ने के बाद उन्होंने लुधियाना में एक दूकान खोली। दूकान न चलने पर वे अपने गाँव और लुधियाना में बढ़ई का काम करने लगे। बढ़ई का काम करते हुए वे इधर-उधर घूमने लगे। अन्त में वे हाजरों में बालक सिंह के शिष्य बन गये।

कुछ नाम कमाने के बाद वे वापस अपने गाँव भैणी आये और यहीं से अपने धर्म का प्रचार करने लगे। उनका सम्प्रदाय कूका या 'नामधारी सिख' सम्प्रदाय कहलाया और वे राम सिंह कूका के नाम से मशहूर हो गये।

उनके शिष्यों की संख्या बड़ी तेजी के साथ बढ़ी। उनमें जाट सिखों और दलित लोगों की संख्या ज्यादा थी। उनके शिष्य सीधी पाग बाँधते, ऊन की गाँठदार रस्सी गले में पहनते और लाठी लेकर चलते। उनका सांकेतिक शब्द सिर्फ वे ही समझ सकते।

राम सिंह ने खालसा को पुनर्जीवित करने और अंगरेज सरकार को उखाड़ फेंकने का प्रचार किया। उनके शिष्य रात को इकट्ठा होते, कबायद करते और अपने को अंगरेजों के खिलाफ लड़ने को तैयार करते। राम सिंह ने सारे पंजाब को २२ हिस्सों में बाँट कर उनके अलग-अलग अधिकारी नियुक्त कर दिये। १८६३ में उनके कार्यों ने ब्रिटिश नौकरशाही का ध्यान खींचा और वह उनकी गतिविधि पर नजर रखने लगी।

उनका मत था कि ग्रन्थ साहब को पढ़ने के अलावा कोई पूजा-पाठ न करना चाहिए। पहले-पहल उन्होंने कई वर्ष तक मंदिरों को अपवित्र किया, मूर्तियाँ तोड़ीं और कसाइयों की हत्या की। जिस पर गाय मारने का सन्देह होता, उसी को वे मार देते।

---

१. पंजाब डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, लुधियाना डिस्ट्रिक्ट एण्ड मलेर कोटला स्टेट, १९०४, पृ० ८४.

२. वही, पृ० ८५

कूकों का जमाव रोकने के लिए अंगरेज अधिकारियों ने तरह-तरह के कदम उठाये। कूकों का पहला विद्रोह १८६९ में फीरोजपुर में हुआ।[1] यह राजनीतिक विद्रोह था और अंगरेजों को उखाड़ फेंकने की गरज से किया गया था।

इससे भी बड़ी अशान्ति १८७२ में हुई। १३ जनवरी, १८७२ को भैणी में कूकों की सभा थी।[2] खालसा के राज की स्थापना से प्रेरित होकर लगभग १५० कूकों का एक जत्था पटियाला के सकरौंदी के दो जाटों के नेतृत्व में रवाना हुआ। उनके पास सिर्फ फरसे और लाठियाँ थीं। वे मलेर कोटला पर हमला करने चले, जिसका सामन्त मुसलमान था। वे रास्ते में कोई भी गोलमाल किये बगैर पटियाला के पायेल गाँव पहुँचे और वहाँ से मलौध पहुँचे जहाँ श्री बदन सिंह की गढ़ी थी।[3] उन्होंने यकायक इस गढ़ी पर आक्रमण कर दिया। पहले उन्होंने अनुरोध किया था कि सरदार बदन सिंह उनका नेतृत्व करें, लेकिन जब वे ऐसा करने पर तैयार न हुए तो हथियार पाने की गरज से उन्होंने हमला किया। दोनों पक्ष के दो-दो आदमी मारे गये और कुछ लोग घायल हुए। कूकों के हाथ तीन घोड़े, एक बन्दूक और एक तलवार लगी।

इसके बाद वे मलौध से ९ मील दूर कोटला चले। १५ जनवरी, १८७२ को उन्होंने यकायक नवाब के महल और खजाने पर धावा बोल दिया। कोटला के रक्षकों ने अन्त में उन्हें मार भगाया और पटियाला रियासत में रूर तक उनका पीछा किया। यहाँ पटियाला के अधिकारियों के हाथ ६८ कूकों ने आत्मसमर्पण किया। मलौध और कोटला में उन्होंने १० आदमी मारे और १७ घायल किये थे, जबकि उनके ९ आदमी मारे गये और ३८ घायल हुए थे।[4]

मलौध और कोटला पर आक्रमण की खबर पाकर लुधियाना का डिपुटी कमिश्नर कोवान तुरन्त कोटला रवाना हुआ और सेना के लिए तार कर दिया। उसने पकड़े गये कूकों में से ४९ को कोटला में तोप से उड़वा दिया। बाकी पर कमिश्नर फारसिथ की अदालत में मामला चला और दूसरे ही दिन उन्हें भी मृत्यु-दंड दे दिया गया।[5]

राम सिंह कूका ने विद्रोह संगठित ढंग से करने की चेष्टा की थी, लेकिन इन उग्रवादियों के चलते उनकी सारी योजना असफल हो गयी। अंगरेज साम्राजी राम सिंह की गतिविधि पर पहले ही से कड़ी नजर रखते थे। उन्होंने इस घटना के बाद उनका बाहर रहना अंगरेज हुकूमत के लिए बड़ा खतरनाक समझा। इसलिए उन्हें गिरफ्तार कर रंगून ले जाकर बन्द कर दिया। वहीं राजबन्दी के रूप में १८८५ में उनकी मृत्यु हुई।[6]

राम सिंह कूका ने अंगरेज हुकूमत के समानान्तर हुकूमत कायम करने की चेष्टा की थी। कहा जाता है कि उन्होंने एक पत्र रूस के बादशाह जार को लिखा था और अंगरेजों को मार भगाने में उनका सहयोग मांगा था। उनकी सबसे बड़ी देन यह थी कि उस जमाने में ही उन्होंने स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की नारा दिया था। सब कूका स्वदेशी कपड़े, खासकर गाढ़ा या खद्दर पहनते थे।

---

१. वही, पृ० ८५ २. वही, पृ० २६ ३. वही, पृ० २६ ४. वही, पृ० २६
५. वही, पृ० २६ ६. वही, पृ० ३०

अध्याय ७९

पाबना का किसान विद्रोह

(१८७२-७३)

"पाबना जिले का १८७२-७३ ई० का किसान-दंगा-हंगामा एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है, क्योंकि इसके फलस्वरूप खेती की जमीन पर प्रजा के अधिकार की स्थापना के बारे में पूर्ण विचार आरम्भ हुआ और इसी विवेचना का फल हुआ कि 'प्रजा की सनद' कहा जाने वाला १८८५ ई० का बंगाल प्रजा स्वत्व कानून बना।" (इंपीरियल गजेटियर, पूर्व बंगाल और आसाम, पृ० २८५)

"१८७२-७३ ई० का पाबना का किसान विद्रोह ही १८८५ ई० के बंगाल प्रजा स्वत्व कानून की विवेचना और अन्त में उसके पास किये जाने का मूल कारण था।" (सी० ई० बकलैण्ड, छोटे लाटों के मातहत बंगाल, खण्ड १, पृ० ५४५)

"कुछ हिंसात्मक काण्ड होने के बावजूद उन्होंने (पाबना के विद्रोही किसानों ने) दृढ़ संकल्प लेकर जमीन्दार वर्ग के विरुद्ध संग्राम चलाया था और हम देख रहे हैं कि वे कानून के जरिए एक कृषि क्रान्ति को सफल बना रहे हैं।" (डब्ल्यू-डब्ल्यू हंटर, बंगाल के सांख्यकीय विवरण के नवें खण्ड की भूमिका, १८७६)

उपरोक्त उद्धरण पाबना के किसान विद्रोह पर काफी प्रकाश डालते हैं। आज कल यह जिला 'बंगलादेश' में है। इस विद्रोह का मुख्य केन्द्र पाबना जिले का यूसुफशाही परगना (सिराजगंज महकमा) था। यहाँ पहले नाटोर राज्य की जमीन्दारी थी। लगान बाकी रहने की वजह से यह नीलाम पर चढ़ गयी थी। अंगरेज सौदागरों के साथ सम्पर्क से मालदार बने कुछ परिवारों ने यह जमीन्दारी खरीद ली। ये नये जमीन्दार थे कलकत्ते का ठाकुर परिवार, ढाका का बन्दोपाध्याय परिवार, सलप का सान्याल परिवार, पोरजना का भादुड़ी परिवार और स्थल का पाकराशी परिवार।

इन नये जमीन्दारों ने बेतहाशा लगान बढ़ाया, किसानों को बेदखल करना, उन्हें कैद कर शारीरिक कष्ट देना, उनके घर-द्वार और फसल तक को जलाना शुरू किया। इन जमीन्दारों की लूट-खसोट और अत्याचार के बारे में सिराजगंज महकमे के मजिस्ट्रेट नोलन ने लिखा :

"इन नये जमीन्दारों में से प्रायः सभी ने किसी सरकारी संस्था में या नाटोर राज्य के मातहत काम कर व्यवसायी चरित्र बहुत अच्छी तरह अपना लिया था। आज भी युसुफसाही परगने के ये जमीन्दार पाबना जिले के दूसरे स्थानों के जमींदारों की अपेक्षा ज्यादा सक्रिय और उद्योगी हैं। दुर्भाग्य से इनके सद्गुण खेती की जमीन की उर्वरता बढ़ाने में न लग कर केवल लगान बढ़ाने में और कहीं-कहीं किसानों

को जमीन से बेदखल करने में लगे थे। उन्होंने लगान बढ़ाने के लिए जो उपाय अपनाये थे, वे असंगत और अवैध थे।" (२३ अप्रेल १८७४ की रिपोर्ट)

किसानों को लूटने के जितने तरह के उपायों की कल्पना की जा सकती है, इन जमीन्दारों ने सब उपाय अपनाये थे। लगान के अलावा वे कम से कम १५ तरह से नाजायज रकमें किसानों से वसूल करते। साल के अन्त में किसानों का हिसाब-किताब करने का खर्च, जमीन्दार के घर में ब्याह-शादी, पूजा, भोज आदि का खर्च, जमीन्दार और उसके परिवार के लोगों की तीर्थयात्रा का खर्च, जमीन्दार द्वारा सरकारी विद्यालय को दिया गया चन्दा, सरकारी अधिकारियों के पास पहुँचायी गयी रसद, सरकार को दिया गया डाक खर्च, पुलिस आदि की आव भगत में किया गया खर्च, सरकार को दिये आय कर आदि सब का खर्च किसानों से वसूल किया जाता। गाँव के सार्वजनिक कार्यों, जमीन्दार का देना मिटाने, घर बनाने या जमीन का पट्टा लिखाने पर सलामी, जमीन्दार के खाते नें नाम चढ़ाने का खर्च, और गाँव में जमीन्दार के आने पर सलामी आदि की बावत सैकड़ों रुपये किसानों से वसूल किये जाते। इनके अलावा किसानों से बेगार ली जाती और उनसे जुर्माने वसूल किये जाते। इन सब के अलावा जमीन्दारों ने खुद लगान को बढ़ाना शुरू किया और बढ़ा कर उसे दूना कर दिया।

किसानों को ठगने के लिए उन्होंने कम लम्बाई की नयी जरीब चलायी। नाटोर राज्य के समय जो जरीब प्रचलित थी, उसकी लम्बाई साढ़े तेइस-पौने चौबीस इंच थी। नये जमीन्दारों ने अठारह इंच लम्बी जरीब से जमीन की पैमाइश करनी शुरू की। इस तरह उन्होंने हर किसान की लगभग एक चौथाई जमीन छीननी शुरू की। इस तरह की 'अतिरिक्त' जमीन उन्होंने दूसरे किसानों को बड़ी सलामी लेकर बढ़े लगान पर देना आरंभ किया। इस तरह किसानों के पास नाम के लिए पहले जितनी जमीन बनाये रखते हुए भी दरअस्ल जमीन कम कर दी गयी, लेकिन लगान कम करने के बजाय बढ़ा दिया गया।

इसी समय अंगरेज सरकार ने 'रोड सेस कानून' जारी किया। उसने हर किसान के पास जमीन की मात्रा बताने के लिए जमीन्दारों को मजबूर किया और साथ ही गैरकानूनी ढंग से किसानों से वसूल की जाने वाली रकम की जाँच शुरू कर दी। जमीन्दारों ने गैरकाननी वसूली छिपाने के लिए किसानों से कबूलियत लिखानी शुरू की कि ये सारे कर किसान अपनी मर्जी से जमीन्दार को देते हैं। जमीन्दारों की इन कारगुजारियों के बारे में सिराजगंज महकमे के एस. डी. ओ. नोलन ने अपनी रिपोर्ट में लिखा :

"जमीन्दारों की गैरकानूनी वसूली का एक गुप्त तरीका था प्रजा की सम्मति न लेकर सब गैरकानूनी करों को लगान में जोड़ देना। यह तरीका और भी आपत्तिजनक और असंगत इसलिए था कि प्रजा से इसे छिपा कर रखा जाता, इस बारे में मामला–मुकदमा चलने पर उसे अदालत में पेश कर दिखाया जाता कि प्रजा ने ये सब कर अपनीमर्जी से लगान के रूप में जमीन्दार को दिये हैं। अदालत को धोखा देने के लिए एक बेहतरीन तरीके के तौर पर जमीन्दारों ने इसका इस्तेमाल किया। किसी

किसी मामले में अदालत में साबित हुआ है कि जमीन्दारों ने इस कर का जो हिसाब दाखिल किया है, उसका कई गुना कर उन्होंने वसूल किया है। दूसरे मामलों में प्रमाणित हुआ है कि जिन किसानों से यह कर वसूल करना मुमकिन नहीं हुआ, उन्हें पीटा गया है, कैद किया गया है और उनके घर लूट लिये गये हैं। लगान बढ़ाने और कर वसूल करने के लिए झूठे फौजदारी मामले दायर करने का तरीका भी बड़े पैमाने पर काम में लाया गया है। इस तरीके से तथा दूसरे उपायों से लगान जितना बढ़ाया गया है, वह कानूनगो के कागजात में लिखे लगान का प्राय: चार गुना और पास के परगनों की जमीन्दारियों के लगान की दर का प्राय: दुगुना है।"

कुछ किसानों ने कबूलियत की बात सुन कर अदालत में असली लगान जमा किया। कितनों ही को कबूलियत लेने को वाध्य होना पड़ा। जिन किसानों ने आदलत में असली लगान जमा किया था, जमीन्दारों ने उन पर मामला चलाया और नीचे की अदालत से फैसला अपने पक्ष में करा लिया। लेकिन किसानों ने ऊपर की अदालत में अपील की तो जमीन्दारों का दावा टिक न सका। जिला जज की अदालत में साबित हो गया कि किसानों ने जो लगान जमा किया था, वही सही लगान था। इस हार से आगबबूला होकर एक जमीदार ने अपने खिलाफ गवाही देने वाले एक आदमी को अदालत से वापस आते समय पकड़ कर गायब कर दिया। किसानों के दबाव से पुलिस ने २० दिन बाद इस आदमी को जमींदार के चंगुल से मुक्त किया। जमीन्दार को इस अपराध के लिए दण्ड मिला।

इस सफलता से किसानों में जोश फैला। उन्होंने जगह-जगह संघबद्ध हो कर जमीन्दारों के अन्यान्य तथा अत्याचार का मुकाबिला करना शुरू किया। तलवारों और बल्लमों से लैस जमीन्दार के जो आदमी नाजायज कर वसूल करने जाते, किसान मिल कर उन्हें घेर लेते, उन्हें निरस्त्र कर कैद कर लेते अथवा मार कर भगा देते। जून १८७२ तक ऐसा आन्दोलन सारे महकमें में फैल गया। किसानों ने संगठन की शक्ति पहचानी और संभवत: यह पहला अवसर था जब किसान सभा का निर्माण हुआ था। सारे पावना जिले में किसानों का विराट आन्दोलन चल पड़ा था। एस. डी. ओ. नोलन ने अपनी रिपोर्ट में लिखा :

"बहुत ही पिछड़े अंचल में भी आन्दोलन फैल रहा था। सैकड़ों गाँवों के ऐक्यबद्ध संग्राम की उत्तेजना एक विराट किसान सभा (लीग) का संगठित रूप लेने लगी। किसान जनता मानो उत्तेजना से फटी पड़ रही थी। नये-नये गाँवों को संगठन में खींच लाने के लिए चारो तरफ प्रचारक दल भेजे गये, चारो तरफ गुप्त रूप से सभाएँ होने लगीं।"

किसानों ने पहले बड़े-बड़े जत्थों में आकर एस० डी० ओ के पास जमीन्दारों के अत्याचार की कहानी सुनानी शुरू की और जमींन्दारी मिटाने की मांग उठायी। संभवत: यह भी पहला मौका था जब संगठित किसानों की तरफ से जमीन्दारी मिटाने की मांग की गयी थी। 'पावना जिला का इतिहास' के लेखक राधारमण साहा के अनुसार २६९

गाँवों के निवासियों ने ऐसी दरखास्तें सिराजगंज की अदालत में दाखिल कीं। इस विद्रोह के बारे में 'छोटे लाटों के मातहत बंगाल' में सी ई० बकलैण्ड न लिखा :

"१८७२ के मई महीने में किसान सभा की शाखाएँ-प्रशाखाएँ चारों तरफ फैल गयीं और जून के महीने में सारे परगने में छा गयीं। प्रजा शान्त हो कर अपना परिचय विद्रोही कह कर देती। संभवतः 'विद्रोही' शब्द का अर्थ 'किसान सभा का सदस्य' है।"

इसी तरह संगठित हो कर किसानों ने मांगें बुलन्द की—बढ़ती लगान रद्द करो! बेदखलियाँ बन्द करो! उन्होंने जमीन्दारी मिटाने का भी नारा बुलन्द किया। बढ़ा लगान देने से इन्कार किया। जो कबूलियतें जबरदस्ती लिखा ली गयी थीं, उन्हें जलाना शुरू किया। 'विद्रोही राजा' ईशान चन्द्र राय इनके नेता था। वे कोई राजा न थे, वे एक छोटे भूस्वामी थे। हिन्दू-मुसलमान किसानों ने मिल कर उन्हें अपनी लड़ाई का राजा बनाया था। उस समय सिराजगंज से प्रकाशित 'आशालता' नामक पत्रिका में उनका निम्नलिखित परिचय छपा :

"इस जिले के शाहजादपुर थाने में दौलतपुर नामक एक गाँव है। वहाँ का रायवंश बहुत प्रसिद्ध है। इस वंश में ईशान चन्द्र राय नाम के एक बुद्धिमान और चतुर आदमी थे। हुरासागर नदी के किनारे बेतकान्दी ग्राम को लेकर बन्दोपाध्याय जमीन्दारों के साथ उनका घोरतर विवाद चल रहा था। किन्तु वे जमीन्दार प्रबल और धनवान थे, किसी भी तरह दबने वाले न थे। अतः बहुत कोशिश करने पर भी ईशान चन्द्र कुछ भी न कर सके। तब वे विद्रोहियों के साथ मिल गये और अपनी बुद्धि के बल से उनके नेता बन गये।" (अंक ९ और १०, पृ० १४९).

सिराजगंज महकमे के प्रायः सभी गाँवों के किसान विद्रोही हो गये थे। इन विद्रोही किसानों के संगठन, आक्रमण आदि के बारे मे राधारमण साहा ने 'पाबना जिले का इतिहास' में काफी प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं :

"रात को भैंस का सींग बजा कर सब इकट्ठा होते। मछली का शिकार करने का बहाना कर कंधे पर लाठी के अग्र भाग में एक-एक पोलो (झाबा) ले कर बहुत से लोग एक साथ मिल कर चलते। इसीलिए विद्रोही दल को साधारणतः पोलोवाला या पोलोनाथ कंपनी के नाम से पुकारा जाता। इस सम्बन्ध में कहा जाता रहा है : लाठी हाते पोलो कांधे चल्लो सारी सारी, सकलेर आगे जाये लुटलो बिशीर काछारी।" (हाथ में लाठी कांध पर झाबा, चले कतार-कतार, सबसे पहले जाकर लूटी विशी की कचहरी) (पृ० ९८)

हम पहले बता आये हैं कि बिशी इस अंचल के एक बड़े जमीन्दार थे। सिराजगंज महकमे के प्रायः सभी धनी-मानी विद्रोही किसानों के खिलाफ जमीन्दारों का पक्ष ले रहे थे। इसलिए इन धनियों के घरों पर भी विद्रोही हमला करते और उन्हें लूट लेते। पहले वे अवश्य ही ऐसे लोगों के पास अपना आदमी भेजते। उनसे अपने पक्ष में आने का

अनुरोध करते। इतने पर भी अगर वे जमीन्दारों का ही पक्ष लेते, तो विद्रोही उनके घरों और सम्पत्ति पर हमला करते। विद्रोहियों के डर से इसलिए बहुत से धनी और जमीन्दार गाँव छोड़ कर सिराजगंज भाग गये थे। बहुत से सिराजगंज महकमा छोड़ कर पाबना भाग गये थे।

'पाबना जिले का इतिहास' के अनुसार विद्रोह पहले शाहजादपुर थाने के गाँवों से ही आरंभ हुआ। लेकिन बाद मे वह दूसरे स्थानों में और यहाँ तक कि महकमे को पार कर पाबना सदर मे भी फैल गया। फिर जिले की सीमा को पार कर यह पास के बोगुड़ा जिले मे भी फैल गया। सारे जिले में कई महीने तक इस तरह आतंक छाया रहा कि कोई यदि कह देता कि 'पोलोंवाले' आ रहे हैं, तो धनियों के प्राण सूख जाते, हाट-बाजार बन्द हो जाते। जमीदारों और उनके आदमियों ने किसानों को लूटा था, उनके घर-द्वार जलाये थे। विद्रोही उसका बदला एक-एक पाई ले रहे थे। कितने ही जमीन्दारों के घर द्वार जल गये। इनमें गोपाल नगर के मजुमदार जमीन्दारों के राजमहल का ध्वंस उल्लेखनीय है।

इस विद्रोह का दमन करने के लिए और जमीन्दारों की रक्षा के लिए अंगरेज सरकार ने पुलिस और सेना भेजी। जिला मजिस्ट्रेट बहुत सी पुलिस लेकर सिराजगंज महकमा गया। छोटे लाट के हुक्म से ग्वालन्दो से बड़ी मिलिटरी पुलिस आयी। बड़े पैमाने पर विद्रोहियों को गिरफ्तार किया गया। ईशान चन्द्र राय के साथ ३०२ किसानों को गिरफ्तार कर मामला चलाया गया। मुकदमें में ईशान चन्द्र राय रिहा कर दिये गये। उनके साथ बहुत से किसान भी रिहा किये गये, लेकिन १४७ किसानों को एक महीने से लेकर दो साल तक की सजा दी गयी।

हालत बिगड़ती देख ४ जुलाई १८७२ को सरकार ने घोषणा जारी की कि गैरकानूनी काम किसी को भी न करने दिया जायगा। साथ ही वादा किया गया कि अगर किसान दंगा हंगामा न कर शान्ति के साथ अपनी शिकायतें सरकार के सामने पेश करेंगे तो उस पर विचार किया जायगा। सरकारी घोषणा में अवश्य ही कहा गया कि वह जमीन्दारों को अपने उचित पावने से वंचित न करेगी अर्थात् जमीन्दारी न मिटायेगी। लेकिन साथ ही जमीन्दारों द्वारा नजायज वसूली की बात स्वीकार की और इस अन्याय के खिलाफ किसानों का शान्तिपूर्ण सामूहिक प्रतिरोध का अधिकार मान लिया। जमीन्दारों को भी फिलहाल वसूली बन्द कर देनी पड़ी। प्रायः तीन चार साल तक ये जमीन्दार किसानों से लगान वसूल नहीं कर सके। इस तरह विद्रोह क्रमशः ठण्डा हो गया।

इस विद्रोह का ही परिणाम था कि १८८५ में बंगाल प्रजा स्वत्व कानून पास हुआ जिसमें व्यवस्था की गयी कि जो किसान बारह वर्ष से जमीन जोतते-बोते आ रहे हैं, उन्हें उस जमीन से बेदखल नही किया जा सकता।

जब किसानों का यह आन्दोलन पूरे जोर पर था, मीर मुशर्रफ हुसेन नामक एक ग्रामीण कवि ने 'जमीन्दार दर्पण' नामक नाटक लिखा। इसमें तत्कालीन जमीन्दारी प्रथा और जमीन्दारों के अत्याचार का सजीव चित्र खींचा गया है। यह बहुत लोक-

प्रिय हुआ। लेकिन अफसोस की बात है कि जिन बंकिम चन्द्र का गीत 'बन्दे मातरम्' हमारा राष्ट्रीय गीत बना उन्होंने किसानों के इस आन्दोलन का विरोध किया और 'जमीन्दार दर्पण' पर रोक लगाने की मांग की। उन्होंने अपने पत्र 'बंग दर्शन' में लिखा .

> "हम पाबना जिले में रैय्यत के अत्याचार की कहानी पढ़ते-पढ़ते थक गये हैं और हमें अफसोस है। आग में घी छिड़कने से कोई फायदा नहीं। हमारी राय में ऐसी पुस्तक का विक्रय और वितरण इसी क्षण रोक देना चाहिए।" (भाद्र, १२८०)

बंकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय सामन्तवर्ग के प्रतिनिधि थे। वर्ग स्वार्थ कितने प्रबल होते हैं, उपरोक्त पंक्तियाँ इसकी साक्षी हैं।

लेकिन उन्हीं दिनों 'सोम प्रकाश' और 'माधारनी' नामक बंगला पत्रों ने किसानों का समर्थन किया था। अक्षय चन्द्र सरकार ने 'माधारनी' में लिखा :

> 'पाबना के किसानों द्वारा जलायी गयी लौ बुझी नहीं है, वह जल रही है।···हम क्रान्ति के समर्थक हैं। क्रान्ति ही समाज का जीवन है।
>
> "···इन बातों (किसानों के कामों) को देख कर कुछ समाजशास्त्री चिन्तित हो रहे हैं, वे काँप रहे हैं। हमारे हृदय आनन्द से भर गये हैं। हमारे सारे शरीर में बिजली दौड़ गयी है।" (९ मई १८७५)

अध्याय ८०

महाराष्ट्र के किसानों का मोर्चा

(१८७५)

महाराष्ट्र के पूना और अहमद नगर के जिलों के किसानों ने १८७५ में सूदखोर साहूकारों और जमीन्दारों तथा उनकी रक्षक अंगरेज सरकार के खिलाफ मोर्चा लगाया। अंगरेज सरकार की सक्रिय सहायता से ये सूदखोर कुनबियों (मराठा किसानों) को तबाह करते थे। कुनबियों ने १८७५ में इसका कुछ बदला चुकाया। उन्होंने साहूकारों से कर्ज, रेहन और जमीन की बिक्री के कागजात छीन कर जला दिये, इन साहूकारों का सामाजिक बायकाट किया और अगर साहूकार अकड़े तो उनका घर स्वाहा कर दिया तथा उन्हें अपने पाप की दुकान उठा देने को बाध्य किया।

शान्तिप्रिय और परिश्रमी कुनबियों की इस बगावत के क्या कारण थे? इसका पहला और मुख्य कारण था उपनिवेशवादियों की भूमि का राजस्व बढ़ा कर किसानों को बेतहाशा लूटने की नीति और दूसरा था सूदखोर साहूकारों का किसानों को नोच कर अपनी जायदाद बढ़ाने की नीति।

पूना और शोलापुर के तालुकों में भूमि के राजस्व का निर्धारण १८३६-४१ में हुआ था। ३० साल बाद १८६९-७२ में वह पुनः निर्धारित किया गया और ऐसा करते समय उसे ड्योढ़े से भी ज्यादा कर दिया गया। उदाहरण के लिये पूना जिले के तालुकों को लीजिए:[1]

तालुका	पहले का राजस्व	संशोधित राजस्व	वृद्धि
इन्दापुर	८१,१८४	१,२५,८४५	४४,६६१
भीमथरी	८१,४७५	१,३३,१३१	५१,६५६
हवेली	८०,४७५	१,३३,१७४	५२,६९९
पाबल	९२,३५९	१,३९,३१५	४६,९५६
सूपा	५९,९२६	७८,७८८	१८,८६२

रुपयों में दिया गया पहले का राजस्व और संशोधित राजस्व का अन्तर दिखाता है कि किस तरह यह राजस्व बढ़ाकर अंगरेज साम्राजियों ने महाराष्ट्र के किसानों की जेब कतर दी थी।

यह सब उस वक्त किया गया जब कि किसान सूखे और अकाल के कारण तबाह हो रहे थे और उनकी आमदनी के जरिए बन्द हो गये थे। अमरीकी गृह-युद्ध (१८६१-

१. देक्कन रायट्स कमीशन, खण्ड १, पृ० ५१

६५) के समय अमरीकी रुई अंगरेजों को न मिलती थी। इसलिए उन्होंने भारत से ज्यादा रुई खरीदना आरम्भ किया। इसके चलते महाराष्ट्र के किसानों को भी बड़ा लाभ हुआ। अंगरेज सरकार ने भूमि का राजस्व उसी लाभ को देखकर निर्धारित किया। लेकिन १८६५ में उस युद्ध के बन्द होते ही किसानों का मुनाफा जाता रहा। पूना जिले में रेलवे और सिंचाई के जो सरकारी काम हो रहे थे, वे भी कम पड़ गये। एक तरफ आमदनी का जरिया बन्द, दूसरी तरफ अकाल और तीसरी तरफ राजस्व में वृद्धि— इन सब के कारण किसानों को अपनी फसल और जायदाद सस्ते में बेचनी पड़ी या गिरवी रख देनी पड़ी। ऐसी हालत में सूदखोरों की बन आयी।

किसानों को किस तरह अपनी फसल मिट्टी के मोल बेचनी पड़ रही थी, इसके उदाहरण लीजिये :[1]

वर्ष	पूना के बाजार की कीमतें (सेर प्रति रुपया)		इन्दापुर के बाजार की कीमतें (सेर प्रति रुपया)	
	ज्वार	बाजरा	ज्वार	बाजरा
१८७०-७१	१३	१६	२८	२६
१८७१-७२	१०	१३	२२	२०
१८७२-७३	१५	२०	३०	२५
१८७३-७४	२१	२७	४९	३१
१८७४-७५	२०	२६	४५	३५

जहाँ ज्वार १८७०-७१ में पूना के बाजार में रुपए का १३ सेर और इन्दापुर में २८ सेर बिक रही थी, वह १८७४-७५ में रुपए में क्रमशः २० और ४५ सेर बिकने लगी। इसी तरह बाजरा रुपए में १६ सेर और २६ सेर की जगह क्रमशः २६ सेर और ३५ सेर बिकने लगा।

फसल की कीमतों में गिरावट के कारण किसानों ने राजस्व और कर्ज चुकाने के लिए कैसे अपनी जमीन, घर जैसी स्थावर सम्पत्ति बेची और रेहन रखी, इसके प्रमाण के लिये पूना के दो तालुके लीजिए। इन तालुकों में १८६९-७४ के बीच स्थावर संपत्ति की बिक्री और रेहन की जो रजिस्टरियाँ हुईं, उनकी संख्या इस प्रकार है :[2]

	१८६९	१८७०	१८७१	१८७२	१८७३	१८७४
भीमथरी	५८१	७१२	६९८	७९३	८८८	६१०
इन्दापुर	२९३	४८३	५१९	५८१	५२६	२१६
	८७४	१,१९५	१,२१७	१,३७४	१,४१४	८२६

१. वही, पृ० ५०
२. वही, पृ० ५१

उपरोक्त तथ्य बताते हैं कि इन दोनों तालुकों में १८६९ में जहाँ ८७४ लोगों ने अपनी स्थावर सम्पत्ति बेची या रेहन रखी थी, १८७३ में १,४१४ लोगों ने वही काम किया। १८६९-७४ के दरम्यान ६,९०० लोगों ने अपनी स्थावर संपत्ति बेची या रेहन रखी। अहमद नगर जिले की तसवीर भी ऐसी ही है। १८७५ में इस जिले के जिन अंचलों में किसानों के हंगामे हुए थे, उनमें सरकारी अदालतों के अनुसार १८६४-७४ के दरम्यान २,८६८ लोगों ने ७,८४,४३९ रु० में स्थावर सम्पत्ति बेची थी और ६,६८० लोगों ने १७,७५,०४४ रु० में स्थावर संपत्ति रेहन रखी थी।[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि ये जायदादें अपनी असली कीमत से कम पर खरीदी गयी थी और उससे भी कम पर रेहन रखी गयी। रेहन रखी गयी जायदादें किसानों पर बढ़ते कर्ज के बोझ की सूचक है।

किसानों पर कर्ज किस तरह बढ़ गया था, वह 'डेक्कन रायट्स कमीशन' की जाँच से स्पष्ट है। १२ गावों की जांच-पड़ताल कर वह निम्नलिखित नतीजे पर पहुँचा :

सरकारी जमीन जोतने वालों की संख्या—१,८७६

इनमें से जिन पर कर्ज है उनकी संख्या—५२३

इन कर्जदारों को कितना राजस्व देना पड़ता है—१०,६०३ रु०

उन्होंने अपनी जमानत पर कितना कर्ज ले रखा है—१,१८,००९ रु०

जमीन को रेहन रख कितना कर्ज ले रखा है—७६,२३३ रु०

ये तथ्य बताते हैं कि सरकारी जमीन जोतने-बोने वालों में से एक तिहाई कर्जदार थे, उन पर लदा कर्ज वार्षिक राजस्व का लगभग १८ गुना था और लगभग दो तिहाई कर्ज उन्होंने जमीन को रेहन रख कर ले रखा था।[2]

अहमदनगर जिले के गाँवों की जांच करने के बाद दक्खिन हंगामा आयोग इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि किसानों की जमीन का आठवाँ हिस्सा साहूकारों के हाथ बिक गया था।[3] इसके अलावा उनके पास किसानों की बहुत-सी जमीन रेहन थी।

साहूकारों की सूदखोरी और बेईमानी की कोई हद न थी। ऊँची दर पर वे सूद लेते, १०० रु० को कुछ ही वर्षों में चक्रवृद्धि ब्याज से १००० रु० बना देते और फिर चन्द रुपयों में किसानों की बड़ी जायदाद रेहन रखने को मजबूर करते। उदाहरण के लिए गेनो नामक कुनबी को ७५ रु० कर्ज के लिये ५०० रु० का घर और जमीन गिरवी रखना पड़ा था। उससे सूद ३७॥ प्रतिशत लिया जाता था।[4]

ये साहूकार अधिकांश मारवाड़ी और गुजराती थे। कर्नाटक और तमिलनाडु के भी कुछ लोग थे। ब्रिटिश नौकरशाही राजस्व बढ़ाकर किसानों की मुसीबत बढ़ाती, उनकी मुसीबत से फायदा उठाकर सूदखोर साहूकार अंग्रेज सरकार की आदालत की मदद से इन किसानों की संपत्ति छीन लेते। किसानों को तबाह कर ब्रिटिश उपनिवेशवादी अपना मुनाफा और सूदखोर महाजन अपनी सम्पत्ति बढ़ा रहे थे। इन दोनों की खुली लूट के कारण आखिर में १८७५ में इन किसानों का असन्तोष विद्रोह बन फूट निकला।

---

१. वही, पृ० ५३ २. वही, पृ० ५८ ३. वही, पृ० ५६ ४. वही, पृ० ६६

इस विद्रोह के लक्षण पहले-पहल १८७४ के अन्त में पूना जिले के सिरूर तालुके के करदेह गाँव में देखे गये। इस गाँव के बाला साहब देशमुख पर कर्ज चढ़ गया था। कालूराम और भगवान दास नामक दो मारवाड़ी साहूकारों ने उनके खिलाफ डिग्री करा ली। कालूराम गिरफ्तारी का परवाना लेकर पहुँचा। देशमुख ने कालूराम को परिवार के गहने सौंप कर गिरफ्तारी टाली। चार महीने वाद देशमुख के घर के विटोबा के मन्दिर के गहने साहूकार ने कुड़क करा लिये, लेकिन गाँववाले बीच में आ पड़े और कालूराम को गहने न ले जाने दिया। ये गहने एक तीसरे आदमी के पास दो महीने के लिये जमा रखे गये। लेकिन जब देशमुख रुपए चुका कर ये गहने न ले सके तो कालूराम ने उन पर कब्जा जमाया।[१] कालूराम ने तीसरी डिग्री करा कर देशमुख का घर और जमीन कुड़क करा ली। कोई नीलाम लेने न आया तो उसने खुद १५० रु० में घर ले लिया।[२]

दिसम्बर १८७४ में कालूराम ने वह घर गिरवाना आरम्भ किया। देशमुख ने आरजू-मिन्नत की. उसका सारा कर्ज आगे-पीछे चुका देने का और तब तक घर का भाड़ा देने का वादा किया, लेकिन कालूराम ने एक न सुनी। इस पर गाँववालों ने मारवाड़ी साहूकारों का बायकाट करने, उनसे कर्ज न लेने और कोई चीज न खरीदने तथा उनके यहाँ काम न करने का फैसला किया। नौकरों के अभाव से साहूकारों का रहना मुश्किल हो गया। ५ जनवरी १८७५ को यहाँ के साहूकार सचीराम, प्रताप, शिवराम आदि ने पुलिस की सहायता से दूसरी जगह भाग जाना चाहा। लेकिन गाँववालो ने दरखास्त दी कि इन साहूकारों को गाँव से तब तक न जाने दिया जाय, जब तक किसान अपना लगान नहीं चुका देते, क्योकि उनका अनाज इन साहूकारों के पास जमा है। गाँव वालों ने अपनी एक दुकान खोलवा दी और उसी से जरूरत की चीजें खरीदने लगे।[३]

किसानों ने साहूकारों को अच्छी तरह हैरान भी किया। कोई भी कहार, नाई, धोबी या नौकर उनके यहाँ काम करने न जाता। उनके दरवाजों पर मरा कुत्ता, कूड़ा-कर्कट फेंक दिया जाता। सिरूर के किसानों ने जो रास्ता दिखाया जल्दी ही दूसरे गाँवों के किसानों ने भी उसे अपनाया। साहूकारों का सामाजिक बायकाट पुरजोर चल पड़ा।

इन किसानों का साहूकारों पर संगठित आक्रमण सबसे पहले १२ मई १८७५ को पूना जिले के भीमथरी तालके के एक बड़े गाँव सूपा में हुआ। उस दिन बाजार का दिन था। इस बहाने सूपा के आसपास के हजारों गरीब किसान वहाँ इकट्ठे हुए और गुजराती साहूकारों के मकानों और दुकानों में आग लगा कर उन्हें खाक कर दिया।[४] उनके इस कदम का अनुकरण शीघ्र ही अन्य गाँवों के किसानों ने किया।

सूपा की घटना के चौबीस घण्टे के अन्दर वहाँ से लगभग १४ मील दूर खैरगाँव के एक बड़े साहूकार के घर आग लगा दी गयी। इसके बाद भीमथरी के चार अन्य गाँवों

---

१. वही, पृ० १ २. वही, पृ० २ ३. वही, पृ० २ ४. वही, पृ० ३

में साहूकारों के घर जलाये गये। इन्दापुर और पुरन्दर के तालुकों में भी विद्रोह की यह आग फैल गयी। शीघ्र ही अंगरेज उपनिवेशवादियों ने साहूकारों की रक्षा के लिए कदम उठाया और सूपा में सेना आ गयी।

सिरूर तालुके में हंगामा नावरा गाँव में शुरू हुआ। यहाँ का मारवाड़ी साहूकार अपनी रक्षा के लिये दूसरे गाँव भाग गया था। एक दिन वह अपना माल-असबाब नयी जगह ले जाने के लिए उस गाँव आया। किसानों ने आकर उसे घेर लिया और माल-असबाब न ले जाने दिया। सिरूर के दूसरे गाँवों में भी यही हुआ। खुद करदेह में यही हुआ। दमरेह में एक मारवाड़ी साहूकार का पैर तोड़ दिया गया और उसके घर में आग लगा दी गई। गाँववालों ने ही उसे जलते घर से खीच कर उसकी जान बचायी। सिरूर तालुके के १५ गाँवों और हवेली तालुके के तीन गाँवों में हंगामे हुए।[१] सिरूर में उस वक्त पूना रिसाला मौजूद था। उसकी मदद से पुलिस ने शान्ति स्थापित करने की कोशिश की।

जब कि पूना में ये हंगामे हो रहे थे, अहमदनगर चुप न था। सूपा की १२ मई की घटना के एक पखवारे के अन्दर अहमदनगर जिले के श्री गोंडा, पारनर, नगर और करजाट तालुकों में हंगामे हुए। कितनी ही जगह जब किसान जमा होकर साहूकारो पर हमले करने जा रहे थे, तो पुलिस और फौज ने दखल देकर उन्हें रोका।

दक्खिन हंगामा आयोग की रिपोर्ट के अनुसार ये हंगामे पूना जिले के भीमथरी तालुके के पाँच गाँवों और सिरूर तालुके के छः गाँवों में हुए। पुलिस और फौज ने ऐन मोके पर आकर भीमथरी तालुके के १७ गाँवों में, सिरूर तालुके के १० गाँवों में और हवेली के ३ तथा इन्दापुर के १ गाँव मे हंगामे रोके। अहमदनगर जिले में श्री गोंडा तालुके के ११ गाँवों में, पारनर तालुके के ६ गाँवों में, नगर तालुके के ४ गाँवों और करजाट तालुके के १ गाँव मे हंगामे हुए।[२]

पूना के इन हंगामों के दौरान सारे जिले मे ५५९ आदमी गिरफ्तार किये गये, जिनमें से ३०१ को सजा दी गयी। अहमदनगर जिले मे ३९२ गिरफ्तार किये गये जिनमें से २०० को सजा दी गयी।[३]

इन सजाओं के बाद भी किसानों ने साहूकारों पर हमले जारी रखे। १५ जून को उन्होंने भीमथरी तालुके के मुण्ढाली गाँव मे साहूकारों पर हमला किया। इसी तालुके के निम्बट गाँव में के सात आदमियों ने २२ जुलाई को एक आदमी की नाक काट ली जो अदालत से डिग्री करा कर इन सात में से एक की जमीन पर कब्जा करने गया था। इस तालुके के करहटी नामक अन्य गाँव के साहूकार ने किसानों को वाजिब कीमत पर अन्न देने से इन्कार किया था। किसानों ने २८ जुलाई को उसके घर पर हमला किया और उसका सारा अनाज उठा ले गये।[४]

सतारा के कुकरूर गाँव में १० सितंबर को लगभग १०० आदमियों ने यहाँ के एक

१. वही, पृ० ४   २. वही, पृ० ४   ३. वही, पृ० ४-५   ४. वही, पृ० ५-६

बड़े गुजराती साहूकार के घर पर हमला किया। उसके घर में जो भी कागजात मिले, उन्हें जलाकर खाक कर दिया और इसके बाद चलते बने।[1]

इन सब हंगामों में देखा जाता है कि किसानों ने न तो किसी साहूकार की जान ली और न उसका माल लूटकर अपने घर ले गये। उनका मुख्य लक्ष्य उन कागजात को नष्ट करना था जो कर्ज, रेहन और जमीन की खरीद के थे। इन अस्त्रों को ही इस्तेमाल कर सूदखोर महाजन उनकी जमीन, घर-द्वार छीनते थे। किसान इन्हीं अस्त्रों को उनसे छीन लेना चाहते थे। महाराष्ट्र के किसानों के इसी संग्राम की कड़ी में वासुदेव बलवन्त फड़के के नेतृत्व में उनका विद्रोह (१८७९) है जिसने उग्र रूप धारण किया था।

---

१. वही, पृ० ६

अध्याय ८१

वासुदेव बलवन्त फड़के का विद्रोह

(१८७९)

"बम्बई के जिलो मे तेहरी प्रक्रिया चुपचाप किन्तु सुनिश्चित रूप से चल रही है। यह प्रक्रिया है खेती-बारी से मालिकाना की समाप्ति, मालकाना का रैय्यत के हाथ से निकल कर साहूकार के हाथ में जाना और किसानो की जायदाद का मिलकर बडी जमीन्दारियो का रूप धारण करना।" (क्वार्टरली रिव्यू, अप्रैल १८७९, पृ० ३८३)।[१]

उपरोक्त उद्धरण स्पष्ट बताता है कि महाराष्ट्र के किसान किस तरह तबाह किये जा रहे थे। ये तबाह करने वाले साहूकार और अगरेज शासक थे। जब महाराष्ट्र के किसानो की यह हालत थी, बम्बई के गवर्नर (१८७७-८०) सर रिचर्ड टेम्पुल ने क्या किया? उसने जो भूमि राजस्व विधेयक पेश किया था उसमे किसानो को और भी बर्बाद करने की व्यवस्था थी। उसने तहसीलदार की माँग के खिलाफ अपील का अधिकार किसानो से छीन लिया। तहसीलदार जितना राजस्व लाद देते किसानो को देना ही होता। इस विधेयक मे व्यवस्था की गयी कि अगर राजस्व की कोई किश्त बाकी रह जाय, तो साल भर का सारा राजस्व बकाया माना जाय। किसानो को इस सारे भूमिकर का व्याज और अधिकारियो द्वारा लगाया गया जुर्माना देना होगा। बकाया लगान की बसूली के लिए तहसीलदार किसान की सारी फसल जब्त कर सकता था। इससे भी कडी व्यवस्था यह थी कि अगर एक किसान भूमिकर न दे सका तो सरकार उस गाँव के सारे किसानो की जायदाद जब्त कर सकती थी और बेच सकती थी तथा इन सब किसानो को जेल मे डाल सकती थी।[२]

ब्रिटिश सरकार की भारत के किसानो को बर्बाद करने की इस नीति की प्रतिक्रिया वासुदेव बलवन्त फडके पर क्या हुई? उन्होने अपनी आत्मकथा मे लिखा.

"भारतवासी अंगरेजो के राज में भुखमरी से मौत के मुँह मे जा रहे है।" (पृ० १३)

अगरेजो की सारी नीति का "मतलब धन संग्रह करना, इस देश को उपनिवेश बनाना और धर्म को नष्ट करना है।" (पृ० १३)

"उनका कानून रुपया बनाने का टकसाल है।"[३]

---

१. तिलक एण्ड द स्ट्रगल फार नेशनल फ्रीडम, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १९६६, पृ० १९

२. हैंसार्ड पार्लमेन्टरी डिबेट्स, खण्ड १, १८९२; कामन्स, २८ मार्च, पृ० १०७, एम० पी० सेमूर के भाषण का अंश; उपरोक्त पुस्तक, पृ० १९-२०

३. उपरोक्त पुस्तक, पृ० २६

ये वासुदेव बलवन्त फड़के कौन थे? वे महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। उनका जन्म पूना जिले के शिरढोण गाँव में ४ नवम्बर, १८४५ को हुआ था।[1] उनकी शिक्षा पूना हाई-स्कूल और बम्बई में हुई। उन्होंने सुनाम के साथ जी. आई. पी. रेलवे में, ग्रांट मेडिकल कालेज, और पूना में सेना के वित्त विभाग में क्लर्क की नौकरी की। महाराष्ट्र और देशवासियों की दुर्दशा देखकर उनके मन में क्रमशः अंगरेज सरकार के खिलाफ विद्रोह की भावना प्रबल होने लगी। १८७१ तक उन्होंने मन में निश्चित कर लिया कि अंगरेज सरकार से प्रतिशोध लेना होगा।[2]

१८७० के बाद का दशक महाराष्ट्र के जीवन में बड़े संकट का समय था। एक तरफ अकाल और दूसरी तरफ सूदखोर महाजनों के कारण सारा महाराष्ट्र तबाह हो रहा था। इससे महाराष्ट्रवासियों के अन्तर अंगरेजों के खिलाफ और देशप्रेम की भावना पदा हुई। खासकर पूना के ब्राह्मणों के एक हिस्से ने ब्रिटिश वस्तुओं के बायकाट और स्वदेशी वस्तुओं के इस्तेमाल का रास्ता अपनाया। वासुदेव बलवन्त फड़के उनमें से थे। इस सम्बन्ध में 'बाम्बे गजेट' ने लिखा :

> "पूना में ब्राह्मणों का एक हिस्सा है जिन्होंने ब्रिटेन की वनी किसी भी वस्तु को न खरीदने और इस्तेमाल करने की प्रतिज्ञा कर रखी है। वासुदेव बलवन्त फड़के इन में से एक थे। वित्त दफ्तर में जो उन्हें जानते थे उनका कहना है कि वे अपनी प्रतिज्ञा का पालन दृढ़ता के साथ करते थे।"[3]

इसी राष्ट्रीय भावना का परिणाम राष्ट्रीय विद्यालयों का खोला जाना और राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार था। वासुदेव बलवन्त फड़के महाराष्ट्र में राष्ट्रीय शिक्षा के जनक थे। १८७४ में हम उन्हें "पुना नेटिव्ह इन्स्टीट्यूशन' के 'सेक्रेटरी आणि ट्रेझरर"[4] अर्थात् पूना देशी विद्यालय के मंत्री तथा खजांची के रूप में पाते हैं।

क्रमशः वे इस निष्कर्ष पर पहुँच गये कि अंगरेज उपनिवेशवादियों को सशस्त्र विद्रोह के जरिए भारत से मार भगाना होगा। इसके लिये उन्होंने शिवाजी के ढंग की सेना भरती करनी शुरू की, जिसमें अधिकांश रमोसी थे जिनके विद्रोह का वर्णन हम पहले कर आये हैं (अध्याय ३९)। दौलतराव के रूप में उन्हें अच्छा साथी और रमेसियों का नेना मिला। खास पूना में भी उन्होंने नौजवानों को संगठित किया।

> "पूना में वासुदेव ने नौजवानों की एक समिति बनायी, जिन्हें स्कूलों और कालेजों से चुना गया था।"

इन नौजवानों को अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग की शिक्षा दी जाती। क्रमशः शस्त्र पूजन भी आरम्भ हुआ

२३ फरवरी, १८७९ को फड़के के नेतृत्व में उनके दल ने वन्दूकों, भालों, तलवारों आदि अस्त्रों से लैस होकर धामारी गाँव के साहूकारों पर हमला किया।[5] उन्हें लूट

---

१. विष्णुधर जोशी, आद्य क्रान्तिकारक वासुदेव बलवन्त फड़के (मराठी), पृ० २७
२. जोशी, वही, पृ० ५७-५८ ३. जोशी, वही, पृ० ६६ ४. वही, पृ० ७५
५. रामगोपाल, लोकमान्य तिलक, बम्बई, १९५६, पृ० १४ ६. जोशी, वही, पृ० ११४

लिया गया। इसके बाद पूना और बम्बई के आसपास सूदखोर और शोषक महाजन लूटे जाने लगे। फड़के के इन आक्रमणों के प्रति गरीब किसानों और साधारण स्थिति के लोगों को हमदर्दी थी। यही नहीं, गाँवों के अच्छी स्थिति के लोग भी उनसे हमदर्दी रखते थे।[1]

फड़के ने 'राजघोषणा' की कि उनका संग्राम ब्रिटिश सरकार के खिलाफ है, जिसने सारे देश को तबाह और बर्बाद कर दिया है। उनकी यह घोषणा विस्तार के साथ पूना से प्रकाशित अंगरेजी पत्र 'डेक्कन हेराल्ड' के १२ मई, १८७९ के अंक में छपी।[2] इस राजघोषणा का कुछ अंश और उसपर बम्बई प्रेसीडेन्सी के गवंनर सर रिचर्ड टेम्पुल का कथन 'लन्दन टाइम्स' में भी छपा था। गवर्नर ने कहा था :

"......आकस्मिक सफलता से प्रोत्साहित होकर (लुटेरो ने) राजधानी पूना के पास की प्रधान सड़कों पर भी खतरा पैदा कर दिया और एक ब्राह्मण नेता के नाम से एक घोषणा जारी की जिसमे कहा गया कि उनकी कार्रवाइयाँ दरअसल सरकार के खिलाफ हैं।"[3]

ब्रिटेन के एक चतुर नौकरशाह सर विलियम वेडर बर्न ने वासुदेव बलवन्त फडके के विद्रोह पर प्रकाश डालते हुए लिखा :

"ये (कृषि हंगामे) यत्र-तत्र दलबद्ध डकैतियों और साहूकारों पर हमलों से आरम्भ हुए। अन्त मे ये डकैतों के गिरोह परस्पर मिलकर इतने शक्तिशाली हो गये कि उन्हे दबाना पुलिस के बूते के बाहर हो गया और पूना मे स्थित सारी सेनाको—घुड़-सवार, पैदल और तोपखाना—सब को उनके खिलाफ मैदान मे उतरना पड़ा। पच्छिम घाट के जंगलों मे ये गिरोह घूमा करते, सेना को देखकर ये तितर-वितर हो जाते और किसी सुविधाजनक स्थान पर फौरन फिर एकत्र हो जाते। उन्हें ज्यादा शिक्षित वर्ग का एक नेता मिल गया जो अपने को शिवाजी द्वितीय कहता है। इस नेता ने सरकार को चुनौतियाँ लिखकर भेजी, (बम्बई के गवर्नर) सर रिचर्ड टेम्पल का सर काट लाने के लिए ५०० रु० (५,००० रु०) के पुरस्कार की घोषणा की और दावा किया कि वह राष्ट्रीय विद्रोह को उस रास्तेपर आगे ले जा रहा है जिसके आधार पर पहले पहल मराठा सत्ता की स्थापना की गयी थी।"[4]

इस विद्रोह के दमन के लिए अंगरेज सरकार ने मार्शल्ला लागू किया और घोषणा की कि जहाँ के लोग फड़के की सहायता करेंगे, वहाँ वालों को सामूहिक दण्ड दिया जायगा। इसके साथ ही फड़के की हुलिया के साथ इश्तहार बाँटे गये और घोषणा की गयी कि जो उन्हें पकड़ा देगा उसे ४००० रु० का पुरस्कार दिया जायगा। उनके साथियों को भी पकड़वाने के लिये पुरस्कार की घोषणा की गयी।

इसके उत्तर में कुछ ही दिन बाद महाराष्ट्र के कितने ही नगरों की दीवारों पर फड़के

---

१. गजेटियर आफ द बाम्बे प्रेसीडेन्सी, खण्ड १, पृ० ३८; जोशी, वही, पृ० १५६

२. जोशी, वही, पृ० १५५-६ ३. वही, पृ० १५४

४. रामगोपाल, वही, पृ० १२ ; तिलक एण्ड स्ट्रगल फार इंडियन फ्रीडम, पृ० २२

की जवाबी घोषणा दीख पड़ने लगी। उसमें कहा गया था कि जो भी बम्बई के गवर्नर और पूना के कलेक्टर तथा सेशन जज का सर काट लायेगा', उसे क्रमश: ५,००० और ३,००० रु० पुरस्कार दिया गायगा। इस पर हस्ताक्षर थे 'पेशव्यांचा नवा मुख्य प्रधान'—वासुदेव बलवन्ते फड़के।[1]

फड़के अपने को शिवाजी द्वितीय का पेशवा कहते, न कि शिवाजी द्वितीय जैसा कि सर विलियम वेडर बर्न के उपरोक्त उद्धरण से प्रकट होता है। उनके अनुयायी उन्हें 'महाराज' कहकर सम्बोधित करते।

अंगरेज सरकार की पुरस्कार की घोषणा और उसकी सेना के मैदान में उतरने के बावजूद फड़के की सेना अपने आक्रमण करती रही। बड़े-बड़े सूदखोर साहूकार और अत्याचारी जमीन्दार लूटे जाते रहे। इसके साथ उन्होंने एक अन्य अस्त्र का प्रयोग किया। यह था अत्याचारियों के घरों में आग लगा देना। १८५७ में विद्रोह आरंभ होने के पहले छावनियों और अंगरेज अधिकारियों के घरों में आग लगाये जाने की घटनाओं का जिक्र हम कर आये हैं। उनके आक्रमण से जो आतंक धनियों और अंगरेजों में छाया हुआ था, उसे स्वयं उनके पत्र स्वीकार करते हैं। बम्बई के 'नेटिव ओपीनियन' नामक अंगरेजी पत्र ने लिखा :

> "हमें अफसोस है कि आतंक के इस समय गवर्नर प्रेसीडेन्सी से दूर हैं। बम्बई प्राय: आतंकग्रस्त हो गया, जब उसने पलासपे में जो इस स्थान से सिर्फ कुछ मील की दूरी पर है, डकैती की बात गत मंगलवार को सुनी।" (१८ मई, १८७९)[2]

बाम्बे गजेट ने लिखा :

> "डकैतों के साहसपूर्ण कारनामों से अत्यधिक बेचैनी की भावना आमतौर पर सबमें फैल रही है। पूना शहर और छावनी के लोग बहुत ही चिन्तित हैं। जिलों में बात दूसरी है। डकैतियों के विवरण का प्रेसीडेन्सी के प्राय: सभी हिस्सों में पहुँचना जारी है। कोई भी गाँव जिसकी रक्षा सेना नहीं करती, सुरक्षित नहीं मालूम होता। लोग विश्वास करने लगे हैं कि उनकी असंभव धमकियाँ भी कार्यरूप में परिणत की जा सकती हैं। यहाँ तक कि रेलवे लाइनों के स्टेशनों में रहनेवाले यूरोपीय भी इतने डर गये हैं कि उन्होंने अपने बीबी-बच्चों को सुरक्षित स्थान भेज दिया है।" (१९ मई, १८७९)[3]

विद्रोहियों की इन सफलताओं को देखकर बहुतों का ख्याल होने लगा था कि इस विद्रोह के पीछे बड़ी संगठित शक्ति है। 'बाम्बे गजेट' ने अपने संपादकीय में लिखा :

> "ब्राह्मण वासुदेव बलवन्त को उसके आदमी 'महाराज' के नाम से जानते हैं और उस व्यक्ति की सारी प्रगति तथा जीवनी हमें यह विश्वास कराती है कि वह पूना में बैठी

१. जोशी, वही, पृ० १६२

२. जोशी, वही, पृ० १७६ ३. जोशी, वही, पृ० १८०-१

किसी केन्द्रीय कमेटी के सिर्फ हाथ की तरह काम कर रहा है।" (२२ मई, १८७९)[१]

फड़के ने बड़ी सफलता के साथ अपने साथियों को साथ लेकर अंगरेजों की सेना का सामना किया। उन्होंने अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए निजाम हैदराबाद की रोहिला सेना के प्रधान से सम्पर्क स्थापित किया था और उसके कई सौ घुड़सवारों को अपनी सेना में भरती करने की चेष्टा की थी।[२]

आखिर में अंग्रेज सरकार का पलड़ा भारी पड़ने लगा। फड़के के साथी अधिकांश मारे गये या निराश होकर छोड़ कर चले गये। मई १८७९ में फड़के के दाहिने हाथ दौलतराव मारे गये। किसानों के वीर सेना हरिनायक पकड़े गये और उन्हें जून १८७९ में फाँसी दे दी गयी। फड़के भी ज्यादा दिन न बच सके। २२ जुलाई १८७९ को अंगरेज सेना ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया।[३] उनपर मामला चला, तो महाराष्ट्र के विभिन्न हिस्से के लोग उनके दर्शन करने आते। उन्हें आजीवन निर्वासन का दण्ड देकर जब अदालत से जेल ले जाया जा रहा था, तब उनके दर्शन के लिए एकत्रित जनता ने नारा लगाया :

"वासुदेव बलवन्त फड़के की जय।"[४]

अदन मे उन्हें कैद कर रखा गया, जहाँ १८८३ मे इस वीर देशभक्त की मृत्यु हो गयी। वासुदेव बलवन्त फड़के का प्रयास सराहनीय था, लेकिन उनकी चेतना मे यह न आ सका था कि अंगरेज उपनिवेशवादियों को मार भगाने के लिए सिर्फ महाराष्ट्र के एक-आध-जिले में सशस्त्र चेष्टा काफी नही। उसके लिए देशव्यापी संगठन और आन्दोलन की, एक साथ मिलकर प्रयास की, आवश्यकता थी।

फड़के द्वारा संगठित अंगरेज उपनिवेशवादियों के खिलाफ इस विद्रोह का महत्व बहुत बड़ा है। वे सामन्तवर्ग के नही, विकासमान मध्यवर्ग और बुद्धिजीवियो के प्रतिनिधि थे। उन्होंने एक तरफ किसानों को और दूसरी तरफ अंगरेजी पढ़े-लिखे नौजवानों को सगठित करने की चेष्टा की थी। इसलिये नेतृत्व और वर्ग शक्तियों की दृष्टि से उनका विद्रोह पिछले विद्रोहों से भिन्न था। यह भारत के भावी क्रान्तिकारी आन्दोलन की दिशा का सूचक था। किसानों और अंग्रेजी पढ़े-लिखे मध्यवर्ग की इस बढ़ती एकता को देखकर ही ब्रिटिश नौकरशाह चिन्तित हो गये थे और मध्यवर्ग को किसानों से अलग कर क्रान्ति रोकने की गरज से ही इंडियन नेशनल कांग्रेस को १८८५ में जन्म दिया था।

१. जोशी, वही, पृ० २०७
२. जोशी, वही, पृ० २३७; तिलक एण्ड द स्ट्रगल फार इंडियन फ्रीडम, पृ० २१
३. जोशी, वही, पृ० २७१ ४. जोशी, वही, पृ० ११६

अध्याय ८२

रम्पा विद्रोह

(१८७९-८०)

रम्पा मद्रास प्रेसीडेन्सी में गोदावरी जिले की एजेन्सी में लगभग ८०० वर्गमील का पहाड़ी अंचल था। गोदावरी नदी के उत्तरी किनारे से लेकर सिलेरू नदी तक यह फैला हुआ था। इसमें २००० फुट से लेकर ४००० फुट तक ऊँची पहाड़ियाँ थीं।

रम्पा अब चौड़ावरम के उत्तर एक छोटा-सा गाँव मात्र है। पहले इसी गाँव के नाम पर इसके आस-पास का इलाका (मुट्टा) रम्पा कहलाता था और इस पूरे इलाके के स्वामी (मुट्टादार) का निवास स्थान था। पुराने सरकारी दस्तावेजों में यहाँ के जमीन्दार को रम्पा का मन्सबदार या राजा कहा गया है। ग्रान्ट ने 'उत्तरी सरकारों के राजनीतिक सर्वेक्षण' में उसे बस्तर के राजा की तरह स्वाधीन राजा कहा है। १७८७ में 'सर्कीट कमेटी' ने लिखा कि यद्यपि रम्पा की जमीन्दारी राजमुन्दरी की सरकार के अन्तर्गत है, लेकिन इसने कंपनी या निजाम को कभी भी राजस्व नहीं दिया।"[1]

१८०२-०३ के दक्षिण के इस्तिमरारी बन्दोबस्त में रम्पा के किसी भी हिस्से का बन्दोबस्त नहीं किया गया। इस जमीन्दारी के साथ अंगरेजों का टकराव पहले पहल १९वी सदी के आरंभ में हुआ, जब इसके मन्सबदार राम भूपति देवू ने सशस्त्र सेना के साथ पहाड़ियों से उतर कर मैदान के कुछ गाँवों पर कब्जा कर लिया।[2] कंपनी की सेना ने उसे मार भगाया और कंपनी सरकार की अधीनता स्वीकार करने को वाध्य किया। १८१३ में कंपनी सरकार ने उसके साथ बन्दोबस्त किया और जिन गाँवों पर उसने अधिकार किया था, वे उसे दे दिये गये। उसे अपनी जमीन्दारी और इन गाँवों के लिए किसी भी प्रकार का पेशकश (राजस्व) नहीं देना पड़ता था। उसका उत्तरदायित्व अपनी रियासत में शान्ति बनाये रखना और मैदान में पहाड़ियों के हमले को रोकना था। इस मन्सबदार या राजा ने अपनी रियासत अपने छोटे-छोटे सरदारों (मुट्टादारों) के बीच बाँट रखी थी। ये मुट्टादार अपने-अपने मुट्टों में शान्ति बनाये रखते और राजा को हर साल राजस्व देते।

राम भूपति देवू की मृत्यु १८३५ में हुई। उसके एक पुत्री और एक जारज पुत्र था। मुट्टादारों ने जमीन्दारी का उत्तराधिकारी लड़की को माना।[3] वह लड़की गद्दी पर बैठी। उसने आजीवन अविवाहित रहने की घोषणा की जैसा कि पहले इस देश की एक जमीन्दारिन कर चुकी थी। लेकिन कुछ समय बाद उसके चरित्र के बारे में सन्देह किया जाने लगा और उसे तथा उसके भाई को रम्पा से भगा दिया गया।

---

१. मद्रास डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, गोदावरी, पृ० २७१

२. वही, पृ० २७१

३. वही, पृ० २७२

यह रियासत कोर्ट आफ वार्ड्स में चली गयी और कंपनी सरकार इन दोनों को गुजारा देने लगी। इस पर मुट्टादारों ने विद्रोह किया। १८४० में एक पुलिस दल काट डाला गया। लेकिन १८४५ तक कंपनी सरकार ने मुट्टादारों के विद्रोह को दबा दिया। जमीन्दारनी ने अपने सारे अधिकार अपने भाई को सौंप दिये। १८४८ में बहुत समझाने-बुझाने के बाद मुट्टादारों ने भूतपूर्व राजा की इस जारज सन्तान मधुवती राम भूपति देवू को मन्सबदार माना और फिर से शान्ति रक्षा का काम करना स्वीकार किया इस शर्त पर कि उन सब पर राजस्व १००० रु० से ज्यादा न होगा और मन्सबदार उनसे ज्यादा राजस्व वसूल करने की चेष्टा न करेगा।[1]

मन्सबदार ने लेकिन जल्दी ही अपना वादा तोड़ा। उसने मुट्टों को जब्त करना और लोगों को दबाना आरंभ किया, जिसके कारण १८५८ और १८६१ में उसके खिलाफ विद्रोह हुए। उसके खिलाफ लोगों की घृणा इतनी बढ़ गयी थी कि जब १८६२ में उसने अपने निजी मुट्टे में जाकर रहना चाहा, तो वहाँ विद्रोह हो गया। बड़ी संख्या में जाकर पुलिस ने उसका दमन किया।[2] १८७९ तक उसने आठ मुट्टे जब्त कर लिए और कितनों ही का राजस्व दूना कर दिया। उसने ईंधन, चरागाह आदि पर कितने ही नाजायज टैक्स लगाये।

उसके इन कारनामों से लोगों की घृणा सिर्फ उसी के खिलाफ नहीं, अंगरेज सरकार के खिलाफ भी बढ़ रही थी जो उसका समर्थन करती थी। अंगरेज अधिकारी १८४८ के समझौते को भूल गये। मुट्टेदारों ने अंगरेज अधिकारियो के पास मन्सबदार के जुल्मों की शिकायत की, तो उन्हें अनसुना कर दिया गया या दीवानी अदालत के जिम्मे कर दिया गया और इन पहाड़ियों को मैदानों के शहर में जाकर अपने मामले की पैरवी करने को कहा गया। स्वभावतः अंगरेजों के खिलाफ उनका असंतोष काफी बढ़ गया।

इसी बीच अंगरेज सरकार ने नया आबकारी कानून लागू किया। उसने घरेलू व्यवहार के लिए भी ताड़ी निकालने पर रोक लगा दी। ताड़ी का ठेका दिया जाने लगा और अंगरेज सरकार इन ठेकों से बड़ी आमदनी करने लगी। ठेकेदारों ने मांग की कि मुट्टादार ताड़ी निकालने के लिए उन्हें फीस (चिगरूपन्नू) दे। दूसरी तरफ मन्सबदार ने एलान किया कि एक अतिरिक्त कर 'मोदालूपन्नू' उसे देना होगा और यह 'चिगरूपन्नू' का आधा या दो तिहाई होगा।[3]

यह १८७९ के रम्पा विद्रोह का तात्कालिक कारण था। पुलिस के अत्याचार उनके इस विद्रोह में सहायक हुए। लोग कहने लगे :

"हम अपने ऊपर लगाये गये इन सब टैक्सों को बर्दाश्त नहीं कर सकते। तान साल पहले चिगरूपन्नू लागू किया गया था। इस साल मन्सबदार मोदलूपन्नू की मांग कर रहा है। पुलिस के सिपाही मुर्गियाँ छीन ले जाते हैं। हमारा जीवित

---

१. वही, पृ० २७२ २ वही, पृ० २७२ ३. वही, पृ० २७३

रहना असंभव हो गया है। इससे तो बेहतर है कि हम पुलिस के सिपाहियों को मार डालें और खुद मर जायें।"[1]

दीवानी अदालतों की कार्यपद्धति के खिलाफ उनकी अन्य शिकायत थी। मैदान के व्यापारी इन पहाड़ियों को ठगा करते। वे इनकी सरलता से नाजायज फायदा उठा कर मनमाने समझौतों पर इनके दस्तखत कराते और फिर राजमुन्दरी की अदालत में मामला दायर कर इनकी जायदाद हथिया लेते। ये सरल पहाड़ी राजमुन्दरी की अदालत में जाने से ज्यादा शेर की माँद में घुसना पसन्द करते। अंगरेजों की अदालत उनके लिए शेर की माँद से भी ज्यादा खतरनाक मालूम होती थी। देखा गया कि ५ रु० के कर्ज के लिए इन पहाड़ियों के सौ-सौ रुपए के मवेशी और खाद्यान्न चले गये। कभी-कभी तो ये व्यापारी अपने किसी भी मित्र को सरकारी अदालत का अफसर बना कर लाते और बिल्कुल नाजायज तरीके से उनकी जायदाद हड़प लेते। स्वाभावतः पहाड़ी अंगरेज सरकार को ही इन सब के लिए जिम्मेदार ठहराते।[2]

९ मार्च १८७९ को रम्पा के पुलिस इन्सपेक्टर ने अशान्ति की आशंका की खबर दी। कलक्टर उस वक्त भद्राचलम गया था। इसलिए डिपुटी कलक्टर और पुलिस सुपरिटेन्डेन्ट कुछ सिपाहियों को लेकर पहाड़ियों की तरफ चले। गोकावरम में उन्हें एक मुट्टादार मिला जिस पर विद्रोह का सन्देह किया जाता था, लेकिन उसने अपनी बातों से पुलिस का सन्देह दूर कर दिया और उसके साथ चौड़ावरम तक गया भी। दूसरे दिन उसी जगह कुछ सशस्त्र लोगों ने दो पुलिस वालों को रोका। इसी के साथ समाचार आया कि बोदूलूरू के पास कुछ विद्रोहियों ने पुलिस के एक जत्थे को पकड़ लिया है। १३ मार्च को प्रातः काल बहुत से पहाड़ी चौड़ावरम आये और डिपुटी कलक्टर के सामने अपनी शिकायतें पेश कीं। डिपुटी कलक्टर उनसे मिला और उनकी शिकायतें सुनीं। उसे लगा कि उसकी बातों से पहाड़ी सन्तुष्ट हो गये हैं। लेकिन कुछ ही मिनट बाद परिणाम उलटा देखा गया। पहाड़ियों ने कहा कि वे अंगरेज सरकार की बातों में विश्वास नहीं कर सकते और पुलिस शिविर पर गोलियाँ बरसाना शुरू किया। पुलिस चारों तरफ से घिर गयी।

अपने पास मौजूद हथियारों की बदौलत डिपुटी कलक्टर अपने शिविर की रक्षा करने में समर्थ हुआ। १७ मार्च १८७९ को उसके शिविर में १४९ आदमी हो गये। इसके अलावा १६ मार्च को ३९ वीं देशी पल्टन के लगभग ४०० अफसर और सैनिक कोकनद में जहाज से उतारे गये थे। वे चौरावरम में घिरी पुलिस की मदद के लिए आ रहे थे।[3]

इसी बीच विद्रोहियों ने रम्पा में दो सिपाहियों को अपने आराध्यदेव के सामने बलि देकर घोषणा कर दी कि अंगरेजों के खिलाफ युद्ध छोड़कर उनके पास अन्य रास्ता नहीं। उनकी विद्रोह की घोषणा सारे रम्पा अंचल में गूंज उठी। सर्वत्र विद्रोह की आग धू-धू कर जलने लगी।[4]

---

१. जी० ओ० नं० १०१, जुडीशियल, १६ जनवरी १८८०, पृ० १० ; उपरोक्त गजेटियर, पृ० २७३
२. उपरोक्त गजेटियर, पृ० २७३ ३. वही, पृ० २७४ ४. वही, पृ० २७४

पहाड़ियों और वनों से ढके ५ हजार वर्गमील में विद्रोह फैल गया। विद्रोहियों ने छापामार युद्ध का सहारा लिया। वे सेना से सीधी लड़ाई से बचते, लेकिन पुलिस के थानों पर हमला करते, उन्हें जला देते। वे उन गाँवों को भी लूट लेते या जला देते जो पुलिस अधिकारियों की सहायता करते। विद्रोह को दबाने के लिए मद्रास से सेना और आस-पास के जिलों से पुलिस भेजी गयी। १८७९ के अन्त तक सैकड़ों पुलिस के अलावा मद्रास इन्फैन्ट्री की ६ रेजीमेन्टें, सैपर्स और माइनर्स की २ कंपनियाँ और हैदराबाद सेना के रिसाले का एक दस्ता तथा पैदल सेना का एक हिस्सा इस अंचल में विद्रोह का दमन करने पहुँच गया था।[1]

इस विद्रोह के नेता थे चन्द्रैय्या, सरदार जंगम पुलीकान्त सम्बैय्या, तम्मान डोरा और बोदूलूरू के अम्बुल रेड्डी। सम्बैय्या २९ अप्रेल १८७९ को ही दुश्मनों के हाथ पड़ गये, लेकिन इसकी कमी चन्द्रैय्या ने पूरी की। चेल्लावरम डिवीजन में मई के आरंभ में उन्होंने कितनी ही बार दुश्मनों को हराया। अड्डातिनेला थाने को उन्होंने जला दिया।

इसी बीच रेकपल्ले और दुतचर्ती में विद्रोह फैल गया था। अंगरेज अधिकारियों को आशंका होने लगी कि कहीं पोलावरम की पहाड़ी जातियाँ भी इसमें शामिल न हो जायँ। इसलिए विद्रोह को जल्दी से जल्दी दबाने के लिए उन्होंने चारों तरफ से सेना भेजी। रम्पा की उत्तरी और पूर्वी सीमा पर कब्जा कर सेना ने गोदावरी और सवेरी के किनारे-किनारे फौजी चौकियाँ बैठा दी। इसके साथ ही रेवेन्यू बोर्ड के प्रथम सदस्य सुलीवान को जुलाई १८७९ में विद्रोह के कारणो की जाँच के लिए रम्पा भेजा गया। उसने जांच के बाद सिफारिश की कि मन्सबदार को हटा दिया जाना चाहिए। उसने मुट्टादारों से वादा किया कि अंगरेज सरकार उनके साथ न्याय करेगी। अगस्त १८७९ तक चन्द्रैय्या के ७० आदमी पकड़े गये[2] और रम्पा कुछ शान्त मालूम होता था।

इसी बीच रेकपल्ले में शान्ति स्थापित हो गयी और पोलावरम में जिस विद्रोह की आशंका की गयी थी, वह न हुआ। सेना को अब रम्पा के बाकी विद्रोहियों के खिलाफ अपनी पूरी ताकत लगाने का मौका मिला। बाकी विद्रोही लड़ते हुए गोलगोण्डा और जयपुर की पहाड़ियों में चले गये। नवम्बर १८७९ में अम्बुल रेड्डी पकड़े गये और फरवरी १८८० में चन्द्रैय्या मारे गये। इनके न रहने से विद्रोह की रीढ़ टूट गयी। अवश्य ही इसके बाद भी छिटपुट संघर्ष होते रहे। विजगापट्टम जिले में कितनी ही जगह मुठभेड़ें हुईं। अक्तूबर १८८० में तम्माम डोरा ने इस अंचल पर आक्रमण किया, लेकिन नवम्बर १८८० तक विद्रोह बिल्कुल शान्त हो गया।

रम्पा का मन्सबदार सुलीवान की सिफारिश के अनुसार हटा दिया गया, उसका अपना मुट्टा भी जब्त कर लिया गया तथा उसे बरहमपुर जेल में नजरबन्द कर दिया गया। पुराने मुट्टादारों को फिर से नियुक्त किया गया। १८४८ की शर्तों पर उनके मुट्टे उन्हें वापस दिये गये।

१. उपरोक्त गजेटियर, पृ० २७४
२. वही, पृ० २७५

अध्याय ८३

टिकेन्द्रजित की शहादत

(१८९१)

२१ अगस्त १८९१ को मणिपुर के युवराज और सेनापति टिकेन्द्रजित सिंह को अंगरेज साम्राजियों ने फांसी दी। क्या अपराध था उनका? उन पर इन साम्राजियों ने आरोप लगाये थे कि उन्होंने 'भारत सम्राज्ञी' के विरुद्ध युद्ध किया है, चार ब्रिटिश राज-कर्मचारियों की हत्या में सहायता की है और नरहत्या की है। क्या उन्होंने ब्रिटिश साम्राजियों की महारानी विक्टोरिया के राज्य पर आक्रमण किया था? नहीं। उन्होने सिर्फ अपनी मातृभूमि की रक्षा साम्राजी आक्रमणकारियों से करने की चेष्टा की थी। क्या उन्होंने सचमुच ब्रिटिश राजकर्मचारियों की हत्या करवायी थी? बिल्कुल नहीं। इसी प्रकार नरहत्या का आरोप भी झूठा था।

वस्तुत: टिकेन्द्रजित का अपराध यह था कि वे योग्य सेनापति और दूरदर्शी राजनीतिज्ञ थे। वे अपनी मातृभूमि को प्यार करते थे। अंगरेज साम्राजियों की दृष्टि में यही गुण तो सब से बड़े दुर्गुण थे। कोई भी अपनी मातृभूमि को प्यार करे, अंगरेज साम्रा-जियों को मुँहतोड़ जवाब देने की क्षमता और योग्यता अपने मे रखे, इससे बढ़कर अपराध उनकी नजर में और कौन हो सकता था? अगर वे देशद्रोही होते, अयोग्य और दुर्बल होते, तो ये साम्राजी उनकी प्रशंसा के पुल बांधते न थकते, उन्हें फांसी देने के बजाय राजसिंहासन पर बैठाते। साम्राजी जानते है कि कायर और दुर्बल लोगों को ही वे अपने इशारे पर नचा सकते है, अपने हुक्म पर उठा-बैठा सकते हैं। चूंकि टिकेन्द्रजित इस नाकिस धातु के बने न थे, इसलिए उन्हें फांसी से लटकना पड़ा।

टिकेन्द्रजित सिंह उर्फ कैरंग मणिपुर के महाराजा चन्द्रकीर्ति के पुत्र थे। १८८६ में चन्द्रकीर्ति की मृत्यु के बाद उनकी पहली रानी के बड़े पुत्र शूरचन्द्र गद्दी पर बैठे। चन्द्रकीर्ति की इच्छा के अनुसार दूसरी रानी के बड़े पुत्र कुलचन्द्र को युवराज, तीसरी रानी के एकमात्र पुत्र टिकेन्द्रजित को सेनानायक, चौथी रानी के बड़े पुत्र झालकीर्ति सिंह को सेना-पति बनाया गया। इसी प्रकार अन्य पांच भाइयों को भी उच्च पद दिये गये। दसवे नाबालिग भाई को बालिग होने पर उच्च पद देने की व्यवस्था की गयी।

टिकेन्द्रजित का जन्म १८५९ में हुआ था। बचपन से ही घुड़सवारी और अस्त्र-विद्या की तरफ वे आकर्षित हुए। इन कलाओं में उन्होंने दक्षता प्राप्त की। मणिपुरी भाषा के अलावा ये बंगला और हिन्दी में भी अच्छी तरह बात कर सकते थे।[1] पोलि-टिकल एजेन्ट कुलक से उन्होंने कुछ अंगरेजी भी पढ़ी थी। उमर के साथ उनका शिकार-प्रेम भी बढ़ा। १५-१६ साल की उमर से उन्होंने बाघ आदि भयंकर जानवरों का

१. ज्योतिर्मय राय, मणिपुरेर इतिहास (बंगला), प्रथम संस्करण, पृ० २३३

मुकाबिला करना आरंभ किया। नंगी तलवार लेकर बाघ से भिड़ जाने में वे जरा भी न हिचकते थे। चूंकि वे शिकार की खोज में घने जंगलों में घूमा करते थे, इसलिए उनके पिता उन्हें कैरंग कहा करते थे। मणिपुर निवासी भी उन्हें इसी नाम से पुकाराना पसन्द करते थे।

शूरचन्द्र के राजा बनते ही राजसिहासन छीनने के लिए मणिपुर के ही भूतपूर्व महाराजा गंभीर सिंह के सेनापति नरसिंह के पुत्र बड़चौबा और मेकजिन सिंह ने सेना लेकर चढ़ाई की।[१] इनका मुकाबिला करने का काम टिकेन्द्रजित और केशरजित को सौपा गया। केशरजित टिकेन्द्रजित के सौतेले भाई, शूरचन्द्र के सगे तीसरे भाई और गजाध्यक्ष थे। दोनों ने अपनी जिम्मेदारी बडी वीरता से पूरी की। बडचौबा अपनी सेना के बड़े हिस्से को खोकर भाग जाने को बाध्य हुआ।

चार महीने बीते होगे कि फिर चौबा और मेकजिन बहुत बडी सेना लेकर राजधानी इम्फाल पर चढ आये। अपने पिता नरसिंह की जनप्रियता के कारण वे इतनी जल्दी सेना इकट्ठा करने मे सफल हुए थे। सेनानायक टिकेन्द्रजित ने आगे बढकर उनका मुकाबिला किया। चार दिन तक भयकर युद्ध होता रहा। चौबा का पक्ष प्रबल पड़ रहा था, उसकी तोपे कमाल कर रही थी। ऐसी हालत मे शूरचन्द्र ने अगरेज रेजीडेन्ट से मदद मागी। उसने सिर्फ एक सौ सिपाही भेजे। इसके पहले चन्द्रकीर्ति नागायुद्ध मे अंगरेजो की मदद कर चुके थे और कोहिमा को नागाओ से बचाने मे अगरेजो के बड़े सहायक साबित हुए थे। पिता की आज्ञा से खुद टिकेन्द्रजित अंगरेजो की तरफ से नागाओ से लड़ने गये थे। अंगरेजों को इतनी कम मदद देते देख टिकेन्द्रजित समझ गये कि युद्ध मे अपनी शक्ति, अपने कौशल से विजय प्राप्त करनी होगी। अगरेजो की कृतघ्नता पर उन्हें गुस्सा भी आया। अपने पराक्रम और कौशल से उन्होने शत्रु को परास्त किया और चौबा तथा मेकजिन को गिरफ्तार कर लिया।

इसके बाद सेनापति झालकीर्ति की मृत्यु हो गयी, उनका सहायक सेनापति शूरचन्द्र का सगाभाई भैरवजित या पक्का सेना था। लेकिन झालकीर्ति की मृत्यु के बाद शूर-चन्द्र ने टिकेन्द्रजित की वीरता के कारण सेनापति का पद उन्हे दिया। टिकेन्द्रजित की पदोन्नति देख पक्का सेना जलभुन गया।

उपरोक्त युद्ध के एक साल के अन्दर ही चन्द्रकीर्ति के मंत्री भुवन सिंह के पुत्र वाग खैराकपा ने एक दिन सेना लेकर यकायक राजधानी पर हमला बोल दिया। इसका सामना करने मे अंगरेजों से कोई भी सहायता न मिली। टिकेन्द्रजित ने उसे भी पराजित किया। अंगरेजों के इस व्यवहार से मणिपुर दरबार और अंगरेज सरकार के बीच मनोमालिन्य बढ़ चला। मणिपुरियो के अन्दर अंगरेजो के खिलाफ असन्तोष बढ़ने लगा। एकबार एक निमंत्रण में उन्होंने रेजीडेन्सी के पहरेदारों की पिटाई की। कुछ लोगों ने डाकप्यून के हाथ से डाक का थैला छीन लिया।[२]

---

१. मुकुन्द लाल चौधरी, मणिपुरेर इतिहास (बंगला), पृ० ८६

२. ज्योतिर्मय राय, वही, पृ० २१४

१८८७ में मणिपुर पर कूकियों का आक्रमण रोकने में भी टिकेन्द्रजित समर्थ हुए। इन विजयों से उनका सुनाम बढ़ चला। उनके बढ़ते सुनाम से शूरचन्द्र का सगा भाई पक्का सेना उनसे जलने लगा। टिकेन्द्रजित से उसके जलने का एक कारण और बताया जाता है। माइपाकपी एक धनाढ्य स्वर्ण व्यवसायी और दरबारी की सुन्दरी कन्या थी। टिकेन्द्रजित और भैरवजित (पक्का सेना) दोनों ही उससे व्याह करना चाहते थे। टिकेन्द्र-जित का पलड़ा भारी देख उसने उनके खिलाफ गुटबन्दी आरम्भ की। पहले उसने अपने अन्य चार सगे भाइयों को अपने पक्ष में मिलाया और फिर क्रमशः शूरचन्द्र को। शूरचन्द्र पहले निष्पक्ष होकर परस्पर झगड़ों को मिटा देते थे ; लेकिन क्रमशः वे पक्का सेना के चक्कर में पड़ते गये।

पक्का सेना के व्यवहार से उसके सब सौतेले भाई टिकेन्द्रजित की तरफ झुके। टिकेन्द्र जित,और युवराज कुलचन्द्र की मां सगी बहनें थीं। इस तरह पक्का सेना के गुट को समुचित उत्तर देने को एक गुट तैयार हो गया। पक्का सेना की कुमंत्रणा से सौतेले भाइयों की उपेक्षा की जाने लगी। कुछ को राजपुत्र का सम्मान मिलना बन्द हो गया। इस सम्बन्ध में अदालत में दिया गया टिकेन्द्रजित का ही बयान सुनिए :

> "हमारे पिता की मृत्यु के समय सबसे छोटे राजकुमार जिल्लागम्बा की उम्र सिर्फ ९-१० साल थी। कोई भी राजकीय पद या सम्मान उन्हें नहीं दिया गया। उनकी उम्र बढ़ रही है और इससे उनका खर्च भी बढ़ रहा है। किन्तु महाराज शूरचन्द्र ने उनका मासिक पावना नहीं बढ़ाया। विभिन्न अवसरों पर उन पर तरह-तरह के अत्याचार किये गये हैं, उन्हें तरह-तरह से अपमानित किया गया है। मणिपुर राजवंश का कोई भी व्यक्ति अगर महल के बाहर निकलता है या कहीं जाता है, तो सिंगा बजाने का रिवाज है। जिल्लागम्बा एक दिन बाहर जा रहे थे, तो सिंगा बज रहा था। 'इस तरह सिंगा बजाकर अपराध किया जा रहा है, महाराज का अपमान किया जा रहा है'—यह कह कर पक्का सेना ने उसे बन्द करा दिया।"[1]

चन्द्रकीर्ति की पांचवी रानी के पुत्र भैरव सिंह उर्फ अंगेय सेना के साथ भी दुर्व्यवहार हुआ। टिकेन्द्रजित के बयान के अनुसार पक्का सेना ने महाराज शूरचन्द्र से झूठी शिकायत की कि अंगेय सेना उनके विरुद्ध गुप्त रूप से षड़यत्र कर रहे हैं। शूरचन्द्र ने इसकी सच्चाई की जाँच न कर हुक्म दे दिया कि २३ सितम्बर (१८९०) को सबेरे अंगेय सेना और जिल्लागम्बा को गिरफ्तार कर निरस्त्र कर देना होगा।

यह समाचार पाकर इन दोनों ने पहले ही दुःसाहस पूर्ण कदम उठाया। २२ सितम्बर को रात के दो पहर बीते थे कि वे दोनों अपने कुछ अनुचरों के साथ महल की दीवार फांद कर महाराज शूरचन्द्र के शयनागार के पास जा पहुँचे। उन्होंने गोली चलाना शुरू किया। शूरचन्द्र महल छोड़कर भाग खड़े हुए। २३ सितम्बर को उन्हें अपने सगे भाइयों के साथ अंगरेज रेजीडेन्सी में पाया गया। इस काण्ड के बारे में

१. ज्योतिर्मय राय, वही, पृ० २१६

राजधानी इम्फाल स्थित इस रेजीडेन्सी से पोलिटिकल एजेन्ट ग्रिमउड ने २५ सितम्बर को असम के चीफ कमिश्नर के पास रिपोर्ट भेजी

> "महाराजा ने किसी भी प्रकार के गोलमाल की आशंका न की थी। लेकिन दोलाई हंजबा (अंगेय सेना) और जिल्ला सिंह ने कहा कि देश निकाले या अन्य दण्ड की आशंका से ही उन्होंने विद्रोहाचरण किया था। सीढ़ी की सहायता से दीवाल पार कर जिल्ला सिंह ने महाराजा के खास महल पर यकायक हमला कर दिया। अविराम गोली वर्षा होने लगी। उससे किसी को चोट नहीं आयी, फिर भी प्राणभय से महाराज जल्दी ही भाग खड़े हुए।"[1]

अंगेय सेना और जिल्ला सिंह के साथ टिकेन्द्रजित आ मिले। पूरे महल और शस्त्रागार पर उन्होंने अधिकार कर लिया। महल और राज्य पर फिर अधिकार की आशा न देख शूरचन्द्र ने अपने सगे भाइयों के साथ वृन्दावन का रास्ता पकड़ा। उनके अनुरोध पर टिकेन्द्रजित ने उनके वृन्दावन जाने की व्यवस्था कर दी। इधर कुलचन्द्र नये राजा बने और टिकेन्द्रजित युवराज।

काछाड़ पहुंच कर शूरचन्द्र ने वृन्दावन जाने का इरादा छोड़ दिया। अब वे अंगरेजों की मदद से राज्य वापस पाने की कोशिश करने लगे। वे असम के चीफ कमिश्नर क्विन्टन से मिलने सिलचर गये। वहां पता लगा कि क्विन्टन तो कलकत्ते में है। इसलिए शूरचन्द्र अपने साथियों के साथ कलकत्ता पहुंचे। १८ नवम्बर १८९० को भारत के अंगरेज शासकों और क्विन्टल के पास पत्र लिख कर उन्होंने राज्य वापस प्राप्त करने में सहायता की प्रार्थना की। इसे अंगरेज साम्राजियों ने मणिपुर को दुर्बल करने का अच्छा अवसर समझा। बड़े लाट ने १८ मार्च १८९१ को तार-द्वारा क्विन्टन को सूचित किया :

> "(१) यदि कुलचन्द्र मणिपुर की ब्रिटिश रेजीडेन्सी में ३०० रक्षक सैनिक रखने दें, (२) पोलिटिकल एजेन्ट की सलाह के अनुसार राज करने को तैयार हो, और (३) टिकेन्द्रजित के निर्वासन का अनुमोदन करे एवं उसके लिए सहायता दें, तो उन्हीं को भारत सरकार मणिपुर का राजा मान लेगी।"[2]

अंगरेज-शासक समझते थे कि इन शर्तों को कुलचन्द्र मान लेंगे। इससे मणिपुर में अंगरेजों की सेना बढ़ जायगी और टिकेन्द्रजित जैसे कांटे को निकाल बाहर किया जा सकेगा।

भारत सरकार (अंगरेज) के इस निर्णय को कार्यरूप में परिणत करने के लिए आसाम का चीफ कमिश्नर क्विन्टन ७ मार्च १८९१ को गोलाघाट (असम) से मणिपुर की तरफ रवाना हुआ। उसके साथ कर्नल स्कीने के अधीन ४०० बन्दूकधारी गुर्खा सैनिक थे। सिलचर से भी २०० गुर्खे इम्फाल की तरफ रवाना किये गये।

---

१. वही, पृ० २२२

२ वही, पृ० २४२ ; मुकुन्दलाल चौधरी, वही, पृ० ११८

क्विन्टन ने टिकेन्द्रजित और मणिपुर का भेद लेने के लिए अपने सहायक कमिश्नर गार्डन को इम्फाल भेजा था। वह भेद लेकर वापस आया और १८ मार्च को क्विन्टन से कारोंग नामक स्थान में मिला। पोलिटिकल एजेन्ट ग्रिमउद ने गार्डन के जरिए क्विन्टन को सूचित किया कि टिकेन्द्रजित कभी भी आत्मसमर्पण न करेंगे और उनको गिरफ्तार करना भी आसान नहीं।

क्विन्टन सरकारी आदेश के अनुसार टिकेन्द्रजित को छल से गिरफ्तार कर लेना चाहता था। उसने ग्रिमउड को बुला भेजा। २१ मार्च को इम्फाल से दस मील दूर सेकमाई नामक स्थान में दोनों की मुलाकात हुई। क्विन्टन ने खुलकर ग्रिमउड को अपने मणिपुर आगमन का उद्देश्य बताया। ग्रिमउड और टिकेन्द्रजित की एक हद तक मित्रता थी। दोनों अक्सर एक साथ शिकार खेलने जाया करते थे। उसने सेनापति को गिरफ्तार और निर्वासित करने का विरोध किया ; लेकिन अन्त में ऊपर का हुक्म मान कर उस योजना को सफल बनाने की पूरी चेष्टा की। क्विन्टन ने योजना बनायी कि ब्रिटिश रेजीडेंन्सी में दरबार बुलाया जाय। उसमें राजा और टिकेन्द्रजित तथा अन्य अधिकारियों को बुलाया जाय। उसी में सरकार का हुक्म जाहिर कर टिकेन्द्रजित को गिरफ्तार कर लिया जाय। लेकिन उसी बीच कलकत्ते से एक मणिपुरी मित्र ने तार भेजकर टिकेन्द्रजित को सूचित किया :

"मणिपुर में शीघ्र ही एक बड़े बाघ का शिकार किया जायगा।"[1]

यह सूचना पाकर टिकेन्द्रजित और उनके साथी सतर्क हो गये। इस बीच मणिपुर में बहुत-सी अफवाहें उड़ रही थी। एक अफवाह यह थी कि चीफ कमिश्नर क्विन्टन १८०० सैनिकों के साथ शूरचन्द्र को फिर से गद्दी पर बैठाने के लिए आ रहा है। यह सुनकर कुलचन्द्र ने अंगेय सेना के अधीन एक हजार सैनिक शूरचन्द्र को रोकने के लिए भेजने का फैसला किया। इस फैसले का समाचार पाकर ग्रिमउड ने कुलचन्द्र से ऐसा न करने का अनुरोध किया। चीफ कमिश्नर ने सूचित किया कि शूरचन्द्र उसके साथ नहीं। इधर अपने सूत्र से भी टिकेन्द्रजित वगैरह को मालूम हो गया कि शूरचन्द्र कलकत्ते में ही हैं। इसलिए क्विन्टन का रास्ता रोकने का विचार छोड़ दिया गया। २१ मार्च १८९१ को सेंगमाई से क्विन्टन ने कुलचन्द्र को लिखा :

"मैं कल सुबह १० बजे मणिपुर पहुंच रहा हूँ। पहुंचने के तुरन्त बाद ही रेजीडेन्सी में एक दरबार करूँगा। उसमें आप अपने सब भाइयों और मंत्रियों के साथ आइएगा। मैं उस दरबार में भारत के वाइसराय का एक पत्र आपको दूँगा।"[2]

यह पत्र पाकर कुलचन्द ने पोलिटिकल एजेन्ट ग्रिमउड को सूचित किया कि २१ मार्च को एकादशी के व्रत का दिन है। उपवास के बाद दूसरे दिन दरबार में जाने में सबको असुविधा होगी। फिर सब लोग चीफ कमिश्नर के आदर-सत्कार में व्यस्त रहेंगे। इसलिए दरबार २३ मार्च को रखा जाय। पोलिटिकल एजेन्ट ने सूचित

१. मुकुन्दलाल चौधरी, वही, पृ० १२१ ; ज्योतिर्मय राय, वही, पृ० २४५
२. मुकुन्दलाल चौधरी, वही, पृ० १२३-२४ ; ज्योतिर्मय राय, वही, पृ० २४७

किया कि दरबार तो २२ मार्च को ही होगा ; उसे टाला नहीं जा सकता क्योंकि चीफ कमिश्नर को जल्दी ही टामू चले जाना है।

२२ मार्च को क्विन्टन इम्फाल आया। टिकेन्द्रजित छोटी-सी सेना लेकर उसके स्वागत के लिए राजधानी से चार मील आगे गये और फिर उसके साथ वापस आये। शिकार क्विन्टन के हाथ में था, लेकिन मनीपुरी सेना पास ही थी। इसलिए वहाँ कुछ भी न करना ही उचित समझा। कुलचन्द्र ने चीफ कमिश्नर का स्वागत किया और उस दिन दरबार स्थगित रखने का अनुरोध किया। लेकिन क्विन्टन ने फरमाया कि उसी दिन दोपहर को दरबार होगा। रेजीडेन्सी में फौरन दरबार की तैयारियाँ होने लगीं, जगह-जगह कड़ा पहरा बैठा दिया गया ताकि दरबार में आकर टिकेन्द्रजित किसी तरफ से भाग न सकें। वाइसराय के हुक्म को मनीपुरी में अनुवाद की फौरन व्यवस्था की गयी।

निश्चित समय पर कुलचन्द्र सेनापति टिकेन्द्रजित और अन्य भाइयों तथा मंत्रियों को लेकर रेजीडेन्सी के बाहर के फाटक पर पहुंचे। चूँकि अनुवाद समाप्त न हुआ था, इसलिए उन्हें वहीं रोक दिया गया। इस तरह उन सबको फाटक पर खड़ा रखकर उनका खुला अपमान किया गया। टिकेन्द्रजित के मन में पहले ही से सन्देह था। दरबार की जगह और चारों तरफ कड़ा पहरा देखकर उनका माथा ठनक उठा। उनकी तबियत भी कुछ खराब चली आती थी। इसलिए आधा घण्टा इन्तजार करने के बाद वे उसी बहाने वापस अपने घर चले आये। अंगौस्ना (अंगेय सेना) भी उनके साथ वापस आ गये।

महाराज और उनके मंत्रियों को दो घन्टे बाहर खड़ा रखा गया और तब रेजीडेन्सी के अन्दर घुसने दिया गया। टिकेन्द्रजित को न देख क्विन्टन विस्मित हुआ। उन्हे दरबार में बुलाने की बड़ी कोशिश की गयी, लेकिन अस्वस्थता के बहाने वे न आये। क्विन्टन ने दरबार स्थगित रखने और २३ मार्च को सबेरे ८ बजे करने की घोषणा की। ग्रिमउड ने विशेष रूप से सूचित किया कि टिकेन्द्रजित की अनुपस्थिति में दरबार न होगा। अत: दूसरे दिन उन्हें जरूर लाया जाय।

दूसरे दिन कोई भी दरबार में न गया। कुलचन्द्र ने लिख भेजा कि टिकेन्द्रजित अस्वस्थ हैं और चूंकि उनकी अनुपस्थिति में दरबार हो ही नहीं सकता, इसलिए कोई नहीं आया। चिड़िया को जाल में न फँसते देख क्विन्टन खीझ उठा। वह उसी दिन शाम को ग्रिमउड, लेफ्टिनेन्ट सिमसन और रेजीडेन्सी के बंगाली कर्मचारी रसिक बाबू को लेकर राजदरबार में आ पहुँचा। राजा ने उसका समुचित सत्कार किया। इसके बाद क्विन्टन ने एक पत्र राजा को दिया जिसका सार था : भारत सरकार कुलचन्द्र को मणिपुर का महाराजा मान रही है। लेकिन दुर्व्यवहार के लिए टिकेन्द्रजित को निर्वासित करना आवश्यक समझा गया है। अतएव उन्हें अविलम्ब अंगरेज कर्मचारी के हाथ सौंप देना होगा।

महाराजा ने इसके उत्तर में कहा कि मंत्रिपरिषद् का मत लिए बगैर वे युवराज को गिरफ्तार नहीं कर सकते। अंगरेज अधिकारियों ने टिकेन्द्रजित की गिरफ्तारी का

परवाना देने को कहा, लेकिन राजा ने जवाब दिया कि इसे भी वे मंत्रियों की राय के बिना नहीं कर सकते। मंत्रियों के साथ राय-परामर्श के लिए आध घन्टे का समय देकर चीफ कमिश्नर रेजीडेन्सी वापस गया। ग्रिमउड और रसिक बाबू उत्तर के लिए दरबार में ठहर गये।

कुलचन्द्र ने तुरन्त मंत्रियों की सभा बलायी। टिकेन्द्रजित भी इस सभा में आये। उन्होंने सबसे पहले कहा : अगर आपलोग उचित समझते हैं तो मैं आत्मसमर्पण करने को तैयार हूँ। मंत्रियों से राय करने के बाद कुलचन्द्र ने चीफ कमिश्नर को लिखा :

"मुझे महाराजा मनवाने के लिए कृतज्ञता के साथ आपको धन्यवाद देता हूँ। युवराज टिकेन्द्रजित अत्यन्त अस्वस्थ हैं। उनके स्वास्थ्य लाभ करने पर उनके देशत्याग की बात आपको लिखूंगा।"[1]

राजा ने यह पत्र ग्रिमउड को दिया। ग्रिमउड को यह उत्तर पसन्द न आया। उसने टिकेन्द्रजित की गिरफ्तारी का फरमान तुरन्त देने को कहा। मंत्रियों ने उससे अनुरोध किया कि वह चीफ कमिश्नर को समझा-बुझाकर रवाना कर दे। ग्रिमउड के अनुरोध पर कुलचन्द्र ने उसकी मुलाकात टिकेन्द्रजित से करा दी। उसने टिकेन्द्रजित को अंगरेजों के हाथ आत्मसमर्पण करने की सलाह दी। टिकेन्द्रजित ने उत्तर दिया कि जिस वक्त मणिपुर के दरबार की आज्ञा होगी, उसी वक्त वे जाकर आत्मसमर्पण कर देंगे।

टिकेन्द्रजित को इस तरह न पकड़ पाकर अंगरेज अधिकारी बल प्रयोग पर उतर आये। २४ मार्च १८९१ को रात को ३।। बजे ही लेफ्टिनेन्ट ब्रैकेनबरी, कैप्टेन बूचर और लेफ्टिनेन्ट लुगार्ड ने गुरखा सैनिक लेकर टिकेन्द्रजित का घर जा घेरा। राजा के हुक्म बिना ही वे उसके राज्य में युवराज को गिरफ्तार करने गये। सेनापति के प्रासाद के रक्षकों ने उन्हें रोका। दोनों पक्षों में युद्ध आरंभ हो गया। कुछ समय बाद अंगरेजों ने सेनापति के प्रासाद पर कब्जा कर लिया, लेकिन टिकेन्द्रजित उनके हाथ न आये। इस आक्रमण की आशंका कर वे शाम को ही राजप्रासाद चले गये थे। इस आक्रमण में लेफ्टिनेन्ट ब्रैकेनबरी बुरी तरह घायल हुआ और उसी दिन रात को रेजीडेन्सी में उसकी मृत्यु हो गयी।

अंगरेजों के इस अन्यायपूर्ण आक्रमण का समाचार पाते ही मणिपुरी आगबबूला हो गये। उन्होंने दोपहर को रेजीडेन्सी पर आक्रमण आरम्भ किया। अंगरेजों का तार का सम्बन्ध उन्होंने काट दिया। इससे क्विन्टन मदद के लिए खबर भेज न सका। मणिपुरियों के आक्रमण का सामना करना अंगरेजों के लिए नामुमकिन हो गया। ऐसी हालत में उन्होंने युद्ध बन्द करने का संकेत किया। युद्ध बन्द होते ही क्विन्टन ने राजा कुलचन्द्र के पास चिट्ठी लिख भेजी : "आप किन शर्तों पर हमारे ऊपर आक्रमण बन्द करेंगे और तार की मरम्मत करने देंगे।" इसके उत्तर में कुलचन्द्र ने लिख भेजा :

"आपलोगों के साथ युद्ध करने की इच्छा हमलोगों की कभी भी न थी। लेकिन

१. मुकुन्दलाल चौधरी, वही, पृ० १३०-३१ ; ज्योतिर्मय राय, वही, पृ० २५१

आपके पक्ष की ही सेना ने जब सबसे पहले आक्रमण कर दिया, तो मेरे आदमी आत्म-रक्षा के लिए युद्ध करने को वाध्य हो गये हैं। मेरे प्रासाद में ऐसा कोई आदमी नहीं जो अंगरेजी पढ़ और समझ सकता हो। लेकिन युद्ध बन्द होने के बाद ही आपका पत्र पाकर मैं समझता हूँ कि आप सन्धि करना चाहते हैं। आपकी सेना अगर अस्त्र त्याग दे, तो मैं एकक्षण में ही संधि करने को तैयार हूँ।"

पत्र पाकर क्विन्टन ने महाराजा और टिकेन्द्रजित से इस सम्बन्ध में मिलने की इच्छा जाहिर की। सुरक्षा का आश्वासन पाकर क्विन्टन, कर्नल स्कीने, ग्रिमउड, लेफ्टिनेन्ट सिमसन और कजिन्स राजप्रासाद आये। किले के आंगन में ही वार्तालाप की व्यवस्था की गयी। कुछ दूर पर मणिपुर की सेना और नागरिक बड़ी व्यग्रता से वार्तालाप के परिणाम की प्रतीक्षा कर रहे थे। टिकेन्द्रजित ने वार्तालाप के दौरान जोर देकर कहा कि सन्धि तभी हो सकती है, जब अंगरेज हथियार रख दे।

दूसरे दिन सबेरे बात करने की इच्छा जाहिर कर अंगरेज रेजीडेन्सी की तरफ जाने लगे। अस्वस्थ और थकेमांदे टिकेन्द्रजित सोने चले गये। साहबों को देखकर मणिपुरियों का गुस्सा बढ़ने लगा। गड़बड़ी की आशंका देखकर ग्रिमउड ने अंगौस्ना (अंगेय सेना) से सुरक्षित रेजीडेन्सी पहुंचा देने का अनुरोध किया। टिकेन्द्रजित की अनुमति से वे साहबों को साथ लेकर आगे बढ़े। फाटक से अंगरेजों के निकलते ही आम जनता 'मारो-मारो, काटो-काटो' के नारे लगाते हुए उन पर आ टूटी। लेफ्टिनेन्ट सिमसन के सर पर तलवार आ गिरी। उसे सख्त चोट आयी। राजा के जुमादार यात्रा सिंह ने आकर उसकी रक्षा की। अंगौस्ना ने जो गड़बड़ी देखी तो अंगरेजों को दरबार गृह की तरफ ले चले। लेकिन तभी एक बरछा आकर ग्रिमउड को लगा और उसके प्राण पखेरू उड़ गये। बाकी अंगरेजों को दरबार गृह में लाकर रखा गया और उनकी हिफाजत के लिए ८-१० पहरेदार बैठा दिये गये।

रात को टिकेन्द्रजित अस्वस्थता के कारण सोये हुए थे। उसी पल एक वृद्ध मणिपुरी ने तोपखाने में जाकर वृद्ध मंत्री खंगाल जनरल को पकड़ा। उनका मणिपुर के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। उक्त वृद्ध ने वृद्ध खंगाल को मणिपुर में प्रचलित कथा याद दिलायी। इसमें कहा गया था कि एक दिन विषम युद्ध में यह राज्य फँसेगा। उस वक्त पांच शत्रुओं का खून देवताओं पर चढ़ाने और उनके सर एक साथ गड्ढे में गाड़ देने से ही कल्याण होगा, अन्यथा नहीं। वृद्ध ने इस बात को याद दिलाकर खंगाल जनरल को अंगरेजों को मरवा डालने को कहा। कुछ आगापीछा करने के बाद खंगाल तैयार हो गये। उन्होंने ऊसव नामक जमादार को अंगरेजों की हत्या करने का हुक्म दिया। ऊसव यात्रासिंह को लेकर टिकेन्द्रजित के पास पहुंचा और उन्हें खंगाल जनरल के हुक्म की सूचना दी। फौरन वे उठकर आये और खंगाल जनरल को ऐसा भयंकर काण्ड न करने को कहा। थकावट से चूर टिकेन्द्रजित तोपखाने में ही सो गये। खंगाल ने सुअवसर समझा। उन्होंने अंगरेजों को बधिक के हाथ सौंप दिया और कहा कि यह आदेश टिकेन्द्रजित का है। सब साहब मारे गये और उनके साथ कैद एक गुर्खा सिपाही

भी मारा गया। अन्ध-विश्वास के अनुसार अंगरेजों का रक्त देवता को अर्पित किया गया और उनके सर एक साथ गाड़े गये। साधारण मणिपुरियों में इससे आनन्द की लहर दौड़ गयी। उन्होंने रेजीडेन्सी पर गोलियों की बरसा आरंभ की।

रेजीडेन्सी के अंगरेजों ने समझ लिया कि संधि की बातचीत असफल रही और उनके नेता संभवतः कैद कर लिये गये। रक्षा का उपाय न देख वे काछाड़ भाग गये। इन भाग जानेवालों में ग्रिमउड की पत्नी, कैप्टन बाइलो, कैप्टेन बूचर, लेफ्टिनेन्ट लुगार्ड, उड्स और दो सौ गुर्खा सिपाही थे। मणिपुरयों ने रेजीडेन्सी लूट ली और उसमें आग लगा दी।

मणिपुर के खिलाफ युद्ध के लिए अंगरेज सरकार ने जगह-जगह से सेना लाकर उसके पास काछाड़, कोहिमा और टामू में जमा की। तीनों तरफ से प्रायः मात-आठ हजार सेना मणिपुर की तरफ चल पड़ी। मेजर कैलेट इन तीनों का प्रधान सेनापति था। उसने मणिपुर में प्रवेश के पहले ही एक पत्र कुलचन्द्र को लिखा और आत्मसमर्पण का आदेश दिया। अंगरेज सेना बिना प्रतिरोध आगे बढ़ती गयी। जब कैलेट राजधानी के करीब पहुंचा, तो कुलचन्द्र ने पत्र भेजा और लिखा कि हम तो पहले भी अंगरेजों से युद्ध करना नहीं चाहते थे। वह तो हम पर लादा गया। मैं राजधानी छोड़कर जा रहा हूँ और बाद में यदि संधि की सुविधा देखूंगा, तो आप से मिलूंगा।

काछाड़ से अंगरेज सेना जब २३ अप्रेल को विष्णुपुर के पास पहुंची तो मणिपुर की सेना से उसकी हल्की भिड़न्त हुई। लेकिन जब २५ अप्रेल को टामू से आनेवाली अंगरेज सेना पालेल पहुंची तो मणिपुरी सेना ने उससे घमागान युद्ध किया। इस युद्ध में लेफ्टि-नेन्ट ग्रान्ट खुद घायल हो गया। उत्तम अस्त्रों की बदौलत अंगरेज सेना ने विजय पायी। तीन तरफ से हमला कर अंगरेज साम्राजियों ने २७ अप्रेल को राजधानी इम्फाल पर कब्जा कर लिया। अब कैलेट ने घोषणा की कि महाराज कुलचन्द्र का राज्य समाप्त हो गया है। अब मणिपुर पर अंगरेजों का राज है। जो भी अंगरेजों के खिलाफ कोई काम करेगा या कुलचन्द्र, टिकेन्द्रजित अथवा खंगाल जनरल की सहायता करेगा, उसे मृत्युदण्ड दिया जायगा। इसके साथ ही उसने घोषणा की कि जो कुलचन्द्र या टिकेन्द्रजित को गिरफ्तार करा देगा, उसे पांच हजार रुपए और जो खंगाल जनरल को गिरफ्तार करायेगा, उसे दो हजार रुपए का इनाम दिया जायगा। उसने मणिपुरियों को हथियार सौंपने और अपने-अपने घर वापस आने का भी हुक्म दिया।

सबसे पहले खंगाल जनरल पकड़े गये, इसके बाद कुलचन्द्र और सेनाधिकारी। अस्वस्थता की हालत में अन्त में टिकेन्द्रजित ने स्वयं आत्मसमर्पण कर दिया। अंगरेज साम्राजियों ने न्याय का नाटक कर २१ अगस्त १८९१ को इम्फाल के पोलो मैदान में टिकेन्द्रजित सिंह और खंगाल जनरल को फांसी दे दीं। मणिपुर की प्रथा के अनुसार हजारों महिलाएं उनके प्राणों की भिक्षा मांगने उस मैदान के आसपास इकट्ठा हुई थीं। लेकिन साम्राजियों का दिल न पसीजा। इस तरह वीर सेनानी टिकेन्द्रजित ने शहादत पायी।

कुलचन्द्र और अंगेय सेना का मृत्युदण्ड आजीवन निर्वासन में बदल दिया गया और उनकी जायदाद जब्त कर ली गयी। सितम्बर १८९१ में एक पांच साल के लड़के को मणिपुर की गद्दी पर बैठा कर अंगरेज पोलिटिकल एजेन्ट ने उसके नाम पर राज करना आरंभ किया।

अध्याय ८४

बिरसा विद्रोह

(१८९९-१९००)

बिरसा विद्रोह दरअस्ल मुण्डा विद्रोह था। इस विद्रोह का आर्थिक उद्देश्य उन जमीन्दारों को, जिन्होंने मुण्डों की जमीन हथिया ली थी, भगाना और जमीन को मुण्डों के हाथ में लाना था। इसका राजनीतिक उद्देश्य अंगरेजों के राज्य को खत्म कर मुण्डा अंचल में मुण्डा राज कायम करना था। इसका धार्मिक उद्देश्य ईसाई धर्म का विरोध करना और ईसाई बने असंतुष्ट मुण्डों का नया धर्म स्थापित करना था।[1]

बहुत से जमीन्दारों ने छल-बल से मुण्डों की जमीन हथिया लीं थी। मुण्डा अंचल में ही जमीन मुण्डों के हाथ से निकल कर अन्य लोगों के हाथ में जा रही थी। इससे उनके अन्दर असंतोष की आग बहुत दिनों से सुलग रही थी। अपने सरदारों के नेतृत्व में मुण्डों ने इसके खिलाफ लगभग १५ साल तक आन्दोलन चलाया था। उनका यह आन्दोलन 'सरदारी लड़ाई' के नाम से मशहूर है।[2] मुण्डे दावा कर रहे थे कि जमीन के मालिक वे हैं, जमीन्दार नहीं। इसलिए वे किसी भी तरह का राजस्व या लगान जमींदारों को न देंगे। यह राजस्व वे सीधे अंगरेज सरकार को देने को तैयार थे।

उनका यह सरदारी आन्दोलन राँची से आरम्भ हुआ और शीघ्र ही सिंहभूम में फैल गया। इस आन्दोलन का फौरी कारण जंगलों का संरक्षित करार दिया जाना[3] और इस प्रकार मुण्डों के हाथ से छीन लिया जाना था। सरदारों के नेतृत्व में मुण्डे अपना आन्दोलन चला रहे थे। लेकिन १५ वर्ष बाद भी जब कोई फल निकलते नजर न आया तो मुण्डा सरदारों के सामने प्रश्न खड़ा हो गया कि वे अब क्या करें। इस पृष्ठभूमि में बिरसा मुण्डा सामने आये और सब सरदार उनके साथ मिल गये। बिरसा अंगरेजों के राज को खत्म कर मुण्डा राज कायम करना चाहते थे और मुण्डों को अपनी मुक्ति का यही रास्ता सूझ पड़ा।

कितने ही मुण्डे बेहतरीन जिन्दगी की उम्मीद से ईसाई बन गये थे। लेकिन जल्दी ही उन्होंने अनुभव किया कि अपनी जाति और पुराना धर्म खो देने पर भी उनकी जिन्दगी बेहतर नहीं हुई। इसलिए उन्होंने ईसाई धर्म से भी विद्रोह किया। उन्हें यह धर्म भी ढकोसलों से भरा और शोषण का हथियार मालूम हुआ। इसीलिए उन्होंने अपने विद्रोह और हिंसात्मक कार्यों का दिन ईसा का जन्म दिन या एक दिन पहले चुना और अपने कितने ही दुश्मनों का खून बहाया। उनके विद्रोह के तीन उद्देश्य होते हुए भी मुख्य कारण जमीन और जंगल का छीना जाना था। इन पर अपना

१. बिहार डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, सिंहभूम, १९५८, पृ० १००-१०१

२. वही, पृ० १००

३. वही, पृ० १००

अधिकार जमाने के लिए ही उन्होंने विद्रोह का सहारा लिया। अंगरेजों को जमीन्दारों का मददगार पाकर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जब तक इन अंगरेजों को मार भगाया नहीं जाता, तब तक मुण्डों के हाथ से जमीन निकलती जायगी। इसी वजह से जमीन की उनकी लड़ाई ने मुण्डा राज की लड़ाई का रूप धारण किया। ईसाई धर्म अंगरेजों का राज बनाये रखने का हथियार था, इसलिए उसके खिलाफ भी वे गये।

बिरसा राँची जिले के तमार थाने के दक्षिण की पहाड़ियों में स्थित एक छोटे से गाँव चलकद के एक मुण्डा थे।[१] कितने ही मुण्डों की तरह वे भी लूथर पंथी ईसाई बन गये थे और चायबासा के जर्मन मिशन स्कूल में उन्हें कुछ शिक्षा भी मिली थी। लेकिन ईसाई धर्म से असंतुष्ट होकर वे फिर मुण्डा बन गये। १८९५ में उन्होंने अपने को भगवान का अवतार घोषित किया और कहा कि वे मुण्डों को इस लोक और परलोक में बचाने के लिए आये हैं। संभवतः मुण्डों को जगाने और जमीन्दारों तथा अंगरेजों के खिलाफ खड़ा करने का उन्हें यही उत्तम उपाय सूझ पड़ा। उन्होंने प्रचार किया कि जो मुण्डे उनका साथ न देंगे, उनका नाश हो जायगा।

नौजवान बिरसा ने प्रचार किया कि अब मुण्डा राज शुरू हो गया है और महारानी विक्टोरिया का राज समाप्त हो गया है। उन्होंने मुण्डों को आदेश दिया कि किसी को भी राजस्व न दें और जमीन का भोग बिना राजस्व दिये ही करें। अंगरेज सरकार का हुक्म अब कोई भी मान कर न चले।[२] इससे अंगरेज सरकार का चिन्तित होना स्वाभाविक था। इसी बीच अफवाह फैली कि जो भी बिरसा का मत मान कर न चलेगा, उसे कत्ल कर दिया जायगा। अंगरेजों को यह अच्छा बहाना मिला। १६ अगस्त १८९५ को बीस वर्षीय नौजवान बिरसा को गिरफ्तार करने तमार का हेड कांस्टेबुल चलकद गया। मुण्डों ने उसको अच्छी तरह अपमानित कर चलकद से निकाल दिया। २४ अगस्त की रात को बिरसा जब अपने घर में सो रहे थे, अंगरेज सरकार की पुलिस ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। उन पर और उनके १५ अनुयायियों पर बगावत फैलाने के इरादे से अफवाहें फैलाने का अभियोग लगाया गया और दो साल की कड़ी सजा दे दी गयी।[३]

नवम्बर १८९७ में जेल से छूटने पर बिरसा ने फिर अपने आन्दोलन का संगठन आरंभ किया। एक योजना के अनुसार वे सदल बल २८ जनवरी १८९८ को राँची के पास स्थित चुटिया गये। उनका उद्देश्य यहाँ के मन्दिर के साथ मुण्डों का सम्बन्ध सिद्ध करना और इस सम्बन्ध के कागजात की खोज करना था। उनका दावा था कि यह मन्दिर पुराने जमाने में कोलों का था। कहा जाता है कि कुछ बिरसापंथियों ने यह हिन्दू मन्दिर अपवित्र कर दिया। मन्दिर के अन्दर उन्होंने नाच किया, उसकी मूर्त्तियों को उखाड़ कर फेंक दिया और तोड़ डाला। इससे हिन्दू बिगड़ खड़े हुए और कुछ अपराधियों

१. वही, पृ० ६८
२. वही, पृ० ६८ ; बिहार डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, राँची, पृ० ७०
३. बिहार डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, राँची, पृ० ७० ; सिंहभूम, पृ० ६६

को पकड़ लिया। गिरफ्तार मुण्डों ने बयान दिया कि जो कुछ उन्होंने किया वह बिरसा की प्रेरणा से किया था, अपने मन से नहीं। इस पर बिरसा की गिरफ्तारी के लिए हुक्म जारी हो गया।

किन्तु बिरसा हाथ न आये। वे दो साल तक गुप्त रूप से अपना काम करते रहे और लोगों को अंगरेजों के खिलाफ विद्रोह के लिए तैयार करते रहे। इसी गुप्तवास के दौरान वे जगन्नाथपुर के मन्दिर गये। कहा जाता है कि वहाँ वयोवृद्ध मुण्डों ने बिरसा को आशीर्बाद दिया और सफलता की कामना की। वे नागफेनी और दूसरे महत्वपूर्ण स्थान भी गये। जगह-जगह गुप्त सभाएँ कर मुण्डों को विद्रोह के लिए तैयार किया जाने लगा। विद्रोह की तैयारी के लिए वे महारानी विक्टोरिया का पुतला बना कर उस पर तीरन्दाजी का अभ्यास करते।[1]

इसी बीच बिरसा को गिरफ्तार करने के लिए अंगरेज सरकार की तरफ से पुरस्कार की घोषणा की गयी। राँची और सिंहभूम के डिपुटी कमिश्नरों ने बिरसा के गुप्त निवास स्थान का पता लगाने की कई महीने बड़ी कोशिश की। अन्त में नाकाम होकर वे बैठ गये।

१८९९ के अन्त में बिरसा फिर खुल कर चलने फिरने लगे। वे और उनके अनुयाई चारों तरफ घूम-घूम कर लोगों को जमीन्दारों तथा अंगरेज सरकार के खिलाफ विद्रोह करने के लिए तैयार करने लगे। उनके प्रचार का आम जनता पर बड़ा प्रभाव पड़ा। वह जमीन्दारों और अंगरेजों मे लोहा लेने के लिए उतावली हो गयी।

१८९९ के क्रिस्टमस के दिन उन्होंने आक्रमण शुरू किया। उनका पहला लक्ष्य ईसाई बने मुण्डों को आतंकित करना और अंगरेजों के खिलाफ खडा करना था। खुन्ती, तमार, बसिया और राँची के थानों में कितने ही स्थानों मे उन्होंने हमले किये। इनमें ८ आदमी मारे गये, ३२ पीटे गये और ८९ घर जलाये गये।[2] विद्रोहियों ने मुरहू के आंग्लिकन मिशिनरी और सरवाड़ा के रोमन कैथोलिकों पर हमले किये। ५ जनवरी १९०० तक उनका पहला लक्ष्य पूरा हो गया और उनके आन्दोलन का पहला दौर समाप्त हो गया। बिरसापंथियों ने अब घोषणा की कि उनके वास्तविक शत्रु साहब लोग और अंगरेज सरकार है। इसलिए जो मुण्डे है, चाहे वे ईसाई हों या अन्य, किसी पर हमला न किया जायगा।[3]

५ जनवरी १९०० को सारे मुण्डा अंचल में विद्रोह फैल गया। ६ जनवरी को एतकेडीह में गया मुण्डा और उनके आदमियों ने दो कांस्टेबुलों को काट डाला। ७ जनवरी को बिरसा के अनुयायियों ने खुन्ती थाने पर हमला किया, उसकी इमारत का एक हिस्सा जला दिया, एक कान्सटेबल को मार डाला और कुछ स्थानीय बनियों के फ़स के घरों में आग लगा दी।[4]

---

१. बिहार डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, राँची, पृ० ७०

२. वही, पृ० ७० ३. वही, पृ० ७१ ४. वही, पृ० ७१

कमिश्नर फारबेस और डिपुटी कमिश्नर स्ट्रीटफील्ड डोरण्ड स्थित पैदल सेना के १५० जवान लेकर खुन्ती गये। ९ जनवरी को सैल रकाब (डुमरी पहाड़ी) में बिरसापंथियों से उनकी मुठभेड़ हुई। उनके आत्मसमर्पण के हुक्म को बिरसापंथियों ने घृणा के साथ ठुकरा दिया। इस पर उन्होंने पहाड़ी पर हमला किया और दश मुण्डों को मार दिया तथा ७ को घायल किया।[1] इस घटना से इस विद्रोह की रीढ़ टूट गयी। बिरसा की दैवी शक्ति में कितने ही मुण्डों का विश्वास जाता रहा।

अंगरेज सरकार के हुक्म से फौज की दो टुकड़ियाँ राँची के विद्रोही अंचलों का और एक टुकड़ी सिंहभूम के विद्रोही अंचल मे गश्त लगाने लगी। २५ जनवरी तक फौजी कार्रवाई समाप्त हो गयी और सेना की सहायता की पुलिस को जरूरत न रह गयी। सिर्फ कुछ चौकियों पर पहरा देने के लिए फौज रखी गयी।

३ फरवरी १९०० को खुद बिरसा सिंहभूम में गिरफ्तार कर लिए गये और राँची जेल में रखे गये। उन पर और उनके खास ४८२ साथियों पर मुकदमा चलाया गया। मुकदमा चलने के दौरान ही इसी जेल में ९ जून १९०० को हैजे से बिरसा की मृत्यु हो गयी। ३ बिरसापंथियों को मृत्यु दंड दिया गया, ४४ को कालापानी और ४७ को कड़ी सजा।[2]

इस मुकदमें में एक औरत को भी दो साल की कड़ी सजा दी गयी थी। उसका नाम मनकी था और वह गया मुण्डा की पत्नी थी। उस पर आरोप था कि उसने डिपुटी कमिश्नर पर आक्रमण में सक्रिय हिस्सा लिया था।[3]

देश के समाचार पत्रों ने उस वक्त बिरसापंथियों के पक्ष में अपनी आवाज बुलन्द की थी। उस वक्त के प्रमुख राष्ट्रीय नेता सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कलकत्ते के प्रमुख पत्र 'बंगाली' में बिरसापंथियों के समर्थन में लिखा था।

---

१. वही, पृ० ७१ २. वही, पृ० ७१ ३. वही, पृ० ७१

अनुक्रमणिका